1

राजनीति का क्षेत्र : शक्ति, सत्ता स्वतंत्रता तथा न्याय

1.1 भूमिका

आपके राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम का यह प्रारंभिक पाठ है। इसमें हम राजनीति विज्ञान का अर्थ समझने का प्रयास करेंगे। तथा राजनीति विज्ञान के विस्तृत क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले तत्वों से शक्ति, सत्ता, स्वतंत्रता तथा न्याय के बारे में भी अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- राजनीति विज्ञान के अर्थ और उसकी बदलती अवधारणाओं को स्पष्ट कर सकेंगे
- राज्य की भूमिका, सरकार की कार्यप्रणाली, नागरिकों से सरकार के संबंध, तथा उनसे जुड़ी गतिविधियों के संदर्भ में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र का अध्ययन कर सकेंगे
- राजनीति विज्ञान तथा राजनीति में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे
- शक्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए शक्ति तथा सत्ता के बीच अंतर स्पष्ट कर सकेंगे
- स्वतंत्रता का अर्थ बता सकेंगे तथा मानव के विकास में स्वतंत्रता की भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे
- 'न्याय' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पहलुओं पर विचार कर सकेंगे;
- न्याय की प्रासंगिकता स्पष्ट कर सकेंगे तथा न्याय एवं स्वतंत्रता के अंतर्संबंधों को स्पष्ट कर सकेंगे ;

1.3 राजनीति विज्ञान का अर्थ तथा उसकी बदलती अवधारणा

समाज विज्ञान के रूप में राजनीति विज्ञान का अध्ययन मानव की सामाजिक गतिविधियों तथा उसके अधिकारों का मूल्यांकन करने वाले संगठनों का अध्ययन करना है। राजनीति विज्ञान राज्य द्वारा निर्धारित कानून एवं व्यवस्था का अध्ययन तो करता ही है साथ ही इससे संबंधित उत्पन्न विवादों के निबटारे संबंधी निर्मित उपबंधों का भी अध्ययन करता है।

(I) राजनीति विज्ञान का अर्थ

राजनीति शब्द ग्रीक भाषा के 'पोलिस' शब्द से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है 'नगर-राज्य' इस शब्द का पहली बार अरस्तू ने प्रयोग किया था। उसने इस शब्द को बहुत ही विस्तृत दृष्टिकोण से देखा-परखा था और उसने राजनीति विज्ञान को ही प्रमुख विज्ञान माना था। अरस्तू ने इसके अंतर्गत न केवल नगर राज्य, जो कि एक राजनीतिक संस्थान है, को ही समाहित किया था बल्कि परिवार, समाज तथा अन्य सामाजिक संगठनों को भी इसके अंतर्गत समाहित कर लिया था, जो आज समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं।

राजनीति के प्रति प्राचीन ग्रीक चिंतकों का दृष्टिकोण दार्शनिक दृष्टिकोण था। इसके विपरीत प्राचीन रोमन चिंतकों के विचारों में राजनीति का वैधानिक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण था।

> **राजनीति दर्शन :** एक निर्धारित कालखंड में राजनीतिक विचारों के अध्ययन को राजनीति दर्शन कहते हैं।

मध्यकाल में राजनीति विज्ञान धार्मिक आदेशों तथा धार्मिक (चर्चा) की एक शाखा थी। तब राजनीतिक सत्ता धार्मिक संस्थाओं (चर्चों) के अधीन थी।

आधुनिक युग में राज्य के आकार में विस्तार के साथ-साथ राजनीति विज्ञान ने एक वास्तविक व्यावहारिक और धर्मनिरपेक्ष रूप धारण कर लिया और औद्योगिक क्रांति के बाद राज्य की भूमिका सिर्फ आंतरिक कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने और बाहरी आक्रमणों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने तक ही सीमित रह गई।

कालांतर में समाज विज्ञान को कई उप–विभागों में बांट दिया गया। राजनीति विज्ञान का क्षेत्र सिर्फ राज्य के विशेष अध्ययन तक ही सिमट कर रह गया। अब इसके अंतर्गत सरकार के विभिन्न रूपों तथा उसके अंगों (विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका) का भी अध्ययन किया जाने लगा है। राजनीति विज्ञान इन तीनों अंगों की संरचना, शक्तियों, कार्यप्रणाली तथा इनके अंतर्संबंधों का भी अध्ययन करता है।

> **कालांतर मे राजनीति विज्ञान राज्य के विशेष अध्ययन तथा उससे जुड़ी गतिविधियों के अध्ययन का विज्ञान मात्र बन गया।**

कालांतर में इसकी विषय वस्तु अधिक व्यापक बन गई। उदाहरण के लिए लास्की ने इसकी एक नई व्यवस्था प्रस्तुत करते हुए कहा कि, "एक संगठित राज्य की राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन मनुष्य के जीवन से संबंधित तथ्यों के अध्ययन जैसा है।"

बीसवीं शताब्दी में, दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद राजनीति विज्ञान की व्याख्या के रूप में व्यवहारवादी दृष्टिकोण के रूप में एक तीसरी विचारधारा का उदय हुआ। इस दृष्टिकोण ने राजनीतिक संस्थाओं एवं ढांचों की गतिविधियों की तरफ से अपना ध्यान हटाकर उनकी कार्यप्रणाली की ओर केंद्रित किया। यह दृष्टिकोण राजनीतिक गतिविधियों तथा राजनीतिक संस्थाओं को नियंत्रित करने वाले महिला अथवा पुरूष कर्मियों की गतिविधियों एवं व्यवहार का अध्ययन करने पर बल देता है। यह विचारों के अध्ययन की अपेक्षा तथ्यों, सबूतों, दस्तावेजों तथा कार्यशैली के अध्ययन पर बल देता है। राजनीतिक गतिविधियों सरकारी पद पर आसीन व्यक्तियों के व्यवहार के माध्यम से जो राजनीतिक गतिविधियाँ स्पष्ट होती हैं वे ही राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु हैं।

राजनीतिक गतिविधियों के अंतर्गत किसी व्यक्ति द्वारा चुनाव लड़ने से लेकर सरकार द्वारा जारी किसी नीति से प्रभावित होने वाले जनता के किसी समूह द्वारा किया जाने वाले आंदोलन तक आ सकता है। चूँकि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न हितों पर बल देते है अतः इन गतिविधियों के अंतर्गत प्रतिस्पर्धा, विवाद तथा मतभेद सभी कुछ आते हैं।

किंतु सरकार द्वारा किए जाने वाले बल प्रयोगों तथा विरोधों को समाप्त करने के लिए सरकार द्वारा बनाई गई संतुलन नीतियों तथा उसके प्रभावों को भी राजनीति विज्ञान ने अपने अध्ययन क्षेत्र के अंतर्गत समाहित कर लिया है।

राजनीति को एक ऐसे दृष्टिकोण के रूप में भी जाना जाता है, जहाँ व्यक्ति अथवा समुदाय अपने निर्धारित किंतु विरोध मूलक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयास करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत गाँव, शहर अथवा प्रांतीय स्तर पर सामाजिक मर्यादाओं के तहत व्यक्ति अथवा समूह की आवश्यकता के स्रोतों की तलाश की जाती है। किंतु वास्तव में राजनीति विज्ञान को किसी समुदाय की शक्ति की लड़ाई से उत्पन्न विवादों के अध्ययन तक सीमित नहीं कर देना चाहिए। किंतु एक ऐसा भी चिंतक वर्ग है, जो राजनीति विज्ञान को कानून व्यवस्था तथा न्याय की व्याख्या करने वाले शास्त्र के रूप में मानता है। यह एक प्रकार से सकारात्मक तथा तर्कपूर्ण दृष्टिकोण है।

राजनीति विज्ञान के अंतर्गत सामान्यतया सरकारी प्रक्रियाओं तथा प्रणालियों का वैज्ञानिक सुव्यवस्थित अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाता है। यह एक आधुनिक व्याख्या है। यह राजनीति विज्ञान की पुरानी व्याख्याओं से ज्यादा विस्तृत है।

(II) भारतीय परिप्रेक्ष्य में राजनीति विज्ञान

प्राचीन काल मे ग्रीस में राजनीति विज्ञान के अंतर्गत सिर्फ राज्य की गतिविधियों का ही अध्ययन किया जाता था, जो कि अत्यंत संकुचित दृष्टिकोण था। किंतु प्राचीन भारत में राजनीति विज्ञान

के अंतर्गत सामाजिक जीवन से संबंधित महत्त्वपूर्ण बिंदुओं का अध्ययन किया जाता था। क्योंकि तब राज्यसिंहासन ही राज्य तथा सरकार का प्रतीक हुआ करता था। इसके बाद राजनीतिक अध्ययनों को राजधर्म अथवा 'राज्यशास्त्र' के नाम से जाना जाने लगा। इसके अलावा 'दंडनीति' तथा 'नीतिशास्त्र' इसके प्रमुख विभाग थे। पहले दो नामों से सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संबंधों का पता चलता है तथा बाद वाले दो नामों से शक्ति प्रयोग के क्षेत्र, ज्ञान के विज्ञान, नैतिक सिद्धांतों तथा अधिकारों का पता चलता है। कौटिल्य ने राजनीति विज्ञान को 'अर्थशास्त्र' कहा था, जो कि सबसे उपयुक्त और महत्त्वपूर्ण नाम है। उसने इसे 'भूभाग' के अधिग्रहण, संरक्षण तथा सुरक्षा से संबंधित नीतियों का अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा था।

उपरोक्त सभी संस्थाओं ने इसे धर्म से संबंधित बताया था तथा विधाता की ओर से किए जाने वाले प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत पर आधारित इसकी कार्यप्रणाली स्वीकार की थी। प्राचीन काल की राजनीतिक गतिविधियों का यथार्थ तथा व्यावहारिक विवरण, नैतिक मूल्यों की व्यवस्था तथा राज्यों की कार्य प्रणाली का विवरण अर्थशास्त्र तथा महाभारत में मिलते हैं। मध्यकाल के दौरान मुगल सल्तनत में राजनीति शास्त्र का अर्थ बिगड़कर 'दरबार' तथा 'हुकूमत' में परिवर्तित हो गया, क्योंकि वहां पर शासकों की कोई वंश परंपरा नहीं थी।

बिटिश शासन के उदय के साथ-साथ राजनीति शास्त्र का स्वरूप भी बदल गया और यह एक प्रकार से विरोध तथा देशभक्ति पर आधारित हो गया। राष्ट्रीय आंदोलन के समय गोखले, तिलक गांधी तथा जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक चिंतन में दुनिया के आधुनिक संदर्भ तथा राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता ही महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में उभर कर सामने आए थे।

भारत में हमेशा से राजनीति शास्त्र को नैतिक मूल्यों की कसौटी पर ही देखा-परखा जाता रहा है। किंतु तमाम परिवर्तनों के फलस्वरूप समय के साथ-साथ ये परिभाषाएं भी बदलती चली गईं।

(iii) राजनीति विज्ञान का क्षेत्र

यहाँ हम राज्य की भूमिका, सरकार की कार्यप्रणाली तथा जनता के साथ इसके संबंधों को राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अंतर्गत अध्ययन करेंगे।

(a) राज्य की भूमिका

राज्य शब्द का पहली बार आधुनिक संदर्भ में प्रयोग इटली के राजनीतिक मैकियावली (1469-1527) ने किया था। हर राजनीतिज्ञ राजनीति विज्ञान का अध्ययन करते समय मुख्य रूप से राज्य का ही अध्ययन करता है।

राज्य के चार प्रमुख तत्व होते हैं: जनता, भू-भाग; जहां जनता निवास करती है, सरकार, जो जनता के लिए कायदे कानून बनाती है तथा संप्रभुता जिसके अंतर्गत निर्णय तथा मामलों का व्यवस्थित करने की स्वतंत्रा प्राप्त होती है। आप इन चारों तत्त्वों के बारे में विस्तार से अगले पाठ में अध्ययन करेंगे।

राज्य का आधार तथा भूमिका के बारे में भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं। कुछ लोगों के अनुसार राज्य जनता की एकता रूपी आधार पर खड़ा होता है। कुछ लोग इसे एक आवश्यक बुराई मानते हैं तथा उनका कहना है कि इसमें नियंत्रण की क्षमता अत्यंत क्षीण होती है। इसके अलावा कुछ

ऐसे भी लोग हैं जिनका मानना है कि प्रभावी सामाजिक परिवर्तनों के लिए राज्य एक आवश्यक तत्व है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार धनी लोगों द्वारा गरीब लोगों के शोषण में राज्य एक सहायक तत्व की भूमिका अदा करता था। गांधीवादी दृष्टिकोण का मानना है कि 'ट्रस्टीशिप' की व्यवस्था द्वारा राज्य ने लोगों के अस्तित्व को बचाए रखा है। इसके द्वारा गरीब से गरीब पुरूष तथा स्त्री को सहायता प्राप्त होती है। यह जनता के जीवन तथा भाग्य को सुरक्षित बनाता है।

हालांकि सभी विचारक इस बात पर सहमत हैं कि राज्य जनता के हित के लिए अस्तित्व में बना रहता है।

राज्य जनता के ट्रस्ट के रूप में कार्य करता है ये यहां तात्पर्य है कि है यह जनता के कल्याण की सोचता है। इसके कारण जनता अपने आपको असहाय नहीं महसूस करती बल्कि इसकी देख-रेख में स्वयं को सहशक्ति की तरह महसूस करती है।

(b) नागरिक तथा सरकार

सरकार राज्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्व होती है क्योंकि राज्य इसके माध्यम से ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है। नियम एवं कानूनों के निर्माण, विवादों के निबटारे तथा शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने संबंधी शक्तियां सरकार के पास ही होती हैं। यह सीमागत अखंडता अथवा देश की एकता को बनाए रखने के लिए प्रतिबद्ध होती है।

आधुनिक जनतांत्रिक सरकारों ने संपूर्ण समाज के नागरिकों के विकास एवं कल्याण हेतु अनेकों गतिविधियां चलाई हैं। हमारे देश जैसे अनेकों विकासशील देशों में उदाहरण के लिए इन गतिविधियों पर दृष्टि डाली जा सकती है। जनता तथा सरकार के बीच बहुत गहरा संबंध होता है। सरकार के साथ-साथ जनता के भी कुछ कर्त्तव्य होते हैं।

जनता का पहला कर्त्तव्य होता है कि वह सरकार को कर भुगतान करे। जनता को सरकार द्वारा बनाए नियमों तथा कानूनों का पालन करके रोगों के रोकथाम तथा स्वच्छ भाईचारे की स्थापना में सरकार की सहायता करनी चाहिए। छोटा परिवार रखकर जनसंख्या नियंत्रण में सरकार की सहायता करनी चाहिए। असामाजिक तथा राष्ट्र द्रोही तत्त्वों को गिरफ्तार करने में सहायता प्रदान कर सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा में सरकार को सहयोग प्रदान करना चाहिए।

उपरोक्त सभी बातों के अलावा सभी नागरिकों को, चाहे वे किसी भी भाषा, समुदाय तथा जाति के क्यों न हों आपसी मामलों के निबटारे पारस्परिक सौहार्द तथा बातचीत के आधार पर करने चाहिए, अहिंसात्मक रूप से नहीं। इस प्रकार के निर्माण मूलक उद्देश्यों से सरकार का बहुत सारा धन, समय तथा ऊर्जा नष्ट होने से बच जाएगा।

(iv) राजनीति विज्ञान राजनीति शास्त्र से भिन्न होता है

कई बार 'राजनीति विज्ञान' के स्थान पर 'राजनीति शास्त्र' शब्द का प्रयोग किया जाता है। किंतु इन दोनों के बीच स्पष्ट अंतर होता है। हमें सबसे पहले इस अंतर को समझ लेना चाहिए। कुछ विद्वान राजनीति शास्त्र को 'सरकार के विज्ञान तथा कला' के रूप में व्याख्यायित करते हैं। किंतु इसे पूर्णतः राजनीति विज्ञान के रूप में व्याख्यायित करना चाहिए।

आजकल राजनीति शब्द का प्रयोग एक अथवा अनेक रूपों में जनता की समस्याओं को हल करने वाले तंत्र के रूप में होने लगा है। किसी समय में (आज भी) शक्ति ग्रहण करने की तकनीक को राजनीति कहा जाता था। किंतु राजनीति विज्ञानी राजनीति के वास्तविक जीवन पर पड़ने वाले व्यावहारिक प्रभावों को ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन का विषय मानते हैं। 'राजनीति विज्ञान' का 'राजनीति' शब्द राजनीति विषयों से संबंधित अध्ययनों की तरफ संकेत करता है और 'विज्ञान' शब्द वैज्ञानिक तर्कपूर्ण तथा व्यवस्थित ढंग से अध्ययन किए जाने की आवश्यकता पर बल देता है।

राजनीति विज्ञानियों के अनुसार राजनीति विज्ञान के अध्ययन के अंतर्गत राज्य के सिद्धांत, संप्रभुता शक्ति की अवधारणा, सरकारों का स्वरूप तथा कार्य प्रणाली, कानूनों के निर्माण तथा लागू करने की प्रक्रिया, चुनाव, राजनीतिक दल, नागरिकों के अधिकार एवं कर्त्तव्य, पुलिस की कार्यप्रणाली तथा राज्य एवं सरकार की कल्याणकारी गतिविधियाँ भी समाहित होती हैं।

सरकार का गठन, सरकार की कार्यप्रणाली, प्रशासन, कानून एवं विधायिका ही वास्तव में व्यावहारिक राजनीति के अंग होते हैं, इसके अलावा व्यावहारिक राजनीति के अंतर्गत अंतराष्ट्रीय राजनीति, विदेश मामले युद्ध एवं शांति, अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा मानवाधिकार की रक्षा आदि मामले भी आते हैं।

राजनीति विज्ञान संबंधी सैद्धांतिक जानकारियों के लिए शैक्षिक कार्यक्रमों तथा शैक्षणिक संस्थाओं के माध्यम से गहन अध्ययन आवश्यक होता है, जबकि व्यावहारिक राजनीति के लिए विनम्र कूटनीतिक व्यवहार, जातिगत शोषण, धार्मिक संवेदना तथा प्रांतीय जिम्मेदारियों का व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक होता है। व्यावहारिक राजनीति की जनता के मन में बहुत गंदी छवि बन चुकी है तथा इसको सम्मानजनक व्यापार नही माना जाता है।

किंतु हम देखते हैं कि बहुत कम ऐसी संस्थाएं अथवा संगठन हैं, जहां राजनीति की घुसपैठ नहीं है अथवा ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति होगा जिसे राजनैतिक पैंतरों का थोड़ा बहुत ज्ञान न हो।

व्यावहारिक राजनीति में भी कुछ धनात्मक पहलू होते हैं। इसे सरकार द्वारा उठाए गए कुछ कदमों के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, जैसे अस्पृश्यता, भूमि सुधार, बंधुआ मजदूर उन्मूलन, मानव की खरीद–फरोख्त पर प्रतिबंध, मजदूरी के लिए किसी पर दबाव डालने से रोकना, न्यूनतम मजदूरी निर्धारण, गरीबी हटाओ तथा 20 सूत्रीय कार्यक्रम तथा जवाहर रोजगार योजना आदि कुछ ऐसे ही व्यावहारिक राजनीति के धनात्मक पहलू हैं।

पाठगत प्रश्न 1.1

रिक्त स्थानों की पूर्ति नीचे दिए उए उचित शब्दों के द्वारा कीजिए :

1. ..... ने राजनीति विज्ञान को ही प्रमुख विज्ञान कहा था। (सुकरात, अरस्तू)

2. राजनीति विज्ञान ..... का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। (समाज, राज्य, राष्ट्र)

3. दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के अंतर्गत धनीवर्ग द्वारा गरीब वर्ग के शोषण से उत्पन्न विसंगतियों का अध्ययन किया जाता है। (ग्रीक, रोमन, मार्क्सवादी)

4. ..... द्वारा शक्ति प्रयोग के क्षेत्र का पता चलता है। (राजधर्म, दंडधर्म, राज्य शास्त्र)

5. 'राज्य' शब्द का सबसे पहले प्रयोग..... .....ने किया था । (सुकरात, मैकियावली कौटिल्य)

6. व्यावहारिक राजनीति का ज्ञान..... द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। (पुस्तकों के अध्ययन विनम्र कूटनीतिक व्यवहार, चुनाव)

1.4 शक्ति तथा अधिकार

शक्ति तथा अधिकार दोनों का संबंध संप्रभुता से होता है, जो कि इसके चार तत्वों में से एक प्रमुख तत्व होता है। इस संबंध में आप इसी पाठ के उपखंड 1.3.4 में पहले ही विस्तार से पढ़ चुके हैं।

(i) शक्ति क्या है

व्यापक अर्थ में शक्ति का अर्थ होता है, 'दूसरों को नियंत्रित करने तथा उन्हें वांछित उद्देश्यों में लगाने की क्षमता' इसके अलावा व्यक्ति समूह तथा राज्य के बीच के संबंधों को बनाए रखने की क्षमता को शक्ति कहते हैं। यह उद्देश्य प्रेम, धार्मिक बल प्रयोग तथा दंड द्वारा पूरा किया जाता है। दूसरे शब्दों में "एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के कार्य एवं मस्तिष्क के ऊपर नियंत्रण स्थापित करने की क्षमता को ही शक्ति कहते हैं।"

सरकार की शक्तियों के बारे में अध्ययन करते समय हमें सरकार के विविध पक्षों पर ध्यान केंद्रित करना पड़ता है। मंत्रियों की जब हम बात करते हैं तो उनके विभाग तथा उस विभाग से संबंधित उनकी शक्तियों पर विचार करते हैं। जनता के ऊपर शासन करने के लिए नौकरशाही तथा विश्वास सरकारी प्रशासन की भी व्यवस्था है। ये विभिन्न प्रकार से कानूनों का निर्माण करके हमारा जीवन सुनिश्चित करते हैं।

यहां एक बात नोट करने लायक है कि शक्ति का अस्तित्व केवल उच्चस्तरीय सामाजिक जीवन से संबंधित लोगों, जैसे सरकार, प्रशासन अथवा चुनावों आदि में ही नहीं दिखाई देता बल्कि इसे छोटे स्तर पर परिवार जैसी इकाइयों में भी देख जा सकता है।

(ii) राजनीतिक शक्ति के स्रोत

प्राचीन तथा मध्यकाल में राजा हुआ करते थे तथा शक्तियां वास्तव में उन्हीं में निहित होती थीं। और वह अपनी इच्छानुसार ही शासन चलाते थे। किंतु कालांतर में जनता ने इस शासन प्रणाली में परिवर्तन हेतु संघर्ष किया। फिर एक व्यक्ति की इच्छाओं पर चलने वाले शासन के बदले एक शासक दल का गठन किया गया तथा इससे संबंधित कुछ नियम बनाए गए। इन नियमों का जहाँ वर्णन किया गया है, उसे संविधान के नाम से जाना जाता है। व्यक्तिगत शासन के स्थान पर विधि के शासन को लागू किया गया।

विधि का शासन : एक ऐसी प्रणाली, जिसके अंतर्गत अमीर तथा गरीब सभी समान होते हैं तथा कानून सर्वोच्च होता है। कानून की दृष्टि में सभी समान होते हैं। इन कानूनों के उल्लंघन पर दंड का प्रावधान होता है।

इसके बाद से वही व्यक्ति शासक होता था, जिसे राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती थी तथा संविधान में निर्धारित नियमों के अनुसार योग्य पाया जाता था। किसी भी देश का संविधान वहा का सर्वोच्च कानून होता है। अब कोई भी शासक अपनी मन मर्जी के अनुसार शासन नहीं चला सकता। वह संविधान के नियमों के अनुसार शासन चलाने पर बाध्य होता है। देश का संविधान ही वास्तविक शक्ति-स्रोत होता है। भारत के संविधान में कहा गया है कि वास्तविक शक्ति जनता के हाथों में होती है, जो कि सरकार का निर्वाचन करती है। आज निर्वाचित सरकार देश पर शासन चलाने के लिए शक्तियों का अधिग्रहण संविधान द्वारा संसदीय नियत्रण के माध्यम से करती है।

(iii) सत्ता

हम शक्ति के अर्थ तथा स्त्रोतों का विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं। अब हम न्याय संगत अथवा विधि सम्मत और अन्याय संगत अथवा गैरकानूनी शक्तियों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। एक ही शक्ति को एक तरफ से ठीक और दूसरी तरफ से गलत सिद्ध किया जा सकता है। जैसे एक डकैत की शक्ति हमारे ऊपर वास्तविक शक्ति कहलाएगी, क्योंकि यदि मैं उसकी इच्छानुसार कार्य नही करता हूं तो मुझे अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ सकता है। किंतु सामान्य रूप से इसे उचित शक्ति नहीं समझा जाता। इसके विपरीत जिस शक्ति का प्रयोग सरकार के प्रतिनिधि, पुलिस तथा न्यायाधीश आपके ऊपर करते हैं, उसे उचित शक्ति प्रयोग कहा जाता है। एक डकैत द्वारा किया जाने वाला शक्ति प्रयोग गैर कानूनी होता है, जबकि सरकार द्वारा किया जाने वाला शक्ति प्रयोग वैध होता है। संवैधानिक प्राधिकरण द्वारा व्यक्ति के ऊपर प्रयोग की जाने वाली शक्ति को सत्ता कहते हैं। सत्ता शब्द में शक्ति तथा वैधानिकता का संयोग सन्निहित है। वैधानिक रूप से किए जाने वाले शक्ति प्रयोग को सत्ता कहते हैं।

सरकार, राज्य अथवा इसके प्राधिकरण द्वारा किए जाने वाले शक्ति प्रयोग की वैधता का अर्थ होता है कि जनता ने अपने ऊपर इनके द्वारा किए जाने वाले शासन को स्वीकार कर लिया है। उदाहरण के लिए देखें कि जब हम अपने बड़ों के सत्ता को स्वीकार करते हुए उनसे सलाह की अपेक्षा करते हैं तब हम कहीं न कहीं उनकी शक्ति की वैधता को भी स्वीकार करते हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजों द्वारा बनाए गए अनेक कानूनों का विरोध किया गया था, क्योंकि हमने अपने अधिकारों की पहचान कर ली थी और अंग्रेजों द्वारा बनाए गए वे कानून हमारे ऊपर शासन करने की दृष्टि से वैध नहीं थे। और अंत में जब अंग्रेजों ने हमारे अधिकारों की वैधता को महसूस किया तो उन्होंने भारत छोड़ दिया। हालांकि आज भी ऐसे कई मुद्दे हैं जिनमें जनता को हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। किंतु यदि किसी वैधानिक मुद्दे पर विरोध स्वरूप जनता संगठित होकर अपनी गतिविधियाँ संचालित करती है तो वहाँ वह शक्तिशाली हो जाती है। गांधीजी को ही लीजिए। उन्होंने दांडी मार्च, सविनय अवज्ञा तथा भारत छोड़ो आंदोलन इसी शक्ति के बल पर चलाया

था। इन आंदोलनों के बल पर गांधीजी ने अंग्रेजों को हरा दिया। वह ऐसा इसलिए कर पाए, क्योंकि उनके साथ एक विशाल जनसमूह था। यदि आप भी किसी शुभ कार्य के लिए कोई संगठन बनाते हैं तो शक्तिशाली बन सकते हैं।

पाठगत प्रश्न 1.2

कोष्ठकों में दिए गए उचित शब्दों के द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. दूसरों को नियंत्रित करने की क्षमता ..... कहलाती है। (प्रीत, शक्ति, प्रभाव)
2. भारत में वास्तविक शक्ति ..... में निहित होती है। (राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, संविधान)
3. एक डकैत द्वारा किसी व्यक्ति के ऊपर किया जाने वाला शक्ति-प्रयोग ..... होगा। (अवैध, वैध, अनुचित)
4. सत्ता दो शब्दों से मिलकर बना है शक्ति तथा..... (शक्ति, भय, वैधानिकता)
5. भारत में अंग्रेजी शासन की प्रकृति ..... थी। (तात्कालिक, लोकप्रिय, अवैधानिक)
6. पुलिस द्वारा किया जाने वाला बल प्रयोग ..... होता है। (क्रूर, वैध, स्थाई)
7. जब आम जनता ..... रूप से किसी वैधानिक मुद्दे पर विरोध करती है तो वह शक्तिशाली हो जाती है। (व्यक्तिगत, संगठित, चुपचाप निरपेक्ष)

1.5 व्यक्ति तथा राष्ट्र के संदर्भ में स्वतंत्रता का महत्त्व

स्वाधीनता अथवा स्वतंत्रता (लिबर्टी) शब्द की उत्पति लैटिन भाषा के 'लिबर' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है उन्मुक्तता। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में स्वतंत्रता का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। सामान्यतया स्वतंत्रता शब्द का अर्थ लोग व्यक्ति के उन्मुक्त व्यवहार से लगाते हैं। लास्की के अनुसार, "स्वतंत्रता का अर्थ होता है मनुष्य की जरूरतों तथा अवसरों को उपलब्ध कराया जाना।"

राजनीतिक चिंतकों का एक दल मानता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का अस्तित्व सही मायनों में तभी सिद्ध होगा जब उसके लिए किसी प्रकार की बाधा न हो। इस प्रकार के नकारात्मक चिंतन वाले लोगों का मानना है कि व्यक्ति को कार्य करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। ये नकारात्मक चिंतन वाले लोग स्वतंत्रता को एक प्रकार का लाइसेंस बनाने के पक्ष में हैं। लाइसेंस का अर्थ है कि बिना रोकटोक कुछ भी करने की स्वतंत्रता, चाहे वह कार्य वैध हो या अवैध।

दूसरी तरफ एक सकारात्मक चिंतक दल भी है, जिसका मानना है कि व्यक्ति को वहीं तक स्वतंत्र होना चाहिए जहां तक उसकी स्वतंत्रता से दूसरे की स्वतंत्रता बाधित न होती हो। व्यक्ति की

सकारात्मक स्वतंत्रता की एक कानूनी सीमा-रेखा होती है। इसका अर्थ होता है कि कानून तथा प्राधिकार की सीमा रेखा के बीच ही स्वतंत्रता होनी चाहिए। कुछ स्वतंत्रताएं कानूनी रूप से प्रतिबंधित भी होती हैं।

कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई स्वतंत्रता की परिभाषाओं के आधार पर कुछ निम्नलिखित प्रमुख तत्व उभर कर सामने आते हैं:

(क) स्वतंत्रता का अर्थ बंधन-मुक्तता नहीं होता।

(ख) व्यक्ति सिर्फ वही कार्य करने के लिए स्वतंत्र होता है, जिससे उसका विकास हो।

(ग) व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले कार्यों पर कुछ निश्चित प्रतिबंध होते हैं।

(घ) स्वतंत्रता का अर्थ सिर्फ व्यक्ति के बाहरी विकास से नहीं होता बल्कि उसके आंतरिक तथा मानसिक विकास में सहायता प्रदान करने वाले तत्व के रूप में भी होता है।

(ङ) स्वतंत्रता पर कुछ कानूनी प्रतिबंध आवश्यक होते हैं।

(i) भारतीय संविधान में स्वतंत्रता का प्रावधान

किसी भी जनतांत्रिक देश में वहाँ के नागरिकों को स्वतंत्रता प्राप्त होती है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने भी अपने देश के नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान करके उन्हें कुछ स्वतंत्रताएं प्रदान की हैं।

1. प्रमुख स्वतंत्रताएँ निम्नलिखित हैं :

   (क) भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

   (ख) शांतिपूर्ण ढंग से सभाएं करने की स्वतंत्रता

   (ग) संगठन निर्मित करने की स्वतंत्रता

   (घ) भारतीय सीमा क्षेत्र में भयमुक्त होकर कहीं भी घूमने-फिरने की स्वतंत्रता।

   (ङ) भारत में कहीं भी बसने अथवा पुर्नव्यवस्थित होने की स्वतंत्रता।

   (च) किसी भी व्यवसाय, व्यापार अथवा पेशे के चुनाव एव कार्य करने की स्वतंत्रता।

2. जब कोई व्यक्ति कानून का उल्लंघन नहीं करता उसे बलपूर्वक किसी प्रकार का दंड नहीं दिया जा सकता। न आयोग द्वारा निर्धारित दंड से अधिक उसे दंड दिया जा सकता है और उसे अपने पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करने से रोका जा सकता है।

3. नागरिकों को अपने जीवन तथा स्वतंत्रता की रक्षा का अधिकार प्राप्त होता है।

4. उन्हें मनमाने ढंग से गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। (आप इस बारे में विस्तार से आगे पढ़ेंगे)।

(ii) स्वतंत्रता की सुरक्षा

हर नागरिक की इच्छा होती है कि उसकी स्वतंत्रता सुरक्षित रहे। सुरक्षा संबंधी स्थितियों को

कुछ आवश्यक तथा पूर्व अधिसूचनाओं के द्वारा नियंत्रित करने के प्रयास किए गए हैं। ये निम्नलिखित हैं।

(क) संविधान में अधिकारों का प्रावधान

(ख) कानून के नियम एवं कानून की दृष्टि में समानता ।

(ग) जनतांत्रिक एवं उत्तरदायी सरकार।

(घ) शक्ति का विकेंद्रीकरण एवं राजनीतिक मामलों में लोगों की अधिक से अधिक भागीदारी।

(ङ) स्वतंत्रता की रक्षा हेतु निष्पक्ष तथा स्वायत्त न्यायपालिका की व्यवस्था।

(च) आर्थिक समानता तथा राष्ट्रीय संसाधनों का समान वितरण।

(छ) सुसंगठित दलीय व्यवस्था तथा जागरूक राजनीतिक दलों की व्यवस्था।

(ज) स्वतंत्र तथा भयमुक्त जनसंचार माध्यम।

(झ) जनता द्वारा सतत् निगरानी, जो कि स्वाधीनता के मूल्यों की रक्षा करती है।

(त) गरीबों, दलितों, समाज के कमजोर वर्गों तथा औरतों की स्थिति को बेहतर बनाने का प्रावधान।

पाठगत प्रश्न 1.3

कोष्ठकों में दिए गए उचित शब्दों के द्वारा रिक्त स्थानों के भरिए :

(क) 'स्वतंत्रता' शब्द की उत्पत्ति ..... भाषा के 'लिबर' शब्द से हुई है। (ग्रीक, रोमन, लैटिन)

(ख) व्यक्ति को असीमित स्वतंत्रता प्रदान करने की हिमायत करना ..... चिंतन कहलाता है। (संपूर्ण, सकारात्मक, नकारात्मक)

(ग) ..... द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है। (न्याय, समानता, कानून)

(घ) अधिकाधिक लोगों के लिए स्वतंत्रता सुनिश्चित कराने के लिए जरूरी है कि ..... ऊपर प्रतिबंध लगाया जाए। (सब, कुछ, किसी के भी ऊपर नहीं)

(ङ) भारतीय नागरिकों को अपने जीवन एवं ..... की रक्षा का अधिकार है। (अवकाश, अंगों, स्वतंत्रता)

1.6 न्याय के सामाजिक तथा राजनीतिक आयाम

न्याय (जस्टिस) शब्द लैटिन भाषा के 'जस्ट' से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है– बंधन। समाज में रहने वाले सभी व्यक्ति कुछ अधिकार एवं कर्त्तव्यों द्वारा एक दूसरे के साथ बंधे होते हैं– तथा जनता को जो चीज उनके अधिकार एवं कर्त्तव्यों से बांधकर रखने का कार्य करती है, वह न्याय। बार्कर के अनुसार "एक संगठित प्रणाली में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ

अथवा एक पुरुष का एक स्त्री के साथ जुड़ाव मानव संबंधों के अंतर्गत आता है और यही न्याय है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार दो अथवा दो से अधिक सिद्धांतों के टकराव से किसी वातावरण में उत्पन्न अस्थिरता को संतुलित करने की प्रक्रिया ही न्याय है। इस प्रकार दो विरोधी दलों के बीच संतुलन सुनिश्चित करना ही न्याय है। न्याय के बारे में एक धारणा यह भी है कि अदालतों अथवा कानूनी फैसले को ही न्याय कहते हैं।"

अब न्याय शब्द का एक अर्थ विभिन्न सामाजिक संदर्भों में भी उभर कर सामने आया है। इस दृष्टि से न्याय का अर्थ माना जाने लगा है कि सामाजिक विसंगतियों को दूर करने तथा इसमें स्वच्छता बनाए रखने के लिए न्याय की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसे मूलतः समानता के अर्थ में समझा जाने लगा है। समानता के व्यापक अर्थ को न्याय तक ही केंद्रित करने की कोशिश की गई है। हमारे अपने संविधान में न्याय प्रणाली के तहत मौलिक अधिकारों की बात करते समय कानून के समक्ष समानता की बात स्वीकार की गई है।

विचारों के इतिहास में न्याय की दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाएं मिलती हैं:

(क) न्याय की संख्यामूलक अवधारणा

(ख) न्याय की समतुल्यता मूलक अवधारणा

न्याय की संख्या मूलक अवधारणा समाज में व्याप्त असमानताओं को समान वितरण प्रणाली के द्वारा दूर करने की वकालत करता है। इस दृष्टि के अनुसार "हर व्यक्ति की संख्या एक होती है एक से अधिक नहीं।" इसका अर्थ हुआ कि व्यक्तियों के बीच उत्पन्न असंतुलन को समान संतुलित न्याय प्रणाली के द्वारा दूर किया जा सकता है।

दूसरी तरफ सुकरात तथा अरस्तू आनुपातिक न्याय की बात करते हैं। उनके अनुसार समान श्रेणी के लोगों को समान वितरण तथा विषम श्रेणी के लिए विषम वितरण की व्यवस्था होनी चाहिए। उनके अनुसार शक्ति तथा संसाधनों का आनुपातिक आधार पर बटवारा किया जाना चाहिए। इसके लिए समाज के लिए व्यक्ति के योगदान को मापदंड मानना चाहिए। अरस्तू इसके लिए एक उदाहरण भी देता है। वह कहता है कि यदि लोगों में बांसुरियां बांटनी हैं तो इसमें सावधानी यह अवश्य बरतनी चाहिए कि बांसुरी सिर्फ उन्हें ही दी जाए जो बांसुरियां बजाना जानते हों।

न्याय एक गत्यात्मक अवधारणा है। प्राचीन काल से लेकर अब तक इसमें लगातार परिवर्तन होते रहे हैं। हमें न्याय की विभिन्न अवधारणाओं का परिचय प्राप्त कर लेना जरूरी है।

(i) सामाजिक न्याय

सामाजिक न्याय एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके तहत समाज में रहने वाले ही व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उसके विकास के सभी उपकरण उपलब्ध कराए जाते हैं। सामाजिक न्याय समाज के असहाय, अक्षम तथा जीवन से निराश हो चुके लोगों को राज्य की तरफ से सुरक्षा कवच के रूप में वितरण न्याय की मांग करता है तथा उनको सुरक्षित जीवन का आश्वासन प्रदान करता है। अब सचाई तो यह है कि आज सामाजिक न्याय एक कल्याणकारी राज्य की पहली आवश्यकता बन गया है।

सुरक्षात्मक विभेद : सामाजिक रूप से पिछड़े तथा कमजोर वर्ग के लोगों को समानता सुनिश्चित करने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का प्रयोग समाज के कमजोर तथा पिछड़े वर्गों में विभेद करने में किया जाता है। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लोगों को आरक्षण के आधार पर वरीयता प्रदान कर उनके साथ न्याय किया गया है।

(ii) आर्थिक न्याय

एम. पी. सीतल्वाद के अनुसार, "आर्थिक न्याय का अर्थ है हर व्यक्ति को अपने जीवन स्तर को व्यवस्थित करने तथा सुदृढ़ आर्थिक स्थिति बनाने की स्वतंत्रता।" इसका अर्थ यह भी है कि समाज में रहने वाले अक्षम, बेरोजगार, बूढ़े तथा ऐसे लोग, जो अपनी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रख सकते, उन्हें समाज द्वारा सहायता प्रदान किए जाने संबंधी प्रावधान।

गांधीजी ने कहा था, "मैं समान वितरण के सिद्धांत को अपना आदर्श मानता हूँ किंतु जहां तक मैं समझता हूँ कि यह वास्तव में संभव नहीं है। इसलिए मैं चाहता हूं कि न्यायसंगत बटवारा हो।"

(iii) राजनीतिक न्याय

राजनीतिक न्याय का अर्थ है राज्य के मामलों में वहां की जनता की हिस्सेदारी तथा देश की निगरानी में उसकी हिस्सेदारी। जनतंत्र में वयस्क मताधिकार प्रणाली एक प्रकार का राजनीतिक न्याय है। राज्य की नौकरियों में सबके लिए समान अवसर, चुनाव लड़ने का अधिकार, भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संगठन बनाने की स्वतंत्रता तथा सरकार की आलोचना करने संबंधी व्यक्ति को प्राप्त मौलिक अधिकार भी राजनीतिक न्याय के अंतर्गत आते हैं।

(iv) न्याय का औचित्य तथा स्वतंत्रता एवं समानता के साथ इसके संबंध

बार्कर ने न्याय की व्याख्या करते समय इसे स्वतंत्रता तथा समानता की एक स्वाभाविक प्रक्रिया माना था। दूसरे अर्थों में कहें तो स्वतंत्रता का तार्किक आधार समानता है तथा समानता का तार्किक आधार न्याय है। स्वतंत्रता तथा समानता न्याय के दो महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं। और स्वतंत्रता तथा समानता का अंतिम लक्ष्य न्याय होता है।

आज यह माना जाने लगा है कि किसी व्यक्ति के विकास में स्वतंत्रता, कानून के समक्ष समानता तथा कानून द्वारा प्रदत्त कुछ हद तक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय का बहुत बड़ा योगदान होता है।

पाठगत प्रश्न 1.4

कोष्ठकों में दिए गए उचित शब्दों के द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) ..... के अनुसार, "व्यक्ति एवं व्यक्ति को जोड़ने वाली संगठित प्रक्रिया को मानवीय संबंध कहा जाता है।" (अरस्तू, लास्की, बार्कर)

(ख) संख्यात्मक न्याय..... सहभागिता की वकालत करता है। (असमान, समान, न्याय सम्मत)

(ग) ..... ने आनुपातिक बटबारे की वकालत की थी। (कौटिल्य, अरस्तू, मैकियावली)

(घ) आर्थिक न्याय में नागरिकों को समान रूप से..... स्तर सुधारने का प्रावधान है। (शक्ति, आर्थिक, जीवत स्तर)

(ङ) नौकरियों में नागरिकों के लिए समान अवसर..... समानता के अंतर्गत आता है (वैधानिक, आर्थिक, राजनीतिक)

आपने क्या सीखा

प्राचीन ग्रीक चिंतक राजनीति विज्ञान का अध्ययन राजनीति दर्शन के अंतर्गत करते थे। मध्यकाल में राजनीति विज्ञान धार्मिक संस्थाओं (चर्च) के अधीन आ गया था। आधुनिक काल में राजनीति विज्ञान ने एक यथार्थ एवं धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण ग्रहण कर लिया। औद्योगिक क्रांति के बाद दुनिया की अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तनों के कारण राज्यों की भूमिका सीमित कर दी गई तथा उन्हें बाहरी देशों के हस्तक्षेप से सुरक्षित रखा गया था।

राजनीति विज्ञान मूलत : राज्य का अध्ययन करने वाला विज्ञान बन गया। इसके अंतर्गत सरकार के विभिन्न रूपों तथा अंगों – जैसे विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपलिका की कार्यप्रणाली का अध्ययन किया जाता है।

बीसवीं शताब्दी के आते-आते राजनीति विज्ञान के सिद्धांतों में व्यवहारवादी परिवर्तन आए तथा इसका अध्ययन क्षेत्र राजनीतिक संस्थाओं से बदलकर राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त व्यक्तियों तथा संस्थाओं तक व्यापक रूप से फैल गया।

प्राचीन भारत में राजनीति विज्ञान को 'अर्थशास्त्र' के नाम से जाना जाता था। इसके अंतर्गत राज्य के भू-भाग के अंतर्गत होने वाली समस्त राजनीतिक गतिविधयों का अध्ययन किया जाता था। तब राजनीतिक गतिविधियां नैतिक तथा धार्मिक आधार पर स्थित थीं।

मध्यकाल के आते-आते भारत में राजनीति का अर्थ दरबारों तक सिमट कर रह गया। ब्रिटिश हुकूमत के समय में इसका दृष्टिकोण बदलकर देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता तथा विरोध हो गया था।

राजनीति विज्ञान के अंतर्गत राज्य की भूमिका तथा सरकार की कार्यप्रणाली एवं दोनों के आपसी संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

राजनीति विज्ञान का अर्थ राजनीति शास्त्र से भिन्न होता है।

शक्ति का अर्थ होता है दूसरों को नियंत्रित करने की क्षमता। जब शक्ति को वैधानिकता प्राप्त हो जाती है तो उसे सत्ता कहते हैं।

सामाज तथा किसी व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले निर्बाध रूप से क्रिया कलापों को ही स्वतंत्रता कहा जाता है। किंतु सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ होता है कि कोई भी व्यक्ति वहीं तक स्वतंत्र

है जहाँ तक इससे किसी दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता बाधित नहीं होती है । कानून स्वतंत्रता की रक्षा करता है। भारतीय संविधान में नागरिकों को कई प्रकार की स्वतंत्रताएँ दी गई हैं। स्वतंत्रता, व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा राष्ट्रीय हो सकती है।

सामान्यतया समुचित समानता मुहैया कराने की प्रक्रिया को न्याय कहा जाता है। सामाजिक न्याय के तहत समाज के कमजोर तथा अक्षम लोगों को सहायता प्रदान की जाती है। सामाजिक न्याय एक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख आवश्यकता होती है। दूसरे प्रकार के न्याय राजनीति तथा आर्थिक न्याय कहलाते हैं। न्याय की पहली शर्त है स्वतंत्रता तथा समानता।

पाठांत प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान का अर्थ बताइए तथा इसके बदलते स्वरूपों की व्याख्या कीजिए.
2. भारतीय संदर्भ में राजनीति विज्ञान की भूमिका पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. राज्य की भूमिका तथा सरकार की कार्यप्रणाली में राजनीति विज्ञान की क्या भूमिका होती है।
4. राजनीति विज्ञान तथा राजनीति शास्त्र में क्या अंतर होता है ?
5. शक्ति का अर्थ बताते हुए सत्ता से इसकी भिन्नता के बारे में स्पष्ट करें।
6. स्वतंत्रता की परिभाषा बताते हुए मानव के विकास में इसकी भूमिका स्पष्ट कीजिए।
7. न्याय की व्याख्या करते हुए इसके सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्वरूपों का विश्लेषण कीजिए।
8. न्याय की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए तथा स्वतंत्रता के साथ इसके संबंधों पर प्रकाश डालिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

1.1 (क) अरस्तू (ख) राज्य
(ग) मार्क्सवादी (घ) मैकियावली
(ङ) व्यवहार

1.2 (क) शक्ति (ख) संविधान
(ग) अनुचित (घ) वैधानिकता
(ङ) अवैधानिक (च) उचित
(द) संगठित

1.3 (क) लैटिन (ख) नकारात्मक
(ग) कानून (घ) कुछ
(ङ) स्वतंत्रता

1.4 (क) बार्कर (ख) समान

(ग) अरस्तू (घ) अर्थ

(ङ) राजनीतिक

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, उपखंड 1.3.1
2. कृपया देखें, उपखंड 1.3.2
3. कृपया देखें, उपखंड 1.3.3
4. कृपया देखें, उपखंड 1.4.1, 1.4.3
5. कृपया देखें, उपखंड 1.5
6. कृपया देखें, उपखंड 1.3.2
7. कृपया देखें, उपखंड 1.6 से लेकर 1.6.3 तक
8. कृपया देखें, उपखंड 1.6.4

2

राष्ट्र, राज्य तथा सरकार

2.1 भूमिका

आज राजनीति के क्षेत्र में राष्ट्रीयता शब्द एक महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में उभर कर सामने आया है। आज दुनिया के अधिकांश देशों ने अपनी पहचान राष्ट्र देश के रूप में निर्मित की है। एक लंबे समय के बाद ये संगठन अस्तित्व में आए हैं। प्राचीन काल में मनुष्य कबीलों में रहा करता था। धीरे-धीरे भौतिक सभ्यता का विकास हुआ और लोगों ने एक सार्वजनिक आर्थिक तथा वैधानिक प्रणाली की आवश्यकता को महसूस किया। फिर उन्होंने खुद ही राजनीतिक समुदाय की स्थापना की। किंतु लोगों द्वारा निर्मित इस प्रकार के स्वायत्तशासी संगठनों के द्वारा एक संगठित राज्य की परिकल्पना संभव नहीं थी। एक लंबी प्रक्रिया के बाद आधुनिक राजनीतिक संगठन का उदय हुआ। इस पाठ में हम राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता की अवधारणा का अध्ययन करेंगे। आप 'राज्य' शब्द का अर्थ तथा समाज एवं सरकार के साथ इसके संबंधों का भी अध्ययन करेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता की अवधारणा को व्याख्यायित कर सकेंगे;
- संप्रभुशक्ति संपन्न राजनीतिक सत्ता के रूप में राज्य का विश्लेषण कर सकेंगे;
- राज्य, समाज, सरकार तथा राष्ट्र के बीच भेद स्पष्ट कर सकेंगे;
- राज्य तथा राष्ट्रीयता के प्रमुख तत्वों की व्याख्या कर सकेंगे ।

2.3 राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता शब्द अंग्रेजी के 'नेशनलिटी' शब्द का पर्याय है। नेशनलिटी शब्द लैटिन भाषा के 'नोटस' शब्द से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है 'पैदा हुआ'। नेशनलिटी शब्द का अर्थ भी एक संबंध अथवा 'पैदा हुआ' से ही संबंधित है । यद्यपि राष्ट्रीयता की अवधारणा भ्रममूलक है। क्योंकि दुनिया में आज एक भी ऐसा राष्ट्र नहीं है जो किसी विशेष प्रजाति अथवा 'एक संबंधों' के आधार पर बना हो। आज हर राष्ट्र में विभिन्न प्रजातियों का मिश्रण मौजूद है। आज विभिन्न प्रजातियों के प्रवासीकरण तथा अंतर्जातीय विवाहों के कारण किसी विशुद्ध प्रजातिमूलक राष्ट्र की परिकल्पना संभव नहीं है।

राष्ट्रीयता का विकास एक मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक अवधारणा के रूप में हुआ है, राजनीतिक अथवा प्रजातीय नहीं। *जे. डब्ल्यू गार्नर के अनुसार* "राष्ट्रीयता का विकास सजातीय सामाजिक समुदाय के लोगों के सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप से आपसी विचारों के आदान-प्रदान हेतु संगठित होने के कारण हुआ"।

रामसे मूर के अनुसार, "राष्ट्र व्यक्ति के शरीर की भाँति होता है, जिसमें हर अंग सौहार्दपूर्ण ढंग से एक दूसरे के साथ जुड़े होते हैं तथा शरीर को मजबूत बनाते हैं । इसी प्रकार राष्ट्र में रहने वाले व्यक्ति भी यदि आपसी सौहार्द तथा सहभागिता का त्याग कर दें तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा"।

2.4 राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता में अंतर

राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता के बीच एक बहुत ही पतली विभाजक रेखा होती है। *ब्राइस के अनुसार,* "दोनों के बीच विभाजन राजनीतिक संगठनों के आधार पर ही किया जा सकता है"। राष्ट्रीयता राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया होती है । राष्ट्रीयता एक बन रहे राष्ट्र की राजनीतिक स्वायत्तता सुनिश्चित करती है। उदाहरण के लिए यहूदियों ने राष्ट्रीयता के बल पर ही अपने गृह राज्य की स्थापना की थी। फिर राष्ट्र के रूप में इसराइल का उदय हुआ था। श्रीलंका के तमिल सिंहलियों से अपनी अलग राष्ट्रीयता मानते हैं, हालाँकि वहाँ दोनों को समान राष्ट्रीयता प्राप्त है।

पाठगत प्रश्न 2.1

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. ..... तथा ..... द्वारा राष्ट्रीय एकता स्थापित होती है ।
2. ब्राइस के अनुसार राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता के बीच ..... के के आधार पर ही भेद किया जा सकता है ।
3. राष्ट्रीय विकास ..... तथा ..... की अवधारणा पर निर्भर करता है ।
4. नेशनलिटी शब्द लैटिन भाषा के ..... शब्द से उत्पन्न हुआ है ।
5. आज ..... तथा ..... के कारण किसी विशुद्ध रूप संबंधों अथवा एक प्रजातीय राष्ट्र की परिकल्पना बहुत कठिन है ।

2.5 राष्ट्रीयता के तत्व

'राष्ट्रीयता' को परिभाषित करना कठिन कार्य है । ऐसा कोई भी पैमाना उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर राष्ट्रीयता को परखा जा सके । चूँकि यह एक भावनात्मक अवधारणा है, तथा एक व्यक्तिपरक विचार अतः हर जगह राष्ट्रीयता से जुड़ी निश्चित गुणवत्ता या हित की तलाश करना संभव करती है? हम दावे के साथ यह नहीं कह सकते कि अमुक तत्वों के मेल से ही राष्ट्रीयता का निर्माण हुआ है । इसलिए राष्ट्रीयता की पहचान को बनाए रखने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण तत्वों की पहचान आवश्यक है ।

(क) प्रजातीय शुद्धता

कुछ लेखक प्रजातीय शुद्धता पर विशेष बल देते हैं । प्रजातीय शुद्धता का अर्थ एक ही समुदाय के सदस्यों की शुद्धता से है। इसका अर्थ हुआ, एक ही समुदाय के लोगों में एक ही तरह की राष्ट्रीय भावना तथा बंधन की अनुभूति।

प्रजातीय शुद्धता बहुत दूर तक नहीं ले जाई जा सकती है। वर्तमान समय में प्रवास एवं अन्तर्जातीय विवाह के कारण कहीं भी प्रजातीय शुद्धता प्राप्त करना सरल नहीं है। आज इसे एक मिथक का ही स्थान प्राप्त हो सकता है। किसी राष्ट्र के उदय में प्रजातीय शुद्धता की धारणा सहायक हो सकती है। परन्तु राष्ट्र के गठन के बाद नहीं।

(ख) भाषा समुदाय

सामान्यतया किसी भी राष्ट्र के नागरिकों की एक आम भाषा होती है, क्योंकि इसी के माध्यम से वे अपने विचार तथा संस्कृति का परस्पर आदान-प्रदान करते हैं।

राष्ट्र के विकास में भाषा एक सहायक तत्व अवश्य है, किंतु यह अनिवार्य तत्व नहीं हो सकती। जैसे स्विस लोग फ्रेंच, जर्मन तथा इटैलियन आदि भाषाएँ बोलते हैं, किंतु उन सबकी राष्ट्रीयता एक है ।

(ग) भौगोलिक संलग्नता

हर व्यक्ति के मन में अपनी ज़मीन से किसी न किसी रूप में लगाव अवश्य होता है, जिसे उसके राष्ट्र, उसकी मातृभूमि अथवा उसकी पितृभूमि के रूप में जानते हैं । किंतु इसराइल बनने से पूर्व यहूदी पूरी दुनिया में बिखरे हुए थे, किंतु उनके मन में इज़राइल के प्रति ही लगाव था।

(घ) धार्मिक समुदाय

पहले कभी राष्ट्र के निर्माण में धार्मिक भावनाओं की मुख्य भूमिका हुआ करती थी । उदाहरण के लिए प्रोटेस्टेंट की मुखालफत करने पर ब्रिटेन तथा स्पेन के बीच युद्ध छिड़ गया था । किंतु आज एक शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण के लिए धर्म निरपेक्षता को एक प्रबल तत्व माना जाने लगा है, जैसे भारत में अनेक धर्मों के होते हुए भी वहां एक सशक्त राष्ट्रीयता मौजूद है।

(ड़) सामान्य राजनीतिक आकांक्षाएँ

कुछ विचारक राष्ट्र निर्माण की इच्छा आकांक्षा को राष्ट्रीयता एक प्रमुख सिद्धांत मानते हैं। 1917 के पेरिस शांति सम्मेलन में इसी आधार पर Self-determination nation के सिद्धांत को स्वीकार किया गया।

(च) अन्य तत्व

राष्ट्र के निर्माण में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्व होता है आर्थिक हितों की समरूपता। *मिल के अनुसार* "किसी भी राष्ट्र की पहचान उसकी राजनीतिक पूर्वापरता अपना राष्ट्रीय इतिहास तथा किसी प्राचीन ऐतिहासिक घटना पर एक सामूहिक प्रतिक्रिया तथा उससे जुड़ी स्मृतियों के आधार पर निर्मित होती है" भारत में अंग्रेज़ी उत्पीड़न के खिलाफ राष्ट्रीयता की ज्वाला भड़क उठी थी । किसी देश के साहित्य तथा कला में अभिव्यक्त हुए सामूहिक ऐतिहासिक अनुभव, सामूहिक परंपरा इत्यादि। एक राष्ट्रीयता वाले सदस्यों में आपस में एक तरह के बंधन में बाँधते है। राष्ट्रीयता की संवेदना या बंधन का विकास करते है।

उपरोक्त सभी तत्व राष्ट्रीयता को उभारने में सहायक होते हैं, किंतु इनमें से कोई भी तत्व आत्मिक रूप से राष्ट्रीयता को निर्मित नहीं करता । वस्तुतः राष्ट्रीयता एक व्यक्ति परक भावनात्मक संवेदना से जुड़ी चीज़ है, जिसे किसी भी एक वस्तुगत तथ्य के द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता। इन उपरोक्त तथ्यों में से किसी भी तथ्य की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति राष्ट्रीयता की भावना की उपस्थिति या अनुपस्थिति को अनिवार्य रूप से प्रभावित नहीं करता है।

पाठगत प्रश्न 2.2

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. राष्ट्रीयता तथा ..... के मिलने से राष्ट्र का निर्माण होता है।
2. राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने वाले तत्व है ....., ..., ..., ...,तथा..... ।
3. एक समुदाय की एक आम भाषा का अर्थ है..... ।
4. एक सामूहिक इतिहास लोगों में एक मजबूत राष्ट्रीय..... का विकास करने में सहायक होता है।
5. एक विस्तृत अर्थ में संस्कृति का अर्थ है..... ।

2.6 राज्य

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में 'राज्य' शब्द का अत्यंत महत्त्व होता है। हालाँकि राष्ट्र, सरकार अथवा समाज के पर्यायवाची शब्द के रूप में इसका हमेशा से गलत प्रयोग होता रहा है । इसके अलावा इसका प्रयोग राज्य प्रबंधन तथा राज्य व्यवस्था आदि के अर्थ में भी किया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे राष्ट्रों का निर्माण कई राज्यों के मेल से हुआ है। किंतु राजनीति विज्ञान के अध्ययन में राज्य का एक अलग ही अर्थ होता है। यहाँ इसका एक विशेष एवं निश्चित अर्थ होता है ।

राजनीति विज्ञान में "एक निश्चित सीमा में बिना किसी बाहरी नियंत्रण के एक गठित सरकार के अधीन संगठित लोगों के समुदाय को राज्य कहा जाता है"।

मनुष्य स्वभाव से संगठन बनाकर रहने वाला प्राणी है। क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है और वह अकेले नहीं रह पाता। किंतु समाज में हर व्यक्ति अच्छा और भला नहीं होता। इसमें लालची, घमंडी, ईर्ष्यालु, स्वार्थी आदि तरह-तरह के स्त्री-पुरुष निवास करते हैं । बर्क के अनुसार " समाज में व्यक्ति की संवेदनाओं का महत्त्व शारीरिक तथा सामूहिक अर्थ में ही होता है। व्यक्ति अपनी शक्तियों का व्यर्थ में दुरुपयोग करता रहता है। इसलिए इसकी संवेदनाओं को ठीक ढंग से उपयोगी बनाने की आवश्यकता होती है"। इसलिए सबसे बेहतर होता है व्यक्ति की दुष्प्रवृत्तियों को राजनीतिक शक्ति द्वारा नियंत्रित किया जाए। इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य सामूहिक व्यवहार के लिए बाध्य होता है। यदि वह इस नियम का उल्लघंन करता है तो दंड का भागी होता है। समाज व्यक्ति की सहभागिता की आवश्यकता की पूर्ति करता है । और राज्य इस सहभागिता में उत्पन्न गड़बड़ियों को सुधारने का प्रयास करता है।

अतः राज्य के लिए कुछ आवश्यक तत्व भी होते हैं, जैसे एक निश्चित भू-भाग तथा इसके द्वारा अपनी शक्तियों का समुचित प्रयोग। राज्य एक बेहतर जीवन के लिए संकल्पबद्ध होता है। यह स्वाभाविक तथा आवश्यक है। *अरस्तू* के अनुसार 'जीवन की साधारण आवश्यकताओं से ही राज्य की उत्पत्ति होती है तथा वह एक बेहतर जनजीवन के लिए अस्तित्व में बना रहता है।'

कोई भी व्यक्ति सिर्फ राज्य के अंतर्गत ही अपनी शक्ति तथा योग्यताओं का पूर्ण विकास कर सकता है। जब तक कोई सत्ता, कोई संगठन, कोई कानून नहीं होगा तब तक एक समाज का अस्तित्व कायम नहीं रह सकेगा। राज्य का अस्तित्व तभी तक है, जब तक कि मानव सांगठनिक रूप से समाज में रह रहे होते हैं। राज्य एक लंबे समय तथा प्रक्रिया के बाद अस्तित्व में आता है। राज्य का वर्तमान स्वरूप एक लम्बे समय में धीरे-धीरे सामान्य से जटिल संगठन के रूप में विकसित हुआ है।

इस प्रकार राज्य एक आवश्यक तथा सार्वभौम संगठन है । इसकी परिभाषा को लेकर कोई भ, दो विद्वान आपस में एकमत नहीं हैं। कुछ इसे एक आवश्यक बुराई मानते हैं, कुछ बुराई तथा कुछ इसे राजनीतिक प्रणाली मानते हैं। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ उद्धृत हैं ।

वुडरो विल्सन के अनुसार, "जनता कानूनी दबावों के तहत एक निश्चित भू-भाग में संगठित होने पर बाध्य होती है ।" *लास्की* के अनुसार, "राज्य एक क्षेत्रीय समाज है, जो सरकार तथा प्रजा में बँटा होता है तथा अपने निश्चित भू-भाग के भीतर के अन्य सभी संगठनों से ऊपर होता है।" राज्य की सबसे अच्छी परिभाषा *गार्नर* ने की थी, "राजनीति शास्त्र और सार्वजनिक कानून के विचार से" राज्य ऐसे लोगों का समुदाय है, जो साधारणतः बड़ी संख्या में हों, जिसका एक निश्चित भू-भाग पर अधिकार हो, जो बाहरी नियंत्रण से मुक्त हो, जो लगभग स्वतंत्र हो, तथा जिसकी एक संगठित सरकार हो तथा जिसके निवासियों का एक बहुत बड़ा हिस्सा, आदतन इसकी आज्ञा का पालन करते हों।"

गार्नर ने निम्नलिखित प्रमुख तत्वों का विवेचन किया है।

1. बड़ी संस्था में जनसमूह

2. स्थाई रूप से जनता द्वारा अधिगृहित निश्चित भू-भाग।

3. एक संगठित सरकार जिसकी आज्ञा का पालन अधिकतर लोग आदतन करते हो।

4. स्वतंत्रता अर्थात् संप्रभुता तथा सर्वोच्चता शक्ति।

उपरोक्त सभी विद्वानों की परिभाषाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि राज्य के तीन तत्वों को सभी ने स्वीकारा है – जनसंख्या, भू-भाग तथा सरकार। संप्रभुता इसका चौथा तत्व है, जिस पर सभी विद्वान एकमत नहीं हैं, किंतु ये सभी सरकार की एक खास विशेषता की तरफ संकेत करते हैं। *मैकाइवर* इसे बल प्रयोग की शक्ति कहता है तो *ओपेनहाइम* संप्रभुता। सरकार में जितनी ही गुणवत्ता होगी राज्य भी उतना ही उच्च स्तरीय होगा। राज्य का प्रमुख तत्व होता है बलप्रयोग की शक्ति तथा उस पर एकाधिकार"। किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय के ऊपर सर्वोच्च शक्ति के प्रयोग को संप्रभुता कहते हैं।

"संप्रभु कानूनी तौर पर किसी भी व्यक्ति या समूह से ऊपर है तथा सर्वोच्च शक्ति रखता है।"

पाठगत प्रश्न 2.3

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. राज्य संगठित ..... की उच्च श्रेणी को कहते है ।
2. राज्य का अस्तित्व..... के एकाधिकार द्वारा सुरक्षित होता है।
3. राजनीति विज्ञान में राज्य का अर्थ होता है..... ।
4. *वुडरो विल्सन* ने राज्य की क्या परिभाषा दी है..... ।
5. राज्य की उत्पत्ति से संबंधित *अरस्तू* के क्या विचार हैं..... ।

2.7 राज्य के प्रमुख तत्व

उपरोक्त विश्लेषणों के आधार पर राज्य के चार तत्व होते हैं – **जनसंख्या, भू-भाग, सरकार** तथा **संप्रभुता** ।

(i) जनसंख्या

राज्य एक मानविक संस्था है। किसी भी संगठित समुदाय के लिए भू-भाग तथा जनसंख्या के दो प्रमुख तत्व होते हैं। जनसंख्या का अर्थ उन मानविक समुदायों से है, जिनसे राज्य का निर्माण होता है। अंटार्कटिका को राज्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ कोई जनसंख्या नहीं है । जनसंख्या राज्य के अस्तित्व को बनाए रखती है । अलग-अलग राज्यों की जनसंख्या का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है ।

अरस्तू तथा *प्लेटो* ने ग्रीक शहर राज्यों एथेंस एवं स्पार्टा को ही राज्य कहा था। *प्लेटो* ने एक आदर्श राज्य की जनसंख्या 5,040 निर्धारित की थी। *अरस्तू* ने कहा था कि राज्य की जनसंख्या न तो बहुत बड़ी होनी चाहिए न बहुत छोटी। विशाल जनसंख्या वाला राज्य अपनी ही जरूरतों को पूरा करने में परेशान रहता है तथा छोटी जनसंख्या वाले राज्य का शासक समुचित ढंग

से चलता है। रूसी ने यह संख्या सिर्फ 10,000 बताई थी। किंतु वर्तमान राज्यों की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए आज किसी भी राज्य के लिए जनसंख्या का निर्धारण असंभव है। आधुनिक राज्यों में बड़ी जनसंख्या पाई जाती है। कुछ राज्यों जैसे USSR (सोवियत समाजवादी गणतंत्र जो पहले था) इत्यादि में माताओं को बड़े परिवार रखने के लिए incentive दिये जाते हैं। भारत की एक प्रमुख समस्या अत्यधिक जनसंख्या हैं चीन में परिवारों के लिए एक बच्चे का आदर्श अपनाया जा रहा है। मुसलमानों जैसे तानाशाहों ने बड़ी जनसंख्या का बढ़ावा दिया था अतः जनसंख्या का कोई निश्चित या निर्धारित आकार नहीं हो सकता है।

इस प्रकार चाहे सिद्धांततः अथवा व्यवहारतः किसी भी प्रकार से जनसंख्या का निर्धारण नहीं किया जा सकता। जनसंख्या की गुणवत्ता महत्त्वपूर्ण होती है। राज्य के लिए स्वस्थ, बुद्धिमान तथा अनुशासित नागरिकों की आवश्यकता होती है। उन्हें उत्तरदायी तथा जीवंत होना चाहिए।

(ii) भू-भाग

जिस तरह हर नागरिक राज्य का सदस्य होता है, उसी प्रकार धरती का एक-एक टुकड़ा राज्य का हिस्सा होता है। चाहे वह छोटा हो या बड़ा, किंतु बिना निश्चित भू-भाग के राज्य की परिकल्पना संभव नहीं है। राज्य के सार्वजनिक भू-भाग में निवास करने के कारण ही तो लोग एक-दूसरे से परस्पर संबद्ध होते हैं, और इस निर्धारित भू-भाग से प्यार करने के कारण ही देशभक्ति का उदय होता है। कुछ लोग अपने देश को पितृभूमि कहकर पुकारते हैं, तो कुछ लोग मातृभूमि किंतु वास्तव में अपने निश्चित भू-भाग के लिए प्रेम होता ही है।

एक निश्चित भू-भाग के बिना अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भाग लेना कठिन होगा। राज्य के लिए निर्धारित भू-भाग इसलिए भी आवश्यक होता है कि राज्य की एकता तथा अखंडता को बनाए रखने के लिए दूसरे राज्यों द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेपों को रोका जा सके।

इस निर्धारित भू-भाग के अंतर्गत भूमि, जल तथा वायु सब कुछ समाविष्ट होता है। एक संप्रभु राज्य का अपने भू-भाग के जल, पहाड़, नदी, झरने, आकाश, मैदान, हवा सब कुछ पर नियंत्रण होता है। राज्य के सीमा क्षेत्र से लगे हुए समुद्री तट का भी एक निश्चित क्षेत्र राज्य की सीमा के अंतर्गत आता है। एक राज्य का भू-भाग रूस के समान विशाल तथा सेंट मरीना जितना छोटा भी हो सकता है। राज्य के भू-भाग का प्रभाव उस राज्य की सरकार के स्वरूप पर भी पड़ता है। छोटे राज्यों में एकात्मक सरकारों तथा भारत एवं अमेरिका जैसे विशाल राज्यों में संघात्मक सरकार अधिक उपयुक्त होती हैं।

(iii) सरकार

जनता का एक साथ मिलकर रहने का उद्देश्य तब तक पूरा नहीं होता जब तक कि वह समुचित ढंग से संगठित नहीं हो जाती तथा निर्धारित कानून एवं व्यवस्था का पालन नहीं करती। जो संस्था कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने तथा या सहकारिता सुनिश्चित करने का कार्य करती है उसे ही सरकार कहते हैं। सरकार एक निर्धारित भू-भाग में रहने वाले लोगों के सामूहिक उद्देश्यों की तरफ भी ध्यान देती है। इस माध्यम से आम नीतियों का निर्धारण किया जाता है, सार्वजनिक मामलों को नियंत्रित किया जाता है तथा सार्वजनिक हितों को बढ़ावा दिया जाता है। सरकार के बिना जनता में आपसी संबद्धता तथा सामूहिक गतिविधियों की संभावना समाप्त हो जाती है।

सरकार की अनुपस्थिति में अनेक समूहों, दलों तथा विखंडनवादी संगठनों के उदय की संभावनाएं बढ़ जाएगी, तथा गृहयुद्ध अथवा आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

इस प्रकार एक सामान्य सत्ता एवं व्यवस्था की आवश्यकता होती है जिसके अधीन लोग निवास कर सकें। मानव जीवन के लिए सरकार प्रथम आवश्यकता होती है। बिना सरकार के राज्य का कोई अस्तित्व नहीं है, चाहे सरकार का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो। सरकार किसी भी रूप में गठित की जा सकती है। यह वंशवादी, जनतांत्रिक अथवा तानाशाही किसी भी रूप में हो सकती है। इसके अलावा भारत की तरह संसदात्मक अथवा अमेरिका की तरह अध्यक्षात्मक सरकार भी हो सकती है।

(iv) संप्रभुता

किसी निश्चित भू-भाग में रहने वाली जनसंख्या के एक सरकार के अधीन नियंत्रित हो जाने मात्र से ही उस राज्य का दर्जा नहीं प्राप्त हो जाता, क्योंकि इसके लिए संप्रभुता भी आवश्यक होती है। 1947 से पूर्व भारत में भी अन्य सभी तत्व मौजूद थे, किंतु उसे राज्य का दर्जा नहीं प्राप्त था। क्योंकि तब तक यह संप्रभुता संपन्न नहीं था। आंतरिक तथा बाह्य दो प्रकार की संप्रभुता होती है। आंतरिक संप्रभुता का अर्थ होता है राज्य की अपनी सीमा के भीतर एकाधिकार। इसमें किसी दूसरे राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता। उसकी इस स्वतंत्रता में किसी बाहरी सत्ता का भाग नहीं होता।

इसकी इच्छाएँ इसकी अपनी हैं तथा किसी बाह्य सत्ता की इच्छाएँ नहीं हैं। इस प्रकार एक राज्य के अस्तित्व के लिए जनसंख्या, एक निश्चित भू-भाग, संगठित सरकार तथा संप्रभुता की आवश्यकता होती है। इनमें से किसी भी एक तत्व के न रहने पर राज्य नहीं रह पाएगा। इस प्रकार भारतीय गणराज्य के 25 प्रान्तों को राज्य नहीं बल्कि प्रान्त कहना अधिक उपयुक्त होगा।

पाठगत प्रश्न 2.4

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. राज्य के चार प्रमुख तत्व हैं ....., ..., ..., ... ।
2. *सुकरात* ने राज्य की जनसंख्या ..... तथा *रूसो* ने ..... बताई थी।
3. एक निश्चित भू-भाग के प्रति प्रेम से ..... का उदय होता है ।
4. राज्य के भू-भाग के अंतर्गत ....., ... तथा ..... समाविष्ट होते हैं।
5. छोटे राज्य में एकात्मक तथा बड़े राज्य में ..... सरकार की संभावना अधिक होती है ।
6. कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने वाली एजेंसी को ..... कहते हैं ।
7. संप्रभुता दो प्रकार की होती है, ... तथा ..... ।

2.8 राज्य तथा सरकार

सरकार सार्वजनिक नीतियों को निर्धारित करने वाली तथा सार्वजनिक हितों को लागू करने वाली एक एजेंसी अथवा तंत्र है। यह एक प्रकार से राज्य की सत्ता की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है।

यह राज्य में स्थित सभी व्यक्तियों, संस्थाओं तथा एजेंसियों की अभिव्यक्ति में स्थित होती है । राज्य में राज्य की सत्ता ही अंतर्मुक्त होती है, जबकि सरकार की सत्ता नहीं। राज्य अमूर्त होता है, जबकि सरकार मूर्त। राज्य स्थाई होता है जबकि सरकार अस्थाई। सरकार के तीन अंग होते हैं, विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका। ये तीनों अंग अपने-अपने निर्धारित क्षेत्र में सरकार के नाम से संचालित होते हैं। इस प्रकार सरकार तथा राज्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, कोई भी राज्य सरकार के बिना संभव नहीं है।

2.9 राज्य तथा समाज

यहाँ हमें राज्य तथा समाज के अंतर को जान लेना आवश्यक है। नहीं तो हमें भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि व्यक्ति के हर मामले में राज्य का हस्तक्षेप होता है तथा इससे व्यक्ति की आजादी प्रभावित होती है। अरस्तू ने राज्य तथा समाज के बीच विभेद किया था। किंतु एक तानाशाह के लिए दोनों में कोई भेद नहीं होता। वह तो स्वयं को ही सरकार और राज्य दोनों समझता है। किंतु तानाशाही को सामान्य स्थिति नहीं माना जाता।

समाज मानवीय इच्छाओं तथा उसके सांगठनिकता की परिणति है। राज्य संप्रभु होता है। किंतु समाज नहीं। यह संपूर्ण मानवीय संबंधों का समुच्चय होता है। समाज जीवन के संपूर्ण उपबंधों (धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक) से संबद्ध होता है। यह मानव की इनसे संबंधित संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य करता है ।

भौगोलिक दृष्टि से राज्य तथा समाज दोनों एक ही भू-भाग में स्थित होते हैं। किंतु दोनों की उत्पत्ति, उद्देश्यों एवं कार्यप्रणाली में अंतर होता है। राज्य केवल राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है, जबकि समाज ऐसे कई उद्देश्यों की पूर्ति करता है। राज्य संगठनों के अन्तर्गत सभी सामाजिक संगठन नहीं आते हैं।

समाज की प्रकृति सामान्य तथा स्वाभाविक होती है, जबकि राज्य एक कृत्रिम संगठन होता है। समाज के लिए कोई संगठन अनिवार्य नहीं होता। यह असंगठित संस्था होते हुए भी एक संगठित संस्था की तरह प्रतीत हो सकता है। किंतु सरकार का अस्तित्व बिना संगठन के संभव नहीं है।

राज्य के निर्धारित विधान होते हैं, जिन्हें कानून कहा जाता है। कानूनों के उल्लंघन पर दंड का प्रावधान होता है। समाज के अपने कायदे-कानून होते हैं, जिनके उल्लंघन पर सामाजिक निर्वासन का प्रावधान होता है। सामाजिक क्षेत्र की रक्षा आपसी सहभागिता तथा आत्मिक नियंत्रण की प्रवृत्तियों द्वारा होती है तथा इसके लिए लोक-कल्याण की भावना ऊर्जा का कार्य करती है। यह एक लचीली प्रक्रिया है। किंतु राज्य के क्षेत्र की रक्षा एक निर्मित तंत्र तथा सामाजिक शक्तियों द्वारा किया जाता है। यह एक कठोर प्रक्रिया होती है। राज्य से पूर्व भी समाज का अस्तित्व था। सच्चाई तो यह है कि राज्य का अस्तित्व एक समाज के अंतर्गत ही संभव है। राज्य एक संगठित समाज का उच्च स्तरीय स्वरूप होता है।

इन तमाम भिन्नताओं के बावजूद राज्य तथा समाज में परस्पर आंतरिक आत्मनिर्भरता होती है। सामाजिक संरचना को ध्यान में रखते हुए ही राज्य द्वारा कानूनों का निर्माण किया जाता है। यह राज्य तथा सरकार के स्वरूपों पर भी काफी हद तक निर्भर करता है।

2.10 राज्य तथा संघ

संघ को एक जन समुदाय द्वारा अपने हितों तथा सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निर्मित संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। संघ का निर्माण कुछ आम उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित होने पर होते हैं। हालाँकि राज्य भी सामूहिक गतिविधियों द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गठित एक मानव समुदाय का संगठन होता है। किंतु इन दोनों में कुछ मूलभूत अंतर होते हैं।

उदाहरण के लिए राज्य के लिए एक निश्चित भू-भाग की आवश्यकता होती है, जबकि संघ के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है, जबकि संघ की सदस्यता स्वेच्छा पर आधारित होती है। संघ के कार्यक्षेत्र तथा उद्देश्य सीमित होते हैं, जबकि राज्य के अंतर्गत संस्थागत तमाम गतिविधियां समाहित होती हैं। सिर्फ राज्य ही अपने बल प्रयोग के अधिकार का प्रयोग कर सकता है। राज्य का संघों के ऊपर नियंत्रण होता है। राज्य अपनी गतिविधियों को सुचारु रूप से चलाने के लिए संघ का गठन कर सकता है तथा इन पर प्रतिबंध भी लगा सकता है। राज्य संप्रभु होता है, जबकि संघ संप्रभु नहीं होते। राज्य अपने कानूनों को लागू कर सकता है, जबकि संघ अपने सदस्यों से केवल इन कानूनों के पालन हेतु अनुरोध कर सकता है।

2.11 राज्य तथा राष्ट्र

पहले भी 'एक राज्य तथा एक राष्ट्र' के सिद्धांत के समर्थक हुआ करते थे, किंतु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद व्यावहारिक राजनीति में आए बदलावों के कारण यह सिद्धांत भी बदल गया। आज राष्ट्र का अर्थ राज्य तथा राष्ट्रीयता के संयोग से निर्मित होता है। राज्य के लिए हमेशा राष्ट्र की आवश्यकता नहीं होती। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व आस्ट्रिया हंगरी राज्य थे, राष्ट्र नहीं, क्योंकि वहां पर रहने वाली जनसंख्या विषम प्रजातियों की थी, जिसके कारण वे सांस्कृतिक रूप से समरूप सामाजिक संगठन का निर्माण नहीं कर पा रहे थे। इस प्रकार वारनेस के अनुसार राष्ट्र के लिए मनोवैज्ञानिक एकता तथा अभिव्यक्तियों की एकता पहली शर्त थी।

राज्य एक निर्धारित भू-भाग में रहने वाले लोगों का संगठन है, जो आंतरिक तथा बाह्य दोनों तरफ से संप्रभु होता है। राष्ट्र के भीतर रहने वाले लोग मनोवैज्ञानिक रूप से संगठित तथा समान रूप से अपने दुःख एवं संवेदनाओं का बंटवारा करते हैं।

राज्य तथा राष्ट्र के अर्थ एवं आपसी अंतः संबंधों में भिन्नता होती है । स्कॉट तथा वेल्स की राष्ट्रीयता भिन्न है किंतु दोनों ब्रिटिश राज्य के अधीन हैं । राज्य राष्ट्रों से संबंद्ध भी हो सकते हैं जैसे अल्साक तथा लोराइन 1870 से 1918 तक जर्मनी के अधीन थे तथा 1940 से 1945 तक फ्रांस से संबद्ध थे और आज पुनः फ्रांस से संबद्ध हैं।

किसी सरकार के अधीन किसी साधारण संगठन को राष्ट्र का दर्जा नहीं दिया जा सकता। हंगरी तथा आस्ट्रेलिया प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व राज्य थे, राष्ट्र नहीं। क्योंकि वहां विभिन्न राष्ट्र के लोग निवास करते थे, जो कि एक राजनीतिक बंधन के तहत साथ रहने को मजबूर थे।

इस प्रकार एक ऐसा राज्य, जिसकी अपनी राष्ट्रीयता हो उसको राष्ट्र-राज्य कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह क्षेत्र, जहां के लोग एक समान धर्म (पाकिस्तान) समान भाषा (अमेरिका)

अथवा समान परंपरा (भारत) के अंतगर्त एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, यदि वे एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करते हैं तो वहां एक राष्ट्र-राज्य की स्थापना होती है।

पाठगत प्रश्न 2.5

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. राष्ट्रीयता..... होती है, जबकि राज्य..... होती है।
2. एक संघ के कार्य ..... होते हैं।
3. राज्य की सदस्यता..... होती है, जबकि संघ स्वंयसेवी होता है।
4. राज्य की सत्ता..... होती है, जबकि सरकार अपनी सत्ता राज्य के..... प्राप्त करती है।
5. ..... , ...तथा ..... सरकार के तीन अंग होते है।
6. ..... राष्ट्र राज्य नहीं था।

2.12 आपने क्या सीखा

राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता का अर्थ समझा।

राष्ट्र को निर्मित करने वाले तत्वों जैसे प्रजाति, समुदाय, धर्म, भाषा, भौगोलिक एकता, सार्वजनिक बाजार तथा सामूहिक ऐतिहासिक अनुभवों के बारे में पढ़ा।

आपने राज्य के अर्थ, उत्पत्ति तथा उद्देश्यों के बारे में पढ़ा।

आपने राज्य, संघ तथा राष्ट्र के बारे में जानकारी प्राप्त की।

आपने पढ़ा कि बल प्रयोग करके शक्ति सिर्फ राज्य के पास होती है। ये सभी राजनीति विज्ञान के आधारभूत तत्व मूलतः राजनीति विज्ञान एक संगठित राज्य से संबंधित मनुष्यों का अध्ययन करता है।

2.13 पाठांत प्रश्न

1. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए।

   (क) राष्ट्र (ख) राज्य (ग) संघ (घ) सरकार।
2. राष्ट्रीयता के निर्माण में कौन-कौन से तत्व सहायक होते हैं, इनमें से किन्हीं दो के बारे में विस्तार से बताइए।
3. राज्य किसे कहते हैं ? राज्य के प्रमुख तत्वों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।
4. राज्य तथा संघ में कोई तीन प्रमुख अंतर बताइए।
5. राज्य तथा समाज में क्या अंतर है तथा दोनों किन बिंदुओं पर परस्पर निर्भर करते हैं।

6. निम्नलिखित के बारे में बताइए कि क्या वे राज्य हैं ? यदि हाँ तो कैसे और नहीं तो कैसे?

(क) भारत (ख) संयुक्त राष्ट्र (ग) बिहार (घ) संयुक्त राज्य अमेरिका।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

2.1 1. एकता, संप्रभुता

2. राजनीतिक संगठन

3. आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक

4. 'नोटस'

5. भावनात्मक अंर्तजातीय विवाहों

2.2 1. संप्रभुता

2. प्रजातीय एकता, भाषाई एकता, भौगोलिक एकता व समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा संस्कृति।

3. सार्वजनिक साहित्य

4. संवेदना अथवा बंधन

5. जीने का एक ढंग या तरीका

2.3 1. समाज

2. बल प्रयोग की शक्ति

3. "एक निश्चित भू-भाग पर गठित सरकार के अधीन, बिना बाहरी नियंत्रण के संगठित लोगों का समुदाय।"

4. "एक निश्चित भू-भाग में कानूनी दबावों के तहत संगठित लोगों का समुदाय।

5. अरस्तु के अनुसार, "राज्य व्यक्ति के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गठित होता है तथा मानव के कल्याण के लिए अस्तित्व में बना रहता है।"

2.4 1. जनसंख्या, भू-भाग, सरकार तथा संप्रभुता

2. 5,040, 1,000

3. देशभक्ति

4. भूमि, जल तथा आकाश

5. संघात्मक

6. सरकार

7. आंतरिक तथा बाह्य ।

2.5 1. वस्तुगत तथा उद्देश्यमूलक

2. सीमित

3. आवश्यक अनिवार्य

4. अंतर्निहित, संविधान

5. विधायिका कार्यपालिका तथा न्यायपालिका

6. आस्ट्रिया, हंगरी

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, उपखंड 2.7
2. कृपया देखें, उपखंड 2.5
3. कृपया देखें, उपखंड 2.6 तथा 2.7
4. कृपया देखें, उपखंड 2.10
5. कृपया देखें, उपखंड 2.9
6. (क) हाँ ..... यह संप्रभु है।

   (ख) नहीं ..... यह संप्रभु राज्यों का संघ है।

   (ग) नहीं ..... यह भारतीय संघ की एक इकाई है।

   (घ) हाँ ..... यह संप्रभु है।

3
राष्ट्र–राज्य तथा राजनीति का भूमंडलीकरण

3.1 भूमिका

पाश्चात्य सभ्यता तीन कालखंडों में विभाजित है– प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक राष्ट्र-राज्य प्रणाली, इन तीनों कालखंडों में यूरोप में राष्ट्र-राज्य के जन्म और क्रमिक विकास की परिणति मात्र है । राष्ट्र-राज्य शब्द से ही यह परिलक्षित होता है कि 'राष्ट्र' तथा 'राज्य' में कितना मूलभूत अंतर है, यद्यपि दोनों में संयोजन भी विद्यमान है । राज्य की परिकल्पना एक ऐसी क्षेत्र- प्रधान राजनैतिक इकाई के रूप में की गई, जिसकी सीमाएं एक राष्ट्रीय समूह के क्षेत्रीय विभाजन के समरूप हों। संक्षेप में, यह एक ऐसी स्थिति को दर्शाता है जिसमें एक राष्ट्र के पास अपना स्वयं का राज्य हो। राष्ट्र-राज्य स्वयं में आत्म-निर्भर हो सके, यह स्थिति हमेशा के लिए समाप्त हो चुकी है। जितना एक देश औद्योगिक रूप से विकसित होगा, उतना ही वह कच्चे माल की आपूर्ति तथा अपने उत्पादों के लिए बाजार की खोज में दूसरे देशों पर निर्भर होगा। इस संदर्भ में भूमंडलीकरण के दो भिन्न-भिन्न दृश्य प्रकट होते हैं। प्रथम, यह दर्शाता है कि राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक क्रियाकलाप विश्व स्तर पर समग्र रूप में परस्पर जुड़ रहे है। दूसरे, अनेकों राज्यों तथा समाजों में पारस्परिक क्रियाएँ और संबंध तीव्रतर हुए हैं, जिनसे मिलकर अंतर्राष्ट्रीय समाज की रचना होती है।

'राष्ट्र' तथा 'राज्य' शब्द के अर्थ का विवेचन पिछले पाठ में हो चुका है। इस पाठ में आप राष्ट्र-राज्य प्रणाली तथा विभिन्न शक्ति गुटों व उनकी अंतःबाधित स्थितियों के बारे में पढ़ेंगे।

3.2 उद्देश्य

यह पाठ पढ़ने के बाद आप :

- राष्ट्र-राज्य की अवधारणा का अर्थ समझ सकेगें ;

- राष्ट्र-राज्य तथा क्षेत्र राज्य के बीच अंतर स्थापित कर सकेंगे ;
- राष्ट्र-राज्य के विकास का वर्णन कर सकेंगे ;
- तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्र-राज्य किस प्रकार उदित हुए, यह भी जान सकेंगे ;
- भूमंडलीकरण की अवधारणा और राष्ट्र-राज्यों की पारस्परिक निर्भरता को प्रभावित करने वाले कारणों की व्याख्या कर सकेंगे ;
- राष्ट्रों के बीच पारस्परिक निर्भरता के प्रमुख क्षेत्रों की पहचान कर सकेंगे।

3.3 राष्ट्र-राज्य

इससे पहले कि हम आधुनिक राष्ट्र-राज्य की प्रकृति व कार्यप्रणाली को समझें, यह आवश्यक होगा कि हम इसके अर्थ, उत्पत्ति व विकास के बारे में जानकारी प्राप्त करें। **'पामर'** के अनुसार, "राष्ट्र-राज्य प्रणाली" राजनैतिक जीवन का एक ऐसा नमूना है जिसमें जनता अलग-अलग संप्रभु राज्यों के रुप में संगठित होती है, जो कि एक दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रकार व तरीकों से प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। ये राज्य आपस में संघर्ष तथा सहयोग द्वारा बंधे रहते हैं। अपने हितों की रक्षा हेतु राष्ट्र-राज्य शांतिपूर्ण संवाद के तरीके अपनाते हैं तथा इनके सिद्ध न होने पर शक्ति प्रयोग के तरीके भी अपनाते हैं ।

(i) राष्ट्र-राज्य का अर्थ

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि राष्ट्र-राज्यों ने क्षेत्र-राज्यों का स्थान ले लिया है। परंतु सभी राज्य क्षेत्र के दावेदार हैं और राष्ट्र-राज्य' भी इसके अपवाद नहीं हैं 'क्षेत्र-राज्य' की तुलना में 'राष्ट्र-राज्य' का विचार इस बात का द्योतक है कि इसका क्षेत्र इसमें निवास करने वाली जनसंख्या का है, किसी अन्य का नहीं। उस राज्य को 'राष्ट्र-राज्य' नहीं कहा जा सकता, जो किसी अन्य राज्य की परिसीमा का उल्लंघन करके 'राष्ट्र-राज्य' बनने का प्रयत्न करे, चाहे वह एक प्रांत या साम्राज्य हो। 'राष्ट्र-राज्य' की परिकल्पना साम्राज्य से भिन्न है। साम्राज्य जो कि 'क्षेत्र-राज्य' प्रणाली का एक रूप है, जिसमें समस्त जनसंख्या या राष्ट्र (चाहे वे अलग निर्दिष्ट क्षेत्र के निवासी होने का मुखौटा धारण करते हों) भी श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट समझे जाते हैं। राष्ट्रों में वे शामिल हैं, जिनका जन्म वहाँ हुआ है। राज्यों में वे शामिल हैं जिनके ऊपर उनकी अपनी संप्रभु वैधानिक सत्ता विद्यमान है। अतः एक सच्चे 'राष्ट्र-राज्य' में वे ही व्यक्ति शामिल होते हैं, जिनका जन्म वहाँ हुआ है तथा जिनके ऊपर उनकी संप्रभु वैधानिक सत्ता का प्रयोग किया जाता है।

(ii) राष्ट्र-राज्य का विकास

आधुनिक राष्ट्र-राज्य, जिन्होंने इंगलैंड, फ्रांस व अमेरिका आदि में हुई औद्योगिक क्रांतियों की विजय के पश्चात सामंतशाही का स्थान लिया, नए पूँजीवादी वर्ग के राजनैतिक संगठन हैं। गत चार शताब्दियों का इतिहास राष्ट्र-राज्यों के जन्म व विकास का इतिहास है। बीसवीं शताब्दी में एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरीका में साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध जारी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के परिणाम स्वरुप राष्ट्र-राज्य अस्तित्व में आए। राष्ट्र-राज्यों के जन्म और विकास

में अनेक बौद्धिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक तत्वों का योगदान रहा है।

राष्ट्र-राज्य प्रणाली को प्रोत्साहित करने वाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व इस प्रकार हैं :

1. रोमन साम्राज्य व पवित्र रोमन साम्राज्य का विखंडन तथा सांमतवाद का अंत।
2. भू-क्षेत्र, जनसंख्या, प्रभुसत्ता व कानून पर आधारित राष्ट्र-राज्यों का उदय।
3. मैकियावली, बोदा, ग्रोसियश, हाब्स, अल्थुसियस तथा अन्य विचारकों का सैद्धांतिक व बौद्धिक योगदान।

रोमन साम्राज्य के विखंडन की प्रक्रिया सन् 410 ई० के आसपास गोथ्स के आक्रमण के साथ प्रारंभ हुई । सन् 476 ई० तक रोमन साम्राज्य विनष्ट हो गया। यह टूट कर हज़ारों छोटी-छोटी सामंत ईकाइयों में बँट गया तथा साम्राज्यवादी शासन का स्थान स्थानीय शासन ने ले लिया। रोमन साम्राज्य की अवनति के साथ ही 395 ई० में चर्च नाम की संस्था विखंडित होकर पूर्वी पवित्र रोमन साम्राज्य (कट्टर कैथोलिक चर्च) व पश्चिमी पवित्र रोमन साम्राज्य (रोमन कैथोलिक चर्च) के रूप में परिवर्तित हो गई। सोलहवीं शताब्दी में प्रोटेस्टैंट सुधार आंदोलन व कैथोलिक प्रतिगामी-सुधार आंदोलन ने पवित्र रोमन साम्राज्य में अनेक विखंडन किए । जब अंदरूनी कारणों से साम्राज्य विखंडित हो रहा था, उसी समय उस काल को राजकुमारों, ड्यूकों तथा राजाओं की राजनैतिक सत्ता के विरुद्ध जीवन-मरण के संघर्ष से जूझना पड़ा, जिसमें इसकी हार होती गई। पवित्र रोमन साम्राज्य का स्थान शनैः शनैः राष्ट्र-राज्यों के संगठन लेते गए। सामंतवादी ईकाइयों, ने जो कि रोम साम्राज्य के विनाश व केंद्रीय सत्ता की समाप्ति के बाद यूरोप में उभरी थीं दीर्घकाल तक अपना वर्चस्व बनाए रखा। वे सरकार के समान ही कार्य करती थीं तथा जनता के हितार्थ अनेक राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक व न्यायिक गतिविधियों को अन्जाम देती थीं, परंतु राष्ट्र-राज्यों के आने से पहले ही इनकी उपयोगिता समाप्त होने लगी और इनका शीघ्र पतन होने लगा।

रोमन साम्राज्य, पवित्र रोम साम्राज्य तथा सांमत प्रणाली के विखंडन के साथ ही राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व उभरने लगा। शताब्दियों तक अस्तित्व में रहने के कारण सामंती ईकाइयाँ मज़बूत हो गईं तथा विवाह व विजय के द्वारा सुदृढ़ भी हो गई थीं। इनके शासक, जिनके पदनाम ड्यूक, राजकुमार, राजा आदि थे लगातार परस्पर लड़ते या संघर्षशील रहते थे। उनमें सर्वाधिक शक्तिशाली सामंतों ने अपेक्षाकृत विस्तृत भूक्षेत्रों को विजित कर उन पर शासन किया। तेरहवीं से सोलहवीं शताब्दी के दौरान यह प्रक्रिया अति तीव्र हो गई। अपेक्षाकृत बड़े राजतंत्र राष्ट्र-राज्यों का रूप लेते गए। इस प्रकार सामंती ईकाइयों से राष्ट्र-राज्यों की रचना मूलतः उसी आधार पर हुई जिस मजबूती व प्रभाव के आधार पर ये भू-क्षेत्र निर्मित व शासित हुए। पोप की सत्ता के क्रमिक ह्रास तथा सुसंगठित समुदायों के प्रादुर्भाव, जो कि नए निर्मित राज्यों के प्रति वफादार थे, ने इस प्रक्रिया को और मज़बूती प्रदान की। मध्य श्रेणी के व्यापारी वर्ग के पनपने तथा अंग्रेजी, फ्रांसीसी, इतालवी व जर्मन भाषाओं व उनके साहित्य के विकास ने भी अपना योगदान किया। इस प्रकार इंगलैंड, फ्रांस व स्पेन में नए राज्य निर्मित हुए। बारहवीं शताब्दी तक वेनिस, जेनेवा,

फ्लोरेंस तथा अन्य अनेक छोटे किंतु स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य उत्तरी इटली में स्थापित हुए।

इटली के इन राष्ट्र-राज्यों में घनिष्ठ पारस्परिक संबंध थे तथा इन्होंने कूटनीति, संधि तथा विदेश नीति के लिए शक्ति-संतुलन जैसी नीतियों का विकास कर लिया।

विचारकों तथा राजनीतिज्ञों के सैद्धांतिक व बौद्धिक योगदान ने राष्ट्र-राज्यों के प्रादुर्भाव एवं विकास में अत्यधिक सहायता की। *मैकियावली बोदा* व *हाब्स* ने पोप व उसकी सत्ता के विरुद्ध राजाओं के शासन के अधिकार का समर्थन किया। *अल्थुसियस* ने कहा कि, "राजाओं को शासन करने की शक्ति में जनता को भागीदार बनाना चाहिए, क्योंकि राजाओं का जनता के साथ जो अनुबंध है, उसी के अनुसार वे शासन करते हैं। इसलिए राजाओं का यह कर्तव्य है कि वे धार्मिक अल्पसंख्यकों (कैथोलिक या प्रोटेस्टैंटों) को भी विश्वास में ले व उनकी रक्षा करें"। एक दूसरे महान विचारक *ग्रोसियश* ने राजा की अपने राज्य सार्वभौम सत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित किया तथा दूसरे राष्ट्रों द्वारा उसकी मान्यता व संप्रभुता पर उनके द्वारा इंगित सीमाओं की आवश्यकता पर बल दिया। *मैकियावली* के अनुसार शासक के हित सर्वोपरि हैं अतः सत्ता का साधन के रूप में प्रयोग करके उनकी रक्षा की जानी चाहिए। इन विचारकों व राजनीतिज्ञों के विचार ने राष्ट्र-राज्य प्रणाली को सैद्धांतिक आधार प्रदान किया और इसकी प्रगति के लिए विस्तृत दिशा निर्देश तैयार किए। उन्होंने चर्च की सत्ता के विरुद्ध राष्ट्र-राज्यों की स्थिति का समर्थन किया तथा राज-काज में प्रयुक्त होने वाले उपागम प्रदान किए।

पाठगत प्रश्न 3.1

कोष्ठकों में दिए गए शब्दों से रिक्त स्थान भरिए :

i) आधुनिक राष्ट्र-राज्य ..... शासन के राजनीतिक संगठन है।
(पूँजीवादी, समाजवादी, साम्यवादी)

ii) राष्ट्र-राज्यों का उदय ..... के परिणाम स्वरुप हुआ है ।

(साम्राज्यवादी शासन, मुक्ति आंदोलनों, सामाजिक क्रांति)

iii) सामंतवादी ईकाइयों का शासन ..... के द्वारा किया जाता था । (ड्यूक, राजकुमारों, राजाओं, पादरियों)

iv) *मैकियावली, बोदा* तथा *हाब्स* ने राजा के शासन करने के अधिकार का सत्ता के अधिकार के विरुद्ध समर्थन किया। (पोप की, सामंती, वैधानिक)

v) इन राष्ट्रों ने स्वतंत्रता के बाद ..... सत्ता प्राप्त की।

(संप्रभु, बल प्रयोग की, राज्य की)

vi) ..... का अर्थ है कि सरकारें अपने अपने भू-क्षेत्रों में सर्वोच्च रूप

से विधि निर्माण में सक्षम है। (स्वतंत्रता, संप्रभुता, शक्ति)

vii) सभी राष्ट्र–राज्य अंतर्राष्ट्रीय ..... के समान सदस्य हैं ।
(प्रणाली, समुदाय, राजनीति)

(iii) तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्र-राज्य का उदय

बीसवीं शताब्दी में एशिया व अफ्रीका में साम्राज्यवाद के पतन के बाद भारत, पाकिस्तान, बर्मा, मिस्र, नाइजीरिया, घाना, फिजी, वियतनाम, इंडोनेशिया, लीबिया, सीरिया तथा अन्य अनेक नए राज्य अस्तित्व में आए। कई मामलों में इन राज्यों की रचना राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के परिणाम स्वरूप हुई इन राष्ट्रों को संपूर्ण प्रभुता लंबे संघर्षों के बाद स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद मिली। साम्राज्यवादी देशों ने इन राज्यों का अत्यधिक शोषण किया तथा स्वतंत्र होने के बाद भी इनमें आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक पिछड़ापन मौजूद है।

यूरोप के राज्यों ने अपने अधीन उपनिवेशों का निर्दयता से शोषण करके अपने को अमीर बना लिया। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध व वर्तमान शताब्दी के दौरान इन उपनिवेशों में शिक्षित शहरी वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का सूत्रपात हुआ तथा ये स्वतंत्र हुए और राष्ट्रीय संप्रभु राज्यों के रूप में उभरे। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात संसार के मानचित्र में अनेक नए राज्य दिखाई पड़े। वर्तमान में इन नवस्वतंत्र राज्यों को तीसरी दुनिया के देशों के रूप में जाना जाता है। क्योंकि ये अमरीकी अथवा सोवियत गुट में से किसी में शामिल नहीं हुए, उन्होंने स्वतंत्र विदेश नीति अपनाने का निर्णय किया। अपने आर्थिक पिछड़ेपन के कारण उन्हें अविकसित अथवा विकासशील देश कहा जाता है।

(iv) आधुनिक राष्ट्र-राज्य के तत्व

आधुनिक राष्ट्र-राज्य प्रणाली के तीन मुख्य तत्व हैं जो कि विगत शताब्दियों में भी राज्य प्रणाली के आधार थे, वे है संप्रभुता, क्षेत्रीय अखंडता व राज्यों की वैधानिक समानता।

संप्रभुता का अर्थ है कि ये देश पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं तथा अपने-अपने भूखंडों में इनकी सरकारें कानून निर्माण सर्वोच्च शक्ति रखती है। यह सिद्धांत सर्वप्रथम वैस्टफालिया की संधि द्वारा स्थापित हुआ जिसके अनुसार केवल संप्रभु राज्यों को ही परस्पर संधि संबंध बनाने का अधिकार है तथा संप्रभुता-विहीन राजनैतिक ईकाई का कोई वैधानिक आधार नहीं है। वे अन्य राज्यों के साथ संधि नहीं कर सकते और न ही अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का सदस्य बन सकते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय कानून के तहत संप्रभु राज्यों को मिलने वाले अधिकारों पर भी उनका दावा नहीं बनता है। संप्रभुता का अर्थ है राज्य के लिए अपने भूक्षेत्र के अंतर्गत सर्वोच्च असीमित सत्ता जिस पर कोई बाहरी नियंत्रण न हो। वर्तमान में भी संप्रभुता विहीन राजनैतिक ईकाई का अन्य राज्यों में कोई स्थान नहीं है। राष्ट्र-राज्य प्रणाली की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता भूक्षेत्रीय अखंडता है, जो कि प्रथम विशेषता का तार्किक परिणाम है। राज्यों की सीमाओं की रक्षा हर दशा में ही होनी चाहिए।

संप्रभु राज्य आंतरिक मामलों में बाहरी हस्तक्षेप सहन नहीं करते हैं, अतः उन्हें भी दूसरे राज्यों

के मामलों में ऐसा नहीं करना चाहिए। राज्य एक-दूसरे के व्यवहार को प्रभावित तो कर सकते हैं, परंतु उन्हें पारस्परिक भू-क्षेत्रीय अखंडता का सम्मान करना चाहिए ।

तीसरे, सभी राष्ट्र-राज्य अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी के समान सदस्य हैं, चाहें उनके आकार, जनसंख्या सैनिक क्षमताओं, आर्थिक संसाधनों आदि में कितनी ही असमानता हो। "सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों के समान अधिकार" को संयुक्त राष्ट्र के चार्टर द्वारा भी माना गया है। यह कुछ इसी प्रकार है कि जैसे सभी व्यक्ति कानून की नज़र में समान हैं, चाहे उनका शैक्षिक व आर्थिक स्तर कुछ भी हो। ध्यान देने योग्य बात यह है कि सभी स्वतंत्र राज्यों की समानता का यह सिद्धांत लगभग उसी समय अपनाया गया जब राष्ट्र-राज्य अस्तित्व में आए। अट्ठारहवीं शताब्दी के अनेक लेखकों ने भी राज्यों के समानता के सिद्धांत का समर्थन किया ।

पाठगत प्रश्न 3.2

कोष्ठकों मे से उचित शब्दों को चुनकर रिक्त स्थान भरिए :

क) राष्ट्र-राज्य प्रणाली और अधिक ..... हो गई है।
(अंतर्राष्ट्रीय, कमजोर) ।

ख) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का केंद्र अब पुराने विश्व के स्थान पर .....हो गया है।
(विकसित विश्व, तीसरा विश्व, समाजवादी विश्व)

ग) शक्ति-संतुलन अब ..... है न कि.....।
(बहुकेंद्रित, एकल केंद्रित, द्विकेंद्रित)

घ) सामूहिक सुरक्षा का परिदृश्य..... महत्त्व का हो गया है।
(अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय)

ङ) राष्ट्रीय मामलों में नागरिकों की अभिरुचि ..... है।
(बढ़ी, घटी, ज्यों की त्यों)

3.4 राष्ट्र-राज्य व्यवस्था में परिवर्तन

बीसवीं शताब्दी के दौरान राष्ट्र-राज्य प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। प्रथम, राष्ट्र-राज्य, प्रणाली अधिक अंतर्राष्ट्रीय व भूमंडलीकृत हो गई है। इसके दायरे में यूरोप, अमेरीका, एशिया, अफ्रीका व आस्ट्रेलिया आदि सभी महाद्वीपों के छोटे-बड़े राष्ट्र आ गए हैं। विशेषतः एशिया व अफ्रीका में इस प्रणाली का विस्तार अत्यधिक हुआ है, जिस कारण इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं। द्वितीय विश्व युद्ध से पहले जापान, थाईलैंड, नेपाल व ईथोपिया जैसे कुछ स्वतंत्र राष्ट्रों को छोड़ कर एशिया व अफ्रीका महाद्वीपों में केवल औपनिवेशिक देश ही थे। आजकल इन महाद्वीपों में भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, म्यान्मार (बर्मा), मलेशिया, सिंगापुर, इंडोनेशिया, फिलीपीन, जापान, नाइजीरिया, केनिया, दक्षिण अफ्रीका जैसे स्वतंत्र देश मौजूद हैं। ईरान, अफगानिस्तान, ईराक, मिस्र तथा पश्चिम एशिया व उत्तरी अफ्रीका के अनेक दूसरे देश महत्त्वपूर्ण राष्ट्र-राज्यों की श्रेणी में आते हैं।

दूसरे, राज्य प्रणाली के पारंपरिक (पाश्चात्य) सदस्यों की दृष्टि से इन देशों की संख्या और जनसंख्या बहुत अधिक है अतः इनके प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। उनके प्रवेश से अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का अच्छा विस्तार हुआ है। उन्होंने साम्राज्यवाद व नस्लवाद जैसे नाजुक मसलों के बारे में न केवल अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है, बल्कि विश्वशांति व निरस्त्रीकरण जैसे मौलिक मामलों में भी अहम् भूमिका अदा की है। अभी हाल के वर्षों में, भारत व मिस्र तथा अन्य निर्गुट देशों ने पाश्चात्य देशों को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में शांति स्थापित करने की भूमिका अदा की है । इसलिए कोई आश्चर्य नहीं है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का केंद्र अमेरिका-यूरोपीय देशों से हट कर अफ्रीकी-एशियाई विश्व पर हो गया है। अर्थात् लंदन, पेरिस वाशिंगटन के स्थान पर नई दिल्ली, काहिरा व बीजिंग हो गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर अफ्रीकी-एशियाई राजधानियों के प्रभाव व दबाव बढ़ रहे हैं।

तीसरे, राष्ट्र-राज्य प्रणाली के अंतर्राष्ट्रीयकरण व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के केंद्र में बदलाव के कारण राष्ट्रों की सुरक्षा प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। शक्ति-संतुलन अब केवल यूरोपीय परिदृश्य तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि यह प्रथम विश्वयुद्ध के पहले तक होता था। वर्तमान कोई एक अकेली दूसरों पर हावी रहने वाली शक्ति नहीं है साथ ही, ब्रिटेन अथवा किसी अन्य देश का एकाधिकार अब नहीं है।

3.5 भूमंडलीकरण

भूमंडलीकरण को समझने के लिए यदि आप देखें कि ससार के सभी राष्ट्र-राज्य आपस में इतने घनिष्ठ रुप में मिलजुल गए हैं कि भूमंडल पर रहने वाली समस्त मानव-जाति अपने को एक समुदाय के ही सदस्य के रूप में मानती है। जब तक भूमंडलीय राजनीति, भूमंडलीय संगठन जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ था, तब परस्पर संबंध वाले किंतु अलग-अलग बहुत से राष्ट्र-राज्य थे। ये राज्य अंतर्राष्ट्रीय राज्य प्रणाली की इकाइयों के रूप में जाने जाते थे। यद्यपि अभी भी राष्ट्र-राज्य अपनी संप्रभुता व भू-क्षेत्रीय अंखडता को बरकरार रखने के लिए, कृत संकल्प हैं, परंतु फिर भी वे पारस्परिक रूप से एक-दूसरे पर इतने निर्भर हैं कि एक विश्व, एक भूमंडल, एक बिरादरी के रूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

बीसवीं शताब्दी के अंत में राष्ट्र-राज्य की प्रारंभिक प्रधानता क्षीण हो रही है। आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्थान पर भूमंडलीय राजनीति का बोलबाला है तथा शनैः शनैः एक नया भूमंडलीय समुदाय उभर रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय का अर्थ है विभिन्न राष्ट्रों के बीच संबंधों का प्रावधान। भूमंडलीकरण का अर्थ है कम से कम अलगाव, परंतु राज्यों के बीच सहयोग अथवा एकता में बढ़ोत्तरी। भूमंडलीय व्यवस्था के तहत अनेकों दूसरी संस्थाएं भी एक समुदाय के रूप में घुलमिल रही हैं विज्ञान और तकनीकी प्रगति ने भी एक विश्व समुदाय के उदित होने में सहायता की है। यातायात व संचार के तीव्रगामी साधनों (सीधा टेलीफोन संपर्क, फैक्स, इंटरनैट आदि) के कारण न केवल सरकारें, बल्कि सुदूर देशों के नागरिक भी इतनी गहराई से संपर्क स्थापित करते हैं कि राष्ट्रीय सीमाएँ भी धुंधली हो गई हैं, यद्यपि समाप्त नहीं हुई हैं । व्यापार तथा मौज-मजे के लिए लोगबाग एक महाद्वीप से

दूसरे में एक दिन में ही आने-जाने लगे हैं, केवल एक देश से दूसरे देश में ही नहीं, वे विश्व के विभिन्न भागों से एक-दूसरे से वार्तालाप अपने घरों अथवा कार्यालयों में बैठे रहकर ही कर लेते हैं। आर्थिक क्षेत्र में पारस्परिक निर्भरता अत्यधिक दृष्टिगोचर है। एक देश में स्थित बड़ी कंपनियाँ दूसरे देशों से जब व्यापार करती हैं तो वे बहुराष्ट्रीय निगम कहलाती हैं । राज्य से विलग ये निगम पूरे विश्व को अलग-अलग बाजार मानने के स्थान पर एक ही बाजार मानती हैं ।

राष्ट्र-राज्यों की आपसी दूरी को कम करने वाले इस आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक मेल-मिलाप को ही भूमंडलीकरण कहा जाता है, तथा यह नई उभरने वाली प्रणाली ही भूमंडलीय व्यवस्था है।

(i) राष्ट्र-राज्य तथा भूमंडलीकरण

अपनी सत्ता में ह्रास के कारण राज्य पहचान की समरूप अनुभूति लागू करने में असमर्थ है। राष्ट्रीय समरूपता का दबाव दूर होते ही दूसरी शक्तियों को उठाने का अवसर मिला है। राष्ट्रीय भूक्षेत्र के अंतर्गत बहुआयामी नई नई पहचानें उभर रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे राष्ट्र-राज्य पर ऊपर नीचे से घातक प्रहार हो रहे हैं। ऊपर आकाश में भूमंडलीकरण के चक्रवात मंडरा रहे हैं, जबकि राष्ट्रीय मिट्टी में नीचे भूकंपीय दरारें फट रही हैं। इसका परिणाम यह है कि राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता स्थानीय व भूमंडलीय दबावों के चलते छिन्न-भिन्न हो रही है। आर्थिक मजबूरियाँ राज्यों को अपनी संप्रभुता के कुछेक भाग राष्ट्र से ऊपर की संस्थाओं को सौंपने के लिए बाध्य कर रही हैं। यूरोपीय संघ इसका अच्छा उदाहरण है। दक्षिण एशिया में 'दक्षेस' है। भारत सहित इसके पड़ोसी सात देशों का यह संगठन क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा दे रहा है।

तकनीकी प्रगति के कारण राष्ट्रीय सीमाओं में छिद्र हो गए हैं। राज्य संप्रभुता बनाए रखते हैं। किंतु सरकारों की सत्ता में कमी आई है। उदाहरण के लिए विभिन्न देशों के बीच मुद्रा व सूचना के सीमा के पार अवागमन के नियंत्रण में रखना अब उनके लिए कठिन हो गया है। वे भूमंडलीकरण के दबाव का सामना कर रही हैं। इसके साथ-साथ सत्ता के विकेंद्रीकरण की मांगें भी ज़ोर पकड़ रही हैं। पारस्परिक निर्भरता का सघन ढांचा देशों को एक जुट होकर काम करते देखना चाहता है। वास्तव में, भूमंडलीय माहौल में नागरिकों को अनेकों उद्देश्यों के लिए सहयोग करना पड़ता है। जैसे शांति व्यवस्था बनाए रखना, आर्थिक क्रियाकलाप को बढ़ाना, प्रदूषण की रोकथाम, जलवायु के परिवर्तन को रोकना या कम करना, महामारी से लड़ना, हथियारों व अकाल को रोकना, उग्रवादियों को रोकना, आर्थिक मंदी से पार पाना, दुर्लभ संसाधनों बंटवारा करना आदि। वे मामले बढ़ रहे हैं जिनमें राष्ट्र-राज्यों को सामूहिक रूप से एक जुट होकर संगठित प्रयास करना होता है।

(ii) आर्थिक पारस्परिक निर्भरता

अर्थव्यवस्थाओं की बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता का सामना करने में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सामने गंभीर चुनौतियाँ हैं। विश्व के अधिकांश भागों में बढ़ती गरीबी अप्रयुक्त मानव संसाधन,

पर्यावरण के खतरों के प्रति बढ़ती जागरूकता तथा मानव जाति के अस्तित्व की समस्या जैसे मामले इसमें प्रमुख हैं । विश्व आर्थिक रुप से अत्यधिक पर एकजुट हो गया है तथा इस प्रणाली को सुव्यवस्थित का तरीका कार्यशैली एकदम पिछड़ गई है । सुदृढ़ भूमंडलीय मंच स्थापित करने का अब समय आ गया है, जो कि आर्थिक सामाजिक व पर्यावरण संबंधी क्षेत्रों में नेतृत्व प्रदान कर सके ।

पाठगत प्रश्न 3.3

कोष्ठकों मे दिए गए शब्दों से रिक्त स्थान भरिए :

क) भूमंडलीकरण मुख्यतः.....क्रिया से संबंधित है ।
(राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक)

ख) राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता भूमंडलीय व स्थानीय शक्तियों के दबाव के कारण है ..... । (समाप्त हो रही, बढ़ रही)

ग) .....प्रगति ने भूमंडलीकरण को वास्तविकता प्रदान ही है ।
(तकनीकी, सैनिक, आर्थिक)

घ) .....का सघन होता ढाँचा देशों को सामूहिक रूप से कार्य करने को बाध्य करता है ।
(स्वतंत्रता, पारस्परिक निर्भरता, संप्रभुता)

3.6 राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक निर्भरता के प्रमुख क्षेत्र

विश्व अर्थव्यवस्था में प्रारंभिक विस्तार व आधुनिक राज्य के उदय के साथ अंतर्राष्ट्रीय सबंधों का गहन तानाबाना उभरा है। आधुनिक काल में राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति आपस में गुंथी हुई है। राष्ट्रीय राजनीति की समझ हमेशा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की पृष्ठभूमि में होनी चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं को प्रायः भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का हिस्सा समझा जाता है आधुनिक काल में पारस्परिक निर्भरता के क्षेत्र इस प्रकार हैः सुरक्षा संबंधी दायित्व, आर्थिक पारस्परिक निर्भरता का प्रबंध, संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रभावी बनाना तथा पूरे विश्व में 'कानून के शासन' को प्रोत्साहित करना।

अत्यधिक पारस्परिक निर्भरता पर आधारित संगठित भूमंडलीय संगठन के संदर्भ में राज्य क्रिया-कलापों के कई क्षेत्रों (सुरक्षा, आर्थिक प्रबंधन, संचार, प्रशासनिक व वैधानिक प्रक्रियाएँ) का उत्तरदायित्व घनिष्ठ अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना पूरा नहीं किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में राज्य पर उत्तरदायित्व बढ़े हैं, जिससे उसको अनेक नीति-विषयक समस्याओं का सामना करना पड़ा है तथा जिनका उचित समाधान अन्य राज्यों तथा राज्यों के आंतरिक अन्य के संगठनों के सहयोग के बिना नहीं हो सकता है। राज्यों को दूसरे राज्यों के साथ अपने राजनैतिक एकीकरण का स्तर बढ़ाना होगा।

राज्यों के बीच राजनैतिक सहयोग बहुत तेजी से बढ़ा है। एक देश की राजनैतिक व सुरक्षा समस्याएं दूसरे कई देशों को प्रभावित करती है। सन् 1971 में बंगलादेश के संघर्ष के समय भारत को पाकिस्तान के साथ युद्ध में जूझना पड़ा । श्रीलंका में तमिल मूल के लोगों और सिंहली लोगों के बीच के संघर्ष ने भारत में भी हलचल मचाई है। 1990 में ईराक द्वारा पड़ोसी कुवैत पर आक्रमण के समय पूरे पश्चिम एशिया में खलबली मची तथा अमेरीका के नेतृत्व में 26 देशों ने अपनी सशस्त्र सेनाओं को ईराक को हराकर कुवैत को मुक्त करने भेजा। राजनैतिक रूप से एक देश से दूसरे देश में श्वेत, श्याम व पीत वर्ण के नागरिकों के आवागमन के कारण वे सब एक संप्रभु सत्ता के अधीन आ गए हैं। उदाहरण के लिए अधिकांश भारतीय तथा अन्य एशियाई व अफ्रीकी लोग जो ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरीका तथा अन्य अनेक देशों के निवासी हैं। यह सब एकीकृत भूमंडलीय व्यवस्था के परिचायक हैं।

आर्थिक सहयोग के परिणाम स्वरूप एक अंतर्राष्ट्रीय बाजार का उदय हुआ है, जो कि भूमंडलीय विपणन केंद्र के रूप में परिणत हो चुका है। सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक रूप से आपस में क्रिया-कलाप करते हुए लोग निर्धनता, भूखमरी, जनसंख्या विस्फोट, बाढ़ तथा भूकंप जैसी समस्याओं के हल ढूंढने में लगे हैं। इसके परिणाम स्वरूप भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता के नागरिक इस पृथ्वी पर ऐसे कार्य कर रहे हैं मानो यह एक "पृथ्वी रूपी अंतरिक्षयान" हो।

इससे यही आभास मिलता है कि राष्ट्र-राज्यों की क्षमताओं में कमी आई है। यह बिल्कुल सच है। परंतु फिर भी भूमंडलीय राजनीति, विपणन प्रणाली व भूमंडलीय आंदोलनों के चलते भूमंडलीकरण के संवाहक के रूप में राज्य की भूमिका निश्चित रूप से बढ़ी है।

भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में प्रायः आधुनिक राष्ट्र-राज्य को भूमंडलीय संबंधी ताने-बाने में उलझा हुआ, जिसके ऊपर राष्ट्रीय व प्रशासकीय क्षेत्र से ऊपर की शक्तियाँ हावी हैं तथा जो अपने भाग्य को निर्दिष्ट करने में असमर्थ है, समझ लिया जाता है। भूमंडलीकरण को बहुधा एक समरूप करने वाली सत्ता भी समझ लिया जाता है, जो कि राष्ट्र-राज्यो की घरेलू व अंतर्राष्ट्रीय नीतिगत लक्ष्यों को स्वतंत्र रूप से प्राप्त करने की क्षमता को घटाती है। ऐसा लगता है कि लोकतांत्रिक भूक्षेत्रीय राष्ट्र-राज्य, किसी पराभव अथवा संकट का सामना कर रहा है।

फिर भी हम कह सकते हैं कि सरकारों व राष्ट्रों के स्तर पर संपर्कों में तीव्र वृद्धि के बावजूद भी राष्ट्र-राज्य का युग निश्चित रूप से समाप्त नहीं हुआ है।

पाठगत प्रश्न 3.4

कोष्ठकों में दिए गए उचित शब्दों से रिक्त स्थान भरिए :

क) राष्ट्रीय राजनीति को..... राजनीति की पृष्ठभूमि में समझा गया है। (अंतर्राष्ट्रीय, अंदरुनी)

ख) आधुनिक विश्व में निर्णय लेने की प्रक्रिया ..... है। (नौकरशाही, तानाशाही, लोकतांत्रिक)

ग) राज्य की क्षमताओं में ..... हुई है ।
(कटौती, बढ़ोतरी, कमी)

घ) भूमंडलीकरण को प्रायः ..... शक्ति के रूप में देखा जाता है ।
(समरूप करने वाली, आर्थिक, राजनैतिक)

ङ) राष्ट्र-राज्य का युग निश्चित रूप से ..... नहीं हुआ है। (समाप्त, लोप)

3.7 आपने क्या सीखा

इस पाठ में आपने राष्ट्र-राज्य के बारे में विस्तार से कई बातों की जानकारी ली है, जिसका परिचय आपको पिछले पाठ में मिला था। आपने इस पाठ में पढ़ा है कि कैसे राष्ट्र-राज्य का स्वरूप शताब्दियों तक विकसित हुआ तथा किस प्रकार इसकी भूमिका बढ़ी तथा घटी है। भूमंडलीकरण के बारे में भी आपने इस पाठ में सीखा है, जिसका अर्थ है कि पृथ्वी पर स्थित पूरा विश्व आर्थिक व राजनैतिक रूप से सिमट रहा है तथा ऐसा लगता है कि समस्त मानव जाति पृथ्वी नाम के 'अंतरिक्षयान' पर बसी है। बहुत सी संस्थाएँ जैसे विशाल आकार की कंपनियां, जिनको बहुराष्ट्रीय निगम कहा जाता है, अधिकांश देशों में व्यापार कर रही हैं। इससे बहुत से राष्ट्र-राज्यों के नागरिक व उनकी अर्थ व्यवस्थाएँ एक एकीकृत विपणन प्रणाली से जुड़ जाते हैं। राष्ट्र-राज्य अभी भी हैं, परंतु भिन्न-भिन्न राष्ट्र-राज्यों की जनता मानव जाति की सामान्य समस्याओं को हल करने में सहयोग कर रही है।

इस प्रकार अब आप कह सकते हैं कि मैं एक भारतीय हूँ तथा भारतीय होने पर मुझे गर्व है परंतु मैं इस विश्व का भी सदस्य हूँ जो कि एक भूमंडलीय संगठन के रूप में उदित हो रहा है। आपको, भारतीय नागरिक के रूप में अपनी पहचान बनाए रखने के साथ-साथ, अपने को भूमंडलीकरण की इस नई प्रक्रिया में भी शामिल होना होगा।

3.8 पाठांत प्रश्न

1. निम्नलिखित शब्दों की परिभाषा लिखिए :

   (क) राष्ट्र–राज्य (ख) भूमंडलीकरण।

2. भूमंडलीकरण के सकारात्मक व नकारात्मक प्रभावों का वर्णन कीजिए।
3. आधुनिक राष्ट्र-राज्य के प्रमुख तत्वों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
4. राष्ट्रों के बीच पारस्परिक निर्भरता के मुख्य क्षेत्र कौन-कौन से हैं।

पारिभाषिक शब्दावली

(क) महानगर	देश का मुख्य नगर
(ख) सुधार	अच्छा बनाना, पुनर्रचना
(ग) पोपल सत्ता	पोप की सत्ता

(घ) सार्वभौम — विस्तृत क्षेत्र में अस्तित्व होना

(च) राष्ट्रोपरि — एक से अधिक राष्ट्रों में व्याप्त

(ङ) नौकरशाही — अधिकारियों का वर्ग

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

3.1 (क) पूंजीवादी (ख) मुक्ति आंदोलन

(ग) ड्यूक, राजकुमार, राजा (घ) पोप की

(ङ) संप्रभु (च) संप्रभुता

(छ) समुदाय

3.2 (क) अंतर्राष्ट्रीय (ख) तीसरा विश्व

(ग) बहुकेंद्रित, एकल केंद्रित (घ) अंतर्राष्ट्रीय

(ङ) बढ़ी

3.3 (क) आर्थिक (ख) समाप्त हो रही

(ग) तकनीकी (घ) पारस्परिक निर्भरता

3.4 (क) अंतर्राष्ट्रीय (ख) लोकतांत्रिक

(ग) कटौती (घ) समरूप करने वाली

(ङ) समाप्त।

पाठांत प्रश्नों के संकेत

3.5 (1) कृपया उपखंड, 3.3 व 3.5 देखें।

(2) कृपया उपखंड, 3.5 व 3.5.1 देखें।

(3) कृपया उपखंड, 3.3.4 देखें।

(4) कृपया उपखंड, 3.6 देखें।

4

संविधान का निर्माण : प्रस्तावना तथा राजनीतिक दर्शन

4.1 भूमिका

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत की जनता एक ऐसी सरकार की कामना कर रही थी, जो उसकी अपनी हो तथा स्वतंत्रतासंघर्ष के दौरान उपजी आकांक्षाओं को पूरा कर सके। नेताओं ने वायदा किया था कि स्वतंत्रता मिलने के बाद भारत में लोकतंत्र व न्याय के आदर्शों पर आधारित सरकार बनेगी। अतः इन विचारों व आदर्शों को साकार करना बहुत आवश्यक समझा गया। आधुनिक काल में उक्त आदर्शों व संरचनाओं को जिस प्रलेख में स्थान दिया गया उसे संविधान कहते हैं।

भारत का संविधान एक संविधान सभा द्वारा निर्मित किया गया था। यह सभा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हुई थी, तथा इसने संविधान में शामिल करने के लिए कुछ आदर्शों को चुना था। इनमें लोकतंत्र के लिए प्रतिबद्धता तथा सब व्यक्तियों के लिए न्याय, समानता व स्वतंत्रता शामिल थे। इसमें संकल्प दोहराया गया था कि भारत एक लोकतांत्रिक गणराज्य होगा। संविधान निर्माता भूखे लोगों को भोजन जुटाने, वस्त्रहीन व्यक्तियों को वस्त्र जुटाने तथा शोषित वर्ग का शोषण समाप्त करने के प्रति बहुत चिंतित थे। एक न्यायप्रिय समाज के निर्माण हेतु निर्माताओं ने अधिकारों, लक्ष्यों, संस्थाओं आदि के रूप में इन आदर्शों का उचित स्थानों पर समावेश किया है।

संविधान की मूल भावना के अनुरूप इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संविधान के प्रारंभ में ही प्रस्तावना का प्रावधान है। प्रस्तावना को संविधान के राजनैतिक दर्शन का प्रतिबिंब माना जाता है।

इस पाठ में आप भारतीय संविधान के निर्माण तथा प्रस्तावना के रूप में निहित राजनैतिक दर्शन के बारे में अध्ययन करेंगे। आप यह भी जान सकेंगे कि कब और कैसे संविधान निर्मित हुआ तथा इसके लक्ष्यों व सिद्धातों का क्या महत्त्व है।

4.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- देश के मौलिक कानून के रूप में संविधान के महत्त्व को पहचान सकेंगे ;
- संविधान सभा की रचना व इसकी प्रारूप समिति की भूमिका का वर्णन कर सकेंगे ;
- संविधान सभा के समक्ष उपस्थित लक्ष्यों की पहचान कर सकेंगे ;
- संविधान की प्रस्तावना व उसकी सार्थकता का वर्णन कर सकेंगे ;
- प्रस्तावना के आधारभूत सिद्धांतों, व संवैधानिक प्रावधानों के साथ उनकी निकटता की जानकारी ले सकेंगे ;
- प्रभुसत्ता की व्याख्या कर उन तत्त्वों का पता लगा सकेंगे। जो भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य बनाते हैं।
- 'समाजवाद' व 'धर्मनिरपेक्षता' जैसे शब्दों का अर्थ जानकर इनकी सार्थकता की विवेचना कर सकेंगे;
- लोकतंत्र व गणराज्य के अर्थ तथा भारत में इनकी उपस्थिति का वर्णन कर सकेंगे;
- भारतीय संविधान के आदर्शों के रूप में स्वतत्रंता, समानता व न्याय की पहचान कर सकें;
- व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता तथा अंखडता एवं बन्धुता के महत्व को आत्मसात कर सकेंगे

4.3 संविधान

आधुनिक राज्य को लोक कल्याणकारी राज्य माना जाता है, इसीलिए कहा जाता है कि इसमें उचित प्रकार की सरकार हो जिसके पास समुचित शक्ति व कार्य हों। जिस प्रलेख में सरकार का रूप परिभाषित व निश्चित किया गया हो, सरकार के विभिन्न अंगों के बीच शक्ति-विभाजन किया गया हो तथा नागरिकों व सरकार के संबंधों का विवरण मिलता हो, उसे संविधान कहा जाता है। राज्य का संविधान एक भी हो सकता है तथा कुछ मामलों में अनेक संविधान भी होते हैं।

संविधान को राज्य का आधारभूत अथवा मौलिक कानून माना जाता है, यह राज्य के उद्देश्यों को निर्धारित करता है, जिन्हें इसको प्राप्त करना है। संविधान संस्थागत संरचना भी प्रदान करता है। ये सरकार के अनेक निकाय होते हैं। इसमें नागरिकों के अधिकारों व कर्त्तव्यो का वर्णन मिलता है। अतः लक्ष्यों व उद्देश्यों तथा संरचनाओं व कार्यों की दृष्टि से संविधान को देश के प्रशासन का आधार माना जाता है

4.4 संविधान सभा

भारत का संविधान एक संविधान सभा द्वारा निर्मित किया गया था। इस सभा का गठन ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों तथा भारतीय स्वतंत्रता-संघर्ष के नेताओं के बीच आपसी समझौते के बाद 1946 में हुआ। संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव तत्कालीन प्रांतीय विधानसभाओं के सदस्यों

ने अप्रत्यक्ष मतदान के आधार पर किया, तथा देशी रियासतोंके शासकों के प्रतिनिधि भी इसमें मनोनीत किए गए। निर्वाचित सदस्यों के लिए संप्रदाय के आधार सीटें आरक्षित की गईं। संविधान सभा के गठन के समय भारत अविभाजित देश था। परंतु स्वतंत्रता के समय देश का भारत तथा पाकिस्तान के रूप में विभाजन हो गया, जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तानी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य से विधानसभा के सदस्य नहीं रहे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संविधान सभा में 299 सदस्य थे, जिनमें से अधिकांश का चुनाव प्रांतीय विधानसभाओं ने किया था तथा शेष देशी रियासतों के शासकों ने मनोनीत किए थे। संविधान सभा में कांग्रेस के सदस्यों का आधिपत्य था। कांग्रेस के अंतर्गत, स्वतंत्रता आंदोलन के सभी प्रमुख नेता संविधान सभा के सदस्य थे। राष्ट्रीय आंदोलन के नेता होने के कारण ये सभी लोग जन–भावनाओं व आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व थे, यद्यपि इनको जनता ने प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित नहीं किया था।

देशी रियासतें : ब्रिटिश शासन के दौरान भारत के कुछ भाग सीधे ब्रिटिश नियंत्रण में नहीं थे। ऐसे लगभग 560 क्षेत्र थे। भारतीय रियासतें देशी शासकों के अधीन थीं। कश्मीर, हैदराबाद, पटियाला, ट्रावनकोर, मैसूर, बड़ौदा आदि बड़ी देशी रियासतें थीं।

(i) संविधान सभा की कार्य प्रणाली

संविधान सभा की अध्यक्षता उसका अध्यक्ष करता था। डॉ. राजेंद्र प्रसाद को इस पद पर चुना गया था। सभा में अनेक समितियाँ व उपसमितियाँ थीं। समितियाँ दो प्रकार की थीं। एक कार्य प्रणाली के विषयों के मामले तथा दूसरी महत्त्वपूर्ण मुद्दों से संबंधित मामले देखती थी। एक ऐसे विशेषज्ञों की परामर्शदात्री समिति थी, जो सभा के सदस्य नहीं थे। यह समिति बाहर से परामर्श देती थी। सबसे महत्त्वपूर्ण समिति प्रारूप समिति थी, जिसकी अध्यक्षता डॉ. भीमराव अम्बेडकर करते थे। इस समिति का कार्य संविधान को लेखबद्ध करना था।

संविधान सभा की कार्य प्रणाली विधान मंडल की प्रणाली के ही समान थी। आपको वैधानिक कार्यप्रणाली के बारे में पाठ सं. 12 में बताया जाएगा, जो कि संसद से संबंधित है। संविधान सभा के नेता सहमति की आवश्यकता के प्रति सचेत थे। अतः जहाँ तक संभव था, पूर्ण सहमति के आधार पर ही निर्णय लिए जाते थे। इसके परिणामस्वरूप अनेक मुद्दों पर विभिन्न समझौते संपन्न हुए।

संविधान सभा ने अपना कार्य भारत के भविष्य को दृष्टि में रखते हुए किया। उसके सामने कुछ निर्धारित लक्ष्य थे जो कि जन आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करते थे।

पाठगत प्रश्न 4.1

उचित कथनों पर (√) का निशान लगाइए:

1. किसी देश का संविधान आधार प्रदान करता है।

   (अ) अपराधियों को दंड देने का

(ब) देश के प्रशासन का

(स) नागरिकों के बीच संबंधों का

(द) दूसरे देशों के साथ व्यापार का

2. भारत की संविधान सभा में शामिल थे

(अ) ब्रिटिश सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य

(ब) राजनैतिक दलों द्वारा मनोनीत सदस्य

(स) प्रांतीय विधानसभाओं द्वारा निर्वाचित सदस्य

(द) जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य

3. भारत का संविधान लिखा गया था

(ब) परामर्शदात्री समिति द्वारा

(स) सभा का सचिवालय द्वारा

(द) प्रारूप समिति द्वारा

4.5 संविधान सभा के उद्देश्य

संविधान सभा, लगभग 200 वर्षों के औपनिवेशिक शासन, जन-आधारित स्वतंत्रता संघर्ष, देश का विभाजन व सांप्रदायिक हिंसा में वृद्धि की पृष्ठभूमि में स्वतंत्र भारत के संविधान का निर्माण कर रही थी। इसीलिए संविधान निर्माता, जन-आकांक्षाओं की पूर्ति, देश की एकता व अखंडता तथा लोकतांत्रिक समाज की स्थापना के प्रति सचेत थे। सभा के अंदर भी विचारधारा संबंधी कुछ मतभेद थे। कुछ सदस्यों का झुकाव समाजवादी सिद्धांतों के प्रति था, जबकि अन्य अनेक गाँधीवादी दर्शन से प्रभावित थे। परंतु अधिकांश सदस्य उदारवादी दृष्टिकोण रखते थे। आम सहमति बनाने व संघर्ष को टालने के प्रयास होते रहते थे। आम सहमति 'लक्ष्यपूर्ति प्रस्ताव' के रूप में 17 दिसंबर 1946 को सामने आई, जिसे पं० जवाहरलाल नेहरू ने सभा के समक्ष प्रस्तुत किया, तथा उसे 22 जनवरी 1947 को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

> **उदारवादी दृष्टिकोण :** उदारवादी व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतंत्रता पर बल देते हैं, ताकि राज्य का हस्तक्षेप इस क्षेत्र में कम से कम हो।

(i) उद्देश्य प्रस्ताव या लक्ष्यपूर्ति प्रस्ताव

यह प्रस्ताव जनता की उन भावनाओं व आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता था, जो स्वतंत्रता प्राप्ति की आस लगाए बैठे थे। इस प्रस्ताव के अनुसार भारत को, संविधान सभा द्वारा, स्वतंत्र, संप्रभु गणराज्य घोषित किया जाना था। संविधान नागरिकों की विचार अभिव्यक्ति, धर्म, विश्वास, आस्था व व्यवसाय की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करेगा। इसमें नागरिकों को समानता तथा सबके लिए न्याय का भी प्रावधान होगा। कुछ प्रावधान जनता के विभिन्न वर्गों के कल्याण के बारे में भी होंगे।

प्रस्ताव ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत मे अंतिम सत्ता जनता में ही निहित होगी।

प्रस्ताव में दिए गए लक्ष्य, वास्तव में सामान्य प्रकार के थे। इनका उद्देश्य सदस्यों का दिशा निर्देश व रूपरेखा प्रदान करना था। जैसा पहले कहा गया है, वैचारिक मतभेदों के बावजूद संविधान सभा के सदस्य लक्ष्यपूर्ति प्रस्ताव पर एकमत थे। इन लक्ष्यों को दृष्टिगत रखते हुए संविधान सभा लगभग दो वर्षों तक कार्यरत रही तथा उसने 26 नवम्बर 1949 तक अपना कार्य समाप्त कर लिया संविधान को 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया। उसी दिन से भारत को गणतंत्र घोषित कर दिया गया।

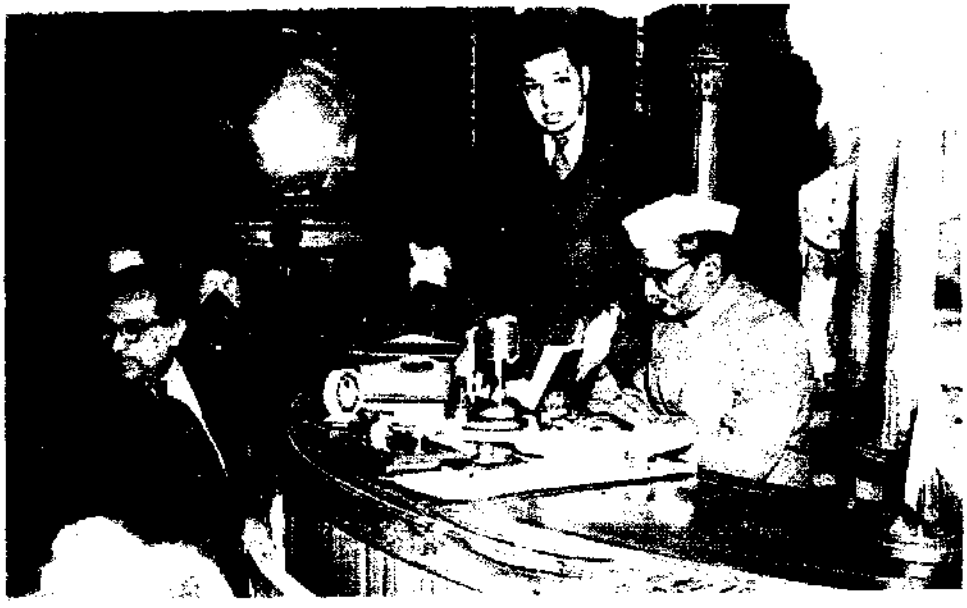

चित्र 4.1 संविधान सभा के सभापति सम्माननीय डॉ० राजेंद्र प्रसाद ने गणतंत्र भारत के नए संविधान पर हस्ताक्षर करते हुए।

4.6 प्रस्तावना

संविधान की शुरुआत एक प्रस्तावना के साथ होती है। प्रस्तावना किसी पुस्तक की भूमिका के समान ही है। भूमिका के रूप में प्रस्तावना संविधान की पुस्तक के उपबंधों का भाग नहीं है। परंतु यह संविधान निर्माण के उद्देश्यों व लक्ष्यों की व्याख्या करती है। प्रस्तावना इस प्रकार है:

"**हम भारत के लोग,** भारत को एक **संपूर्ण, प्रभुत्वसम्पन्न** समाजवादी, **धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय;

विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था व उपासना **की स्वतंत्रता:**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता;**

प्राप्त करने के लिए, तथा उन सबमें व्यक्ति की
गरिमा और राष्ट्र की **एकता एवं अखंडता;**
सुनिश्चित करने वाली **बन्धुता**
बढ़ाने के लिए
दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा
में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० को
एतद् इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते
हैं।"

चित्र 4.2 गणतंत्र भारत के संगठन के मौलिक आधार और सिद्धांत

प्रस्तावना, संक्षेप में, संविधान के लक्ष्यों की दो प्रकार से व्याख्या करती है, एक प्रशासन की संरचना के बारे में तथा दूसरा स्वतंत्र भारत द्वारा प्राप्त किए जाने वाले आदर्शों के विषय में। यह इसी के कारण है कि संविधान को समझने के लिए प्रस्तावना को कुंजी माना जाता है। प्रस्तावना में वर्णित लक्ष्य इस प्रकार हैं :

(i) भारत का एक संप्रभु, 'समाजवादी' एवं 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द 1976 में संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़े गए हैं। लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में वर्णन।

(ii) सभी भारतीय नागरिकों के लिए प्रावधान (निम्नलिखित)

(अ) न्याय—सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक

(ब) स्वतंत्रता—विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था व उपासना की

(स) समानता — प्रतिष्ठा तथा अवसर की

(द) सम्मान, भ्रातृत्व, एकता व अखंडता

4.7 संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य

संप्रभुता किसी स्वतंत्र राज्य का एक अत्यंत अनिवार्य तत्त्व होता है। साधारण तथा, इसका अर्थ होता है— बिना किसी आंतरिक व बाहरी दबाव, प्रभाव अथवा हस्तक्षेप के राज्य की निर्णय लेने की क्षमता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की घटनाओं, जनता या समूहों द्वारा की गई माँगों, जनता, नेताओं अथवा संगठनों द्वारा दिए गए सुझाव अथवा परामर्श का राज्य निर्णयों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

संविधान के प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भारत में सर्वोच्च प्रभुता का स्रोत जनता है।

(i) समाजवादी

संविधान में 'समाजवादी' शब्द प्रारंभ में नहीं था। इसको 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द के साथ 1976 में 42 वें संशोधन के द्वारा शामिल किया गया। प्रस्तावना में समाजवादी शब्द का जुड़ना कुछ विवादित है। इसके दो कारण हैं, एक, समाजवादी शब्द का अर्थ व परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं। यह स्पष्ट नहीं है यहाँ कौन से अर्थ अथवा परिभाषा को माना गया है। दूसरा, यह शब्द प्रस्तावना में तो शामिल है, परंतु संविधान के प्रावधानों में इसका परिलक्षित होना विवादग्रस्त है।

प्रस्तावना में शामिल करने से पहले भारत में समाजवाद के शब्द का प्रयोग आर्थिक नियोजन के संदर्भ में हुआ है। इसके अनुरूप, यह कहा जा सकता है कि समाजवाद शब्द के प्रयोग का अभिप्राय अर्थव्यवस्था में राज्य की प्रमुख भूमिका को स्वीकृत करना है। इसका यह भी अर्थ है कि असमानताओं का निराकरण करने, सब लोगों की न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने, समान कार्य के लिए समान वेतन देने, धन तथा उत्पादन के साधनों का मुट्ठीभर लोगों में केंद्रित होने को रोकने जैसे आदर्शों की प्राप्ति के लिए राज्य की प्रतिबद्धता हो। ये सभी लक्ष्य नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत दिए गए हैं जिन्हें आगे आप पाठ संख्या 7 में पढ़ेंगे।

(ii) धर्म निरपेक्ष

प्रस्तावना में इस शब्द का यही अभिप्राय है कि भारत में राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। इसका अर्थ है कि राज्य सार्वजनिक धन द्वारा किसी धर्म को प्रोत्साहित नहीं करेगा। इस विषय में दो पहलू हैं। प्रथम, प्रत्येक व्यक्ति किसी भी धर्म में विश्वास करने व पालन करने को स्वतंत्र है तथा प्रत्येक धार्मिक समुदाय अपने धार्मिक मामलों का इच्छानुसार पालन कर सकता है। द्वितीय, राज्य किसी व्यक्ति या समुदाय के मामले में धर्म, जाति आदि के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। धार्मिक स्वतंत्रता व सबकी समानता के बारे में संविधान में न्याययोग्य मौलिक अधिकारों के रूप में प्रावधान मौजूद है, जो कि संविधान के भाग -II में दिए गए हैं। परंतु, धर्मनिरपेक्षता शब्द 1976 में 42 वें संशोधन के द्वारा प्रस्तावना में जोड़ा गया, जिससे यह प्रकट हो सके कि धर्मनिरपेक्षता भारतीय राज्य की मौलिक विचारधारा का अभिन्न भाग है।

(iii) लोकतांत्रिक गणराज्य

लोकतंत्र का अर्थ आमतौर पर जनता की, जनता के द्वारा व जनता के लिए सरकार का गठन माना जाता है। इसका अर्थ है कि सरकार जनता द्वारा निर्वाचित तथा जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। इसकी शक्तियाँ सीमित हैं और यह मनमानी नहीं कर सकती।

लोकतंत्र के विचार संविधान में सार्वभौम वयस्क मताधिकार, चुनाव, मौलिक अधिकारों की गारंटी व उत्तरदायी, शासन के रूप में परिलक्षित हैं। आप इनके बारे में अगले पाठों में विस्तार से पढ़ेंगे। भारत में संविधान द्वारा ससंदीय लोकतंत्र प्रणाली को अपनाया गया है।

'गणराज्य' का अर्थ है कि सार्वजनिक जीवन में कोई भी पद उत्तराधिकार पर आधारित नहीं है। दूसरे शब्दों में, सभी पद जनता के लिए उपलब्ध हैं। कुछ देशों में सरकारें तो लोकतांत्रिक हैं परंतु राज्यों के अध्यक्ष निर्वाचित नहीं हैं। ऐसे राज्य के अध्यक्ष के पास वास्तविक शक्तियाँ नहीं होती हैं तथा उत्तराधिकार पर आधारित होने के कारण इन राज्यों को गणतंत्र नहीं कहा जा सकता।

ब्रिटेन व जापान ऐसे ही लोकतांत्रिक राज्य हैं। भारतीय संविधान में राज्य के अध्यक्ष (राष्ट्रपति) के निर्वाचन का प्रावधान है तथा कोई भी पद जन्म के आधार पर नहीं है। इस प्रकार भारत संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह लोकतांत्रिक गणराज्य है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जन प्रतिनिधियों के रूप में भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारत को संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए प्रस्तावना में घोषणा की तथा संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में प्रावधान किए।

पाठगत प्रश्न 4.2

कोष्ठकों में दिए गए उचित कथनों से रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. भारत में धर्मनिरपेक्ष का अर्थ ..... है। (धर्म का बहिष्कार/सब धर्मों का सम्मान / अपने धर्म का सम्मान)
2. भारत में समाजवाद का अर्थ ..... है। (सब उद्योगों का सरकारी स्वामित्व / राज्य की अर्थ व्यवस्था में प्रमुख भूमिका / धन का समान वितरण)
3. भारत ..... को गणतंत्र बन गया । (15 अगस्त 1947, 26 नवम्बर 1949, 26 जनवरी 1950)

4.8 न्याय, स्वतंत्रता व समानता

स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान भारत के लोगों को बताया गया कि उनका संघर्ष केवल ब्रिटिश शासकों से मुक्ति के लिए ही नही है, बल्कि एक ऐसे युग के सूत्रपात के लिए है, जिसमें स्त्री-पुरूष की गरिमा की सुरक्षा, निर्धनता का उन्मूलन व शोषण की समाप्ति हो सके । इसीलिए लक्ष्यपूर्ति प्रस्ताव व प्रस्तावना में संविधान निर्माताओं ने सभी भारतीय नागरिकों के लिए न्याय, स्वतंत्रता व समानता के प्रावधानों की घोषणा चिरप्रतिक्षित आदर्शों के रूप में की।

(i) न्याय

साधारण तौर पर न्याय का अर्थ है समाज में उत्तरदायित्वों, सुविधाओं का सार्थक बँटवारा। राजनैतिक दृष्टि से इसका अभिप्राय व्यक्तियों का भोजन, वस्त्र तथा आवास के आधारभूत अधिकारों को प्रदान करने के साथ-साथ उनको निर्णय प्रक्रिया में भागीदार बनाना तथा मनुष्यों के रूप में गरिमायुक्त जीवन बिताने के अवसर प्रदान करना है। इसीलिए संविधान की प्रस्तावना में सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय को शामिल किया गया है।

इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए संविधान में अस्पृश्यता, वर्ग-भेद तथा बेगारी को समाप्त करने, जनता के कल्याण को प्रोत्साहन देने (विशेषतः कमजोर व साधनहीन वर्गों को) और राजनीति में भाग लेने के प्रावधान मौजूद हैं। पाठ -7 में आप सामाजिक आर्थिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में, राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धांतों के बारे में पढ़ेंगे।

(ii) स्वतंत्रता

स्वतंत्रता से अभिप्राय हम प्रायः निर्णय लेने, चुनाव करने व कार्य करने की आजादी को ही समझते हैं। राजनैतिक दृष्टि से इसके दो अर्थ हैं, नकारात्मक व सकारात्मक। नकारात्मक स्वतंत्रता से अभिप्राय बाहरी बंधनों का अभाव है। सकारात्मक रूप में इसका अर्थ चुनाव करने की वास्तविक आजादी है। यह केवल तभी संभव है जब मनुष्य भय तथा आवश्यकता से मुक्त हो। संविधान की प्रस्तावना में विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का वर्णन मिलता है। संविधान में इस प्रकार की स्वतंत्रताओं का मौलिक अधिकारों के द्वारा सुनिश्चित किया गया है।

इच्छा की स्वतंत्रता की गारंटी मौलिक अधिकारों में नहीं है। परंतु इस बारे में निर्देशक सिद्धांतों में राज्य को कुछ निर्देश दिए गए हैं। संविधान सभा में काम के अधिकार व जीवनोपयोगी न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों में शामिल करने के लिए कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया था। परंतु राज्य के सीमित संसाधनों को ध्यान में रखते हुए ऐसा नहीं किया गया। आर्थिक स्वतंत्रता के बिना जनता द्वारा राजनैतिक व नागरिक स्वतंत्रताओं का वास्तविक उपभोग आज भी विवादग्रस्त मुद्दा है।

(iii) समानता

समानता को आधुनिक लोकतांत्रिक विचारधारा का सारतत्त्व माना जाता है। इसके अनेक आयाम हैं, जैसे– सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक समानता। भारत में अनेकों शताब्दियों तक व्यक्तियों का जाति व लिंग के आधार पर तथा राजनीतिक रूप से शासक व शासित के आधार पर असमान माना जाता रहा था। इसके कारण उन्हें अवसर की समानता से वंचित रखा गया। समानता का आदर्श प्रस्तावना में शामिल करके संविधान निर्माताओं ने उन जन भावनाओं को अभिव्यक्त किया है, जिनके अनुसार ऐसी असमानताओं को अभिव्यक्त किया है, जिनके अनुसार ऐसी असमानताओं व शोषण को समाप्त किया जा सके। अवसर व प्रतिष्ठा की समानता का तो विशेष उल्लेख प्रस्तावना में मिलता है।

प्रतिष्ठा की समानता का अर्थ है कि राज्य को अपने नागरिकों से समान व्यवहार करना चाहिए तथा जाति, वंश, जन्म धर्म, लिंग आदि को आधार मानकर भेदभाव नहीं करना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि सब नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हों। भारतीय संविधान में कानून के समक्ष समानता तथा कानूनों का समान संरक्षण जैसे प्रावधानों को मौलिक अधिकारों में शामिल करके ऐसी समानता को सुनिश्चित किया गया है। सामाजिक प्रक्रियाओं में भेदभाव को भी संविधान अनुचित मानता है। अस्पृश्यता को गंभीर अपराध माना गया है, तथा इस पर आधारित भेदभाव के लिए दंड की व्यवस्था है।

अवसर की समानता का अर्थ है, प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने जन्म की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बावजूद, अपनी बुद्धि के विकास व व्यवसाय को अपनाने के समान अवसर उपलब्ध होंगे। इसका अभिप्राय है कि सभी पद नौकरी अथवा व्यवसाय समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए समान शर्तों पर उपलब्ध होने चाहिए। भारतीय संविधान द्वारा राज्य के अधीन कोई भी रोजगार अथवा पद सभी नागरिकों को समानता के आधार पर देने की गारंटी दी गई है। वह धर्म, जाति, लिंग, वंश, जन्म स्थान अथवा निवास के आधार पर भेदभाव की मनाही करता है।

पाठगत प्रश्न 4.3

कोष्ठकों में दिए गए उचित कथनों से रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. न्याय का अर्थ है जनता को वह प्रदान करना ..... (जिसकी वह हकदार है/ जो वह चाहती हैं)
2. भारत का संविधान ..... स्वतंत्रता की गारंटी देता है (नकारात्मक / सकारात्मक)

4.9 गरिमा, बंधुत्व, एकता व अखंडता

भारत की बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक व बहु धार्मिक समाज की पृष्ठभूमि तथा देश के विभाजन को ध्यान में रखते हुए संविधान निर्माता नव-स्वतंत्र राष्ट्र की एकता व अखंडता के प्रति अत्यधिक चिंतित थे।

विभिन्न धार्मिक, भाषाई, सांस्कृतिक व आर्थिक समूहों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए इसी एकता व अखंडता की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता के कारण प्रस्तावना में व्यक्ति की गरिमा जनता मे भ्रातृभाव तथा राष्ट्र की एकता व अखंडता को स्थान दिया गया है।

गरिमा का अर्थ है प्रत्येक नागरिक अपनी आस्था, विश्वास, सामाजिक या आर्थिक स्थिति के बावजूद अपने को देश का एक समान और महत्त्वपूर्ण नागरिक मानता है। मातृत्व का अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक स्वयं को तथा दूसरे नागरिकों को देश के समान नागरिकों के रूप में देखता है। अंतर्विरोधों के क्षेत्रों में सहनशीलता है तथा एक देश के प्रति लगाव की भावना भी है।

सामान्य रूप से इसका अर्थ है कि भारतीय नागरिक एक व्यक्ति के स्तर पर तथा अपने निजी सामाजिक भाषाई अथवा धार्मिक समुदाय के स्तर पर सुरक्षित व सम्मानित अनुभव करता है। वह भारतीय समाज व राष्ट्र के प्रति समर्पण का भाव रखता है।

यह आशा की जाती है कि ऐसी गांरटी व प्रावधानों के द्वारा जनता में देशभक्ति, राष्ट्रवाद तथा भारतीयता की भावना उत्पन्न होगी। ऐसा सोचा गया था कि सहमति के द्वारा एकीकरण होगा, न कि बलपूर्वक समावेश। दूसरे शब्दों में, हमारा संविधान अनेकता में एकता के आदर्श पर आधारित है।

4.10 संविधान का दर्शन

संविधान की प्रस्तावना के उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि संविधान निर्माता देश के प्रशासन के लिए संविधान निर्माण तक ही सीमित नहीं थे बल्कि वे एक नए समाज व लोकतंत्र की स्थापना का सपना संजोए हुए थे। उन्हें मालूम था कि पिछले शासकों के स्थान पर नए शासक लाना ही काफी नहीं था।

आपने पहले भी पढ़ा होगा कि सामाजिक, आर्थिक विकास व उनको प्राप्त करने की प्रक्रियाओं के बारे में संविधान सभा के सदस्यों व नेताओं में सैद्धांतिक मतभेद थे। परंतु वे परस्पर समझौतों के द्वारा आम सहमति बनाने में सफल हो जाते थे। यह समिति संविधान की प्रस्तावना में परिलक्षित

होती है। आप जानते हैं कि प्रस्तावना में समानता व स्वतंत्रता पर आधारित लोकतांत्रिक गणराज्य का वर्णन मिलता है। बहुलवाद, सहनशीलता व सहअस्तित्व के बारे में उत्सुकता दिखाई पड़ती हैं। इसमें न्याय की प्राप्ति के बारे में भी कहा गया है। ये सब उदारवादी लोकतांत्रिक परंपराओं के तत्त्व हैं।

बहुलवाद : इसका अर्थ है, समाज में विभिन्न विश्वासों तथा मान्यताओं वाले लोग निवास करते हैं। धर्म, भाषा, आस्था विचार आदि के बारे में यह बात लागू होती है। सभी समुदायों का स्वतंत्र सहअस्तित्त्व व समान आदर है।

समतावादी : एक ऐसा समाज जो अपने सभी सदस्यों की आवश्यकताओं के बारे में जागरूक हो उसे समतावादी समाज कहते हैं। समतावादी राज्य से आशा की जाती है कि वह अपने नागरिकों के बीच असमानताओं को कम करेगा तथा सभी की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करेगा।

संविधान की प्रस्तावना को देखते हुए ऐसा लगता है कि इसमें एक निर्धारित लक्ष्य, भविष्य के लिए रूपरेखा व दिशा तथा नई सामाजिक संरचना के निर्माण का प्रयास किया गया है, जो केवल लोकतांत्रिक व समान ही नहीं होगा, बल्कि न्यायोचित भी होगा। यह एक ऐसा अवलोकन है जो मानवता पर आधारित, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और इसलिए समतावादी भी है। इसमें नई सामाजिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण में भारतीय राज्य की सकारात्मक भूमिका की परिकल्पना की गई है। इसके साथ-साथ यह व्यक्ति की स्वतंत्रता व नागरिक अधिकारों को सुरक्षा भी प्रदान करता है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान उदारवादी, कल्याणकारी लोकतांत्रिक समाज की विचारधारा पर आधारित है। संविधान की प्रस्तावना का एक और महत्त्व यह है कि वह भारतीय राज्य के आदर्शों व मूल्यों की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। इस प्रकार संविधान की व्याख्या करते समय उचित सम्मान देती हैं। यह नागरिकों को सरकारी नीतियों का विश्लेषण करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण पैमाना प्रदान करती है।

पाठगत प्रश्न 4.4

निम्नलिखित में कौन से कथन सत्य / असत्य हैं ?

(अ) जनता के सहअस्तित्व के लिए एकता व अखंडता की आवश्यकता नहीं है।

(ब) बहुलवाद का अर्थ है कि जनता का विश्वास एक ही है।

(स) समतावादी समाज अपने सदस्यों की सब आवश्यकताओं के प्रति जागरूक होता है।

(द) भारतीय संविधान उदारवादी, लोक कल्याणकारी लोकतांत्रिक समाज के दर्शक पर आधारित है।

4.11 आपने क्या सीखा

देश के प्रशासन की रूपरेखा व संरचना संविधान द्वारा प्रदान की जाती है। भारत का शासन एक ऐसे संविधान द्वारा नियंत्रित किया जाता है, जिसका निर्माण स्वतंत्रता के समय एक संविधान सभा द्वारा किया गया। संविधान सभा 1946 में स्वतंत्रता की औपचारिक घोषणा से पहले अस्तित्व में आई। सभा में प्रांतीय सभाओं के द्वारा निर्वाचित तथा देशी रियासतों द्वारा मनोनीत सदस्य शामिल थे।

संविधान सभा ने अपना काम लक्ष्यपूर्ति प्रस्ताव के साथ शुरू किया गया। यह प्रस्ताव जनता की भावनाओं व आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता था। संविधान सभा ने संविधान निर्माण का कार्य 26 नवम्बर, 1949 को पूरा कर लिया। इसके बाद भारत का नया संविधान औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। यह संविधान 26 जनवरी 1950 से लागू किया गया। भारतीय संविधान प्रस्तावना से शुरू होता है। वैधानिक रूप से प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। परंतु समझने की दृष्टि से प्रस्तावना संविधान की कुंजी है। यह हमें उन आदर्शों, लक्ष्यों तथा विचारों के बारे में बताती है, जो संविधान में निहित हैं। इसीलिए प्रस्तावना संविधान की भावना व दर्शन को प्रतिबिंबित करती है।

प्रस्तावना हमें बताती है कि भारत एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य बन गया है। इसका अर्थ है कि भारत किसी दूसरी शक्ति के प्रभाव या नियंत्रण में न होकर एक स्वतंत्र देश है। इसकी सरकार जनता द्वारा निर्वाचित व जनता के प्रति ही उत्तरदायी है। धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के कारण राज्य का कोई धर्म नहीं है। तथा सरकार से सभी धर्मों का समान आदर करने की अपेक्षा की जाती है।

प्रस्तावना में भारतीय समाज के लिए निर्धारित लक्ष्यों का वर्णन मिलता हैं, जैसे न्याय की प्राप्ति, सब नागरिकों के लिए स्वतंत्रता व समानता तथा जनता के बीच भ्रातृभाव के द्वारा राष्ट्रीय एकता व अखंडता को प्रोत्साहन देना और व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करना। प्रस्तावना में वर्णित लक्ष्य और आदर्श हमें बताते हैं कि भारतीय संविधान उदारवादी, लोकतांत्रिक, कल्याणकारी राज्य के सिद्धांत पर आधारित है।

4.12 पाठांत प्रश्न

1. संविधान की प्रस्तावना का क्या महत्त्व है ?
2. भारतीय परिप्रेक्ष्य में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ व सार्थकता बताइए ?
3. सामाजिक व आर्थिक न्याय से आप क्या समझते हैं ?
4. अवसर की समानता का अर्थ, महत्त्व व इसके अपवादों पर प्रकाश डालिए।
5. प्रस्तावना में परिलक्षित भारतीय संविधान का क्या दर्शन है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

4.1 (1) ब (2) स (3) द

4.2 (1) सभी धर्मों का सम्मान

(2) अर्थव्यवस्था में राज्य की प्रमुख भूमिका

(3) 26 जनवरी, 1950

4.3 (1) अधिकारी है

(2) सकारात्मक

4.4 (अ) असत्य (ब) असत्य

(स) सत्य (द) सत्य

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. उपखंड 4.6 देखें
2. उपखंड 4.7.2 देखें,
3. उपखंड 4.8.1 देखें,
4. उपखंड 4.8.3 देखें,
5. उपखंड 4.10 देखें,

5
भारतीय संविधान की विशेषताएँ

5.1 भूमिका

आपने पिछले पाठ में भारतीय संविधान के निर्माण, उसकी प्रस्तावना एवं राजनीतिक दर्शन के बारे में पढ़ा। हम जानते हैं कि किसी अन्य संगठन की भांति राज्य को भी स्वयं शासित करने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता होती है। संविधान उन नियमों का संग्रह है जो राज्य की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। यह एक मौलिक दस्तावेज होता है, जिसके अनुसार राज्य की सरकार कार्य करती है। इस प्रकार संविधान वह मूलभूत कानून है जो सरकार के विभिन्न अंगों की शक्तियों को परिभाषित एवं सीमित करता है तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों को इंगित करता है।

संविधान सभा ने 2 वर्ष 11 मास 18 दिन का समय लगा कर संविधान का प्रारूप तैयार किया, परंतु भारतीय संविधान 26 जनवरी सन् 1950 को लागू किया गया। संविधान निर्माताओं ने दूसरे देशों के संविधानों से भी कई विचार ग्रहण किए तथा इसे मौलिकता प्रदान की। भारतीय संविधान अपने आप में एक अनूठा संविधान है। इसकी अनेक विशेषताएँ हैं।

5.2 उद्देश्य

यह पाठ पढ़ने के बाद आप :

- भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताओं को जान सकेंगे ;
- लिखित व अलिखित संविधानों में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे ;
- कठोर व लचीले संविधानों में भेद कर सकेंगे ;

- भारतीय संविधान की प्रकृति की जानकारी प्राप्त कर सकेगें ;
- मौलिक अधिकारों व मौलिक कर्त्तव्यों के महत्त्व का विश्लेषण कर सकेंगे ;
- उन विशेषताओं का महत्त्व बता सकेंगे, जो इसे संसार के दूसरे संविधानों से अलग करती हैं।

5.3 लिखित संविधान

संविधान लिखित या अलिखित हो सकते हैं। लिखित संविधान हमेशा निर्मित तथा अलिखित संविधान विकसित होता है। लिखित संविधान वह है जो निर्धारित समयावधि में तैयार किया जाता है तथा निश्चित तारीख को लागू होता है। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान 26 जनवरी 1950 को हमारे देश द्वारा अंगीकृत एवं लागू किया गया । इसके विपरीत अलिखित संविधान क्रमिक विकास का परिणाम होता है। यह इतिहास की देन होती है। इसका संविधान सभा द्वारा निर्माण नहीं किया जाता। यह सदियों तक विकसित रीति-रिवाजों, परंपराओं व कानूनों पर आधारित होता है। ब्रिटेन का संविधान विकसित तथा अलिखित संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण है। भारतीय संविधान विश्व में सबसे विशाल लिखित संविधान है । इसमें 395 अनुच्छेद व 12 अनुसूचियाँ हैं इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरीका के संविधान में केवल सात अनुच्छेद हैं। लिखित अथवा निर्मित संविधान की विशिष्टता इसका स्पष्ट व निश्चित होना है। जब संविधान एक आलेख के रूप में होता है तो जनता को सरकार की शक्तियों की स्पष्ट जानकारी होती है । लिखित संविधान में नागरिकों के अधिकार भी सुरक्षित होते हैं। भारत जैसे संघीय राज्य में सरकारें दो प्रकार की हैं, संघ तथा राज्य सरकार। लिखित संविधान में संघ व राज्यों की शक्तियों का विभाजन स्पष्ट रूप से दिया गया है।

लिखित संविधान की कमजोरी यह है कि वह बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप मुश्किल से बदलता है। प्रायः लिखित संविधान की संशोधन प्रक्रिया अपेक्षाकृत जटिल होती है। यह कहा जाता है कि लिखित संविधान उन्नत प्रशासन प्रदान करने में सहायक होता है, किंतु यह दृष्टिकोण भी विवादपूर्ण है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड सुप्रशासित देश है, यद्यपि उसका संविधान अधिकांशतः अलिखित है।

पाठगत प्रश्न 5.1

कोष्ठकों में दिए गए उचित शब्दों में से रिक्त स्थान भरिए :

क) संविधान ..... का संग्रह होता है।
(नियमों, कानूनों, सिद्धांतों)

ख) भारत का संविधान..... के द्वारा अंगीकृत किया गया।
(संविधान सभा, समिति, राज्य विधानसभा)

ग) भारतीय संविधान में ..... अनुच्छेद हैं।
(495, 395, 295)

घ) भारतीय संविधान में .....अनुसूचियाँ हैं । (15, 12, 9)

ङ) भारतीय संविधान.....को लागू किया गया ।
(15 अगस्त 1947, 26 नवम्बर 1949, 26 जनवरी 1950)

5.4 कठोरता व लचीलेपन का सम्मिश्रण

संशोधन प्रक्रिया के आधार पर संविधानों को कठोर अथवा लचीला कहा जाता है। यह प्रक्रिया कठिन अथवा सुगम हो सकती है। कठोर संविधान वह है जो आसानी से संशोधित न हो सके। अर्थात् उसमें संशोधन साधारण बहुमत से नहीं किया जा सकता है। उसके लिए विशेष प्रक्रिया अपनाई जाती है, जिसमें संशोधन के लिए विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है। संयुक्त राज्य अमेरीका, स्विटज़रलैंड तथा आस्ट्रेलिया के संविधान कठोर संविधानों की श्रेणी में आते हैं।

इसके विपरीत एक लचीला संविधान वह होता है, जिसे सामान्य वैधानिक प्रक्रिया से संशोधित किया जा सकता है। इसके संशोधन में विशेष प्रक्रिया की कोई आवश्यकता नहीं होती है । उदाहरण के लिए इंग्लैंड का संविधान लचीला है, क्योंकि उसका कोई भी भाग संसद के कानून द्वारा संशोधित किया जा सकता है । कठोर संविधान की एक खूबी यह होती है कि इसमें जल्दबाजी व आवेश में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है। यह स्थायित्व लिए होता है, जबकि लचीला संविधान ऐसा नहीं होता है। नागरिकों के मौलिक अधिकार व अल्पसंख्यकों के हित कठोर संविधान में अधिक सुरक्षित होते हैं। एक लचीला संविधान प्रगतिशील माना जाता है तथा यह राष्ट्र के विकास में सहायक होता है, क्योंकि यह सुगमता से परिवर्तित हो जाता है तथा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल लेता है। इसके विपरीत एक कठोर संविधान को परिवर्तित होते हालात के अनुसार आसानी से परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

भारतीय संविधान कठोरता व लचीलापन के सम्मिश्रण का अनूठा उदाहरण है। हमारे संविधान में संशोधन की तीन विधियाँ दी गई हैं। इसके कुछ अनुच्छेद संसद के विशेष बहुमत द्वारा परिवर्तित किए जा सकते हैं, जबकि अनेक दूसरे प्रावधानों को आधे से अधिक राज्यों के विशेष बहुमत से ही संशोधित किया जा सकता है।

संघीय प्रणाली में कुछ कठोरता तो आवश्यक समझी जाती है, जिससे राज्यों की शक्तियों में छेड़छाड़ न की जा सके। इसी तरह राज्य भारत के नागरिकों के मौलिक अधिकारों को छीन नहीं सकता है।

पाठगत प्रश्न 5.2

निम्नलिखित में कौन से कथन सत्य तथा कौन से असत्य हैं?

क) भारत का संविधान रीति-रिवाजों व परंपराओं पर आधारित है।

ख) लिखित संविधान हमेशा निर्मित होता है।

ग) स्विट्ज़रलैंड का संविधान लचीला संविधान है।

घ) कठोर संविधान में संशोधन की प्रक्रिया अति सुगम होती है।

ङ) भारतीय संविधान कठोरता व लचीलेपन का सम्मिश्रण होता है।

5.5 संघात्मक राज व्यवस्था

राज्य का स्वरूप संघीय अथवा एकात्मक होता है । संघात्मक राज्य का एक उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका तथा एकात्मक राज्य का उदाहरण इंग्लैड है। एकात्मक प्रणाली में संपूर्ण देश की एक सरकार होती है। संघीय प्रणाली में राज्य विभिन्न इकाइयों में बाँटा होता है। पूरे देश की एक ही सरकार होती है जिसे संघ अथवा केंद्रीय सरकार कहते हैं। परंतु प्रत्येक इकाई अथवा राज्य की भी एक सरकार होती है। केंद्रीय तथा राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का बंटवारा होता है। शक्तियों का विभाजन अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना संघ का अस्तित्व ही नहीं हो सकता है। भारत में संघीय सूची, राज्य सूची व समवर्ती सूची के नाम से तीन सूचियां होती हैं जिनके बारे में पाठ 8 में विस्तार से वर्णन किया गया है।

संघीय प्रणाली में प्रायः संविधान कठोर तथा सर्वोच्च होता है। संविधान की सर्वोच्चता हर किसी को उसका पालन करने को बाध्य करती है। न्यायपालिका की सर्वोच्चता भी संघ-शासन की अनिवार्य विशेषता होती है, जिससे संविधान की व्याख्या निष्पक्षता से हो सके। भारत में संविधान की रक्षा के निर्मित्त सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया गया है। भारतीय संघात्मक व्यवस्था में केंद्र सरकार को अधिक प्रशासनिक, वैधानिक, वित्तीय तथा न्यायपालिका संबंधित शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। भारत में कतिपय एकात्मक तत्व भी मौजूद हैं; जैसे लचीला संविधान, केंद्रीय सरकार के पक्ष में शक्ति-विभाजन, राज्य सरकारों के अध्यक्षों (राज्यपालों) का केंद्र सरकार द्वारा नियुक्ति, एकीकृत न्यायपालिका आदि। इस प्रकार एक विशेष प्रकार की अर्द्धसंघात्मक संरचना यह इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उपरोक्त विशेषताएँ भारतीय संघात्मक व्यवस्था के एकात्मक स्वरूप को दर्शाती हैं क्योंकि इनसे राज्यों की स्वायत्तता सीमित होती हैं।

5.6 संसदात्मक लोकतंत्र

भारत के संविधान में संसदीय लोकतंत्र का प्रावधान है । इसे ब्रिटिश शासन–प्रणाली से अपनाया गया है । संसदात्मक लोकतंत्र में विधानमंडल तथा कार्यपालिका में घनिष्ठ संबंध होता है । इसीलिए मंत्रिमंडल के सदस्य विधानमंडल के सदस्यों में से ही लिए जाते हैं तथा उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। दूसरे शब्दों में वे विधानमंडल का विश्वास प्राप्त करने तक ही पदासीन रहते हैं ।

संसदात्मक लोकतंत्र में राज्य का अध्यक्ष नाममात्र का अध्यक्ष होता है। भारत में राष्ट्रपति राज्य का अध्यक्ष होता है। संवैधानिक तौर पर उसको बहुत सी शक्तियाँ प्राप्त हैं, परंतु वास्तव में वह इनका प्रयोग नहीं करता। प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद इन शक्तियों का प्रयोग करती है।

5.7 मौलिक अधिकार कर्त्तव्य

मौलिक अधिकार व कर्त्तव्य भारतीय संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। हमें ब्रिटिश शासन

के दौरान राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। इसलिए भारत की जनता की एक महत्त्वपूर्ण आकांक्षा कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त करने की थी, जैसे स्वतंत्रता का अधिकार, समानता का अधिकार आदि। भारतीय संविधान में कुछ मौलिक अधिकारों का प्रावधान है। इनमें समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक व शैक्षिक अधिकार, संवैधानिक उपचारों का अधिकार शामिल हैं।

इन मौलिक अधिकारों की रक्षा न्यायालय द्वारा हो सकती है। इनके उल्लंघन की स्थिति में हम न्यायालय में जाकर इनकी पुर्नस्थापना करा सकते हैं। परंतु ये आत्यंतिक अथवा असीमित नहीं हैं। अगले पाठ में आपको मौलिक अधिकारों के बारे में विस्तार से बताया जाएगा।

42 वें संविधान संशोधन के द्वारा मौलिक कर्त्तव्यों को संविधान में शामिल किया गया। इसमें सभी नागरिकों के लिए 10 मौलिक कर्त्तव्यो की सूची दी गई है। अधिकार राज्य द्वारा व्यक्तियों को दी हुई सुविधाएँ हैं तथा वह उनकी रक्षा के लिए कटिबद्ध है, जबकि नागरिकों द्वारा पूरे किए जाने वाले उत्तरदायित्व हैं। परंतु कर्त्तव्य न्याययोग्य नहीं हैं तथा इनके अतिक्रमण की दशा में कोई दंड नही दिया जा सकता है। (इन कर्त्तव्यों के बारे में आप पाठ -7 में विस्तार पूर्वक पढ़ेगें)।

पाठगत प्रश्न 5.3

कोष्ठकों में दिए गए उचित शब्दों को चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए ।

(क) भारत एक..... राज्य है। (एकात्मक, संघात्मक, अर्द्धसंघीय)

(ख) संसदात्मक लोकतंत्र में असली सत्ता ..... के पास होती है। (जनता, राष्ट्रपति, मंत्रीमंडल)

(ग) मौलिक अधिकार ..... हैं । (संपूर्ण, न्याययोग्य, असीमित)

(घ) मौलिक कर्त्तव्यो को ..... संशोधन के द्वारा शामिल किया गया। (42 वें, 44 वें, 46 वें संशोधन)

5.8 राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांत

राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांत हमारे संविधाने की अन्य अनूठी विशेषता है। ये सिद्धांत हमारे संविधान में आयरलैंड के संविधान से लिए गए। अनेक ऐसे आर्थिक सामाजिक अधिकार हैं जिन्हें हमारे संविधान निर्माता भाग 3 में शामिल करना चाहते थे, किंतु आर्थिक संसाधनों की कमी से नहीं कर पाए। उनको इन सिद्धांतों के अंतर्गत लाया गया है। हमारे संविधान में आर्थिक न्याय को प्रदान करने तथा थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में धन के जमा होने को रोकने के उद्देश्य से निर्देशक सिद्धांतों को शामिल किया गया है।

नीति निर्देशक सिद्धांत संविधान द्वारा देश में सब सरकारों को दिए गए एक महत्त्वपूर्ण निर्देश हैं। सभी संघ अथवा राज्य सरकारों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी नीतियाँ इन निर्देशक सिद्धांतों के अनुसार तैयार करें। निर्देशक सिद्धांतों का उद्देश्य भारत में कल्याणकारी राज्य

की स्थापना है, परंतु ये सरकारों पर बाध्यकारी नहीं हैं, तो भी देश के प्रशासन में इनका मौलिक स्थान है। सरकारें इनकी उपेक्षा नहीं कर सकती हैं। ये भविष्य की सरकारों के लिए निर्देश हैं, जिनको वे अपने कार्यक्रमों व नीतियों में स्थान देंगी। इनके बारे में आप पाठ 7 में पढ़ेंगे।

5.9 एकीकृत न्यायपालिका

भारत में एकीकृत न्याय प्रणाली है। सर्वोच्च न्यायालय व विभिन्न उच्च न्यायालय मिलकर एकीकृत न्यायिका संरचना के अंतर्गत आते हैं, जिनके अधिकार क्षेत्र में सब कानून हैं, इसका अर्थ है कि सभी संघीय, राज्य, दीवानी, फौजदारी अथवा संवैधानिक कानूनों के ऊपर अधिकार क्षेत्र का होना। संयुक्त राज्य अमेरिका की न्यायिक प्रणाली की तरह हमारे देश में पृथक संघीय तथा प्रणाली की तरह हमारे देश में पृथक संघीय तथा राज्य न्यायालय नहीं हैं। संपूर्ण न्यायपालिका में न्यायालयों की शृंखला क्रमानुसार है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश, उच्च न्यायालयों के अनुभवी न्यायाधीशों में से नियुक्त किए जाते हैं। इसी प्रकार उच्च न्यायालयों के अनेक न्यायाधीश नीचे निचली अदालतों के अनुभवी न्यायाधीशों में से नियुक्त किए जाते हैं। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के आपस में स्थानांतरण का भी प्रावधान है। उच्च न्यायालय को अधीनस्थ न्यायालयों पर निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालयों को कोई भी निर्देश दे सकता है। चूँकि सर्वोच्च न्यायालय भारतीय न्याय व्यवस्था के शीर्ष पर है अतः इसके निर्णय देश के सर्वोच्च कानून है। इस प्रकार भारतीय न्यायपालिका संपूर्ण रूप से एकीकृत है। (न्यायिक प्रणाली के बारे में आप पाठ -14 में सविस्तार पढ़ेंगे)।

5.10 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

एकीकृत न्यायापालिका के साथ-साथ भारतीय संविधान की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता न्यायपालिका की स्वतंत्रता का प्रावधान है। भारतीय न्यायपालिका कार्यपालिका व विधानपालिका के दबाव से पूरी तरह मुक्त है। न्यायाधीशों की नियुक्ति का आधार योग्यता है और उन्हें आसानी से पदमुक्त नहीं किया जा सकता है। उनके वेतन तथा भत्ते सुरक्षित होते हैं। उन्हें पर्याप्त वेतन दिया जाता है। न्यायपालिका को संविधान की व्याख्या व सुरक्षा तथा मौलिक अधिकारों की रक्षा और केंद्र तथा राज्यों के बीच विवादों का समाधान करना होता है।

पाठगत प्रश्न 5.4

सही उत्तर के सामने सही (✓) का निशान लगाएँ।

(क) नीति-निर्देशक सिद्धांत संविधान द्वारा दिए गए आदेश हैं।

(i) देश में सब सरकारों को

(ii) भारत के सब व्यक्तियों को

(iii) सभी संसद सदस्यों को

(ख) सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र होता है।

(i) फौजदारी कानूनों के बारे में

(ii) दीवानी कानूनों के बारे में

(iii) सभी संवैधानिक कानूनों पर

(ग) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में से होती है।

(i) निचली अदालतों के अनुभवी न्यायाधीशों

(ii) ऊपरी अदालतों के अनुभवी न्यायाधीशों

(iii) उच्च न्यायालयों के अनुभवी न्यायाधीशों

(घ) मौलिक अधिकारों की सुरक्षा होती है।

(i) संविधान द्वारा

(ii) न्यायपालिका द्वारा

(iii) संसद द्वारा

5.11 इकहरी नागरिकता

संघीय राज्य में प्रायः दोहरी नागरिकता प्रदान की जाती है, उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक व्यक्ति अपने राज्य का नागरिक होने के साथ-साथ संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.) का भी नागरिक होता है। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति संघीय शासन अथवा केवल अपने राज्य शासन के अंतर्गत रोज़गार प्राप्त कर सकता है। भारत में हमने इकहरी नागरिकता को अपनाया है इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति भारत का नागरिक है चाहे वह किसी भी स्थान पर निवास करता हो, वह अपने राज्य जैसे हरियाणा, उत्तर प्रदेश, पंजाब आदि का नागरिक नहीं होता है। भारत के सभी नागरिक देश में कहीं भी रोजगार प्राप्त कर सकते हैं तथा देश के सभी भागों में समान अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं।

5.12 सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार

भारतीय लोकंतत्र विश्व में सबसे बड़ा लोकतंत्र है, जहाँ हमने 'जनता की, जनता के द्वारा व जनता के लिए' सरकार की स्थापना की है। नागरिक सरकार के विधानपालिका अंग के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। भारत का 18 वर्ष से ऊपर का प्रत्येक नागरिक, जाति, धर्म, लिंग, प्रजाति संपत्ति के आधार पर बिना किसी भेदभाव के मताधिकार का अधिकार रखता है। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के बिना लोकतंत्र अर्थहीन है। विश्व के प्रगतिशील पाश्चात्य लोकतांत्रिक देशों में मताधिकार को धीरे-धीरे विस्तारित किया गया। प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक मत देने का अधिकार है। इस प्रकार, भारतीय संविधान सार्वभौमकि वयस्क मताधिकार के द्वारा राजनैतिक समानता को स्थापित करता है।

पाठगत प्रश्न 5.5

कोष्ठकों में दिए गए उचित शब्दों में रिक्त स्थानों के माध्यम से पूर्ति कीजिए।

(क) संयुक्त राज्य अमेरिका में..... नागरिकता है। (इकहरी, दोहरी, अल्पकालीन)

(ख) इकहरी नागरिकता का अर्थ है.....होता है। (व्यक्ति अपने ही राज्य का नागरिक, व्यक्ति पूरे संघ का नागरिक, व्यक्ति अपने मूल स्थान का नागरिक)

(ग) भारत में मताधिकार की न्यूनतम आयु..... है। (18 वर्ष, 21 वर्ष, 25 वर्ष)

5.13 आपने क्या सीखा

भारतीय संविधान की कुछ विशेषताओं का अध्ययन करने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि इसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसे दूसरे संविधानों से पृथक करती हैं। उदाहरण के लिए भारतीय संविधान संसार में सबसे विशाल संविधान है। इसमें 395 अनुच्छेद व 12 अनुसूचियाँ है। यह कठोरता व लचीलेपन का सम्मिश्रण है। संविधान के कुछ प्रावधानों को सुगमता से नहीं बदला जा सकता है तथा उनमें संशोधन के लिए विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत कुछ प्रावधान साधारण बहुमत से ही संशोधित हो जाते हैं। संविधान की एक अन्य विशेषता इसकी संघीय संरचना है। भारत में संविधान सर्वोच्च है। संघ तथा राज्य सरकारों में स्पष्ट शक्ति-विभाजन है। सर्वोच्च न्यायालय संविधान की सुरक्षा करता है।

भारतीय संविधान में संसदीय लोकतंत्र का प्रावधान है। विधानपालिका तथा कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ संबंध है। प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद के पास वास्तविक शक्तियाँ होती हैं तथा वह संसद के प्रति उत्तरदायी है। भारतीय संविधान में अनेक मौलिक अधिकार भी हैं, जो कि न्याययोग्य होते हैं। सर्वोच्च न्यायलय व उच्च न्यायालय इन अधिकारों की रक्षा करते हैं। इन अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में न्यायालय की शरण ली जा सकती है। बाद में हमारे संविधान में समस्त भारतीय नागरिकों के लिए 10 मौलिक कर्त्तव्यों का भी समावेश किया गया। ये कर्त्तव्य न्याययोग्य नही हैं, फिर भी प्रत्येक नागरिक से इनके पालन की अपेक्षा की जाती है। इसी प्रकार हमारे संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों का भी समावेश किया गया। ये सिद्धांत देश की सभी सरकारों के लिए आदेश के समान हैं। सरकारों से अपेक्षा की जाती है कि वे नीति निर्धारण इन निर्देशक सिद्धांतों के अनुसार करेंगी।

भारत में एकीकृत न्याय प्रणाली विद्यमान है। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों का अधिकार क्षेत्र सभी कानूनों के ऊपर है तथा वे एकीकृत न्यायिक संरचना के अंतर्गत आते हैं। समस्त न्यायपालिका न्यायालयों की एक शृंखला है। भारतीय न्यायपालिका कार्यपालिका व विधानपालिका के प्रभाव से मुक्त है। न्यायपालिका का कर्त्तव्य संविधान की व्याख्या तथा रक्षा करना, मौलिक अधिकारों की सुरक्षा करना, केंद्र व राज्यों के बीच विवादों का निपटारा करना है।

भारत में इकहरी नागरिकता है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक भारतीय भारत का नागरिक है। 18 वर्ष या उससे अधिक आयु के नागरिक चुनाव में मतदान कर सकते हैं।

5.14 पाठांत प्रश्न

1. लिखित संविधान के बारे में संक्षेप में लिखिए।
2. कठोर व लचीले संविधान में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. भारत का संघीय राज्य का स्वरूप संक्षेप में लिखिए।
4. मौलिक अधिकारों व मौलिक कर्त्तव्यों में क्या संबंध है?
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें।
   (क) न्यायपालिका की स्वतंत्रता
   (ख) एकीकृत न्यायिक प्रणाली
   (ग) सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

5.1 (क) कानून
(ख) संविधान सभा
(ग) 395 अनुच्छेद
(घ) 12 अनुसूचियाँ
(ङ) जनवरी 1950

5.2 (क) असत्य
(ख) सत्य
(घ) असत्य
(ग) असत्य
(घ) असत्य
(ङ) सत्य

5.3 (क) अर्द्धसंघीय
(ख) मंत्रिमंडल
(ग) न्याययोग्य

(घ) 42 वाँ संशोधन

5.4 (क) अ

(ख) इ

(ग) इ

(घ) अ

5.5 (क) दोहरा

(ख) एक व्यक्ति पूरे संघ का नागरिक है।

(ग) 18 वर्ष

(घ) 42 वाँ संशोधन

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1 कृपया उपखंड 5.3 देखें,

2 कृपया उपखंड 5.4 देखें,

3 कृपया उपखंड 5.5 देखें,

4 कृपया उपखंड 5.7 देखें,

5 कृपया देखें 5.10, 5.9, 5.12

6
मौलिक अधिकार

6.1 भूमिका

सामान्य भाषा में अधिकार वे होते हैं जो समाज में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा उपयोग किए जाते हैं किंतु राज्य द्वारा लागू किए गए होते हैं। ये अधिकार व्यक्ति के जीवन में बहुत आधारभूत तथा आवश्यक होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वे प्रत्येक नागरिक के जीवन में मौलिक आवश्यकता होते हैं। जिन मूलभूत आवश्यकताओं को अधिकार के रूप में देश के संविधान में सम्मिलित किया गया है। उन्हें मौलिक अधिकार का दर्जा प्राप्त है। पिछले पाठ में संविधान के गूढ़ तत्वों के बारे में पढ़ते हुए आपने जिन मौलिक अधिकारों के बारे में चर्चा पढ़ी थी उनके बारे में आप इस पाठ में विस्तार से पढ़ेंगे।

6.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- मौलिक अधिकारों का अर्थ तथा महत्त्व समझ सकेंगे तथा जान सकेंगे कि उसमें किस प्रकार आम आदमी के सम्मान का ध्यान रखा गया है तथा किस प्रकार न्यायपालिका के माध्यम से इनको बचाए रखने का प्रयास किया जाता है
- समानता के अधिकार को प्रामाणिक सिद्ध कर सकेंगे तथा कानून से पूर्व समानता एवं पक्षपातपूर्ण विभाजन की रोकथाम तथा अस्पृश्यता एवं जातिवाद के उन्मूलन संबंधी प्रक्रिया का उल्लेख कर सकेंगे ;
- अनूसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ी जातियों के पक्ष में बनाए गए सुरक्षात्मक कानून की व्याख्या कर सकेंगे ;

- स्वतंत्रता के अधिकार, मनमाने ढंग से की जाने वाली गिरफ्तारियों तथा अवैध एवं अतार्किक रूप से की जाने वाली स्वेच्छापूर्ण गिरफ्तारियों के विरूद्ध जीवन तथा स्वतंत्रता के अधिकारों की व्याख्या कर सकेंगे;
- मजदूर, बच्चों तथा स्त्रियों के शोषण के खिलाफ अधिकार की व्याख्या कर सकेंगे;
- धर्म की स्वतंत्रता के अधिकार का उल्लेख कर सकेंगे:
- संवैधानिक उपचार संबंधी अधिकारों को पहचान सकेंगे तथा जान सकेंगे कि किस प्रकार उच्च न्यायालयों द्वारा मौलिक अधिकारों की रक्षा की जाती है।

6.3 मौलिक अधिकारों का अर्थ एवं महत्व

संविधान को देश का मौलिक कानून माना जाता है। भारतीय संविधान के तीसरे खंड में जो अधिकार समाविष्ट हैं उन्हें ही मौलिक अधिकार कहा जाता है। इन अधिकारों को इसलिए भी मौलिक अधिकार कहा जाता हैं क्योंकि इनके बिना व्यक्ति का पूर्णतः विकास संभव नहीं है। ये अधिकार नागरिकों को स्वतंत्र तथा खुशहाल जीवन जीने की सुविधाएँ उपलब्ध कराते हैं। इन अधिकारों के द्वारा नागरिकों को जनतांत्रिक समाज में रहने की स्वतंत्रता संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मौलिक अधिकारों के द्वारा देश में रह रहे अल्पसंख्यक लोगों में सुरक्षा की भावना पैदा होती है। देश में भाषण अथवा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा धर्म की स्वंतत्रता आदि के बिना सच्चे जनतंत्र की स्थापना संभव नहीं हो सकती। भारत जैसे देश में, जहाँ पर हमें विभिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, मौलिक अधिकारों के महत्त्व को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। मौलिक अधिकार देश में एक प्रकार के धर्मनिरपेक्ष चरित्र का निर्माण करते हैं जिससे विभिन्न समुदायों के बीच शांति तथा सद्भावना स्थापित होती है। संविधान के तीसरे खंड में इन अधिकारों को प्रतिष्ठापित किया गया हैं संविधान की धारा 14 तथा 32 के अंतर्गत इनकी चर्चा की गई है तथा इन्हें न्याययोग्य बनाया गया है।

> **न्याययोग्य:** *इसका अर्थ होता है कि भारत के नागरिक अपने मौलिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के समक्ष जा सकते हैं*

मौलिक अधिकार न्याययोग्य तो हैं किंतु अंतिम रूप से अबाधित नहीं हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने संपूर्ण समाज के हितों की सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए इन पर प्रतिबंध लगाने का भी विधान बनाया है। हालांकि इन पर लगाए जाने वाले प्रतिबंध समाज-कल्याण एवं व्यक्तिगत हितों के बीच संतुलन बनाए रखने वाले तर्कों के साथ होने चाहिए। संविधान में सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए इन अधिकारों पर प्रतिबंध लगा सकती है। इन मौलिक अधिकारों का उपयोग कानून के नियमों को ध्यान में रखते हुए ही किया जा सकता है, कोई भी व्यक्ति अथवा राज्य अपने हितों के लिए इनको नजरअंदाज

नहीं कर सकता। यहाँ तक कि संविधान में विधायिका अथवा कार्यपालिका को मौलिक अधिकारों का हनन करने वाले किसी भी विधेयक को पारित करने अथवा आज्ञा प्रदान करने के लिए वर्जित किया गया है। यदि कोई विधेयक मौलिक अधिकारों में बाधा पहुंचाता है तो सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्याय रूप उसके विरूद्ध कानून बना सकते हैं। आप इस संबंध में विस्तार से "न्यायिक पुनरावलोकन" नामक पाठ में पढ़ेंगे। कुछ मौलिक अधिकार ऐसे है जिनका उपभोग देश के नागरिक तथा बाहर से आए लोग, दोनों समान रूप से करते हैं। उदाहरण के लिए कानून के समक्ष समानता तथा धर्म की स्वंतत्रता कुछ ऐसे ही मौलिक अधिकार हैं।

विधि का शासन कानून के नियमः इसका अर्थ होता है कि कानून की दृष्टि में सभी स्त्री–पुरूष समान होते हैं तथा बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को यह समान रूप से अधिकार प्राप्त है कि वे कानून की रक्षा प्राप्त करें। एक दूसरे शब्दों में, कोई भी व्यक्ति कानून से ऊपर नहीं है।

पहले हमें सात मौलिक अधिकार प्राप्त थे। किंतु बाद में 44 वें संविधान संशोधन के द्वारा 1978 में संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची से निकाल दिया गया। अब सिर्फ छह मौलिक अधिकार हमें प्राप्त हैं। ये हैं:

1. समानता का अधिकार
2. स्वतंत्रता का अधिकार
3. शोषण के विरूद्ध अधिकार
4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार
5. शिक्षा एवं संस्कृति का अधिकार
6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार

अब हम इन अधिकारों के बारे में एक-एक कर विस्तार से पढ़ेंगे।

पाठगत प्रश्न 6.1

1. भारत के संविधान में.....प्रकार के मौलिक अधिकार वर्णित हैं। (5, 6, 7, 8)
2. .....के द्वारा विधि के शासन को स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। (राजनीतिक अधिकार, आर्थिक अधिकार, मौलिक अधिकार।
3. मौलिक अधिकार.....की गारंटी सुनिश्चित करते हैं। (समानता, भाईचारे, मित्रता)
4. भारतीय संविधान के तीसरे भाग में वर्णित अधिकारों को..... के नाम से जाना जाता है, (कानून, राजनीतिक, मौलिक)

5. मौलिक अधिकार.....लोगों को अधिकारों के प्रति आश्वासन प्रदान करते हैं। (बहुसंख्यक, अल्पसंख्यक, व्यापारी)

6.4 समानता का अधिकार

समानता के अधिकार का अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक को समान अवसर तथा सुविधाएँ प्रदान करना। इसके द्वारा राज्य में किसी भी प्रकार के जाति, समुदाय, धर्म, जन्म स्थान अथवा लिंग के अनुसार भेद किए जाने की प्रकृति पर रोक लगाई जाती है। समानता के अधिकार का उद्देश्य किसी भी प्रकार की आर्थिक एवं सामाजिक असमानता का विरोध करना है। दूसरे शब्दों में कहें तो समानता के अधिकार के द्वारा नागरिकों को समान सामाजिक, नागरिक तथा पूर्ण कानूनी सुविधाएँ उपलब्ध कराना पाँच प्रकार की समानताएँ समानता के अधिकार में समाहित हैं।

ये हैं:

(क) कानून के समक्ष समानता

(ख) भेदभाव पर प्रतिबंध

(ग) अवसर की समानता

(घ) अस्पृश्यता का उन्मूलन

(ङ) पदवियों का उन्मूलन

(i) कानून के समक्ष समानता

संविधान के अनुसार "राज्य भारतीय राज्य क्षेत्र किसी भी व्यक्ति के अंतर्गत कानून के समक्ष समानता अथवा समान कानूनी सुरक्षा से वंचित नहीं कर सकता। कानून के समक्ष समानता का अर्थ है कि कोई भी व्यक्ति कानून से बड़ा नहीं है और न्यायालय तक जाने का समान अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त हैं। यदि कोई भी व्यक्ति इसका उल्लंघन करता हैं तो उसे समान दंड का प्राविधान है। कानून की समान सुरक्षा का अर्थ है कि समान स्थितियों में व्यक्ति के हितों को अपने अधिकारों के प्रयोग की स्वतंत्रता तथा समान सुरक्षा सभी नागरिकों एवं विदेशियों के लिए समान कानून की व्यवस्था है। यह अधिकार कार्यपालिका द्वारा दिए गए भेदभाव पूर्ण आदेशों का विरोध करता है।

(ii) जाति, समुदाय, धर्म, जन्म-स्थान अथवा लिंग के अनुसार का विरोध

संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि कोई भी राज्य किसी नागरिक का जाति, धर्म, समुदाय, जन्म स्थान अथवा लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। किसी भी व्यक्ति को दुकान, रेस्तरां, सार्वजनिक मनोरंजन स्थलों, कुंओं, तालाब, स्नान के घाट, तथा सड़कों आदि जिसका निर्माण पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से सरकार द्वारा किया जाता है जो कि आम जनता के प्रयोग के लिए होता है, पर प्रवेश से वंचित नहीं किया जा सकता है।

सरकार महिलाओं तथा बच्चों के लिए कुछ विशेष प्रावधान बना सकती है। सरकार अनुसूचित

जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ी जातियों को कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान कर सकती है। इनके लिए शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण निर्धारित कर सकती है। निःशुल्क अथवा कुछ छूट पर विशेष कोचिंग कक्षाएँ चला सकती है।

(iii) सार्वजनिक रोजगार के समान अवसर संबंधी अधिकार

इस अधिकार के तहत अवसर की गांरटी उपलब्ध करवाई जाती है। संविधान में यह प्राविधान है कि देश के नागरिकों को देश के किसी भी राज्य में रोज़गार के समान अवसर उपलब्ध करवाएं जाएंगे। किसी भी नागरिक को जाति, समुदाय, धर्म अथवा लिंग भेद के कारण रोज़गार के अवसर से वंचित नहीं रखा जाएगा। योग्यता एवं मेरिट के आधार पर रोज़गार के अवसर उपलब्ध कराए जाएंगे।

संविधान में नागरिकों के लिए देश के किसी भी भाग में रोज़गार एवं नियुक्ति के समान अवसर उपलब्ध कराए जाने का निर्देश हैं।

संविधान में इस अधिकार से संबंधित कुछ अपवाद भी सुझाए हैं। कुछ निम्नलिखित अपवाद दिए गए हैं।

(क) राज्य के अंदर निर्धारित नौकरियों के लिए आवश्यक योग्यताओं का निर्धारण राष्ट्रपति द्वारा किया जा सकता है।

(ख) कुछ विशेष प्रकार की नौकरियों में समुचित अनुपात न होने की स्थिति में, पिछड़ी जाति के नागरिकों के लिए आरक्षित की जा सकती हैं।

(ग) धार्मिक संस्थाओं से जुड़े कार्यालयों में उस विशेष समुदाय के लोगों के लिए नौकरियां भी आरक्षित की जा सकती हैं। जैसे उदाहरण के लिए यदि अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा चलाए जाने वाले किसी स्कूल में प्रधानाचार्य पद की रिक्त है तो उसी समुदाय के सदस्य को वरीयता दी जा सकती है।

(iv) अस्पृश्यता का उन्मूलन

संविधान में यह प्रावधान एक प्रकार से प्रतीकात्मक है। इस प्रावधान के द्वारा समाज में सदियों से उपेक्षित हिंदू जाति के उस वर्ग के उपेक्षित लोगों को सामाजिक न्याय तथा व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित कराना है जिन्हें अवसर नहीं उपलब्ध हो रहे थे। इसका उल्लंघन करने पर कानून के अनुसार दंड का प्रावधान है।

हमारे संविधान में अस्पृश्यता का विरोध किया गया है तथा किसी भी रूप में इसके उल्लंघन करने वाले को दंड का प्रावधान है।

कोई भी व्यक्ति अस्पृश्यता के खिलाफ इस अधिकार का प्रयोग कर सकता है। उदाहरणार्थ,

(क) सार्वजनिक संस्थानों में किसी व्यक्ति के प्रवेश पर रोक लगाए जाने की अवस्था में।

(ख) सार्वजनिक पूजा-स्थलों पर किसी व्यक्ति को पूजा करने से रोके जाने की अवस्था में।

(ग) अस्पृश्यता के आधार पर किसी अनुसूचित जाति को अपमानित किए जाने पर।

(घ) प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अस्पृश्यता को बढ़ावा दिए जाने पर।

(v) पदवियों का उन्मूलन

सभी प्रकार की पदवियों, चाहे वे देशी हों या विदेशी व्यक्ति में छद्म सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने का कार्य करती हैं इसलिए इनका उन्मूलन आवश्यक हो गया है। संविधान में वर्णित है कि:

(क) फौजी अथवा शिक्षण संस्थाओं के अलावा देश में दूसरी कोई पदवी नहीं प्रदान की जा सकती।

(ख) कोई भी भारत का नागरिक किसी भी प्रकार का विदेशी पदवी नहीं धारण कर सकता

इस प्रावधान के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदान की गई सारी पदवियों को छीन लिया गया जिसकी वजह से धारणकर्ता को विशेष सामाजिक अवसर प्रदान होते थे। इन पदवियों को कानून के समक्ष की समानता के सिद्धांत के अंतर्गत रद्द कर दिया गया। विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदान की जाने वाली सम्मान पूर्व उपाधियों को रद्द नहीं किया जा सकता। मेधावी व्यक्तियों को तथा विशेष योग्यता रखने वाले भारत के नागरिकों को राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री द्वारा भारतरत्न, पद्मविभूषण, पद्मश्री तथा इसी प्रकार फौज में बहादुर लोगों को परमवीर चक्र तथा विशिष्ट सेवा पदक जैसे पदक प्रदान किए जा सकते हैं।

पाठगत प्रश्न 6.2

1. समानता का अधिकार ..... भेदभाव को रोकता है। (नैतिक, सामाजिक राजनीतिक)
2. समानता के मौलिक अधिकार में ..... तरह की समानताएं वर्णित हैं। (3, 4, 5)
3. राज्य ..... पदवियों का बटवारा नहीं कर सकता। (फौजी, शिक्षण संबंधी, सामाजिक)
4. ..... का अधिकार अस्पृश्यता उन्मूलन को प्रोत्साहन प्रदान करता है। (स्वतंत्रता, समानता,)
5. समानता के अधिकार का मुख्य उद्देश्य ..... समानता की स्थापना करना है। (सामाजिक, राजनैतिक)
6. ..... का अर्थ होता है समान स्थितियों में समान कानूनी प्रशासन (कानून के समक्ष समानता, समाज सुरक्षात्मक कानून)

7. राज्य शोषण के विरूद्ध बच्चों एवं महिलाओं के लिए.....कानून बना सकता है। (सामान्य, विशेष, चलताऊ)

6.5 स्वतंत्रता का अधिकार

स्वतंत्रता एक सच्चे जनतंत्र की प्रमुख आवश्यकता होती है। भारत के संविधान में जहां के नागरिकों को अधिकारों की एक श्रेणी निर्धारित की गई जिसे हम 'स्वतंत्रता के अधिकार' के रूप में जानते हैं। संविधान में इन अधिकारों के समावेश द्वारा नागरिकों के ऊपर कार्यपलिका द्वारा लागू किए जाने वाले मनमाना आदेशों से रोकथाम की जाती है। शुरू में मूलतः सात स्वतंत्रताएं नागरिकों को प्राप्त थीं किंतु संविधान के 44 वें संशोधन के द्वारा संपत्ति संबंधी स्वतंत्रता को उसमें से बाहर निकाल दिया गया जिससे अब सिर्फ छह स्वतंत्रताएं ही शेष रह गई हैं। ये छह स्वतंत्रताएं हैं:

1. भाषण अथवा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता।
2. शांतिपूर्ण ढंग से तथा बिना हथियार के इकट्ठा होने संबंधी स्वतंत्रता
3. संघ अथवा संगठन की स्थापना की स्वतंत्रता
4. भारत के सीमा क्षेत्र में कहीं भी स्वतंत्रता पूर्वक घूमने-फिरने संबंधी स्वतंत्रता
5. भारत संघ के किसी भी हिस्से में जाकर बस जाने की स्वतंत्रता
6. कोई भी व्यवसाय, व्यापार अथवा धंधे का चुनाव करने संबंधी स्वतंत्रता

अब हम इन स्वतंत्रताओं की विस्तृत चर्चा करेंगे।

1. भाषण एवं अभिव्यक्ति संबंधी स्वतंत्रता

यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मौलिक अधिकार है। बिना इस अधिकार के कोई भी व्यक्ति स्वतंत्रता पूर्वक तर्क वितर्क नहीं कर सकता अथवा अपने विचार प्रस्तुत नहीं कर सकता। इससे प्रेस को भी स्वतंत्रता प्रदान की गई है क्योंकि प्रेस की स्वतंत्रता के बिना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि भाषण अथवा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के बाद गैरकानूनी ढंग से अथवा सरकार के बारे में अनापशनाप कुछ भी बोलने का लाइसेंस प्राप्त हो जाता है। सरकार को यह अधिकार है कि वह अभिव्यक्ति एवं भाषण की स्वतंत्रता पर तर्क पूर्ण प्रतिबंध लगा सकती है। ये प्रतिबंध निम्न स्थितियों में लगाए जा सकते हैं:

(क) राज्य की सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए।

(ख) विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए जाने की स्थिति में।

(ग) जनता के हित में।

(घ) अदालत की अवमानना होने पर।

(ङ) भारत की एकता एवं संप्रभुता को बनाए रखने के लिए।

(ii) शांतिपूर्ण तथा बिना हथियार के एकत्र होने की स्वतंत्रता

इसके द्वारा नागरिकों को शांतिपूर्ण ढंग से एकत्र होने की स्वतंत्रता प्रदान दी गई है। इसके द्वारा नागरिक सभाएं कर सकते हैं, जुलूस निकाल सकते हैं तथा रैलियां आयोजित कर सकते हैं और उसमें अपने विचार रख सकते हैं। किंतु इस अधिकार की भी अपनी एक सीमा है। जनतांत्रिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए सरकार इन पर भी प्रतिबंध लगा सकती है। सभाएं शांतिपूर्ण तथा बिना हथियार के होनी चाहिए।

(iii) संघ अथवा संगठन के निर्माण की स्वतंत्रता

प्रत्येक नागरिक संघ अथवा संगठन स्थापित करने के लिए स्वतंत्र है। यह एक प्रकार से नागरिकों के व्यक्तित्व को विकसित करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रतीकात्मक विधान है। संगठन का अर्थ उन व्यापारिक संगठनों तथा राजनीतिक दलों से है जो जनतंत्र के प्रति प्रतिबंद्ध होते हैं। सरकार इन संगठनों पर कानून एवं व्यवस्था तथा नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए प्रतिबंध लगाने के लिए स्वतंत्र है। इसके तहत किसी को भी गैर कानूनी, अनैतिक अथवा साजिशपूर्ण ढंग से संगठनों की स्थापना वर्जित है।

(iv) भारत संघ के सीमा-क्षेत्र में निर्बाध विचरण की स्वतंत्रता

भारत के प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह भारत संघ के सीमा-क्षेत्र में निर्बाध रूप से विचरण कर सकता है। किंतु सरकार आम जनता के हितों, जनजातीय लागों के हितों अथवा राज्य की सुरक्षा संबंधी नीतियों को दृष्टि मे रखते हुए तर्क पूर्ण प्रतिबंध लगा सकती है।

(v) भारत संघ के किसी भी भाग में जाकर बस जाने की स्वतंत्रता

इसके तहत भारत के प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह भारत संघ के किसी भी भाग में जाकर बस सकता है अथवा रह सकता है। किंतु रक्षात्मक दृष्टि से, अनुसूचित जन जातियों के हितों को ध्यान में रखते हुए अथवा आम जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए सरकार इस अधिकार पर तर्क पूर्ण प्रतिबंध भी लगा सकती है।

(vi) स्वेच्छा से व्यापार और व्यवसाय के चुनाव की स्वतंत्रता

इसके तहत नागरिकों को यह अधिकार प्राप्त है कि भारत संघ के अंतर्गत स्वेच्छा से व्यापार, व्यवसाय अथवा धंधे का चुनाव कर सकता है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति स्वेच्छा से जुआ अथवा वेश्या वृत्ति जैसे समाज के लिए खतरनाक व्यवसायों का चयन करें।

इस अधिकार पर सरकार, आम जनता के हितों को दृष्टि में रखते हुए तर्क पूर्ण प्रतिबंध भी लगा सकती है। कोई भी व्यक्ति निर्धारित न्यूनतम योग्यता को पूरा किए बिना किसी भी व्यवसाय का चयन नहीं कर सकता। जैसे कोई भी व्यक्ति बिना न्यूनतम योग्यता पूरी किए डाक्टर अथवा वकील बन जाने का दावा नहीं पेश कर सकता।

उपरोक्त स्वतंत्रताओं का स्थगन हमारे मौलिक अधिकार अबाध नहीं हैं। आपातकाल की धारा

352 में इन्हें स्थगित किया जा सकता है। संविधान के अनुसार (युद्ध या आंतरिक अशांति से उत्पन्न) राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा होते ही जीवन एवं स्वतंत्रता के अधिकार के अतिरिक्त अन्य सभी स्वतंत्रताएँ स्थगित हो जाती है। ज्योंही आपातकाल के समाप्त होने की घोषणा की जाती है उपरोक्त सभी स्वतंत्रताएँ पुनः लागू हो जाती हैं।

(vii) अपराध होने की अवस्था में बचाव

संविधान में यह वर्णित है कि यदि किसी व्यक्ति के ऊपर मनमाना दंड लगाया गया है और वह अपने बचाव के लिए अपील करता है तो उसके अधिकारों की सुरक्षा की जाएगी।

(क) इसके अंतर्गत कोई भी दोषी ठहराया गया व्यक्ति सुरक्षा आयोग के समक्ष कानूनी सहायता की प्रार्थना कर सकता है।

(ख) व्यक्ति अपने ऊपर सुरक्षा आयोग द्वारा लगाए गए दंड को कानूनी रूप से अधिक बनाकर उसे रोकने का प्रयास भी कर सकता है।

(ग) एक दोष के लिए एक से अधिक बार दंड देने पर उसके लिए बचाव का तर्क दिया जा सकता है।

(घ) अभियुक्त अपने बचाव में खुद ही गवाही दे सकता है।

(viii) जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार

संविधान में यह निर्देश वर्णित है कि किसी भी व्यक्ति को जीवन जीने का अधिकार है किंतु वह कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया से अलग स्वतंत्रता का प्रयोग नहीं कर सकता। सरकार द्वारा किए जाने वाले मनमाने हस्तक्षेप के विरूद्ध प्रत्येक नागरिक को जीवन का अधिकार प्राप्त है। इसमें यह भी वर्णित है कि किसी भी व्यक्ति को किसी एक व्यक्ति अथवा संस्था की इच्छा पर बंदी नहीं बनाया जा सकता। उसे सिर्फ कानून की अवमानना करने पर ही गिरफ्तार किया जा सकता है।

(x) मनमानी गिरफ्तारी एवं नजरबंदी से रक्षा

संविधान में गिरफ्तार किए हुए अथवा बंदी बनाए गए व्यक्ति के लिए भी अधिकार प्रदान किए गए हैं। किसी भी बंदी बनाए व्यक्ति को बिना पूर्व सूचना के जेल में नजरबंद नहीं किया जा सकता। इसके लिए व्यक्ति अपने बचाव में इच्छानुसार किसी भी वकील से सलाह-मशविरा कर सकता है।

यह भी निर्देश वर्णित है कि बंदी बनाए गए किसी भी व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के 24 घंटे की भीतर मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित करना आवश्यक होता है। उसे बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा के 24 घंटे से अधिक नजरबंद नहीं रखा जा सकता। इसका अर्थ यह होता है कि किसी भी व्यक्ति को पूछताछ के लिए मजिस्ट्रेट की आज्ञा से पुलिस हिरासत में रखा जा सकता है। ये अधिकार विदेशियों तथा उन व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं हैं जिन्हें निवारक नजरबंदी के अधीन बंदी बनाया जाता है।

6.5 निवारक नजरबंदी

यदि सरकार को लगता है कि कोई व्यक्ति देश की सुरक्षा व्यवस्था को भंग करने का प्रयास कर रहा है तो वह उसे बिना मुकदमे कुछ समय के लिए गिरफ्तार कर सकती है। किसी भी इस प्रकार के व्यक्ति को उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों से गठित एक परामर्शदात्री बोर्ड की आज्ञा के बिना तीन महीने से अधिक बंदी बनाकर नहीं रखा जा सकता है। इस तरह के बोर्ड की अध्यक्षता किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश ही कर सकता है। उदाहरण के लिए टाडा अथवा मीसा जैसे मामलों में ही यह प्रक्रिया अपनाई जाती है।

पाठगत प्रश्न 6.3

1. भारत के संविधान में ..... प्रकार के मौलिक स्वतंत्रताएँ दी गई हैं। (6, 7, 8)
2. भाषण अथवा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के द्वारा व्यक्ति को इस बात का लाइसेंस नहीं प्राप्त हो जाता कि वह ....रूप से कुछ भी करें। (कानूनी, गैर कानूनी, दोनों में से कोई नहीं।)
3. शांतिपूर्ण ढंग से एकत्रित होने का प्रावधान भारत की.....के विरूद्ध नहीं हो सकता है। शांतिपूर्ण ढंग से एकत्रित होने का प्रावधान। (एकता बनाए रखने, आवणता विभाजन)
4. देश के किसी भी हिस्से में जाकर रहने अथवा बस जाने के अधिकार अंखडता की भावना को मजबूती प्रदान करता है। (राष्ट्रीयता, प्रांतीयता, क्षेत्रीयता)
5. किसी भी गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के..... घंटे के भीतर मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित करना अनिवार्य होता है (12, 24, 36)

6.6 शोषण के विरूद्ध अधिकार (धारा 23, 24)

भारत की जनता का जमीदारों की तरह ही अंग्रेजों ने भी शोषण किया था। गरीब लोग बिना मजदूरी के कार्य करने के लिए अभिशप्त थे। उनके इस प्रकार कार्य करने को बेगार कहा जाता था। बाद में, भारत के संविधान में किसी भी प्रकार के बेगार पर प्रतिबंध लगा दिया गया तथा मानवता को व्यापार से बचाए रखने का प्रयास किया गया। इस प्रक्रिया का उल्लंघन कानूनन दंडनीय है। किंतु सरकार आम जनता के हितों में किए जाने वाले आवश्यक श्रम को ठीक करार दे सकती है। जैसे कोई भी सरकार विश्वविद्यालयों में डिग्री प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के लिए यह कानून बना सकती है कि पिछड़े गांवों में जाकर उनके लिए कुछ सामाजिक कार्य करना आवश्यक है।

संविधान में बच्चों की सुरक्षा का भी प्रावधान है। 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को किसी भी प्रकार की फैक्ट्री, खदान अथवा अन्य खतरनाक कार्यों में नौकरी नहीं प्रदान की जा सकती। जबकि आज भी छोटे बच्चों को घरेलू नौकर के रूप में घरों में रखा जाता है।

संविधान घरेलू कार्यों में लग बच्चों के शोषण को नहीं रोक लगाता, क्योंकि घरेलू कार्य किसी फैक्टरी जैसे नहीं होते। खदान अधिनियम 1952 में बच्चों को खतरनाक कार्यों में लगाए जाने पर प्रतिबंध है।

> मानवता के व्यापार से तात्पर्य है आदमी की खरीद-फरोख्त। आदमी को किसी वस्तु की तरह दास के रूप में खरीदा अथवा बेचा नहीं जा सकता।

पाठगत प्रश्न 6.4

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

1. ..... वर्ष से कम उम्र के बच्चों को काम पर लगाया जाना कानूनन जुर्म है। (14, 16, 18)
2. खदान अधिनियम 1952 के अंतर्गत ..... को खतरनाक कार्यों में लगाए जाने से रोकने की कोशिश की गई है। (आदमियों, औरतों, बच्चों)।

6.7 धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (धारा 25-28)

भारत एक विविध संप्रदायों वाला देश है। हिंदू के अलावा मुस्लमान, ईसाई, सिख तथा अन्य दूसरे कई धर्मों के लोग यहां पर रहते हैं। हमारे संविधान में धर्म निरपेक्ष भारत की स्थापना की गई है। सरकार किसी धर्म में न तो हस्तक्षेप कर सकती है और न तो उसको बढ़ावा दे सकती है। भारत में रहने वाले सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है। संविधान में व्यक्ति के श्रद्धा एवं विश्वास को भी स्वतंत्रता प्रदान की गई है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि कोई भी व्यक्ति अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने को स्वतंत्र है, किंतु इसके साथ यह प्रतिबंध भी लगाया गया है कि इस अधिकार का प्रयोग जनहित, नैतिकता तथा स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए ही किया जा सकता है।

राज्य हिंदू धर्म पर आधारित कोई संस्थान खोलने संबंधी कानून बना सकता है, जिसमें हिंदुओं के साथ-साथ, बौद्धों, जैनों तथा सिखों को भी प्रवेश दिया जा सके। सिख धर्म में पगड़ी बांधने तथा अपने साथ कृपाण लेकर चलने की स्वतंत्रता है।

इसमें यह भी वर्णित है कि कोई भी धार्मिक समुदाय अपने धार्मिक मामले स्वयं व्यवस्थित करने का अधिकार रखता है। जनतांत्रिक मूल्यों तथा नैतिकता को ध्यान में रखते हुए किसी भी धार्मिक समुदाय को धार्मिक तथा चेरिटेबल संस्थाएं खोलने की स्वतंत्रता है। किसी भी धार्मिक संस्था को चल अथवा अचल संपत्ति की खरीद संबंधी स्वतंत्रता तथा उसकी व्यवस्था की स्वतंत्रता प्राप्त है।

आगे यह भी कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष धार्मिक कार्यों में अपना पैसा लगाता है तो उसके ऊपर टैक्स देने का दावा अथवा शिकायत नहीं की जा सकती। किसी धार्मिक उत्थान में खर्च होने वाली संपत्ति पर सरकार किसी प्रकार का कर नहीं लगा सकती।

सरकार द्वारा पूर्णतः चलाई जाने वाली किसी शिक्षण संस्था में धार्मिक निर्देश नहीं दिये जा सकते हैं। किंतु यह नियम उन संस्थाओं के ऊपर नहीं लागू होता जो सरकारी खर्चे द्वारा नहीं चलाई जाती। किंतु इन संस्थाओं में भी किसी बच्चे पर धार्मिक निर्देश के पालन की जबरदस्ती नहीं की जा सकती। हालांकि वे संस्थाएं भी, जो कि पूर्णतः सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त कर नहीं चलाई जाती उन पर भी धार्मिक शिक्षा की अनिवार्यता नहीं थोपी जा सकती।

धर्म एवं श्रद्धा से संबंधित ये सभी अधिकार पूरी तरह अबाध नहीं हैं। जनतांत्रिक मूल्यों, नैतिकता तथा स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए इन अधिकारों पर प्रतिबंध भी लगाए जा सकते हैं। सरकार द्वारा कोई भी प्रतिबंध अत्यधिक रूप से अथवा मनमाने ढंग से नहीं लगाए जा सकते।

पाठगत प्रश्न 6.5

1. एक.....राज्य न तो किसी धर्म को बढ़ावा दे सकता है और न ही हस्तक्षेप कर सकता है। (धार्मिक, अधार्मिक, धर्म निरपेक्ष)
2. धार्मिक कार्य में पैसा लगाने वाले किसी ..... के ऊपर टैक्स नहीं लगाया जा सकता। (विदेशी, नागरिक, व्यक्ति)
3. सरकारी धन पर चलाए जाने वाले शिक्षण संस्थानों के विद्यार्थियों पर जबरदस्ती..... निर्देश नहीं थोपे जा सकते। (धार्मिक, नैतिक, दोनों में से कोई नहीं)
4. धर्म का संबंध ..... से है। (सरकार, व्यक्ति, समाज)

6.8 सांस्कृतिक और शिक्षा अधिकार

भारत विभिन्न भाषाओं, संस्कृति और लिपियों वाला विशाल देश है। यहां के निवासी अपनी भाषा और संस्कृत पर गर्व करते हैं। प्रत्येक समुदाय विशेष रूप से अल्पसंख्यक वर्ग अपनी संस्कृति व भाषा को प्रोत्साहित करने या जीवित रखने का प्रयास करता है।

हमारा संविधान देश के विभिन्न समुदायों द्वारा उनकी भाषा और संस्कृति को बचाए रखने तथा और अधिक विकसित करने के लिए आवश्यक आश्वासन प्रदान करता है। देश के किसी भी शैक्षिणक संस्थान, जिसे राज्य अथवा राज्य के बाहर से वित्तीय सहायता मिल रही हो, में किसी भी नागरिक को धर्म, जाति, भाषा, अथवा समुदाय लिंग की दृष्टि से प्रवेश देने से इंकार नहीं किया जा सकता। किंतु इस संदर्भ में राज्य सरकार अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्ग के प्रवेश के लिए विशेष प्रबंध कर सकती है। न केवल यही, बल्कि इस वर्ग को शैक्षिणक संस्थानों में प्रवेश दिलाने के लिए निर्धारित अंकों में भी छूट दी जाती है। अल्पसंख्यकों को संविधान के तहत यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपनी पसंद के शैक्षणिक संस्थानों को प्रतिस्थापित व संचालित कर सकें। संविधान में यह भी प्रावधान है कि राज्य सरकार किसी भी शैक्षणिक संस्थान को वित्तीय अनुदान देते हुए इस आधार पर अलग नहीं कर सकती कि उसे अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा चलाया जा रहा है।

ये अधिकार सुनिश्चित करते हैं कि राज्य सरकार अल्पसंख्यकों को उनकी भाषा और संस्कृति को बचाए रखने में सहायता प्रदान करेगी। इसके पीछे सरकार का उद्देश्य देश में मिश्रित या मिली–जुली संस्कृति का विकास करना है।

2002 में 86 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकारों की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया है।

6.9 संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

इन सभी विविध अधिकारों के बारे में पढ़ने के बाद आपके मन में यह प्रश्न उठ सकता है एक व्यक्ति क्या कर सकता है यदि उसके मौलिक अधिकारों पर राज्य सरकार द्वारा अनाधिकारिक हस्तक्षेप होगा? इन अधिकारों को प्रभावी बनाने उसके कार्यान्वयन व सुरक्षा के लिए विशेष प्रावधानों की आवश्यकता है।

हमारे संविधान के भाग 3 के अंतर्गत, इन अधिकारों के उल्लंघन के विरूद्ध में सुरक्षित बनाए रखने के लिए कुछ कानूनी उपचार प्रदान किए गए हैं। यह संवैधानिक उपचारों का अधिकार कहलाता है। राज्य सरकार द्वारा किसी भी तरह का कानून बनान वर्जित है, जो मौलिक अधिकारों के विरूद्ध हो। कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय का दरवाज़ा खटखटा सकता है और मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए न्यायपालिका अपनी याचिका अथवा आदेश जारी कर सकता है।

(i) बन्दी प्रत्यक्षीकरण

बंदी बनाने वाले प्राधिकरण को न्यायालय इसके तहत यह आदेश देता है कि वह बंदी बनाए गए व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष सशरीर प्रस्तुत करे। इसके बाद यह साबित करे कि उसे कारावास की सजा दी जाए अथवा मुक्त कर दिया जाए।

(ii) परमादेश

यदि कार्यपालिका अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करती तो न्यायालय उसे अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के आदेश देता है।

(iii) निषेध

इसका मतलब है रोक लगाना। इसके अंतर्गत कोई भी उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय निचली अदालतों को किसी मामले में आगे बढ़ने से इस आधार पर रोकता है कि वह मामला उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं आता है।

(iv) अधिकार पृच्छा

यह एक प्रकार से किसी व्यक्ति द्वारा उसके अपने अधिकारों से बाहर कार्य करने पर सवाल की जाने संबंधी याचिका है।

(v) उत्प्रेषण

इसके द्वारा निचली अदालत को आदेश दिया जाता है, किसी मामले की सुनवाई किसी अन्य अदालत में हस्तांतरित करने का ताकि वह अदालत जल्दी उस पर कोई निर्णय दे सके।

इन याचिकाओं के द्वारा विधायिका, कार्यपालिका अथवा दूसरी अन्य शक्तियों द्वारा किसी व्यक्ति के अधिकारों अधिग्रहण से रक्षा की जाती है। "यदि मौलिक अधिकार जनतंत्र के मेहराब की ईंट है तो संवैधानिक उपचार संविधान की आत्मा है।" इन याचिकाओं के संबंध में आप न्यायिक पुनरावलोकन वाले पाठ में विस्तार से पढ़ेंगे।

पाठगत प्रश्न 6.6

1. धार्मिक और भाषा के ..... अपनी पसंद के शैक्षणिक संस्थानों को स्थापित कर सकते हैं। (बहुसंख्यक/अल्पसंख्यक/इन दोनों में से कोई नहीं)
2. भारत में ..... अदालत के द्वारा याचिका जारी नहीं की जाती। (सर्वोच्च/उच्च/निचली)
3. बंदी बनाने वाले प्राधिकरण को ..... के अंतर्गत न्यायालय बंदी बनाए गए व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष सशरीर उपस्थित करने के आदेश देता है। (परमादेश, निषेध, बंदी प्रत्यक्ष करण)
4. इसके अंतर्गत किसी निचली अदालत को किसी अन्य अदालत में किसी मामले के हस्तांतरण का आदेश दिया जाता है ताकि उस पर ठीक से निर्णय लिया जा सके। (निषेध, उत्प्रेषण, अधिकार इच्छा)

6.10 आपने क्या सीखा

मौलिक अधिकार के द्वारा भारत के नागरिकों के सम्मान एवं प्रतिष्ठा की रक्षा होती है। संविधान के तीसरे भाग में अनुच्छेद 14 से 32 तक मौलिक अधिकार वर्णित हैं। ये मौलिक अधिकार न्यायालय के कानूनों द्वारा कड़ाई से लागू किए जाते हैं। फिलहाल छह मौलिक अधिकार हैं। ये अधिकार अंतिम रूप से पूर्ण नहीं हैं। सार्वजनिक हितों, शांति-व्यवस्था, विदेशी राष्ट्रों से मैत्री संबंध स्थापित करने, नैतिकता अथवा रक्षात्मक दृष्टि से इन पर तर्क पूर्ण प्रतिबंध भी लगाए जा सकते हैं। समानता के अधिकार का अर्थ कानून के समक्ष समानता का अधिकार है। कानून के समक्ष सभी नागरिक समान हैं तथा सरकार जाति, समुदाय धर्म, जन्म स्थान अथवा लिंग भेद के आधार पर उनका बँटवारा नहीं कर सकती। सार्वजनिक नियुक्तियों का आधार योग्यता है। अस्पृश्यता का उन्मूलन किया गया है तथा इसका उल्लंघन करने पर कानून में दंड का विधान है। सरकार नागरिकों में सामाजिक असमानता पैदा करने वाली किसी भी प्रकार की पदवी का वितरण नहीं कर सकती।

स्वतंत्रता के अधिकार में व्यक्ति के संपूर्ण रूप से शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास को सुनिश्चित किया गया है। इन स्वतंत्रताओं के तहत भारतीय नागरिकों को एक सभ्य जीवन जीने का अधिकार प्रदान किया गया है। इसमें व्यक्तिगत सुरक्षा अथवा स्वतंत्रता को भी सुनिश्चित किया गया है। इसके तहत व्यक्ति को मनमाने ढंग से गिरफ्तार करने से बचाया जाता है।

संविधान में मनुष्य की खरीद-फरोख्त तथा जबरदस्ती कराए जाने वाले बेगार पर प्रतिबंध लगाया

गया है। 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को फैक्ट्रियों अथवा खदानों में नौकरी पर नहीं रखा जा सकता।

भारत एक अनेक धर्मों वाला देश है। यहां सरकार न तो किसी धर्म को प्रोत्साहन प्रदान कर सकती है और न तो कोई हस्तक्षेप कर सकती है। भारत धर्म निरपेक्षता में विश्वास रखता है। प्रत्येक धर्म अपना धार्मिक संस्थान स्थापित करने के लिए स्वतंत्र है। धार्मिक उद्देश्यों में लगाए जाने वाले धन पर सरकार नागरिकों से टैक्स नहीं ले सकती। सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में कोई भी धार्मिक निर्देश नहीं भेजा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म के प्रसार के लिए स्वतंत्र है किंतु धार्मिक स्वतंत्रता संबंधी अधिकारों पर स्वास्थ्य, नैतिकता अथवा जनतांत्रिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

हमारे संविधान में हमें अपनी संस्कृति को प्रोत्साहित करने का अधिकार प्राप्त है। सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में किसी व्यक्ति को उसकी जाति, धर्म, समुदाय, जन्म स्थान, भाषा अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर प्रवेश से वंचित नहीं किया जा सकता। अल्पसंख्यकों को यह अधिकार है कि वे अपनी भाषा एवं संस्कृति की रक्षा के लिए शिक्षण संस्थानों की स्थापना कर सकते हैं। किंतु जब संस्थाओं को सहायता प्रदान करने की बात उठेगी तो सरकार भाषा अथवा धर्म के नाम पर भेद नहीं कर सकती।

अंततः संविधान में नागरिकों को मौलिक अधिकारों के उपयोग का अधिकार प्राप्त है। उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है कि वह मौलिक अधिकारों से संबंधी आदेश जारी करे याचिकाएं दायर करे तथा उन्हें कड़ाई से लागू करे। यह सब संवैधानिक उपचार के नाम से जाने जाते हैं। डा. भीमराव अंबेडकर ने याचिकाओं को संविधान की आत्मा कहा है।

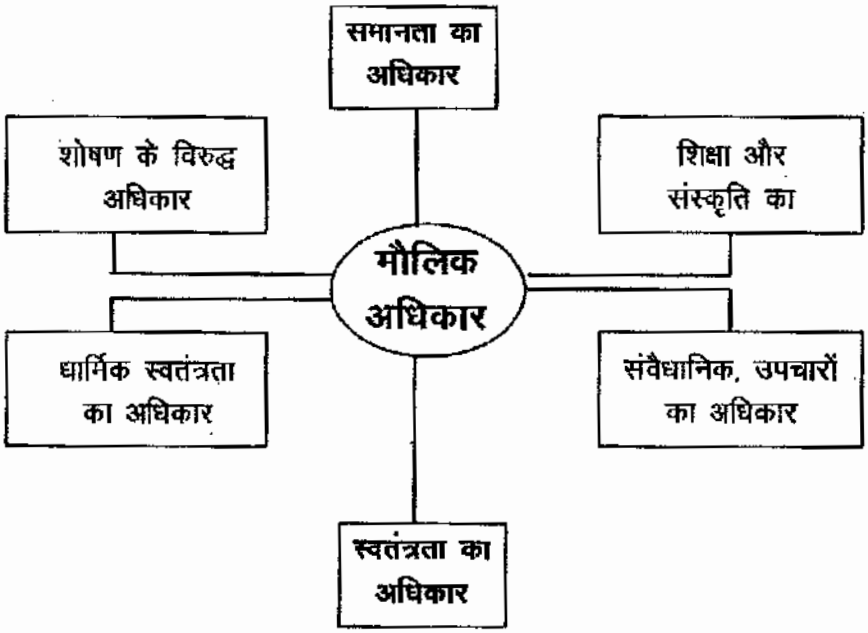

6.11 पाठांत प्रश्न

1. हमारे संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों का क्या महत्त्व है ?
2. समानता के अधिकार संबंधी किन्हीं तीन पक्षों पर टिप्पणी कीजिए।
3. अनुच्छेद 19 में वर्णित छहों मौलिक स्वतंत्रताओं का वर्णन कीजिए।
4. शोषण के विरुद्ध अधिकार की व्याख्या कीजिए।
5. किस प्रकार धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार द्वारा धर्मनिरपेक्ष भारत की स्थापना की जा सकती है।
6. भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता संबंधी किन्हीं तीन प्रतिबंधों पर लेख लिखिए।
7. सरकार द्वारा धर्म की स्वतंत्रता पर लगाए जाने वाले कुछ प्रतिबंधों की व्याख्या कीजिए।
8. याचिका से आप क्या समझते हैं ? याचिका किस उद्देश्य से और किसके द्वारा जारी की जा सकती है।
9. उस प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए जिसके तहत अल्पसंख्यक समुदाय के हितों की रक्षा होती है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

6.1 1. 6

2. मौलिक अधिकार
3. समानता
4. मौलिक
5. अल्पसंख्यक

6.2 1. सामाजिक

2. 5
3. सामाजिक
4. समानता
5. सामाजिक
6. कानून के समक्ष समानता
7. विशेष

6.3 1. 6

2. गैर-कानूनी

3. अखंडता

4. राष्ट्रवाद

5. 24

6.4 1. 14

2. बच्चे

6.5 1. धर्मनिरपेक्ष

2. व्यक्ति

3. धार्मिक

4. वैयक्तिक

6.6 1. अल्पसंख्यक

2. निचली अदालतें

3. बंदी-प्रत्यक्षीकरण

4. उत्प्रेषण लेख

पाठांत प्रश्नों के उत्तर

1. कृपया देखें, उपखंड 6.3
2. कृपया देखें, उपखंड 6.4
3. कृपया देखें, उपखंड 6.5
4. कृपया देखें, उपखंड 6.6
5. कृपया देखें, उपखंड 6.7
6. कृपया देखें, उपखंड 6.5.1
7. कृपया देखें, उपखंड 6.7
8. कृपया देखें, उपखंड 6.9
9. कृपया देखें, उपखंड 6.8

7
राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांत तथा मौलिक कर्त्तव्य

7.1 भूमिका

200 वर्षों तक शासन और शोषण करने के बाद अंग्रेज 15 अगस्त 1947 को भारत से विदा हो गए। उन्होंने इसे एक पिछड़ा हुआ देश बना कर छोड़ दिया। इसकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को छिन्न-भिन्न कर दिया। भारत की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा गरीबी के स्तर से भी नीचे जीवन जीने पर बाध्य हो गया। कृषि योग्य भूमि का अधिकांश हिस्सा बड़े ज़मींदारों के पास था। बैंकों और उद्योगों पर पूंजीवादियों का नियत्रंण था। बाल मज़दूरी और बंधुआ मज़दूरी तो आम बात हो गई थी। स्त्रियों का स्तर अत्यंत दयनीय था। कृषकों और मज़दूरों का शोषण किया जाता था। बुढ़ापे में कोई चिकित्सा संबंधी सुविधा नहीं थी और न ही औरतों के लिए प्रसूति संबंधी सहायता का प्रबंध था। अधिकतर लोग अनपढ़ थे। कार्यपालिका और न्याय संबंधी सहायता शक्तियां दोनों जिला प्रशासन में ही केंद्रित थीं। गरीबों को न्याय देने के लिए कोई भी प्रभावी तंत्र नही था।

हमारे संविधान के निर्माता भारत को एक समृद्ध और शिक्षित राष्ट्र बनाना चाहते थे। परंतु, देश के संसाधन इतने सीमित थे कि बहुत से अधिकारोंका प्रावधान मौलिक अधिकारों के भाग में नहीं किया जा सकता था। फिर भी संविधान निर्माता किसी न किसी रूप में संबंध प्रावधान बनाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों को संविधान में सम्मिलित किया। इस पाठ में आप नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अतिरिक्त मौलिक कर्त्तव्यों के बारे में पढ़ेंगे जिन को 1976 के 42 वें संशोधन द्वारा संविधान की धारा (51) में सम्मिलित किया गया।

7.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों का अर्थ बता सकेंगे ;
- नीति-निदेशक तत्वों का आर्थिक एवं सामाजिक, गांधीवादी तथा अन्य विविध वर्गों में वर्गीकरण कर सकेंगे ;
- शिक्षा की व्यापकता को प्रेरित करने, बाल मज़दूरी का उन्मूलन करने और स्त्रियों की दशा को सुधारने में नीति-निर्देशक सिद्धांतों की भूमिका को समझ सकेंगे ;
- नीति-निर्देशक सिद्धांतों द्वारा राज्य कल्याण संबंधी विचारों पर सुझाई गई कार्यप्रणालियों को भारत में व्यवहार में लाए जाने की प्रक्रिया की व्याख्या कर सकेंगे ;
- इस बात का विश्लेषण कर सकेंगे कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना कर सकेंगे ;
- इन सिद्धांतों को कार्यांवित करने में सरकार के महत्त्व का परीक्षण कर सकेंगे ;
- मौलिक कर्त्तव्यों के प्रसंग की समीक्षा कर सकेंगे ;
- व्याख्या कर सकेंगे कि मौलिक कर्त्तव्यों को 1976 में संविधान में संलग्न किया गया;
- संविधान में दिए गए 10 मौलिक कर्त्तव्यों की पहचान कर सकेंगे ;
- मौलिक कर्त्तव्यों के न्याय योग्य न होते हुए भी उनके महत्त्व को समीक्षा कर सकेंगे ;

7.3 राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों का अर्थ

संविधान के निर्माता सामाजिक-आर्थिक न्याय दिलाने के बड़े उत्सुक थे। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए कई अधिकारों को संविधान में सम्मिलित करना चाहते थे। जैसे काम करने का अधिकार, शिक्षा पाने आदि को मौलिक अधिकारों की सूची में सम्मिलित करना चाहते थे। परंतु उन्होंने देश में अशिक्षा और बेकारी जैसी समस्या की जटिलता को महसूस किया। वे देश के अपर्याप्त और सीमित भौतिक स्रोतों के प्रति सजग थे। इसलिए उन्होंने इनको मौलिक अधिकारों में सम्मिलित नही किया। इसके स्थान पर उन्होंने कुछ अन्य अधिकारों को, जिनमें विशाल धन-राशि का प्रबंध हो, राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों के रूप में संविधान के भाग चार में सम्मिलित किया। ये नीति-निर्देशक सिद्धांत न्याय योग्य हैं, परंतु देश को नियंत्रण में रखने के लिए ये एक आधार है। क्योंकि देश में कोई भी कानून या नीति बनाने में सरकार को ये निर्देशक सिद्धांत मार्ग दर्शन करते हैं।

न्यायोग्य नहीं

इसका अर्थ है कि कोई भी अदालत इसे जबरदस्ती नहीं थोप सकती। मौलिक अधिकारों की भांति कोई भी व्यक्ति अदालतों का सहारा लेकर कानूनी ढंग से राज्य की नीतियों में नीति-निर्देशक

सिद्धांत को शामिल करवाने अथवा लागू करवाए जाने का दावा नहीं कर सकता।

संविधान के इस भाग में राज्य से अभिप्रायः भारत की सरकार और संसद, राज्यों की विधान सभाओं तथा स्थानीय कानून बनाने वाली संस्थाओं से है।

7.4 नीति-निर्देशक सिद्धांतों का वर्गीकरण

हमारे संविधान के निर्माताओं ने नीति-निर्देशक सिद्धांतों का विचार आयरिश रिपब्लिक के संविधान से लिया। इन को हमारे संविधान के भाग (iv) में जोड़ा गया। इन सिद्धांतों को व्यवस्थित रूप तथा विवरण नहीं दिया गया। इस लिए इन को व्यवस्थित रूप में वर्गीकरण करना कठिन है। इनका तीन वर्गों में वर्गीकरण किया गया है। आर्थिक-सामाजिक सिद्धांत, गांधीवादी-सिद्धांत तथा विविध सिद्धांत सभी तीनों प्रकार के नीति निर्देशक सिद्धांतों का नीचे उल्लेख दिया गया है।

(I) आर्थिक और सामाजिक सिद्धांत

(क) राज्यों को निर्देश दिया जाए कि वे अपनी नीतियां इस प्रकार बनाएं कि सभी नागरिकों को अपनी आजीविका कमाने के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो सकें।

(ख) समुदाय के भौतिक साधनों का स्वामित्व तथा नियंत्रण इस प्रकार हो कि उससे सामूहिक हित में वृद्धि हो और सार्वजनिक हित में उस का उपयोग हो।

(ग) देश की संपत्ति तथा उत्पादन के साधनों का कुछ थोड़े से हाथों में संकेंद्रण न हो जिससे सार्वजनिक हित को हानि पहुचे।

(घ) समान कार्य के लिए स्त्री-पुरुषों को समान पारिश्रमिक मिले।

(च) मज़दूरी करने वाले स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ्य और बच्चों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न किया जाए।

(छ) बच्चों को स्वतंत्रता और सम्मान पूर्वक जीने की सुगमता और अवसर दे।

(ज) राज्य ऐसा प्रयत्न करें कि लोगों को काम करने, शिक्षा पाने, बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी या अपाहिज हो जाने पर, अर्थात जब वह अपनी आजीविका कमाने में असमर्थ हो जाय तो राज्य उसकी आर्थिक सहायता करे।

(झ) राज्य यह भी व्यवस्था करे कि व्यक्ति केवल उचित दशाओं में ही काम करे, पूर्णतः मानवोचित हों और महिलाओं के लिए प्रसूति अवस्था में सहायता दी जाने की व्यवस्था की जाए।

(ट) मजदूर वर्ग को उचित जीवन निर्वाह-मज़दूरी मिले।

(ड) राज्य यह भी प्रबंध करे कि किसी भी उद्योग या संगठन में काम करने वाले श्रमिकों की भागीदारी को सुनिश्चित किया जाय।

(ढ) राज्य, काम करने वाले वर्गों के विशेषतः अनुसूचित जातियों व जनजातियों के, शिक्षा व अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से वृद्धि करे।

(ii) गांधीवादी सिद्धांत

कुछ सिद्धांत ऐसे हैं जो महात्मा गांधी के आदर्शों के आधार पर बनाए गए हैं।

(क) गाँव में पंचायतों का संगठन करना।

(ख) गाँव में कुटीर उद्योंगों को बढ़ावा देना।

(ग) गाँव में नशीले पदार्थों और शराब आदि पर प्रतिबंध लगाना जो कि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं।

(घ) गाय, भैंस आदि दुधारू पशुओं की नस्लों को सुधारना तथा उन के वध पर प्रतिबंध लगाना इन सभी सिद्धांतों का उद्देश्य एक ही हैं "कल्याणकारी समाज की स्थापना करना"

(iii) विविध नीति-निर्देशक सिद्धांत

इस वर्ग के सिद्धांत राज्य को निर्देश देते हैं कि:

(क) सभी भारतीयों के लिए एक जैसा समान आचार (सिविल) संहिता बनाई जाए।

(ख) संविधान लागू होने के 10 वर्ष के अंदर 14 वर्ष की आयु के बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा (अनुच्छेद 45) दी जाने की व्यवस्था करें। 2002 में 86वें संवैधानिक संशोधन द्वारा शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकारों की श्रेणी में सम्मिलित कर दिया गया है।

(ग) ऐसे कदम उठाएं जिस से न्याय पालिका को कार्यपालिका से पृथक रखा जाए।

(घ) स्वास्थ्य और पौष्टिक भोजन के स्तर में वृद्धि करें।

(च) कृषि और पशु पालन के विकास के लिए आधुनिक और वैज्ञानिक ढंग से संगठन निर्मित करें।

(छ) ऐतिहासिक स्मारकों को सुरक्षित बनाए रखें।

(ज) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखना।

(झ) राष्ट्रों में अच्छे संबंध बनाए रखना अर्थात् राष्ट्रों के बीच न्याय संगत और सम्मान पूर्ण संबंध बनाए रखना।

(ट) अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधिवार्ता के प्रति सम्मान बढ़ाने का प्रयत्न करना।

(ठ) अंतर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता से सुलझाने की व्यवस्था को राज्य प्रोत्साहन प्रदान करें।

पाठगत प्रश्न 7.1

निम्नलिखित में से गांधीवादी, आर्थिक तथा सामाजिक, और विविध प्रकार के नीति–निर्देशक सिद्धांतों को अलग–अलग छाँटिए।

1. महिलाओं और पुरूषों के लिए समान कार्य पर समान पारिश्रमिक।
2. ग्राम पंचायतों की स्थापना।

3. अंतर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाना।
4. सभी देश वासियों के लिए काम के अधिकार की व्यवस्था करना।
5. गौहत्या पर प्रतिबंध।
6. सभी भारतीयों के लिए एक जैसी संहिता (सिविल कोड)।

7.5 नीति-निर्देशक सिद्धांत : शिक्षा की सार्वभौमिकता, बाल मजदूर और महिलाओं का स्तर

(i) शिक्षा की सार्वभौमिकता

पहले आपने पढ़ा है कि नीति-निर्देशक सिद्धांत राज्य को यह निर्देश देते हैं कि संविधान के लागू होने के दिन से 10 वर्ष के अंदर 14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के लिए दबाव डालें।

भारत के स्वतंत्र होने पर भारत की केवल 14% आबादी शिक्षित थी। हमारी सरकार ने शिक्षा के महत्त्व को समझा और लोगों तक शिक्षा पहुंचाने पर जोर दिया। अब शिक्षा की दर बढ़ कर 52% हो गई है। परंतु अभी भी हमारी जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा अशिक्षित है। हमारा सर्वप्रथम प्रयत्न प्राथमिक शिक्षा को व्यापक बनाए जाने पर है प्राथमिक स्तर पर शिक्षा छोड़ जाने वालों के कारण, 15 से 35 वर्ष की आयु के अनपढ़ों की संख्या बढ़ती जा रही है। प्राथमिक स्तर पर पढ़ाई छोड़ जाने वालों की संख्या को यदि हमने नहीं रोका तो इस शताब्दी के अंत तक अशिक्षितों की संख्या बढ़कर 50 करोड़ हो जाएगी।

1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अनुसार सरकार ने 'नैशनल लिटरेसी' 'ऑपरेशन ब्लै बोर्ड' जैसे संगठन शुरू किए ताकि साधारण लोगों तक प्राथमिक शिक्षा पहुंचाई जा सके। वे वयस्क जो बचपन में प्राथमिक शिक्षा से वंचित रह गए, उन्हें शिक्षित करने के लिए सरकार तथा कई स्वयं सेवी संस्थाओं के विशेष प्रयत्नों से 'रात्रि पाठशाला और वयस्क शिक्षा केंद्र' खोले जा रहे हैं। 1978 में सरकार ने 'राष्ट्रीय वयस्क शिक्षा', 'एक को एक पढ़ाए'। 'एक शिक्षित एक अनपढ़ को पढ़ाए' का नारा दिया। इसका अर्थ है कि यदि हरेक शिक्षित व्यक्ति एक अनपढ़ को पढ़ाना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझ लें तो यह अशिक्षा की समस्या कुछ ही सालों में हल हो सकती है।

आपरेशन ब्लैक बोर्ड : यह एक प्रतीक उक्ति है, जिसे सामूहिक शिक्षा अभियान के लिए प्रयोग किया गया है। चूंकि श्यामपट प्रभावित रूप से सीखने और सिखाने के अनुभव में आवश्यक समझा गया है, सामूहिक शिक्षा के कार्यक्रम को 'आपरेशन ब्लैड बोर्ड' कहा गया है। इस कार्यक्रम के अनुसार हर गांव में एक स्कूल हो, जिसमें श्यामपट (ब्लैक बोर्ड) और अध्यापक हों।

कई राज्यों में दूरस्थ शिक्षा पत्राचार द्वारा दिए जाने के कार्यक्रम शुरू किए गए हैं। शिक्षा की व्यापकता के उद्देश्य को पाने के लिए नेशनल ओपन स्कूल और कई मुक्त विश्वविद्यालय स्थापित किए गए हैं। परंतु अभी बहुत कुछ करने को शेष रहता है।

आप भी दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम के तहत नेशनल ओपन स्कूल द्वारा शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

(ii) बाल मज़दूर

आपने पढ़ा कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों में एक सिद्धांत के अनुसार बच्चों को स्वस्थ रूप से विकसित होने के लिए अवसर और सुविधाएं प्रदान की जाएं। बच्चों के शोषण के विरुद्ध मौलिक अधिकारों के बारे में भी पढ़ा। 14 वर्ष की आयु से कम बच्चों को खानों और उद्योगों में नियुक्त करना, जो कि उनके स्वास्थ के लिए संकट पूर्ण है, पर प्रतिबंध लगा दिया है।

इसके साथ ही भारत बच्चों के अधिकारों के लिए प्रारंभ से ही संकल्पबद्ध है। यह हमेशा और हर ओर से बच्चों को शोषण, अवहेलना और दुरुपयोग से बचाने की कोशिश करता है। बच्चों की आनंदपूर्ण, सुरक्षित और स्वस्थ बचपन देने के लिए बचनबद्ध है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (National Human Rights) ने भी बाल मज़दूर, बाल शोषण जैसे कानूनों का उल्लघंन करने वालों के खिलाफ कार्य करने वाली संस्थाओं को धन देना प्रारंभ कर दिया है। इसने इस पर गंभीर रूप से विचार किया है। जहां-जहां भी बच्चों को उन की शिक्षा संबंधी अधिकार से वंचित रखकर बाल मज़दूरी में लगाने का प्रयास किया गया है वहां वहां इसने सरकार को ऐसी स्थिति में तुरंत सुधार लाने को कहा है ताकि ऐसे बच्चे जो इस चंगुल से निकल कर आए हैं, उनके लिए मौलिक शिक्षा पर जोर दे।

इतने विचार-विमर्श के बावजूद वह नतीजा नहीं मिला जो मिलना चाहिए था। बहुत सारे हालातों में बाल मज़दूरी को दूर करने में मां-बाप का रवैया सहायक नहीं साबित हुआ। वे बच्चों को पैसा कमाने के लिए काम करने पर मजबूर करते हैं ताकि परिवार की आय बढ़े। निःसंदेह गरीबी भी एक बड़ा कारण है। सबसे बड़ी बात यह कि उनमें बच्चों के कल्याण करने की इच्छा की कमी है। बच्चों को उनके बचपन की खुशियों और शिक्षा के अधिकार से वंचित नहीं रखना चाहिए।

(iii) महिलाओं की स्थिति

इस संदर्भ में महिला की स्थिति यह संकेत करती है कि एक विशेष सामाजिक प्रणाली में उसका क्या स्थान है? उसको क्या अधिकार और सुविधा प्राप्त है? इनको कैसे निश्चित किया गया है? क्या इन शक्तियों, प्राधिकारों या विशेष अधिकारों तक उसकी पहुंच है? क्या उसके स्तर की तुलना पुरूष के स्तर से की जा सकती है?

भारतीय समाज पुरुष-प्रधान समाज है। पिता परिवार का मुखिया होता है और मां की स्थिति उससे गौण है। एक महिला चाहे वह एक मां हो, पत्नी, बहन या एक बेटी हो स्त्री की स्थिति ऐसी सामाजिक प्रणाली में कमजोर ही रहती है। सभी रीति-रिवाज धन संपत्ति उत्तराधिकार या विवाह से संबंधित मान्यताएं पुरूष के पक्ष में ही जाती हैं। जन्म से ही पुरूषों को इस समाज

में विशेष स्थान प्राप्त है। लड़कों को बड़ा मान सम्मान मिलता है जबकि लड़कियों को उतना मान-सम्मान तो मिलता नहीं बल्कि उनके जन्म को एक दायित्व जिम्मेदारी माना जाता है। स्त्रियां हमारे समाज में कुरीतियों और धार्मिक कुप्रथाओं जैसे सती प्रथा, पर्दा और दहेज जैसी कुप्रथाओं के कारण दुख पाती रही हैं।

> **स्तर:** स्तर से अभिप्राय है किसी व्यक्ति का उसके समाजिक प्रणाली में आदर, स्नेह, प्राधिकार, सुविधाएं और दूसरों को प्रभावित करने से संबंधित उसकी स्थिति।

भारतीय महिलाओं की दशा का एहसास करते हुए हमारे संविधान निर्माताओं ने मौलिक अधिकारों के अंतर्गत औरतों को बराबरी का हक और नारी-शोषण पर प्रतिबंध लगा दिया है। नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अनुसार महिलाओं को यह अधिकार प्राप्त है कि अपने जीवन यापन के साधन जुटाएं और पुरुषों के समान कार्य में समान पारिश्रमिक पाएं। मज़दूर महिलाओं को स्वास्थ्य और प्रसूति के लिए सहायता मिले।

मौलिक कर्त्तव्यों में इस बात पर जोर दिया गया है कि भारत के हर नागरिक का कर्त्तव्य है कि नारी की हीन भावना को दूर कर, उसकी मान प्रतिष्ठा को ऊंचा उठाए।

औरतों की मान प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए कई कानून बनाए गए और न्यायालय में फ़ैसले लिए गए। उनके अधिकारों को सुरक्षा और संपत्ति में हिस्सा दिलाने के लिए कई कदम उठाए गए। दहेज के लिए बहू को जला देना, पत्नी को प्रताड़ित करना और सती जैसी कुप्रथाओं से मुक्ति दिलाने के लिए कई कानून लागू किए गए हैं। लड़की को जन्म से पहले खत्म करवा देना, लड़की और लडकों के जन्म में भेदभाव करना, बाल विवाह आदि पर प्रतिबंध जैसे कदम स्त्री की पदस्थिति को सुधारने में सहायता कर रहे हैं।

महिलाओं को शक्ति को बढ़ाने के लिए पंचायत और नगर पालिकाओं (म्युनिसिपैलिटी) में एक तिहाई औरतो के लिए स्थान आरक्षित कर दिया है। इसी तरह संसद और राज्य विधान सभाओं में भी महिलाओं के लिए सीटों के आरक्षण का प्रस्ताव है।

इन सब प्रयत्नों के बावजूद भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए बहुत कुछ करना अभी शेष है।

पाठगत प्रश्न 7.2

नीचे दिए गए खाली स्थानों को हर प्रश्न के अंत में दिए शब्दों/अंकों में से ठीक शब्द/अंक चुनकर पूरा कीजिए।

1. स्वतंत्रता के समय शिक्षित लोगों की संख्या.....थी। (12% 14% 16%)
2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति का आरंभ.....में किया गया। (1984, 1986, 1988)

3. बच्चों के शोषण के विरुद्ध.....के अंतर्गत प्रबंध किया गया। (मौलिक अधिकारों नीति-निर्देशक सिद्धांतों, मौलिक कर्त्तव्यों)

4. महिला-पुरुष के लिए समान कार्य के समान वेतन दिए जाने का प्रबंध ..... के अंतर्गत किया गया। (मौलिक अधिकारों, मौलिक कर्त्तव्यों नीति-निर्देशक सिद्धांतों)

5. महिलाओं के प्रति हीन भावना का त्याग कर स्त्रियों की मान प्रतिष्ठा बनाए रखने पर जोर .....में दिया गया है। (नीति–निर्देशक सिद्धांतों, मौलिक अधिकारों, मौलिक कर्त्तव्यों)

6. महिलाओं और बाल-विकास विभाग की स्थापना.....में की गई। (1978, 1985, 1992)

7. पंचायतों में महिलाओं के लिए.....सीटें आरक्षित की गई हैं। (¼, $^1/_3$, ½,)

7.6 नीति निर्देशक सिद्धांत और लोक-कल्याणकारी राज्य

संविधान के निर्माताओं ने एक विशेष उद्देश्य के लिए नीति-निर्देशक सिद्धांतों को सम्मिलित किया। हरेक वयस्क नागरिक को मतदान का अधिकार देकर राजनैतिक प्रजातंत्र की स्थापना की। परंतु एक सफल कल्याणकारी तथा सामाजिक-आर्थिक राज्य की स्थापना करने के लिए आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा जनतांत्रिक समानता की स्थापना आवश्यक थी।

फिर भी अशिक्षा का उन्मूलन, सबके लिए नौकरियों का प्रबंध तथा अमीरी और गरीबी की खाई को दूर करना एक बहुत ही कठिन कार्य है।

नीति-निर्देशक सिद्धांत तो ध्रुव तारे का काम करते हैं अर्थात् मार्गदर्शन करते हैं। उनका वास्तविक उद्देश्य है कि सरकार अपने भौतिक स्रोत्रों को ध्यान में रखते हुए जितनी भी जल्दी संभव हो सब को, सब ओर से सामाजिक और आर्थिक न्याय प्राप्त करवाएं। परंतु हमें अब तक नीति-निर्देशक सिद्धांतों में आर्थिक व सामाजिक समानता के कई उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सके हैं।

कल्याणकारी राज्यः ऐसा राज्य जो समाज के कमजोर वर्गों के हितों तथा उनकी सेवाओं का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर ले उसे कल्याणकारी राज्य कहते हैं। ऐसा राज्य संपत्ति के समान बटवारे के लिए संकल्पबद्ध होता है तथा गरीब, कमजोर एवं जरूरत मंद लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं आदि की पूर्ति के लिए वचनबद्ध होता है।

नीति-निर्देशक सिद्धांतों का क्रियान्वयन

नीति-निर्देशक सिद्धांत एक धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी और कल्याणकारी राज्य की आधारशिला का काम करते हैं। इन सिद्धांतों को क्रियान्वित करने के लिए कई कदम उठाए गए हैं। यहां उनके कई उदाहरण दिए गए हैं।

ई भूमि सुधार किए गए हैं और जागीरदारी और ज़मीदारी व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया। र्थिक विकास की गति को बढ़ाने के लिए कई योजनाएं चालाई गई हैं। औद्योगिकीकरण और

कृषि उत्पादन को हरित क्रांति द्वारा बढ़ाया गया है।

किसी भी व्यक्ति की व्यक्तिगत भूमि और संपत्ति की एक अधिकतम सीमा निश्चित की गई है। राजकुमारों को व्यक्तिगत रूप से दिए जाने वाले खर्चों का उन्मूलन कर दिया गया है। जीवन बीमा, साधारण बीमा और बैंकों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया है। एकाधिकार पर नियंत्रण लाने के लिए कई कानून बनाए गए हैं।

आर्थिक असमानता को कम करने के लिए, संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों के अध्याय से हटा दिया गया है। धन संपत्ति के समान वितरण और सामाजिक न्याय के लिए कर के ढांचे को सुधारा गया है।

> **हरित क्रांतिः** हमारा कृषि उत्पादन कम होने के कारण हमें अनाज विदेशों से आयात करना पड़ता था। किंतु कृषि में आधुनिक उपकरणों के प्रयोगों से कृषि उत्पादन एक दम से बढ़ा। अब हम न केवल आत्म निर्भर है। बल्कि हमारे पास ज़रूरत से अधिक है। खाद्य के उत्पादन की यही वृद्धि हरित क्रांति कहलाती है।

छुआछूत की बुराई का उन्मूलन कर दिया गया है, परंतु अभी भी बहुत कुछ व्यवहार में लाए जाने के लिए शेष है। सरकार ने अनुसूचित जाति, जन-जाति और पिछड़े वर्ग के लोगों को सुधारने के लिए बहुत प्रयास किया है।

ग्रामीण क्षेत्रों में राजनैतिक प्राधिकार के विकेंद्रीकरण के लिए पंचायती राज को स्थापित किया। 73 वें और 74 वें सुधार अधिनियम के अनुसार स्थानीय निकायों को अधिक शक्तिशाली बनाया गया। कुटीर उद्योगों का प्रोत्साहित करने के लिए केंद्रीय खादी और ग्रामीण उद्योग बोर्ड की स्थापना की गई।

कई राज्यों में सरकारों ने तो शराब पीने पर प्रतिबंध लगा दिया है। कई राज्यों ने तो कार्यपालिका को न्यायपालिका से पृथक कर दिया है। अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए भारत ने संयुक्त राष्ट्र का सकारात्मक सहयोग दिया है।

द्वि-विवाह की स्थिति में, उच्चतम न्यायलय की चेतावनी के बावजूद भी राज्यों ने कोई समान नागरिक आचार संहिता नहीं बनाई और न ही अशिक्षा को दूर करने के लिए 14 वर्ष की आयु के बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की।

जब हम अपने समाज की ओर देखते हैं तो हम महसूस करते हैं कि शोषण, भूख और बीमारियों से रहित समान सामजिक और आर्थिक न्याय के उद्देश्य का हमारा सपना साकार हो पाना बहुत दूर है? यह ऐसा क्यों है। इसके कई कारण हैं जैसे सीमित मौलिक स्रोत या न्यायपालिका द्वारा रुकावटें डालना। हर बार न्यायपालिका कोई न कोई बहाना करके रुकावट डाल देती है। फिर सुधार कर, रास्ता निकाला जाता है। कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों को क्रियान्वित न हो पाने के वास्तविक कारण इस प्रकार है :

1. राज्य की राजनैतिक इच्छा में कमी।
2. लोगों में जागृति और संगठित रूप से काम करने की कमी।

पाठगत प्रश्न 7.3

निम्नांकित रिक्त स्थानों को प्रश्नों के अंत में दिए गए शब्दों में से ठीक शब्द चुनकर वाक्य को पूरा कीजिए।

1. एक..... राज्य समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के कल्याण के लिए अपनी सेवाएं देने की जिम्मेदारी लेता है। (समाजवादी, कल्याणकारी, धर्मार्थी)
2. सरकार ने संपत्ति का ..... बंटवारा करने का प्रयत्न किया है। (समान, असमान, सामान्य)
3. भारत में..... की प्रणाली का उन्मूलन कर दिया गया है। (पूंजीवाद, जमींदारी; जातिवाद)
4. संपत्ति के अधिकार को..... से निकाल दिया गया है। (संविधान, मौलिक अधिकार नीति-निर्देशक सिद्धांतों)
5. पंचायतों को..... क्षेत्रों में स्थापित किया गया है। (ग्रामीण, महानगरों, शहरों)
6. ..... उद्योगों का बढ़ाने के लिए खादी व ग्रामीण उद्योग बोर्ड की स्थापना की गई है। (लघु, मध्य, कुटीर)

7.8 मौलिक अधिकारों और नीति-निर्देशक सिद्धांतों में अंतर

मौलिक अधिकार नागरिकों को प्राप्त हैं जिन को राज्य ने मान्यता दी है। इनका स्वरूप यह है कि ये सरकार की कुछ शक्तियों पर रोक लगाती हैं अतः ये नकारात्मक प्रकृति की हैं। दूसरी ओर नीति-निर्देशक सिद्धांत सकारात्मक हैं, सरकार को, इनको हर स्तर पर लागू करना पड़ेगा ताकि देश में सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना की जाए। मौलिक अधिकारों का उद्देश्य यह होता है कि हर नागरिक का विकास हो। हरेक को व्यक्तिगत रूप से भलाई हो। परंतु नीति-निर्देशक सिद्धांत समाज-कल्याण के लिए होते हैं।

एक और अंतर इन में यह है जो कि पहले भी बताया गया है मौलिक अधिकार न्याययोग्य हैं और इनको लागू कराने के लिए न्यायालय की शरण ली जा सकती है। नीति-निर्देशक सिद्धांत न्याययोग्य नहीं होते हैं। इसलिए कुछ लोग इनको नए साल की शुभकामनाएं मात्र कहते है।

इससे हम यह निष्कर्ष पर नहीं निकालना चाहिए कि नीति-निर्देशक सिद्धांत मौलिक अधिकारों से निम्न हैं। हमने देख लिया है कि भारतवर्ष में सरकार ने निर्देशक सिद्धांतों को देश के शासन के लिए मूल आधार माना है। इसने इन सिद्धांतों को कानून बनाने तथा नीति निर्धारित करने में लागू करने का प्रयत्न किया है।

इन ये अंतर के बावजूद इनमें गहरा संबंध है। मौलिक अधिकार सामाजिक समानता, और लोकतंत्र की स्थापना करते हैं और नीति-निर्देशक सिद्धांत आर्थिक, सामाजिक और लोकतंत्र को स्थापित करने के साधन हैं। दोंनो एक-दूसरे के पूरक हैं। सरकार के सभी विभागों को चाहिए कि इन निर्देशों का अनुसरण करें, यदि वे कल्याणकारी राज्य चाहते हैं।

सरकार इनकी अवहेलना नहीं कर सकती। अपने हर कार्य के लिए सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी है। चाहे इन सिद्धांतों के पीछे कोई कानूनी स्वीकृति नहीं हैं, अंतिम स्वीकृति तो लोगों की है। अब लोगों को मालूम पड़ गया है कि ये सिद्धांत उनके कल्याण के लिए हैं, इसलिए वे इन सिद्धांतों को क्रियान्वित करने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। समय-समय पर कराए जाने वाले चुनावों के द्वारा जनता सरकार पर दबाव डालती है।

पाठगत प्रश्न 7.4

निम्न खाली स्थानों को हर प्रश्न के अंत में दिये गए शब्दों में से ठीक शब्द चुनकर लिखिए।

1. नीति-निर्देशक सिद्धांतों की प्रकृति ..... है। (नकारात्मक, सकारात्मक, तटस्थ)
2. मौलिक अधिकारों का उद्देश्य हर..... का विकास करना है। (परिवार, गुट, व्यक्ति)
3. नीति-निर्देशक सिद्धांतों का नव वर्ष की शुभ कामनाएं कहा गया क्योंकि..... (पवित्र, न्याययोग्य, न्याय अयोग्य)
4. भारत सरकार राज्य को शासित करने के लिए नीति-निर्देशक सिद्धांतों को..... मानती है। (बेकार, बोझ, मूल आधार)
5. बाद में उच्चतम न्यायालय ने नीति-निर्देशक सिद्धांतों को क्रियान्वित करने में..... (उपेक्षा, जोर, अवहेलना) शुरू कर दी।
6. नीति-निर्देशक सिद्धांत देश में..... लोकतंत्र की स्थापना करने के लिए हैं। (राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक)

7.9 मौलिक कर्त्तव्य

अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कोई भी अधिकार कर्त्तव्य के बिना नहीं हो सकता। यही कारण है कि किसी भी आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य का काम, उस राज्य के कर्त्तव्य और अधिकारों की अच्छी संगठित प्रणाली पर निर्भर है। हम आप को यह भी बता दें कि आज किसी भी समाज का मूल्यांकन करते हुए, जोर केवल अधिकारों पर ही नहीं दिया जाता बल्कि इस पर भी जोर दिया जाता है कि नागरिक अपने कर्त्तव्यों को कैसे निभाते हैं। शायद इसी विश्वास से 1976 में 42वें सुधार द्वारा मौलिक कर्त्तव्यों को संविधान में सम्मिलित कर दिया गया। एक नई धारा 51(A) के द्वारा संविधान के भाग (IV) में जोड़ दिया गया, जो कि नीति निर्देशक सिद्धांतों से संबंधित है।

एक बात और ध्यान देने के योग्य है जैसे राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत न्याययोग्य नहीं है उसी प्रकार ये कर्त्तव्य भी न्याययोग्य नहीं हैं। इसका अर्थ है कि यदि भारत का कोई नागरिक अपने मौलिक कर्त्तव्यों को नहीं निभाता तो उसके खिलाफ कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की जा सकती।

(i) कर्त्तव्यों की सूची

निम्नलिखित मौलिक कर्त्तव्यों को संविधान की सूची में शामिल किया गया है।

1. संविधान का पालन करें तथा राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रगान का आदर करें।
2. ऐसे आदर्शों का अनुसरण करें, जिनसे स्वतंत्रता आंदोलन को प्रोत्साहित मिला था।
3. भारत की एकता और अखंडता की रक्षा करें।
4. जब भी आवश्यकता पड़े तो देश की रक्षा करें।
5. सभी वर्गों के लोगों में भ्रातृत्व और समरसता की भावना बढ़ाएँ और स्त्रियों की प्रतिष्ठा का आदर करें।
6. गौरवशाली परंपरा और सामासिक संस्कृति को बनाए रखें।
7. प्राकृतिक वातावरण जिसमे वन, नदियां, झील और जगत के जीव--जंतु शामिल की जिंदगी में सुधार लान तथा उनकी रक्षा करना।
8. मानववाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास।
9. सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा करना और हिंसा का प्रयोग न करना
10. व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से हर क्षेत्र में उत्कर्ष कार्य के लिए संघर्ष करना
11. धारा 51 (क) में 86वें संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई हैं कि माता पिता अथवा अभिवावक यह व्यवस्था करें कि उनके 6 वर्ष से 14 वर्ष तक के बच्चे शिक्षा प्राप्त करें।

पाठगत प्रश्न 7.5

1. हर प्रश्न का उत्तर उसके सामने (हां) या (नहीं) में दीजिए।
   (क) अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।
   (ख) मौलिक कर्त्तव्य मौलिक संविधान में थे।
   (ग) मौलिक कर्त्तव्यों का मौलिक अधिकारों के साथ उल्लेख किया गया है।
   (घ) मौलिक कर्त्तव्य न्याययोग्य हैं।

(ii) मौलिक कर्त्तव्यों की प्रकृति

हमारे संविधान में मौलिक कर्त्तव्य केवल आदर्शों की ओर संकेत करते हैं। वे वास्तविक नहीं जान पड़ते। इन कर्त्तव्यों की विशेष अलोचना इस प्रकार से है कि वे न्याययोग्य नहीं हैं। जिसका परिणाम यह निकलता है, ये कर्त्तव्य संविधान पर बोझ बनकर रह गए हैं। कुछ कर्त्तव्य तो साधारण मनुष्य

की समझ से बाहर हैं। जैसे गौरवशाली परंपरा और सामासिक संस्कृति का अर्थ साफ नहीं हो पाता है। मानववाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कई परिभाषाएं हो सकती हैं। राष्ट्रीय संघर्ष को प्रोत्साहन देने वाले आदर्श से संबंधित कर्त्तव्य अस्पष्ट हैं।

मौलिक कर्त्तव्यों की सूची में अस्पष्ट आदर्शों को सम्मिलित करने का कोई लाभ नहीं है। अच्छा तो यह था कि स्पष्ट कर्त्तव्यों को संविधान में सम्मिलित किया जाता और उनका पालन भी आसानी से किया जाता। यदि उनको भंग किया जाय तो सज़ा भी दी जाय। 1976 में एक न्याय शास्त्री ने कहा था कि शायद इन कर्त्तव्यों का पालन कभी भी नहीं किया जायेगा। इन सब का एक पवित्र घोषणा पत्र ही है। यह सत्य है कि कर्त्तव्य न्याय-अयोग्य हैं, जैसे नीति निर्देशक सिद्धांत हैं। फिर भी न्यायालयों ने इन पर पूरा ध्यान दिया है। इसी तरह से राष्ट्रीय वातावरण बनाए रखने के कर्त्तव्य, सर्वोच्च न्यायालय ने, वातावरण को प्रदूषित करने वाले उद्योगों को शहर से बाहर भेजने, यमुना के पानी का प्रदूषण से बचाने के लिए बूचड़खानों को आबादी के इलाकों से दूर ले जाने, राष्ट्रीय वातावरण को बचाने के कर्त्तव्य के बनाए रखना। इसी प्रकार औरतों की प्रतिष्ठा को बनाए रखना हर नागरिक का कर्त्तव्य है। कि स्त्रियों की मान प्रतिष्ठा को बनाए रखने का उल्लंघन किया गया तो स्त्रियों की मान-प्रतिष्ठा का उल्लंघन करने पर सर्वोच्च न्यायालय उसके पुर्नस्थापित करने का आदेश दिया है।

पाठगत प्रश्न 7.6

1. ठीक शब्द चुनकर लिखिए।

   (क) मौलिक कर्त्तव्य न्याययोग्य/न्याय-अयोग्य हैं

   (ख) ये कर्त्तव्य आदर्शवादी/जीवन में वास्तविक हैं।

   (ग) ये कर्त्तव्य बहुत ही स्पष्ट/अस्पष्ट हैं।

   (घ) सर्वोच्च न्यायालय इन कर्त्तव्यों को ध्यान में रखता/नहीं रखता है।

7.10 आपने क्या सीखा

राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों को संविधान के भाग (iv) में सम्मिलित किया गया है। संविधान के निर्माताओं ने सामाजिक और आर्थिक समानता लाने के विशेष उद्देश्य से संविधान में सम्मिलित किया। ये सिद्धांत राज्यों (सरकारों) को लोगों की सामूहिक भलाई के लिए नीति और कानून बनाने के निर्देश देते हैं। ये सिद्धांत न्याययोग्य नहीं हैं और इन्हें किसी के ऊपर न्यायालय का कानून जबरदस्ती थोप नही सकता है। फिर भी किसी देश की सरकार को चलाने के मूल आधार हैं।

अपनी सुविधा के लिए हम इनको तीन वर्गों में बांटते हैं।

(क) सामाजिक और आर्थिक

(ख) गांधीवादी

(ग) विविध निर्देशक सिद्धांत

नीति–निर्देशक सिद्धांत शिक्षा की व्यापकता, बाल मज़दूरी का उन्मूलन तथा स्त्रियों के स्तर में सुधार लाने पर जोर देते हैं। एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना और आर्थिक सामाजिक लोकतंत्र का ढांचा बनाते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि सरकार इन निर्देशक सिद्धांतों को लागू करने का प्रयत्न कर रही है। इस क्षेत्र में काफी सफलता मिली है परंतु अभी बहुत कुछ करने को शेष है।

मौलिक अधिकारों और नीति–निर्देशक सिद्धांतों में कई महत्त्वपूर्ण अंतर हैं। मौलिक अधिकारों की न्याययोग्यता स्वाभाविक रूप से नकारात्मक है जबकि नीति–निर्देशक सिद्धांत न्याययोग्य नहीं हैं और स्वाभाविक रूप से सकारात्मक हैं।

इन दोनों में गहरा संबंध होता है। ये दोनों ही सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र लाने में बराबर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अब सुप्रीम कोर्ट भी इन निर्देशक–सिद्धांतों को कार्यरत करने पर जोर दिया है।

सरकार इनकी अवहेलना नहीं कर सकती। उसे इन को क्रियान्वित करना ही पड़ता है, क्योंकि ये देश की सरकार को चलाने के लिए आधार हैं। यदि सरकार इनकी अवहेलना करती है तो अगले आम चुनाव में लोग इसको सत्ता में नहीं आने देंगे।

अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। समाज के कल्याण और उन्नति के लिए, अधिकारों और कर्त्तव्य को समान रूप से बांटा जाना चाहिए। ग्यारह मौलिक कर्त्तव्य है जिन को 1976 में 42 वें सुधार के द्वारा संविधान में सम्मिलित किया गया है। इनको निर्देशक सिद्धांतों की तरह 51। धारा में न्याय–अयोग्य, सिद्ध किया गया है।

भले ये आदर्श और अस्पष्ट विचार हैं, फिर भी सुप्रीम कोर्ट ने कुछ मामलों में इन पर विचार किया है जैसे वातावरण को प्रदूषित करने वाले उद्योगों से जन जीवन की रक्षा करना।

7.11 पाठांत प्रश्न

1. राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों का मूल्यांकन कीजिए। इनके पीछे क्या शक्ति है?
2. राज्य के छह महत्त्वपूर्ण नीति–निर्देशक सिद्धांतों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। वे कैसे सामाजिक–आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना में मदद करते हैं?
3. निम्नलिखित सम्बंधित नीति–निर्देशक सिद्धांतों पर संक्षिप्त टिप्पणी दीजिए।
   (a) शिक्षा की सार्वभौमिकता
   (b) बाल मज़दूरी का उन्मूलन
   (c) महिलाओं के स्तर में सुधार
4. नीति–निर्देशक सिद्धांतों को क्रियान्वित करने में राज्य की क्या जिम्मेदारी है?

5. मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अंतर का वर्णन कीजिए। क्या ये दोनों समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं? कारण बताइए।
6. राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों और मौलिक अधिकारों के संबंध का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
7. अधिकारों को पाने की खुशी कर्त्तव्य को निभाने पर निर्भर करती इस कथन की पुष्टि कीजिए।
8. मौलिक कर्त्तव्य कितने प्रकार के होते हैं?
9. भारतीय संविधान में मौलिक कर्त्तव्यों के महत्त्व का मूल्यांकन कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

7.1 1. सामाजिक और आर्थिक 2. गांधीवाद
3. विविध 4. सामाजिक और आर्थिक
5. गांधीवाद 6. विविध

2.2 1. 14% 2. 1986
3. मौलिक अधिकार 4. नीति-निर्देशक-सिद्धांत
5. मौलिक कर्त्तव्य 6. 1985
7. 1/3

7.3 1. कल्याणकारी 2. सम्मानीय
3. जमींदारी 4. मौलिक अधिकार
5. ग्रामीण 6. कुटीर

7.4 1. सकारात्मक 2. व्यक्तिगत
3. न्याय-अयोग्य 4. मौलिक
5. जोर (दबाव) 6. आर्थिक

7.5 1. हां 2. नहीं 3. हां 4. नहीं
1. ए 2. ई 3. जी

7.6 1. न्याय-अयोग्य
2. आदर्श
3. अस्पष्ट
4. ब्योरे में ले लेना

पाठांत प्रश्नों के लिए संकेत

1. उपखंड 7.1 देखें
2. उपखंड 7.3 देखें
3. उपखंड 7.4.1, 7.4.2, 7.4.3 देखें
4. उपखंड 7.6 देखें
5. उपखंड 7.7 देखें
6. उपखंड 7.7 देखें
7. उपखंड 7.8 देखें
8. उपखंड 7.8.1 देखें
9. उपखंड 7.8.2 देखें

8
संघवाद

8.1 भूमिका

संघवाद एक आधुनिक अवधारणा है। संघवाद की यह अवधारणा संयुक्त राज्य अमेरिका से व्यवहार में ली गई है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद संघवाद का प्रचलन एक प्रकार से फैशन के रूप में चल पड़ा, विशेषकर ब्रिटिश कॉमनवेल्थ देशों में, जहां स्थानीय समस्याओं के निराकरण के लिए घटक राज्यों द्वारा स्वायत्तता की बात उठाई जाने लगी थी।

संघवाद का उदय एक प्रकार से ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। संघीय शासन के गठन के पीछे प्रायः मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करना, संयुक्त आर्थिक हितों को बढ़ावा देना, साझा समस्याओं का मैत्रीपूर्ण हल निकालने तथा राष्ट्रीय गौरव एवं रक्षात्मक विषयों पर विचार विमर्श करने का रहा है।

संघवाद का कोई स्वीकृत सिद्धांत नहीं है। संघवाद का उदय एक राष्ट्र के भीतर स्थित अनेक राज्यों की विभिन्न निजी समस्याओं के चलते हुआ है। संक्षेप में, इसके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार की राजनीतिक प्रणाली है जो दो स्तरों पर सरकार के कार्य एवं शक्तियों का विभाजन करती है। यह एक प्रकार के विभाजन की प्रक्रिया है इसलिए इसके भीतर राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें अपने अपने दायरे में स्वतंत्र रूप से किंतु आपसी सहअस्तित्व के साथ कार्य करती हैं। इसके द्वारा अनेकता में एकता स्थापित करने के लिए संवैधानिक तरीका होता है। परस्पर विरोधी ताकतों के बीच सद्भावपूर्ण संबंध स्थापित करके सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति इसके अंतर्गत संभव है।

8.2 उद्देश्य

यह पाठ पढ़ने के बाद आप :

- संघवाद का अर्थ समझ सकेंगे;
- भारतीय संविधान की संघात्मक विशेषताओं को पहचान सकेंगे;
- भारतीय संविधान के एकात्मक के लक्षणों की व्याख्या कर सकेंगे;
- इस बात को समझ सकेंगे कि भारत अपने चारित्रिक रूप में तो एक संघ है किंतु आत्मिक रूप में एकात्मक;
- केंद्र तथा राज्य सरकारों के बीच विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय संबंधों की व्याख्या कर सकेंगे;
- केंद्र-राज्य संबंध को जान सकेंगे तथा यह भी कि किस प्रकार से केंद्र को राज्यों के ऊपर प्राथमिकता प्राप्त है।
- केंद्र–राज्य के बीच द्वंद्वात्मक क्षेत्रों को पहचान सकेंगे;
- विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा अपनी स्वायत्तता की मांग को पहचान सकेंगे;
- सरकारिया आयोग की सिफारिशों की व्याख्या कर सकेंगे तथा केंद्र-राज्य के बीच सह-अस्तित्व की आवश्यकता को पहचान सकेंगे।

8.3 संघवाद के लक्षण

भारत गणतंत्र के संविधान (जो कि 26 जनवरी 1950 को अस्तित्व में आया) में संघीय संविधान के लक्षण तो हैं किंतु यह एक संघीय शासन स्थापित करने का दावा नहीं कर सकता। संविधानसभा के सदस्यों को यह तय नहीं कर पाए भारतीय संविधान संघीय संविधान है या नहीं। सभा के अधिकांश सदस्य संविधान के संघीय स्वरूप पर अपनी असहमति प्रकट कर चुके थे। इस सवाल का जवाब संघवाद के अर्थ को जाने तथा इसके आवश्यक लक्षणों को पहचाने बिना नहीं पाया जा सकता । क्योंकि इसी आधार पर हम किसी संघ-राज्य के तत्वों को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं । आइए, अब हम इस बात का परीक्षण करें कि भारत संघ है अथवा नहीं।

जब हम संघ के लक्षणों की तरफ ध्यान से देखते हैं तो पाते हैं कि संघ सरकार की एक ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा राष्ट्र की प्रत्येक इकाईयां अपने आप में स्वतंत्र होते हुए भी परस्पर सह अस्तित्व के साथ जुड़ी होती हैं। एक प्रकार से यह अनेकता में एकता स्थापित करने का उपकरण है। संघ के कुछ लक्षण नीचे दिए जा रहे हैं।

(i) लिखित संविधान

किसी भी संघ का सबसे मुख्य लक्षण होता है कि उसके पास एक लिखित संविधान होना चाहिए जिसे जरूरत पड़ने पर केंद्र तथा राज्य सरकार उद्धृत कर सकें। भारतीय संविधान एक लिखित संविधान है और यह दुनिया का सबसे बड़ा संविधान है। इसमें संविधान को सर्वोच्चता प्रदान की गई है क्योंकि इसमें केंद्र तथा राज्य की शक्तियों का बंटवारा किया गया है तथा उन्हें अपने-अपने क्षेत्र में शासन की स्वतंत्रता प्रदान की गई है।

(ii) शक्तियों का विभाजन

हमारे संविधान में शक्तियों का स्पष्ट विभाजन है । इस प्रकार केंद्र तथा राज्य सरकार एक-दूसरे को बिना बाधा पहुंचाए अपनी सीमाओं का बिना अतिक्रमण किए दूसरे की गतिविधियों में हस्तक्षेप किए बिना सुचारु रूप से अपनी विधायी शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं, उपबंध क्रियाशील रह सकते हैं। इसके लिए हमारे संविधान में पर्याप्त तथा उपलब्ध कराए गए हैं। इसमें तीन प्रकार की सूचियों का वर्णन है – केंद्र, राज्य तथा समवर्ती। केंद्रीय सूची में 97 राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों का उल्लेख किया गया है जिसके अंतर्गत रक्षा, रेलवे, डाक एवं तार आदि से संबंधित मामले आते हैं। राज्य सूची में 66 स्थानीय महत्त्व जैसे शिक्षा जन-स्वास्थ्य, पुलिस आदि के मामले आते हैं। समवर्ती सूच में केंद्र तथा राज्य दोनों से संबंधित 47 महत्त्वपूर्ण विषय जैसे बिजली, मजदूर संगठन, आर्थिक एवं सामाजिक योजना आदि आते हैं।

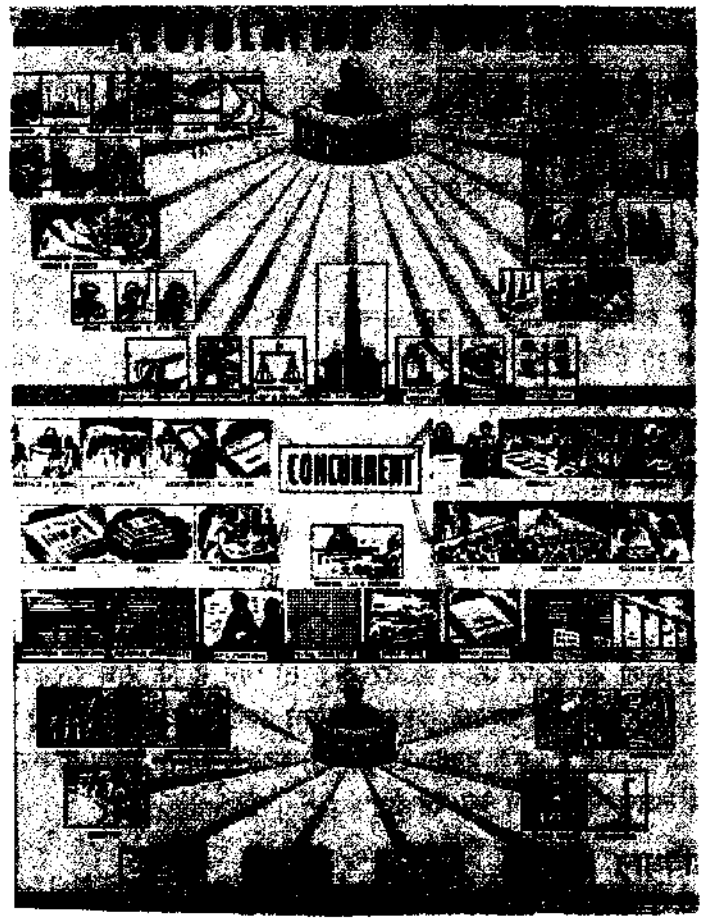

चित्र 8.3

यह तालिका क्रमशः केन्द्रीय और राज्य सरकार के कानूनी अधिकार और उनके अंतर को दर्शाती है।

(iii) स्वतंत्र न्यायपालिका

संघ के अन्य लक्षणों में से एक अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण है कि उसके पास एक स्वतंत्र न्यायपालिका हो, जो कि संविधान की व्याख्या करे तथा इसकी पवित्रता की रक्षा करे। केंद्र तथा राज्य के बीच उत्पन्न विवादों को सुलझाने के लिए वास्तविक न्यायपालिका सर्वोच्च न्यायालय है। यह केंद्र

अथवा राज्य सरकार को किसी भी प्रकार के संवैधानिक उल्लंघन की आज्ञा नहीं दे सकता। यदि किसी कानून द्वारा संविधान के नियमों का उल्लंघन होता है तो सर्वोच्च न्यायालय उसे असंवैधानिक घोषित कर सकता है।

पाठगत प्रश्न 8.1

सही विकल्प चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. संघ में ..... शक्तियों का बंटवारा किया गया है।
(केंद्र की, राज्य की, केंद्र तथा राज्य की)

2. संघ के पास अपना ..... संविधान होता है ।
(लिखित, अलिखित, चक्रीय)

3. भारतीय संविधान में ..... सूची है ।
(2, 3, 4)

4. .....सूची में 66 विषय वर्णित है। ..... ।
(केन्द्र, राज्य, समवर्ती)

5. समवर्ती सूची में ..... विषय वर्णित हैं ।
(97, 47, 6)

8.4 भारत संघ का स्वरूप

यह कह पाना बहुत मुश्किल है कि भारतीय संविधान एक सच्चा संघीय संविधान है। बल्कि इसके बदले यह कहा जाना चाहिए कि भारतीय संविधान एक प्रकार का संघीय ढांचा स्थापित करता है। संविधान के स्वरूप निर्माताओं ने इसमें निहित असंघीय लक्षणों में सुधार करके इसे एक सच्चे भारतीय संघीय संविधान के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

संविधान के अनुच्छेद–1 में यह कहा गया है कि भारत राज्यों का संघ है। इसमें दो बातें निहित हैं, पहली तो यह कि यह राज्यों के बीच आपसी समझौते का परिणाम नहीं है और दूसरी यह कि राज्यों को केंद्र से अलग हो जाने अथवा स्वतंत्र रूप से व्यवहार करने की छूट नहीं है। इसका मतलब यह है कि केंद्र तथा राज्य दोनों के लिए एक ही संविधान है, जिस सीमा से केंद्र तथा राज्य बाहर नहीं जा सकते।

राज्य के राज्यपालों की नियुक्ति केंद्र करता है तथा उसकी अनुशंसा पर वह राज्य प्रशासन को अपने हाथों में ले सकता है। इसका मतलब है कि केंद्र के पास राज्य प्रशासन को नियंत्रित करने की क्षमता प्राप्त होती है। और केंद्र सरकार ऐसा सिर्फ तभी कर सकती है जब राष्ट्रीय आपातकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस बारे में आप अगले पाठ में पढ़ेंगे। और ऐसी आपात स्थिति में समूचा संघ एकात्मक ढांचे में परिणत हो जाता है।

इसी क्रम में लगभग सभी महत्त्वपूर्ण पदों जैसे मुख्य चुनाव आयुक्त, महा लेखा परीक्षक, योजना आयोग का अध्यक्ष आदि–पर नियुक्तियाँ केंद्र सरकार द्वारा की जाती हैं। यहां इकहरी नागरिकता का प्रावधान है। यहां अलग-अलग राज्यों के लिए अलग-अलग संविधान का कोई प्रावधान नहीं

है। संविधान में किसी भी प्रकार के संशोधन की पहल केंद्र सरकार ही कर सकती है। राज्य सरकार संविधान में किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं ला सकती। संघवाद की सबसे पहली और आवश्यक मांग होती है कि संसद के ऊपरी सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। अमेरिकी सीनेट के ऊपरी सदन में प्रत्येक राज्य से दो प्रतिनिधियों के लिए सीटें आरक्षित होती हैं। किंतु हमारे संविधान में इस प्रकार की बराबरी का कोई प्रावधान नहीं है और न तो राज्य सभा में इस प्रकार के प्रतिनिधित्व के लिए सीटों का आरक्षण है।

और इसी क्रम में संघीय ढांचे को छेड़े बिना यहां एकरूपता तथा न्यूनतम साझा प्रशासनिक स्तर को बनाए रखने के लिए भी प्रावधान है। इसके लिए अखिल भारतीय सेवाओं जैसे आई.ए.एस तथा आई.पी.एस. का गठन किया गया, जो कि केंद्र द्वारा नियंत्रित किया जाता है। वित्तीय मामलों में भी राज्य केंद्र के ऊपर आश्रित रहता है। राज्य अपनी जरूरत के वित्तीय संसाधन भी खुद नहीं उपार्जित कर सकते। वित्तीय संकट के समय केंद्र राज्य की वित्तीय स्थिति पर अपना पूरा नियंत्रण रखना आरंभ कर देता है।

किसी राज्य में यदि किसी प्रकार की अशांति उत्पन्न हो जाती है तो केंद्र को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उस राज्य में अथवा उस राज्य के अशांत हिस्से में केंद्रीय पुलिस को नियंत्रण के लिए भेजे। संसद को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह किसी राज्य के क्षेत्र को बढ़ा अथवा घटा सकती है और साथ ही वह किसी राज्य के नाम अथवा उसकी सीमा-रेखा में बदलाव अथवा सुधार कर सकती है।

संविधान में केंद्रीय सूची के अंतर्गत सभी महत्त्वपूर्ण विषयों को शामिल करके केंद्र को अत्यंत शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया गया है।

राज्य तथा केंद्र सरकार के बीच शक्तियों के विभाजन का परिणाम यह हुआ है कि राज्यों के पास बहुत कम शक्ति रह गई है। शक्तियों गतिविधियों तथा योजना आयोग के व्यवहारों से यह बात स्पष्ट रूप से पता चलती है कि राज्य सरकार कहीं भी प्रभावी ढंग से क्रियाशील नहीं हो सकती। राज्य की योजनाएं केंद्र की योजनाओं के तहत ही निर्धारित की जाती हैं और केंद्र की योजनाएं योजना आयोग निर्धारित करता है।

उपरोक्त चर्चा के बाद अब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राज्यों की शक्तियों का कम करते हुए सभी नीतियाँ केंद्र सरकार के पक्ष में झुकती हैं। राज्य केंद्र द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार ही कार्य करने पर बाध्य होते हैं। इस प्रकार इन बातों से इस विवाद को बल मिलता है कि भारतीय संविधान अपने स्वरूप में तो संघीय है किंतु आत्मिक रूप से एकात्मक है।

पाठगत प्रश्न 8.2

सही विकल्प चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. राज्य में राज्यपाल.....होता है।
   (प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित, अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित, राष्ट्रपति द्वारा नियक्त)
2. .....को किसी भी राज्य के क्षेत्र में परिवर्तन का अधिकार प्राप्त है।
   (संसद, विधानमंडल, नगर महापालिका)

3. अखिल भारतीय सेवाओं का नियंत्रण ..... द्वारा होता है ।
(केंद्र सरकार, राज्य सरकार, जिला)

4. संघ में यह आवश्यक विधान होता है कि संसद के ऊपरी सदन में ..... प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो। (असमान, समान, आनुपातिक)

5. संविधान में संशोधन संबंधी प्रस्ताव ..... द्वारा रखा जाता है।
(संसद, विधान मंडल, इनमें से कोई नहीं)

6. भारतीय संविधान अपनी प्रवृत्ति में ..... है ।
(संघीय, एकात्मक, अर्द्धसंघीय)

8.5 केंद्र-राज्य संबंध

हम इस बात पर पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि भारतीय संविधान एक संघात्मक ढांचे का निर्माण करता है और केंद्र तथा राज्य दोनों इसे आपसी समन्वय से बनाए रखने में सहयोग देते हैं और इसके प्रति निष्ठा व्यक्त करते हैं। कुछ आलोचकों का यह गंभीर आरोप है कि भारत एक संघ तो है किंतु इसमें पूरक एकात्मक लक्षण भी मौजूद हैं। यह आलोचना कहां तक सही है, इस बात को समझने के लिए केंद्र-राज्य संबंधों का अध्ययन आवश्यक है।

संविधान के भाग 11 तथा 12 में विधायी प्रशासनिक तथा वित्तीय आधारों पर केंद्र तथा राज्य के बीच संबंधों पर चर्चा की गई है। आइए क्रमशः इन बिंदुओं पर चर्चा करें।

(i) विधायी संबंध

हमारे संविधान में विधायी संबंधों को लेकर अधिकारों का त्रि-स्तरीय विभाजन किया गया है। विधायी अधिकारों से संबंधित दो सूचियाँ हैं। पहली तो केंद्र सूची है और दूसरी राज्य सूची। इसके अतिरिक्त एक अन्य सूची भी इसके साथ जोड़ दी गई है जिसे हम समवर्ती सूची के नाम से जानते हैं।

इन तीनों सूचियों में सबसे लंबी सूची केंद्र सूची है, जिसमें राष्ट्रीय हितों से संबंधित 97 मामलों का उल्लेख है। इसमें रक्षा, रेलवे, डाक तार, आयकर, आबकारी, आदि मामले आते हैं। संसद को संपूर्ण देश में कानून बनाने तथा केंद्रीय सूची पर कार्य करने के लिए कुछ अतिरिक्त अधिकार भी प्राप्त हैं।

राज्य सूची में स्थानीय मुद्दों से संबंधित 66 विषयों का उल्लेख है। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मामले जैसे राज्य में वाणिज्य तथा व्यापार, पुलिस, वन, उद्योग आदि उल्लिखित हैं। विधानमंडल को राज्य सूची में सम्मिलित सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। किंतु संबंधित राज्य सिर्फ अपने राज्य से संबंधित मुद्दों पर ही कानून बना सकता है।

समवर्ती सूची में केंद्र तथा राज्य दोनों से संबंधित हितों के 47 मामलों का उल्लेख है। इनमें मुद्रांक शुल्क औषधि एवं विष, बिजली, अखबार आदि विषय महत्त्वपूर्ण हैं। संसद तथा विधान-मंडल दोनों ही इस सूची में सम्मिलित विषयों पर कानून बना सकते हैं। यदि किन्हीं स्थितियों में एक ही विषय पर राज्य तथा केंद्र द्वारा बनाए कानूनों के बीच द्वंद उत्पन्न हो जाता है तो ऐसी स्थिति में केंद्र सरकार द्वारा बनाया गया कानून ही मान्य होता है।

यदि इन तीनों सूचियों में सम्मिलित विषयों के अतिरिक्त किसी विषय पर कानून बनाना हो तो उस पर संसद विचार करती है।

विशेष परिस्थितियों में केंद्र राज्य सूची में सम्मिलित विषयों पर भी कानून बना सकता है। ये परिस्थितियां हैं :

(क) यदि राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा कर दी गई हो।

(ख) यदि राज्यसभा द्वारा दो तिहाई बहुमत से राज्य सूची में सम्मिलित किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का विषय सिद्ध कर दिया जाता है ।

(ग) यदि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया हो।

(घ) यदि दो या दो से अधिक राज्य सम्मिलित रूप से केंद्र से किसी राज्य सूची से संबंधित विषय पर कानून बानने का आग्रह करते हैं।

(ङ) किसी अंतर्राष्ट्रीय समझौते को लागू किए जाने के क्रम में।

उपरोक्त चर्चा के आधार पर हम पाते हैं कि विधायी अधिकार के विभाजन में सबसे अधिक अधिकार स्पष्ट रूप से केंद्र सरकार के पक्ष में जाते हैं। केंद्रीय सूची सबसे लंबी सूची है और सारे महत्त्वपूर्ण विषय उसी में सम्मिलित किए गए हैं और इस सूची के अलावा भी शेष विषयों पर केंद्र का ही अधिकार है। इसके अलावा संसदीय अधिकारों में विस्तार की भी काफी संभावनाएं हैं। केंद्र तथा राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों में उत्पन्न द्वंद्व के समय केंद्रीय कानून को प्राथमिकता प्राप्त हो जाती है। संवैधानिक सुधारों तथा इस तरह की अन्य प्रक्रियाओं से संबंधित विधायी बंटवारे को देखने के बाद तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि केंद्र सरकार इस समूची प्रक्रिया में सबसे अधिक प्रबल भूमिका अदा करती है।

(ii) प्रशासनिक संबंध

केंद्र तथा राज्य के बीच प्रशासनिक संबंधों को लेकर हमारे संविधान निर्माताओं के मन में कभी भी दो स्वतंत्र प्रशासनिक इकाइयों के निर्माण की इच्छा नहीं रही। बल्कि उन्होंने दोनों के बीच समन्वय (Co-Ordination) तथा सह–भागिता (Co-Operation) बनाए रखने की कोशिश की।

राज्य के कार्यपालिका संबंधी अधिकार संसद द्वारा बनाए गए कानूनों को पालन करने से संबंधित होते हैं। इसके अलावा यदि कभी जरूरत पड़े तो केंद्रीय कार्यपालिका राज्य कार्यपालिका को निर्देश भी दे सकती है। केंद्र सरकार राज्य सरकारों को संचार प्रणाली को व्यवस्थित बनाने संबंधी, राष्ट्रीय तथा सैनिक महत्त्व से संबंधित तथा रेलवे सुरक्षा से संबंधित मामलों पर बनाए गए कानूनों का पालन करने के निर्देश भी जारी कर सकती है। इसी क्रम में अंतर्राज्यीय नदियों से संबंधित विवादों पर संसद अकेले फैसले कर सकती है। इसके अलावा एक प्रावधान यह भी है कि राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों पर राष्ट्रपति को सलाह देने के लिए एक अंतर्राज्यीय समिति का गठन किया जाए।

राज्यों के प्रमुख अर्थात् (राज्यपालों) की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। वे अपने पूरे कार्यकाल तक अपने पद पर बने रहते हैं। केंद्रीय सरकार को राज्य सरकार के प्रशासन पर नियंत्रण रखने का अधिकार प्राप्त है। राष्ट्रपति किसी भी राज्य के राज्यपाल को वापस बुला सकता है। उच्च

न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा तबादले राष्ट्रपति ही करता है।

यहां तक कि राज्य से संबंधित कुछ मामलों में राज्य सरकारें एक निश्चित अवधि के लिए केंद्रीय सरकार को अपने प्रशासन में हिस्सेदार बना सकती हैं।

भारत के संविधान में प्रशासनिक प्रणाली की एकरूपता का प्रावधान है। इसके लिए अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओं का गठन किया गया है और इसके द्वारा नियुक्त अधिकारी जैसे आई.ए.एस., आई.पी.एस. अथवा अन्य नियुक्त पदाधिकारी राज्य प्रशासन में धुरी का काम करते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा के ये अधिकारी केंद्र सरकार के लिए राज्य सरकारों के ऊपर कोई भी अनुशासनात्मक कार्यवाही नहीं कर सकती। संविधान में यह भी प्रावधान है कि राज्य सभा की अनुमोदन (संस्तुति) पर संसद नए अखिल भारतीय सेवाओं का गठन भी कर सकती है। केंद्र सरकार के माध्यम से राष्ट्रपति राज्य प्रशासन तंत्र पर नियंत्रण रखता है। इस बात को समझने के लिए आप आपातकाल की स्थितियों का स्मरण कर सकते हैं।

आपको यह बात भी याद होगी कि जरूरत पड़ने पर केंद्रीय कार्यपालिका राज्य कार्यपालिका को प्रशासनिक निर्देश दे सकती है अथवा उसमें हिस्सेदार बना सकती है। केंद्रीय अथवा राज्य प्रशासन की स्वयत्तता पर निर्देश जारी करने संबंधी केंद्र सरकार को विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। राज्यों के आग्रह पर केंद्र सरकार केंद्रीय पुलिस बल अथवा सेना को कहीं भी नियुक्त कर सकती है और यदि कोई ऐसा मौका आया तो राज्य के हितों का ध्यान रखते हुए केंद्रीय पुलिस बल तथा सीमा सुरक्षा बल को पूरे राज्य में फैलाया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य प्रशासन में केंद्र एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है।

(iii) वित्तीय संबंध

प्रशासन को चलाने में वित्त की एक बहुत बड़ी भूमिका होती है। केंद्र के साथ राज्यों के संबंधों के निर्धारण में राजस्व संसाधनों का बँटवारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। संविधान में केंद्र तथा राज्य दोनों के लिए स्वतंत्र राजस्व संसाधनों की व्यवस्था की गई है। सभी बड़े तथा अंतर्राज्यीय करों की उगाही केंद्र सरकार द्वारा तथा स्थानीय करों की उगाही राज्य सरकारों द्वारा की जाती है।

केंद्रीय सूची में निबद्ध करों की उगाही निम्नलिखित श्रेणी में की जाती है:

(क) करों की उगाही तो केंद्र सरकार द्वारा की जाती है किंतु जैसे मुद्रांक शुल्क तथा दवाइयों पर आबकारी कर तथा प्रसाधन संबंधी वस्तुओं पर लगाए जाने वाले करों का वसूली राज्यों द्वारा की जाती है।

(ख) रेलवे समुद्री तथा हवाई करों को लागू करना तथा उगाही करना। तो केंद्र का कार्य है किंतु उन्हें राज्यों को दे दिया जाता हैं।

(ग) यदि संसद यह कानून बना दे कि केंद्रीय उत्पाद शुल्क तथा प्रसाधन संबंधी वस्तुओं पर लगाए जाने वाले करों का बंटवारा केंद्र और राज्यों के बीच होना चाहिए, तब इनसे संबंधित करों की उगाही तथा संकलन का कार्य तो केंद्र करता है किंतु केंद्र एवं राज्यों के बीच करों का बंटवारा हो जाता है।

(घ) आबकारी तथा आयकर आदि से संबंधित करों का निर्धारण, संकलन तथा संचयन केंद्र द्वारा किया जाता है।

(ङ) कृषि आदि से संबंधित करों का संकलन तथा संचयन केंद्र द्वारा किया जाता है किंतु केंद्र तथा राज्यों के बीच उनका बँटवारा हो जाता है।

राज्य सूची के अंतर्गत भी अनेक करों को सम्मिलित किया गया है। प्रत्येक राज्य को कर उगाही का अधिकार है तथा उन करों के औचित्य पर विचार करने का अधिकार है। कुछ स्थानीय महत्त्व के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र जैसे भूमिकर, शराब तथा अफीम पर लगाए जाने वाले कर, भूमि तथा मकान संबंधी कर वाहन कर आदि हैं। इस प्रकार वित्तीय क्षेत्र में भी केंद्र को बेहतर संसाधन उपलब्ध हैं। केंद्र राज्य के वित्तीय संसाधनों पर अपना नियंत्रण रखता है तथा राज्य की विकास योजनाओं के लेखा-जोखा के आकलन के आधार पर सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार की स्थितियों में वह राज्यों को वित्तीय सहायता भी प्रदान करता है। वित्तीय आपातकाल की स्थिति में राष्ट्रपति केंद्र तथा राज्यों के बीच होने वाले करों के बंटवारे का स्थगित कर सकता है। वह राज्यों के कुछ खर्चों पर प्रतिबंध भी लगा सकता है।

केंद्र तथा राज्यों की बदलती आर्थिक स्थितियों तथा वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर वित्तीय संसाधनों के बंटवारे में फेरबदल भी की जा सकती है। इस कार्य के लिए वित्त आयोग का गठन किया गया है। वित्त आयोग का गठन राष्ट्रपति द्वारा प्रत्येक पांच साल के लिए किया जाता है। वित्त आयोग का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को निम्न बिंदुओं पर अपनी सलाह देता रहे :

(क) करों की कुल उगाही के केंद्र तथा राज्यों के बीच निश्चित बंटवारे तथा राज्यों के बीच उनके हिस्से का निर्धारण।

(ख) वह करों के हस्तांतरण के बदले राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें दो तरीकों से पूरा करने की सिफारिश करता है। पहला तो यह कि राज्य करों अथवा दूसरे अनुदानों में से वित्तीय सहायता उपलब्ध कराकर अथवा दूसरा, उन्हें कर्ज उपलब्ध करवा कर।

प्रायः राज्यों को आर्थिक सहायता वितरण प्रणाली के द्वारा ही दी जाती है। राज्य की योजनाएं केंद्रीय योजनाओं के तहत ही प्रमुखता के आधार पर केंद्र द्वारा तैयार की जाती हैं और उन्हें योजना आयोग स्वीकृति प्रदान करता है। इसके बाद केंद्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों को उसी की अनुदान और शर्तों पर राज्यों द्वारा संचालित किया जाता है। योजना आयोग ने एक केंद्रीकृत योजना बना रखी है। इसने राज्यों तथा केंद्रीकृत स्वरूप के बीच अकाल्पनिक तथा अनिर्धारित कार्य के लिए कोई गुंजाइश नहीं शेष छोड़ी है।

पाठगत प्रश्न 8.3

सही विकल्प चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. केंद्रीय सूची में ..... विषय सम्मिलित हैं।

(97, 66, 47)

2. वित्त आयोग का गठन.....द्वारा किया जाता है।
(राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल)

3. डाक एवं तार.....सूची में सम्मिलित विषय हैं।
(केंद्रीय, राज्य, समवर्ती)

4. राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राज्य-सूची में निबद्ध विषयों पर .....
द्वारा कानून बनाया जा सकता है। (विधानमंडल, संसद, दोनों)

5. वाणिज्य तथा व्यापार.....सूची का विषय है ।
(केंद्र, राज्य, समवर्ती)

8.6 सारांश

भारत के संविधान निर्माता राष्ट्र की एकता और अखंडता बनाए रखने के लिए गहराई से सोचते थे। उन्हें यह ज्ञात था कि एकता को भंग करने वाली तथा विध्वंसकारी शक्तियाँ देश में कार्यरत हैं। इस प्रकार की व्यवधान उपस्थित करने वाली तथा अव्यवस्था फैलाने वाली ताकतें स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तेजी से अपने पंख फैलाने लगी थीं और एक शक्तिशाली केंद्र सरकार ही इनसे जूझ सकती थी।

इसीलिए संविधान निर्माताओं ने केंद्र को अत्यंत प्रबल भूमिका प्रदान की। और इसी समय उन्होंने सहभागिता के द्वारा एक संघ की स्थापना भी की।

भारत संघ को पिछले पांच दशकों से कार्य करते देखकर यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि केंद्र और राज्यों के बीच संबंध हमेशा सहभागिता का नहीं रहा है।

भारत सरकार ने केंद्र-राज्य संबंधों को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए प्रशासनिक सुधार आयोग तथा दूसरे अन्य कई आयोगों का गठन किया है। केंद्र सरकार ने केंद्र-राज्य संबंधों की व्याख्या करने तथा उन्हें दिशा निर्देशन के लिए 'सरकारिया आयोग' का गठन किया ।

सरकारिया आयोग ने संघ की विधायी, प्रशासनिक तथा वित्तीय संबंधों पर एक सुनिश्चित नीति बनाने के लिए अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की हैं। इसने संविधान के संपूर्ण मूलभूत ढांचे में परिवर्तन की सलाह नहीं दी है। इस प्रकार संघवाद एक प्रकार से सहभागिता पर आधारित क्रियाशील व्यवस्था है न कि सिद्धांतवादी गतिहीन अवधारणा। केंद्र तथा राज्यों के बीच उत्पन्न हुए मतभेदों को आपसी सलाह-मशविरे के द्वारा सुलझाया जाना चाहिए। राज्यों की मांग को ध्यान में रखते हुए उन्हें अधिक से अधिक वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराए जाने का सुझाव दिया है। राष्ट्र में केंद्र-राज्य संबंधों में सुधार लाए जाने के लिए आर्थिक उदारीकरण तथा संविधान में उचित संशोधन के भी सलाह दिए गए हैं।

8.7 आपने क्या सीखा

सरकार की संघीय व्यवस्था में केंद्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों के स्पष्ट विभाजन की आवश्यकता होती है। इसके लिए एक लिखित एवं कठोर संविधान की भी जरूरत होती है। साथ ही इसमें एक स्वतंत्र न्यायपालिका की भी आवश्यकता होती है जो केंद्र तथा राज्यों के बीच उत्पन्न हुए

विवादों को सुलझा सके। हालांकि भारतीय संविधान में संघीय संविधान के सभी लक्षण मौजूद हैं लेकिन यह वास्तव में बहुत कठिन है कि भारतीय संविधान को संघों की श्रेणी में रखा जा सके।

भारत के संविधान निर्माताओं ने इकहरी नागरिकता , इकहरी न्यायपालिका, प्रबल केंद्र की स्थापना, राष्ट्रपति तथा राज्यपालों की नियुक्ति तथा राज्य सभा में असमान प्रतिनिधित्व के द्वारा संविधान में असंघीय लक्षण लाने का भरसक प्रयास किया है। केंद्र की ओर एक प्रबल झुकाव है। रज्य केंद्र के साथ सहभागिता के आधार पर कार्य करते हैं। इन सबको मिलाकर इस बात की पुष्टि होती है कि भारतीय संविधान में संघीय लक्षण तो हैं किंतु यह अपने आत्मिक रूप में एकात्मक है।

केद्र-राज्य संबंधों पर ध्यान दें तो विधायी प्रशासनिक तथा वित्तीय संबंधों के आधार पर हम पाते हैं कि केद्र सरकार राज्य सरकार से ज्यादा शक्तिशाली होती है। राष्ट्र की एकता एवं अखंडता पर आने वाले खतरों को ध्यान में रखते हुए केंद्र सरकार को ज्यादा प्रबल भूमिका प्रदान की गई है। इस प्रकार हमारे यहां समन्वयमूलक संघवाद का विधान है।

इतने वर्षों तक भारतीय संविधान के कार्य करते रहने के बाद अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि केंद्र तथा राज्यों के बीच संबंध अब बहुत समन्वयात्मक नहीं रह गए हैं। राज्य अपने लिए अधिकतम स्वायत्तता की मांग करने लगे हैं। भारत सरकार द्वारा केंद्र-राज्य संबंधों की पुर्नव्याख्या करने के लिए कई आयोग गठित किए जा चुके हैं। अभी हाल ही में 'सरकारिया आयोग' ने अपनी सिफारिशें पेश की हैं। हालांकि इसने संविधान के संपूर्ण मूलभूत ढांचे में परिवर्तन की सिफारिश नहीं की है, इन सिफारियों में विधायी, प्रशासनिक तथा वित्तीय संबंधों को लेकर एक स्पष्ट नीति बनाए जाने की बात कही गई है ।

8.8 पाठांत प्रश्न

1. भारतीय संविधान के संघीय लक्षणों के बारे में बताइए।
2. भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षणों को स्पष्ट कीजिए।
3. केंद्र तथा राज्यों के बीच विधायी संबंधों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. केंद्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
5. 'भारतीय संविधान अपने ढांचे में तो संघीय है किंतु आत्मिक रूप से एकात्मक है' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

8.1 1. केंद्र तथा राज्यों के बीच विभाजन 2. लिखित
3. राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त 4. 3
5. राज्य 6. 47

8.2 1. संसद 2. केंद्र सरकार

3. असमान
4. संसद
5. संघात्मक

8.3 1 97
2. राष्ट्रपति
3 केंद
4. संसद
5. राज्य

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, उपखंड 8.3
2. कृपया देखें, उपखंड 8.4
3. कृपया देखें, उपखंड 8.5.1
4. कृपया देखें, उपखंड 8.5.3
5. कृपया देखें, उपखंड 8.3 तथा 8.4

9
आपातकालीन प्रावधान

9.1 भूमिका

आप पिछले पाठ में पढ़ चुके हैं कि भारतीय संविधान का स्वरूप एकात्मकता होते हुए भी वह मूलतः संघात्मक है। एक ओर इसमें संघीय व्यवस्था के सभी तत्त्व मौजूद हैं, तो दूसरी ओर केंद्र, राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है।

भारत के संविधान निर्माण प्रक्रिया के दौरान हम तनाव और विषमता के दौर से गुजर रहे थे। देश का विभाजन, सांप्रदायिक दंगे, देशी रियासतों के विलय की समस्याएं (कश्मीर सहित) तथा ऐसी अनेक प्रकार की समस्याएं असामान्य स्थिति को जन्म दे रही थीं, जो आशंकाओं से परिपूर्ण थी। इसलिए संविधान निर्माताओं ने केंद्र सरकार को उपयुक्त शक्तियां देना उचित समझा, जिससे कि वह संकट काल में जन देश अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा और स्थायित्व को खतरा हो ऐसी गंभीर स्थिति का सामना प्रभावशाली तरीके से कर सकें। अतः, देश की सुरक्षा, एकता तथा अखंडता को बनाए रखने के लिए, भारत के संविधान में कुछ आपातकालीन प्रावधान दिए गए हैं।

9.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- यह सिद्ध कर सकेंगे कि केंद्र सरकार के पास ऐसी आपातकालीन परिस्थितियों में असाधारण शक्तियों के प्रयोग के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं होता जो कि एक राष्ट्र के लिए अवश्यंभावी है ;
- उस परिस्थिति को उचित ठहरा सकेंगे, जिसमें राष्ट्रपति, अनुच्छेद 352 के अंतर्गत, राष्ट्रीय-आपातकाल की घोषणा करता है

- यह समझ सकेंगे कि ऐसी प्रत्येक घोषणा को संसद की स्वीकृति की आवश्यकता होती है ,
- यह जान सकेंगे कि आपातकाल की घोषणा की अवधि छः महीने है तथा संसद इसे छः महीनों के लिए बढ़ा सकता है।
- मौलिक अधिकारों के विशेष संदर्भ में वैधानिक, कार्यपालिका तथा वित्तीय मामलों से संबंधित राष्ट्रीय आपातकाल के अनेक प्रभावों का वर्णन कर सकेंगे ;
- देश में राष्ट्रीय आपातकाल घोषणाओं के उदाहरणों उनकी अवधि, प्रभावों को उद्धृत कर सकेंगे ;
- यह जान सकेंगे कि यह संघ सरकार का उत्तरदायित्व है कि वह सुनिश्चित राज्यों का शासन संविधान के प्रावधानों के अनुसार चलाया जा रहा है
- उन परिस्थितियों का वर्णन कर सकेंगे, जिनमें राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अंतर्गत किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकते हैं;
- कुछ ऐसे राज्यों के उदाहरण दे सकेंगे जहां संविधान की विफलता के कारण ऐसी घोषणाएं की गई थीं
- राज्य की मंत्रिपरिषद और विधानमंडल पर ऐसे आपातकाल के विभिन्न प्रभावों का पता लगा सकेंगें
- यह समझ सकेंगे कि केंद्र राज्य संबंधों के परिप्रेक्ष्य में, राष्ट्रपति शासन का लागू किया जाना प्रायः विवादास्पद रहा है;
- उन परिस्थितियों का वर्णन कर सकेंगे, जिनमें अनुच्छेद 360 के अंतर्गत वित्तीय संकट की घोषणा की जा सकती है;
- आर्थिक संकट के दौरान संसद की भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे
- आर्थिक संकट काल के प्रभावों का वर्णन कर सकेंगे;
- जान सकेंगे कि अभी तक भारत में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है।

9.3 आपातकालीन शक्तियों के प्रावधान

जिस दिन से भारत स्वतंत्र हुआ, हमें देश के सामने मौजूद अनेक समस्याओं का सामना करने के लिए युद्ध स्तर पर संघर्ष करना पड़ा। जितना हमने उन्हें हल करने प्रयास किया, उतनी ही वे बढ़ती रहीं। परंतु, एक राष्ट्र के रूप में हमने कभी हिम्मत नहीं हारी। इसके परिणाम स्वरूप, भारत उन्नति के मार्ग पर दृढ़ता से बढ़ता गया। अचानक एक झटका तब लगा जब हमारे एक पड़ोसी देश चीन ने 1962 में हमारी उत्तरी सीमाओं पर आक्रमण करके देश की सुरक्षा को चुनौती दे दी। केंद्र सरकार ने इस गंभीर स्थिति से निपटने के लिए असाधारण शक्तियों से अपने को लैस कर लिया, क्योंकि उसके पास और कोई विकल्प नही था। देश की सुरक्षा, एकता और स्थायित्व की रक्षा के लिए भारत के राष्ट्रपति को विभिन्न प्रकार की आपातकालीन स्थितियों से निबटने

के लिए कुछ विशेष शक्तियां प्रदान की गई हैं। अब हम तीन प्रकार के संकट कालीन प्रावधानों व उनके प्रभावों का विस्तार से अध्याय करेंगे।

(i) राष्ट्रीय आपातकाल (अनुच्छेद 352)

भारतीय संविधान में राष्ट्रीय आपातकाल लागू करने का प्रावधान है। ऐसी घोषणा भारत के राष्ट्रपति कर सकते हैं। यदि वह संतुष्ट हो जाए कि स्थिति बहुत विकट है तथा भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा खतरे में है या (क) युद्ध अथवा बाहरी आक्रमण (ख) अथवा देश के अंतर्गत सशस्त्र विद्रोह के कारण ऐसा होने को है। यह ध्यान रहे कि राष्ट्रपति ऐसी घोषणा ऐसी स्थिति उत्पन्न हाने से पहले भी कर सकता है। 44 वें संविधान संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति ऐसी संकटकालीन घोषणा केवल मंत्रिमंडल की लिखित अनुशंसा पर ही कर सकता है।

ऐसी संकटकालीन घोषणा की पुष्टि संसद के दोंनों सदनों के द्वारा एक मास के अंदर की जानी अनिवार्य है, नहीं तो वह घोषणा स्वयं समाप्त हो जाती है। संकटकालीन घोषणा के समय यदि लोकसभा भंग है अथवा उसका अधिवेशन नही चल रहा है तो इसकी पुष्टि राज्यसभा द्वारा एक महीने के अंदर होनी होती है तथा बाद में लोकसभा द्वारा अधिवेशन शुरू होने के एक मास के अंदर हो जानी चाहिए।

संसद द्वारा एक बार पुष्टि हो जाने पर आपात काल का प्रभाव घोषणा की तिथि से छह महीने तक रहता है। यदि इसको छह महीने से आगे बढ़ाना है तो संसद द्वारा दूसरा प्रस्ताव पास किया जाना आवश्यक होता है। इस प्रकार आपातकाल अनिश्चित काल तक जारी रहता है, परंतु, स्थिति में सुधार होने पर राष्ट्रपति द्वारा घोषणा करने से आपातकाल समाप्त हो सकता है।

संविधान के 44 वें संशोधन के अनुसार लोकसभा के 10 प्रतिशत या अधिक सदस्य लोकसभा के अधिवेशन की मांग कर सकते हैं तथा उस अधिवेशन में साधारण बहुमत द्वारा आपातकाल को रद्द अथवा समाप्त किया जा सकता है।

हमारे देश में तीन बार राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की जा चुकी है। पहली बार 26 अक्टूबर 1962 को आपातकालीन घोषणा की गई थी जब चीन ने हमारी उत्तर-पूर्व की सीमाओं पर आक्रमण किया था। यह राष्ट्रीय संकट 10 जनवरी 1968 तक जारी रहा, हालांकि तनाव बहुत पहले ही समाप्त हो गया था।

दूसरी बार इसकी घोषणा दूसरे भारत–पाक युद्ध के समय 3 दिसंबर 1971 को की गई तथा यह 21 मार्च 1977 को समाप्त हुई। बाहरी आक्रमण के आधार पर यह आपातकाल चल ही रहा था, परंतु उसी समय 25 जून 1975 को तीसरी आपातकालीन घोषणा कर दी गई। यह घोषणा 'आंतरिक गड़बड़ी' के आधार पर की गई, जिसको लागू करने का कोई औचित्य नही था। क्योंकि सरकार के पास 1971 के दूसरे राष्ट्रीय आपातकाल की शक्तियां पहले से ही थीं, जो कि अभी जारी था।

(ii) राष्ट्रीय आपातकाल का प्रभाव

राष्ट्रीय संकट की घोषणा से व्यक्तियों के अधिकारों व राज्यों की स्वायत्तता पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है। जो कि इस प्रकार हैं:–

(क) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह है कि संघीय संविधान एकात्मक में बदल जाता है। केंद्र की सत्ता में वृद्धि हो जाती है। संसद को राज्य सूची में वर्णित विषयों पर भी संपूर्ण देश अथवा उसके किसी भाग के लिए कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

(ख) भारत के राष्ट्रपति, राज्यों को कार्यपालिका संबंधी शक्ति के प्रयोग के तरीके के बारे में, निर्देश दे सकता है।

(ग) इस काल में लोकसभा एक बार में अपने कार्यकाल में एक वर्ष तक की वृद्धि कर सकती है। परंतु, घोषणा का प्रभाव समाप्त होने पर छः महीने से अधिक की वृद्धि नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार राज्यों के विधानमंडलों का कार्यकाल भी बढ़ाया जा सकता है।

(घ) आपातकाल के दौरान राष्ट्रपति को, केंद्र व राज्यों के बीच राजस्व के बंटवारे से संबंधित प्रावधानों में फेर बदल करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

(ङ) अनुच्छेद 19 के अंतर्गत आने वाले मौलिक अधिकार, जिनके बारे में आप पहले पढ़ चुके है, स्वतः स्थगित हो जाते हैं। यह स्थगन आपातकाल की समाप्ति तक जारी रहता है। परंतु 44 वें संशोधन के अनुसार केवल युद्ध या बाहरी आक्रमण के आधार पर ही इन स्वतंत्रताओं को स्थगित किया जा सकता है।

(च) अनुच्छेद 20 तथा 21 को छोड़कर अन्य किसी मौलिक अधिकार को लागू करने के लिए न्यायालय की शरण में जाने की व्यक्ति की स्वतंत्रता को भी राष्ट्रपति स्थगित कर सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संकटकाल में केवल राज्यों की स्वायत्तता ही स्थगित नहीं होती है, बल्कि भारतीय संघीय संरचना भी एकात्मक ढांचे में बदल जाती है। परंतु फिर भी इसे आवश्यक ही माना जाता है, जिससे केंद्र सरकार को असामान्य स्थितियों का सामना करने के लिए पर्याप्त शक्तियां मिल सकें। परंतु 25 जून 1975 को घोषित राष्ट्रीय संकट के समय क्या हुआ? कुछ आलोचकों का कहना है कि इस काल में सत्ता का दुरूपयोग हुआ। लोकतांत्रिक परंपराओं का अतिक्रमण हुआ, विरोधी दलों के नेताओं को जेलों में बंद कर दिया गया, चुनाव टाल दिए गए, लोकसभा की अवधि बढ़ा दी गई तथा प्रेस का गला घोंट दिया गया।

सत्ता के इसी दुरूपयोग के आधार पर 1977 में जनता सरकार का गठन हुआ, तथा उसने वह संविधान संशोधन विधेयक पास कराया, जिसमे संकटकालीन शक्तियों के मनमाने प्रयोग के विरूद्ध अनेक प्रावधान हैं।

पाठगत प्रश्न 9.1

रिक्त स्थानों की पूर्ति नीचे दिए उचित शब्दों के द्वारा कीजिए :

1. आपातकाल की घोषणा केंद्र सरकार को ..... शक्तियां प्रदान करती है।
(अधिक/कम/समान)

2. राष्ट्रीय संकट की घोषणा अनुच्छेद ..... के अंतर्गत की जा सकती है।
(119, 232, 352)

3. इस दौरान लोकसभा अपनी अवधि, एक बार में .....तक बढ़ा सकती है। (एक वर्ष, तीन वर्ष, पाँच वर्ष)

4. कुल .....प्रकार के आपातकालीन होते हैं (एक, दो, तीन)

5. संकट काल के दौरान अनुच्छेद.....के अंतर्गत स्वतंत्रता के अधिकार को प्रतिबंधित किया जा सकता है। (19, 20, 21)

6. 25 जून 1975 को.....के आधार पर राष्ट्रीय संकट की घोषणा की गई। (वाह्य आक्रमण, आंतरिक गड़बड़ी, आर्थिक संकट)

7. राष्ट्रपति, राष्ट्रीय संकट की घोषणा कर सकते हैं यदि.....

   (अ) प्रधानमंत्री परामर्श दें

   (ब) मंत्रिमंडल परामर्श दें

   (स) वें स्वयं संतुष्ट हों।

8. संसद द्वारा पुष्टि हो जाने पर आपातकाल.....की अवधि तक प्रभावी रहता है। (छः मास, एक वर्ष, दो वर्ष)

9.4 राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता से उत्पन्न आपातकाल (अनुच्छेद 356)

यह केंद्र सरकार का कर्त्तव्य है कि वह सुनिश्चित करे कि प्रत्येक राज्य का प्रशासन संविधान के प्रावधानों के अनुसार चलाया जा रहा है। अनुच्छेद 356 के अंतर्गत भारत के राष्ट्रपति किसी राज्य में आपातकालीन घोषणा जारी कर सकते है, यदि वह राज्य के राज्यपाल की रिपोर्ट मिलने पर या किसी अन्य प्रकार से संतुष्ट हो जाएँ कि वहां ऐसी स्थिति हो गई है, जिसमें राज्य का प्रशासन विधिपूर्वक नहीं चलाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा कर राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता को रोकने का प्रयास किया जाता है। आम बोलचाल में इसे राष्ट्रपति शासन भी कहा जाता है।

राष्ट्रीय आपातकाल की तरह ऐसी घोषणा को भी संसद के दोनों सदनों के सामने दो महीने के अंदर पुष्टि के लिए प्रस्तुत करना अनिवार्य है, तथा ऐसा न करने पर वह स्वतः ही समाप्त हो जाती है। संसद द्वारा पास होने पर घोषणा एक बार में छः माह तक वैध रहती है। इसको अगले छः महीने के लिए और बढ़ाया जा सकता है, किंतु एक वर्ष से अधिक समय के लिए नहीं। परंतु इसको एक वर्ष से अधिक बढ़ाया जा सकता है यदिः (अ) राष्ट्रीय आपातकाल पहले से ही जारी हो (ब) चुनाव आयोग प्रमाणित करें कि राज्य विधानमंडल का चुनाव कराना संभव नहीं है।

इस प्रकार के आपातकाल को अधिकांश राज्यों में समय-समय पर अनेक बार लागू किया गया है। 1951 में पहली बार पंजाब राज्य में इस प्रकार का आपातकाल लागू किया गया था। 1957 में केरल राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। 1977 में पूरे नौ राज्यों को राष्ट्रपति शासन के अंतर्गत लाया गया। 1986 में उग्रवाद और विद्रोह के कारण जम्मू व कश्मीर में आपातकालीन

घोषणा की गई। कुल मिलाकर एक सौ बार से भी अधिक भिन्न-भिन्न राज्यों में एक अथवा दूसरे कारण से आपातकाल लागू हो चुका है।

(I) राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के प्रभाव

राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के कारण घोषित आपातकाल के निम्नलिखित प्रभाव होते हैं:

(क) राष्ट्रपति राज्य सरकार के सभी कार्यों अथवा किसी एक कार्य को अपने हाथ में ले सकता है, अथवा उनको राज्यपाल या किसी अन्य कार्यकारी अधिकारी को दे सकता है।

(ख) राष्ट्रपति राज्य विधानसभा को स्थगित अथवा भंग कर सकता है। वह संसद को राज्य विधानमंडल के स्थान पर कानून निर्माण के लिए प्राधिकृत कर सकता है।

(ग) घोषणा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रपति कोई अन्य आवश्यक प्रावधान भी लागू कर सकता है।

जिस प्रकार अनेक अवसरों पर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया है, उसने अनेक प्रश्नों को जन्म दिया है। वैसे, कई बार यह परिस्थिति की मांग थी। परंतु कई अवसरों पर राष्ट्रपति शासन केवल राजनैतिक आधार पर केंद्र से भिन्न राजनैतिक दल की सरकार को गिराने के लिए लागू किया गया। यद्यपि उस दल का विधान सभा में पूर्ण बहुमत था। विधान सभाओं को स्थगित अथवा भंग करने तथा अन्य राजनैतिक दलों को राज्यों में सरकारों के निर्माण का अवसर न देना केंद्रीय सरकार के पक्षपात पूर्ण व्यवहार के कारण हुआ है, जिसके लिए अनुच्छेद 356 का स्पष्टतया दुरुपयोग हुआ है।

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 अत्यधिक विवादग्रस्त रहा है। इसका अत्यधिक दुरुपयोग किया गया तथा यह अत्यधिक आलोचना ग्रस्त प्रावधान बन गया है। 44 वें संशोधन अधिनियम में दिए गए सुरक्षात्मक उपायों के बावजूद इस प्रावधान का, केंद्र सरकार पर दुरुपयोग किए जाने का आरोप लगाया गया है। इसी कारण, इस अनुच्छेद को संविधान में से हटाने अथवा इसके दुरुपयोग को समाप्त करने के प्रावधान बनाने की मांग सामने आई है। सरकारिया आयोग ने जो कि केंद्र-राज्य संबंधों का पुनर्निर्धारण करने के लिए नियुक्त किया गया था अनुच्छेद 356 को अंतिम हथियार के रूप में प्रयोग करने की सिफारिश की है। आयोग के सुझाव के अनुसार, राज्य विधानसभा को उस समय तक भंग न किया जाए, जब तक संसद आपातकाल की घोषणा को स्वीकृत न करे। इसने आगे सुझाव दिया कि केंद्र द्वारा राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के आधार पर आपातकाल की घोषणा से पहले वैकल्पिक सरकार निर्माण की सभी संभावनाओं की अच्छी तरह तलाश करना आवश्यक है।

पाठगत प्रश्न 9.2

कोष्ठक में दिए गए उचित शब्दों के द्वारा रिक्त स्थानों को भरिए :

1. राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के कारण आपातकाल की घोषणा अनुच्छेद .... के अंतर्गत होती है। (352, 356, 360)

2. संसद की स्वीकृति के बिना राज्य में राष्ट्रपति शासन ..... महीने तक जारी रह सकता है। (एक, दो, छः)

3. सरकारिया आयोग का ..... के लिए नियुक्त किया था।

   (अ) भारत के संविधान में संशोधन करने

   (ब) केंद्र-राज्य संबंधों पर पुनर्विचार करने

   (स) अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग रोकने

4. राज्य में राष्ट्रपति शासन को अधिकतम ..... की अवधि के लिए बढ़ाया जा सकता है। (1 वर्ष, 2 वर्ष, 3 वर्ष)

5. राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के कारण संकट की घोषणा ..... के परामर्श पर की जाती है। (मुख्यमंत्री, विधानसभा के अध्यक्ष, राज्यपाल)

6. संसद, राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की स्वीकृति, एक बार में ..... के लिए दे सकती है। (तीन महीने, छः महीने नौ महीने)

7. किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन की अधिकतम अवधि ..... वर्ष होती है । (3, 4, 5)

9.5 वित्तीय संकट (अनुच्छेद 360)

तीसरे प्रकार का आपातकाल अनुच्छेद 360 में वर्णित वित्तीय संकट कहलाता है। इसके अनुसार यदि राष्ट्रपति संतुष्ट हो जाए कि भारत अथवा इसके किसी भाग की वित्तीय स्थिरता या साख को खतरा है तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। अन्य दो प्रकार के आपातकाल की भांति, इसको भी लागू होने के दो मास के अंदर संसद की स्वीकृति मिलना आवश्यक है। जब तक स्थिति में सुधार न हो, तब तक संकटकाल जारी रह सकता है तथा इसको बाद में घोषणा द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

9.5.1 वित्तीय संकट के प्रभाव

वित्तीय संकट की घोषणा के निम्नलिखित प्रभाव हो सकते है:

(अ) केंद्र सरकार किसी भी राज्य को वित्तीय मामलों से संबंधित निर्देश दे सकती है।

(ब) राष्ट्रपति राज्यों को, सरकारी सेवाओं में लगे सभी वर्गों या किसी एक वर्ग के कर्मचारियों के वेतनों व भत्तों के कटौती करने का आदेश दे सकता है।

(स) राष्ट्रपति राज्यों को, राज्य विधानमंडलों द्वारा पारित होने के पश्चात सभी धन विधेयकों को संसद के विचारार्थ सुरक्षित रखने को कह सकता है।

(द) राष्ट्रपति केंद्र सरकार के कर्मचारियों, जिनमें सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश भी शामिल हैं, के वेतनों व भत्तों में कटौती के आदेश जारी कर सकते हैं।

पाठगत प्रश्न 9.3

कोष्ठक में दिए गए उचित शब्दों के द्वारा रिक्त स्थानों को भरिए :

1. अनुच्छेद..... वित्तीय संकट के प्रावधानों के बारे में है।
(352, 356, 360)

2. हमारे देश में ..... वित्तीय संकट लागू किया गया है।
(एक बार, दो बार, कभी नहीं)

3. वित्तीय संकट एक बार में..... की अवधि के लिए लागू किया जा सकता है।

4. वित्तीय संकट को लागू होने के ..... के अंदर संसद द्वारा स्वीकृत किया जाना अनिवार्य है। (एक मास, दो मास, तीन मास)

5. वित्तीय संकट में राष्ट्रपति..... के वेतनों व भत्तों में कटौती के आदेश दे सकता हैं (सरकारी कर्मचारी, निजी व्यापारी, दोनों श्रेणियों)

9.6 आपने क्या सीखा

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को कुछ असामान्य परिस्थितियों में देश की सुरक्षा, अंखडता व स्थायित्व की रक्षा के लिए असाधारण शक्तियां प्रदान की गई हैं। इसके लिए तीन प्रकार के आपातकाल होते हैं, जिनकी घोषणा राष्ट्रपति केंद्रीय मंत्रिमंडल के लिखित परामर्श पर कर सकता है। ये तीन प्रकार के संकट इस प्रकार हैं:

(अ) राष्ट्रीय आपातकाल (अनुच्छेद 352)

(ब) राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता से उत्पन्न आपातकाल (अनुच्छेद 356)

(स) वित्तीय संकट (अनुच्छेद 360)

अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राष्ट्रीय आपातकाल अब तक तीन बार घोषित हो चुका है। चीन द्वारा आक्रमण करने पर 26 अक्टूबर 1962 से 10 जनवरी 1968 तक पाकिस्तान द्वारा आक्रमण के कारण 3 दिसम्बर 1971 से 21 मार्च 1977 तक तथा आंतरिक उपद्रव की आशंका के आधार पर केवल एक बार लागू किया गया। इस संकट की घोषणा 25 जून 1975 को की गई थी। संवैधानिक तंत्र की विफलता से उत्पन्न आपातकाल की घोषणा कभी न कभी प्रायः सभी राज्यों में हो चुकी है। परंतु वित्तीय संकट अभी तक घोषित नही हुआ है।

आपातकाल लागू होने के बाद नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रभाव पडता है। यह राज्य सरकारों की स्वायत्तता को भी प्रभावित करता है। केंद्र सरकार की शक्तियां बढ़ जाती हैं तथा वह राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है। केंद्र राज्य सरकारों को निर्देश जारी करता है। संविधान का संघीय स्वरूप वास्तविक रूप में एकात्मक हो जाता है। यहां तक कि, राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा के दौरान संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार भी स्थगित रहते हैं।

अनुच्छेद 356 के अतर्गत दूसरे प्रकार का आपातकाल सर्वाधिक लागू किया गया है। इसके दौरान

कोई राज्य राष्ट्रपति शासन के अंतर्गत आ जाता है। यदि वहां के निर्वाचित प्रतिनिधि राज्य की सरकार संविधान के अनुसार बनाने या चलाने में असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार के संकट का सर्वाधिक दुरूपयोग हुआ है। जिस कारण अनेक लोगों ने इसकी अत्यधिक आलोचना की है।

तीसरे प्रकार का आपातकाल वित्तीय संकट है, जो कि अभी तक हमारे देश में घोषित नहीं किया गया है। इस प्रकार के आपातकाल में भारत के राष्ट्रपति केंद्र व राज्य सरकारों को न्यायाधीशों सहित अपने कर्मचारियों के वेतनों व भत्तों में कटौती के आदेश जारी कर सकता है। इस प्रकार के संकट की घोषणा का उद्देश्य वित्तीय कठिनाइयों को हल करना है।

प्रत्येक प्रकार के संकट की घोषणा राष्ट्रपति केंद्रीय मंत्रिमंडल के लिखित परामर्श पर करता है ऐसी घोषणा का संसद के दोनों सदनों द्वारा एक महीने के अंदर स्वीकृत करना अनिवार्य है। यदि यह राष्ट्रीय आपातकाल है तथा अन्य दो प्रकार के संकटों के लिए लागू करने को यदि संसद स्वीकृति दे देती है तो ये घोषणा की तिथि से छः माह तक जारी रहती है। यदि इसे छह माह से आगे बढ़ाना है तो इसके लिए संसद को फिर से प्रस्ताव पास करना होगा। वित्तीय संकट के मामले में एक बार घोषणा होने पर इसको जितने समय तक आवश्यक हो, उतने समय के लिए जारी रखा जा सकता है।

आपातकालीन प्रावधान राष्ट्रपति को असामान्य व असाधारण स्थितियों का सामना करने के लिए विस्तृत शक्तियां प्रदान करते है। इन शक्तियों का दुरुपयोग लोकतंत्र को आसानी से पंगु बना सकता है। परंतु गत 47 वर्षों के संविधान की वास्तविक कार्यप्रणाली ने यह दिखा दिया है कि आमतौर पर आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग देश हित में ही हुआ है। केवल कुछ मामलों को छोड़कर, जिनमें राजनैतिक कारणों से आपातकाल की घोषणा लागू की गई। कुछ राज्यों में आपातकालीन प्रावधानों के दुरुपयोग के बावजूद, आम सहमति यह है कि भारत की वर्तमान परिस्थितियों में आपातकालीन प्रावधानों की भूमिका सार्थक है।

पाठांत प्रश्न

1. भारत के संविधान में वर्णित आपातकालीन प्रावधानों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
2. राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा नागरिकों के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती है?
3. किन परिस्थितियों में किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है?
4. राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राज्य सरकार की कार्यकारी और वैधानिक शक्तियां किस प्रकार प्रयुक्त होती हैं?
5. वित्तीय संकट के प्रभावों का वर्णन कीजिए।
6. सरकारिया आयोग की सिफारिशों का, अनुच्छेद 356 के अंतर्गत आपातकालीन प्रावधानों के दुरुपयोग के विरुद्ध उपायों के रूप में संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

9.1 1. अधिक

2. 352

3. एक वर्ष

4. तीन

5. 19

6. आंतरिक विद्रोह

7. (ब)

8. 6 मास

9.2 1. अनुच्छेद 356

2. 2 मास

3. (अ)

4. एक वर्ष

5. राज्यपाल

6. छह वर्ष

7. 3 वर्ष

9.3 1. अनुच्छेद 356

2. कभी नहीं

3. इच्छित अवधि

4. दो मास

5. सरकारी कर्मचारी

9.10 पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. देखें उपखंड 9, 31, 9, 32, 9, 33
2. देखें उपखंड 9.3.2
3. देखें उपखंड 3.2 का प्रथम गद्यांश
4. देखें उपखंड 9.4.1
5. देखें उपखंड 9.33
6. देखें उपखंड 9.33 का अंतिम गद्यांश

10

कार्यपालिका : राष्ट्रपति तथा राज्यपाल

10.1 भूमिका

पांचवें पाठ में आप यह तो पढ़ ही चुके हैं कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली की स्थापना की गई है। संसदीय शासन प्रणाली में, कार्यपालिका के दो रूप होते हैं : नाममात्र कार्यपालिका तथा वास्तविक कार्यपालिका। नाममात्र कार्यपालिका में शक्तियों का प्रयोग तो राज्य के प्रमुख के नाम से होता है परन्तु वह स्वयं इन शक्तियों का प्रयोग नहीं करता। वास्तविक कार्यपालिका के पास संविधान के अनुसार उसके नाम से कोई शक्तियां नहीं होतीं परन्तु नाममात्र कार्यपालिका की सभी शक्तियों का प्रयोग वास्तव में वही करती है। भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की या संवैधानिक कार्यपालिका है क्योंकि संविधान के अनुसार संघ सरकार की सभी कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां राष्ट्रपति को प्रदान की गई हैं जबकि प्रधानमन्त्री सहित मन्त्रिपरिषद ही वास्तविक कार्यपालिका का कार्य करता है क्योंकि राष्ट्रपति अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद की सहायता एवं परामर्श से करता है। संसदीय शासन प्रणाली में सभी मन्त्री न केवल विधायिका से लिए जाते हैं बल्कि उसके प्रति उत्तरदायी भी होते हैं। भारत में मन्त्रिपरिषद, जो हमारी वास्तविक कार्यपालिका है, का गठन संसद से ही किया जाता है और वह संसद के निचले सदन अर्थात् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है।

भारतीय संघात्मक शासन प्रणाली में राज्य स्तरीय कार्यपालिका का गठन संघीय ढांचे के अनुरूप होता है। जिसमें राज्यपाल नाममात्र या संवैधानिक कार्यपालिका होता है जबकि मुख्यमन्त्री के नेतृत्व में राज्य मन्त्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका। संघीय स्तर की तरह, राज्य मंत्रिपरिषद विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है।

केन्द्र में राष्ट्रपति का पद और राज्यों में राज्यपाल का पद एक प्रभावशाली तथा प्रतिष्ठित पद है। भारत के राष्ट्रपति एव राज्यों के राज्यपालों को अपने कार्यकाल में अनेक विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियां प्राप्त होती हैं।

10.2 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के पश्चात आप :

- राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएं एवं निर्वाचन-प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।
- राष्ट्रपति को प्राप्त विशेषाधिकार, उन्मुक्तियां एवं अपदस्थ करने की विधि का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- राष्ट्रपति की कार्यपालिका, विधायी एवं वित्तीय शक्तियों को समझ सकेंगे तथा इस तथ्य की पहचान कर सकेंगे कि राष्ट्रपति की सभी शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद द्वारा किया जाता है।
- यह जान पाएंगे कि राष्ट्रपति को राज्याध्यक्ष के रूप में क्षमादान करने जैसे कई विशिष्ट विशेषाधिकार प्राप्त हैं।
- संसदीय प्रणाली में सांविधानिक प्रमुख के महत्व का मूल्यांकन कर सकेंगे।

- इस बात को जान सकेंगे कि राष्ट्रपति राष्ट्र की राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है।
- यह तथ्य जान जाएंगे कि राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त है कि सरकार उसकी सलाह ले तथा वह सरकार को प्रेरित कर सके अथवा चेतावनी दे सके।
- भारत की राजनीतिक व्यवस्था में उपराष्ट्रपति की भूमिका को समझ सकेंगे।
- यह वर्णन कर सकेंगे कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है तथा राज्यपाल की योग्यताएं, कार्यकाल, वेतन-भत्ते तथा विशेषाधिकारों का अध्ययन कर सकेंगे।
- राज्यपाल की कार्यपालिका, विधायी, वित्तीय एवं स्वविवेक की शक्तियों की पहचान कर सकेंगे तथा उन्हें समझा सकेंगे।

10.3 राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएं एवं निर्वाचन

भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है इस पद के लिए कुछ आवश्यक योग्यताएं निर्धारित की गई हैं, जो इस प्रकार हैं :

(क) वह भारत का नागरिक हो।

(ख) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(ग) वह लोकसभा का सदस्य बनने की योग्यताएं रखता हो।

(घ) वह किसी लाभकारी पद पर आसीन न हो अर्थात राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी को सरकारी कर्मचारी नहीं होना चाहिए। इस संदर्भ में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल तथा केन्द्र या राज्यों में मन्त्री के पद को लाभ का पद नहीं माना जाता।

> राष्ट्रपति पद के प्रत्येक प्रत्याशी के लिए यह आवश्यक है कि लोकसभा का सदस्य बनने की योग्यताएं रखता हो, चाहे वह लोकसभा का सदस्य हो या न हो।

10.3.1 निर्वाचन प्रक्रिया

भारत एक गणराज्य है। इसका अर्थ यह है कि राज्य के प्रमुख अर्थात राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता है परन्तु यह निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से होता है। अप्रत्यक्ष इसलिए क्योंकि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल द्वारा होता है। यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के द्वारा किया जाता है जिसका विस्तृत वर्णन पाठ संख्या 17 में किया गया है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की विस्तृत प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार है। इस निर्वाचन के निर्वाचक मंडल में दो प्रकार के मतदाता होते हैं। ये हैं :

(क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य अर्थात लोकसभा तथा राज्यसभा के सभी निर्वाचित सदस्य;

(ख) सभी राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य। किसी भी विधायिका या व्यवस्थापिका के मनोनीत सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने के अधिकारी नहीं होते। राज्य विधानपरिषदों के सदस्य भी इस निर्वाचक मण्डल के सदस्य नहीं होते।

संविधान निर्माताओं ने विचार किया और यह संविधान में जोड़ा भी गया है कि :

(i) जहां तक सम्भव हो इस निर्वाचन में विभिन्न राज्यों में प्रतिनिधित्व की एकरूपता होनी चाहिए;

(ii) एक और केन्द्र तथा दूसरी ओर समस्त राज्यों के मत समान होने चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रपति अपने चुनाव के माध्यम से सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधित्व करेगा न कि केवल केन्द्र का या केवल राज्यों का।

वास्तव में राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल का प्रत्येक सदस्य केवल एक मत का प्रयोग करता है परन्तु इस एक मत का मूल्य कई मतों के मूल्य के समान होता है।

संसद के निर्वाचित सदस्यों एवं सभी राज्यों की विधानसभाओं के समस्त निर्वाचित सदस्यों के मतों में समानता स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम राज्य विधानसभाओं के प्रत्येक सदस्य का मूल्य नीचे दिए गए सूत्र के अनुसार निर्धारित किया जाता है और फिर एक अन्य सूत्र के द्वारा संसद के प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या निर्धारित की जाती है। जब संसद सदस्यों के मतों की कुल संख्या विधानसभाओं के समस्त सदस्यों के मतों के समान हों, तो दोनों के मतों के मूल्य में भी समानता स्थापित हो जाती है। संसद के सभी मतों की संख्या को संसद सदस्यों की संख्या से भाग देने पर हमें प्रत्येक सांसद के मत का मूल्य प्राप्त हो जाता है। यदि भाग देने पर शेष भाजक संख्या के आधे से कम हो तो भागफल में कुछ नहीं जोड़ा जाता परन्तु शेष के आधे से अधिक होने पर भागफल में एक जोड़ दिया जाता है।

आइए, राष्ट्रपति के निर्वाचन में मतगणना की विधि इस प्रकार समझने का प्रयास करें।

सूत्र I

$$= \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधानसभा की कुल सदस्य संख्या}} \div 1000$$

मान लीजिए, उत्तर प्रदेश की जनसंख्या 8,83,41,444 है और वहां की विधानसभा के कुल सदस्य संख्या 425 है तो वहां के एक सदस्य के मतों की संख्या होगी :

$$\frac{8,83,41,444}{425} \div 1000 = 208$$

इस प्रकार, उत्तर प्रदेश के प्रत्येक विधायक के मत का मूल्य 208 होगा। ऊपर के सूत्र में भागफल को 1000 से इसलिए भाग दिया जाता है ताकि अन्तिम राशि और भी सरल तथा छोटी हो जाए।

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर प्रदेश की विधानसभा के प्रत्येक सदस्य के एक मत की गणना 208 के आधार पर की जाएगी और वहां के सभी 425 सदस्यों द्वारा दिए गए मतों का मूल्य 208 x 425 = 88400 होगा।

इस सूत्र से हम बड़ी सरलता से किसी भी विधानसभा के एक सदस्य के मतों की संख्या निकाल सकते हैं और तत्पश्चात् विभिन्न विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा डाले गए कुल मतों की संख्या ज्ञात कर सकते हैं। यदि हम सभी राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के कुल मतों का योग करते हैं तो हमें स्पष्ट पता लग जाता है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्यों द्वारा कुल कितने मत डाले गए हैं। 1992 में राष्ट्रपति पद के चुनाव में राज्य विधानसभाओं द्वारा कुल 5,44,971 मत डाले गए थे। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक राज्य के सभी विधायकों की मत संख्या सदैव समान होती है परन्तु अलग-अलग राज्यों में विधायकों की मत संख्या अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए, यदि उत्तर प्रदेश के एक विधायक की मत संख्या 208 है तो वहां के सभी विधायकों की मत संख्या 208 ही होगी। इसी प्रकार यदि उड़ीसा के एक विधायक की मत संख्या 110 है तो बाकी सभी की भी 110 ही होगी। इसलिए किसी राज्य के विधायक के मतों की संख्या उस राज्य की जनसंख्या पर निर्भर करती है। किसी राज्य की जनसंख्या जितनी अधिक होगी, उतनी ही वहां के मतों की संख्या भी अधिक होगी।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में यदि निर्वाचक मण्डल का एक भाग राज्य विधानसभा के सभी निर्वाचित सदस्यों वाला है तो दूसरा भाग संसद के सभी निर्वाचित सदस्यों से बनता है। राज्य विधानसभाओं के सभी मतों की संख्या के समान मत संसद सदस्यों को दे दिए जाते हैं। प्रत्येक सांसद के कुल मतों की संख्या का निर्धारण इस प्रकार होता है :

सूत्र II

$$\text{एक संसद सदस्य के कुल मत} = \frac{\text{संसद सदस्यों को दिए गए कुल मतों की संख्या}}{\text{संसद के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या}}$$

1992 में राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्यों की विधानसभाओं के सभी निर्वाचित सदस्यों द्वारा डाले गए मतों की संख्या थी 5,44,971 इसलिए संसद के सभी निर्वाचित सदस्यों के मतों की संख्या भी उतनी ही अर्थात् 5,44,971 हुई जबकि कुल निर्वाचित सांसद थे 776 इस प्रकार प्रत्येक निर्वाचित सांसद के कुल मतों की संख्या इस प्रकार निकाली गई :

$$= \frac{5,44,971}{776} = 702 \text{ मत}$$

राष्ट्रपति का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा होता है। इस प्रणाली में प्रत्येक मतदाता का मत तो एक होता है परन्तु यह एक मत कई मतों के समान है क्योंकि प्रत्येक मतदाता को अपना मत दूसरे के नाम हस्तांतरित करने का अधिकार होता है। इसलिए वह मतपत्र पर अपनी पसन्द इंगित कर सकता है।

> एकल संक्रमणीय (हस्तांतरणीय) मत प्रणाली उसे कहते हैं जिसमें प्रत्येक मतदाता का केवल एक मत होता है परन्तु वह मतपत्र पर 1,2,3, ... और इसी प्रकार अन्य अंक अपनी पसंद के क्रम में लिखकर अपनी पसन्द इंगित कर सकता है। मत को संक्रमणीय या हस्तांतरणीय इसलिए कहा जाता है क्योंकि यदि किसी की पहली पसन्द का प्रत्याशी कम मत होने के कारण हार रहा हो तो उसका मत दूसरी पसन्द के आधार पर दूसरे प्रत्याशी को दे दिया जाएगा।

10.3.2 राष्ट्रपति का निर्वाचन

मतदाताओं के मतों का मूल्य निर्धारित होने तथा मतदान हो जाने के पश्चात, किसी प्रत्याशी को विजयी घोषित करने के लिए न्यूनतम अंक का निर्धारण निम्न सूत्र द्वारा किया जाता है :

$$\text{न्यूनतम संख्या} = \frac{\text{कुल डाले गए मत} + 1}{\text{चुने जाने वाले प्रत्याशियों की संख्या} + 1}$$

उदाहरण के लिए, यदि राष्ट्रपति के निर्वाचन में डाले गए कुल मतों की संख्या 20,000 है, तो न्यूनतम अंक का निर्धारण इस प्रकार किया जाएगा।

$$\text{न्यूनतम संख्या} = \frac{20,000}{1+1} + 1$$

$$= \frac{20,000}{2} + 1 = 10,001$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में प्रक्रिया एवं परिणाम की घोषणा को और स्पष्ट समझने के लिए हम एक और उदाहरण लेते हैं :

मान लीजिए, राष्ट्रपति पद के लिए चार प्रत्याशी हैं क, ख, ग, और घ। चुनाव में कुल 20,000 मत डाले गए। मतदाताओं की पहली पसन्द के आधार पर जो आंकड़े मिले वे इस प्रकार हैं :

क	8000
ख	6000

ग 4000

घ 2000

प्रथम गणना में किसी भी प्रत्याशी को जीतने के लिए आवश्यक न्यूनतम अंक नहीं मिले क्योंकि यह वांछित संख्या 10,001 है, इसलिए न्यूनतम मत प्राप्तकर्ता 'घ' का नाम हटा दिए जाने के पश्चात द्वितीय गणना प्रारम्भ होती है। 'घ' को प्राप्त 2000 प्रथम पसन्द के मतपत्रों में द्वितीय पसन्द इस प्रकार दशाई गई :

क 1000

ख 600

ग 400

इन मतों का हस्तांतरण क, ख और ग में करने के पश्चात मतों की स्थिति इस प्रकार है :

क = 8000 +1000 = 9000

ख = 6000 + 600 = 6600

ग = 4000 + 400 = 4400

इस स्थिति में भी किसी प्रत्याशी को निश्चित न्यूनतम अंक प्राप्त नहीं हुए। इसलिए क, ख और ग तीनों में से न्यूनतम अंक प्राप्तकर्ता 'ग' का नाम हटा दिए जाने के पश्चात उसके मतों का हस्तांतरण निम्नलिखित तरीके से किया जाएगा और फिर तीसरी गणना प्रारम्भ होगी।

क = 1600

ख = 2800

'ग' के मत क और ख को मिलाने के पश्चात, परिणाम इस प्रकार है :

क = 9000 +1600 = 10,600

ख = 6600 +2800 = 9400

अब 'क' के मत न्यूनतम संख्या 10,001 से अधिक है इसलिए उसे विजयी घोषित कर दिया जाता है।

भारत के राष्ट्रपति

26 जनवरी, 1950 को भारत के गणराज्य घोषित होने पर, संविधान निर्मात्री सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को सर्वसम्मति से भारत का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। 1952 में जब राष्ट्रपति पद का निर्वाचन हुआ तो वे पुनः इस पद के लिए निर्वाचित हुए। अब तक निर्वाचित होने वाले राष्ट्रपतियों के नाम तथा कार्यकाल इस प्रकार हैं :

1.	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	:	26.1.1950	से	13.5.1962	
2.	डॉ. सर्वपल्ली राधा कृष्णन	:	13.5.1962	से	13.5.1967	
3.	डॉ. जाकिर हुसैन	:	13.5.1967	से	3.5.1969	(मृत्यु)
4.	वी. वी. गिरि	:	3.5.1969	से	20.7.1969	(कार्यवाहक)
5.	एम. हिदायतुल्ला	:	20.7.1969	से	24.8.1969	(कार्यवाहक)
6.	वी. वी. गिरि	:	24.8.1969	से	24.8.1974	
7.	फकरुद्दीन अली अहमद	:	24.8.1974	से	11.2.1977	(मृत्यु)
8.	बी. डी. जत्ती	:	11.2.1977	से	25.7.1977	(कार्यवाहक)

9.	नीलम संजीव रेड्डी	:	25.7.1977	से	25.7.1982
10.	ज्ञानी जैल सिंह	:	25.7.1982	से	25.7.1987
11.	आर वैंकट रमन	:	25.7.1987	से	24.7.1992
12.	डॉ. शंकर दयाल शर्मा	:	25.7.1992	से	24.7.1997
13.	के. आर. नारायणन	:	25.7.1997	से	24.7.2002
14.	डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम	:	25.7.2002	से	.....

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

डॉ. सर्वपल्ली राधा कृष्णन

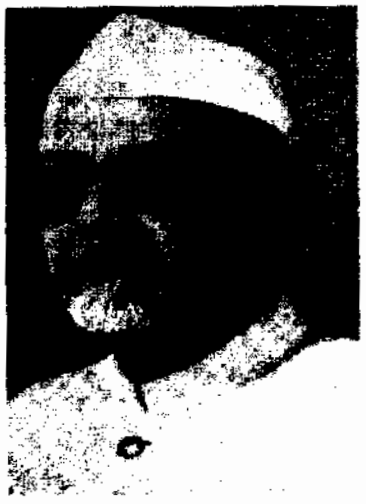

डॉ. जाकिर हुसैन

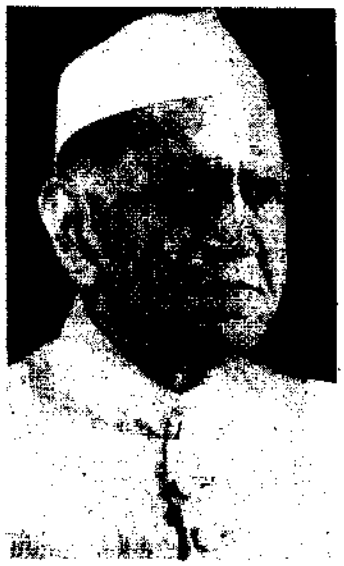

फकरुद्दीन अली अहमद

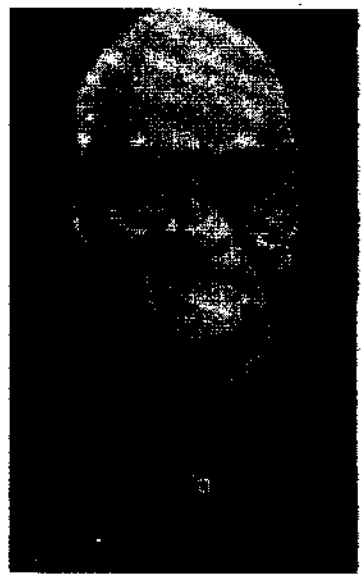

वी. वी. गिरि

नीलम संजीव रेड्डी

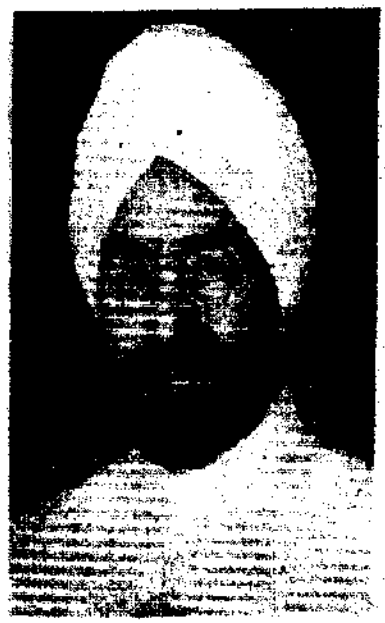

ज्ञानी जैल सिंह

आर वैंकट रमन

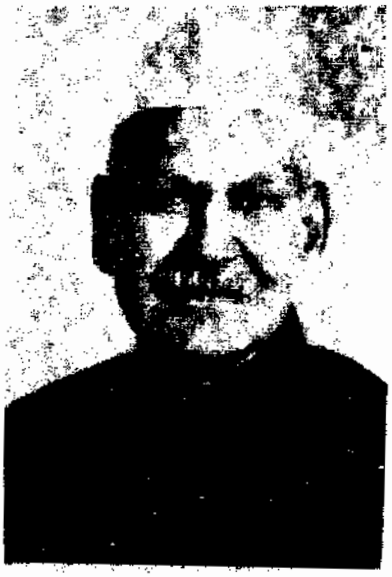

डॉ. शंकर दयाल शर्मा

के. आर. नारायणन

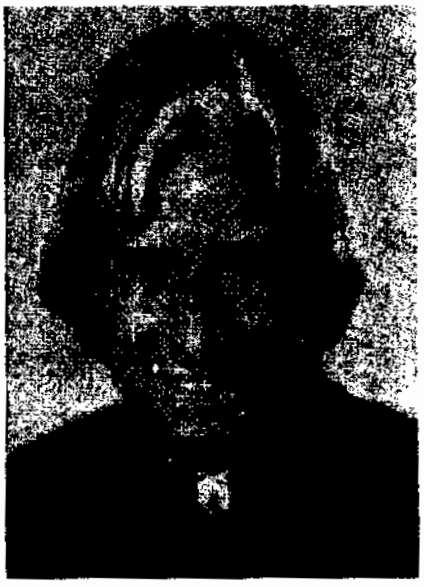

डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम

10.1 पाठगत प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. राष्ट्रपति पद के लिए न्यूनतम आयु .....वर्ष है।
   (25, 30, 35)

2. राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी में ..... का सदस्य चुने जाने की योग्यता होनी चाहिए।
   (लोकसभा/विधानसभा/राज्यसभा)

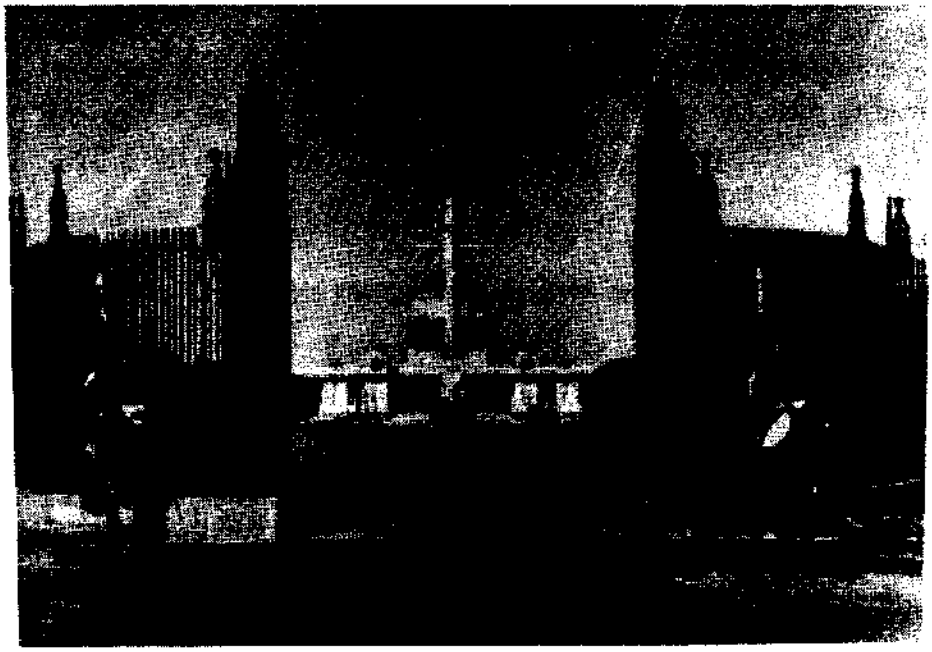

चित्र 10.2 राष्ट्रपति भवन

10.4 राष्ट्रपति : विशेषाधिकार, कार्यकाल और महाभियोग

भारत के राष्ट्रपति को भत्ते तथा अन्य सुविधाएं दिए जाने की व्यवस्था है जो समय-समय पर संसद द्वारा निश्चित किए जाते हैं। 1998 में पारित एक अधिनियम के अनुसार राष्ट्रपति का मासिक वेतन50,000 रुपयेहै। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात राष्ट्रपति को पेंशन के रूप में तथा निजी सचिवालय के लिए 30,0000 रुपये प्रति वर्ष दिए जाते हैं। राष्ट्रपति के रहने के लिए निःशुल्क राष्ट्रपति भवन की व्यवस्था है। सेवानिवृत्त राष्ट्रपति को निःशुल्क चिकित्सा सेवा भी उपलब्ध है।

10.4.1 विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियां

राष्ट्रपति को प्राप्त विशेषाधिकार व उन्मुक्तियां इस प्रकार हैं :

(क) वह अपने कार्यों के लिए किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

(ख) राष्ट्रपति को उसके कार्यकाल में बन्दी नहीं बनाया जा सकता और न ही उसके विरुद्ध किसी प्रकार की फौजदारी कार्यवाही की जा सकती है।

(ग) राष्ट्रपति पर कोई दीवानी मुकदमा चलाने के लिए कम से कम दो मास का नोटिस दिया जाना आवश्यक है।

(घ) राष्ट्रपति के कार्यकाल में उसे किसी भी न्यायालय में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

10.4.2 राष्ट्रपति द्वारा पद की शपथ

अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति को अपने पद की शपथ लेनी पड़ती है। यह शपथ सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा तथा उसकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश द्वारा दिलवाई जाती है। इसमें राष्ट्रपति संविधान एवं विधि की रक्षा तथा भारत की जनता की सेवा करने की शपथ लेता है।

10.4.3 कार्यकाल

राष्ट्रपति का कार्यकाल पद ग्रहण करने की तिथि से पांच वर्ष होता है। इस काल की समाप्ति पर वह पुन: इस पद के लिए चुनाव लड़ सकता है, यद्यपि स्थापित परम्परा के अनुसार वह तीसरी बार इस पद के लिए चुनाव नहीं लड़ता। यदि राष्ट्रपति अपना कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व त्यागपत्र दे या उसकी मृत्यु के कारण पद रिक्त हो जाए, तो उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति का कार्यभार सम्भालता है और छह महीने के अन्दर नए राष्ट्रपति का चुनाव अनिवार्य रूप से कर दिया जाता है।

राष्ट्रपति को उसके पद से महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।

10.4.4 राष्ट्रपति को अपदस्थ करने की विधि

राष्ट्रपति को उसका कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व केवल महाभियोग द्वारा ही हटाया जा सकता है

महाभियोग का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में रखा जा सकता है। इस प्रस्ताव की सूचना कम से कम 14 दिन पूर्व अवश्य दी जानी चाहिए और इस पर सम्बद्ध सदन से कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए। इस तरह का प्रस्ताव जिसमें राष्ट्रपति के विरुद्ध संविधान के अतिक्रमण का आरोप हो कम से कम उस सदन के दो तिहाई सदस्यों द्वारा पारित किया जाना चाहिए। इसके पश्चात दूसरा सदन इन आरोपों की जांच करता है।

दूसरा सदन इन आरोपों की जांच करने हेतु एक न्यायालय के रूप में कार्य करता है। इस अवसर पर राष्ट्रपति स्वयं या अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा अपने को निर्दोष साबित करने के लिए उपस्थित होकर सफाई पेश कर सकता है। यदि प्रस्ताव कम से कम दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाए तो उसी समय से राष्ट्रपति पद मुक्त हो जाता है।

> महाभियोग एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा उच्च पद पर आसीन किसी लोक सेवक, जैसे भारत का राष्ट्रपति, को संविधान का अतिक्रमण करने के कारण अपने पद से मुक्त किया जा सकता है।

10.4 पाठगत प्रश्न

नीचे दिए गए विकल्पों में से सही उत्तर चुनों तथा रिक्त स्थानों की पूर्ति करो।

1. संसद द्वारा पारित 1998 के अधिनियम के अनुसार भारत के राष्ट्रपति को .....रुपए मासिक वेतन मिलता है।

   (क) 30,000 रुपये

   (ख) 40,000 रुपये

   (ग) 50,000 रुपये

   (घ) 60,000 रुपये

2. 1990 के अधिनियम के अनुसार सेवानिवृत्त होने पर भारत के राष्ट्रपति की वार्षिक पेंशन ..... रुपए है।

   (अ) 1,20,000 रुपए

   (ब) 1,80,000 रुपए

(स) 2,40,000 रुपए

(द) 3,00,000 रुपए

3. भारत के राष्ट्रपति का कार्यकाल ..... है।

(क) चार वर्ष

(ख) पांच वर्ष

(ग) छह वर्ष

(घ) सात वर्ष

4. जब राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता है तो ..... कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है।

(क) भारत का प्रधानमन्त्री

(ख) सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश

(ग) उपराष्ट्रपति

(घ) लोकसभा का अध्यक्ष

5. राष्ट्रपति को पदमुक्त करने के लिए महाभियोग का प्रस्ताव ..... द्वारा प्रस्तावित किया जाता है।

(अ) लोकसभा

(ब) राज्यसभा

(स) संसद के दोनों सदनों में से किसी एक

(द) चार विधानसभाओं

10.5 राष्ट्रपति : शक्तियां, कार्य एवं स्थिति

शक्तियां एवं कार्य

भारत के राष्ट्रपति को अनेक शक्तियां प्राप्त हैं जिनके आधार पर वह कई प्रकार के कार्य करता है। इन सभी शक्तियों तथा कार्यों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

10.5.1 कार्यपालिका संबंधी शक्तियां

1. राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता है और तत्पश्चात प्रधानमन्त्री की सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है।

2. वह मन्त्रियों के बीच उनके विभागों का वितरण करता है।

3. वह सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की भी नियुक्ति करता है। किन्तु सभी न्यायिक नियुक्तियां करते समय वह सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करता है।

4. वह भारत के महान्यायवादी एवं महालेखापरीक्षक की भी नियुक्ति करता है।

5. राज्यों के राज्यपाल, उपराज्यपाल, मुख्य आयुक्त तथा केन्द्रशासित क्षेत्रों के प्रशासक राष्ट्रपति के द्वारा ही नियुक्त किए जाते हैं।

6. वह विभिन्न आयोगों के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति करता है जैसे वित्त आयोग, संघ लोक सेवा आयोग आदि। वह मुख्य निर्वाचन आयुक्त सहित अन्य चुनाव आयुक्तों की भी नियुक्ति करता है।

7. राज्याध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति राजदूतों, उच्च आयुक्तों तथा अन्य राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति करता है तथा दूसरे देशों के राजदूतों, उच्चायुक्तों तथा अन्य कूटनीतिक प्रतिनिधियों का स्वागत करता है। सभी अन्तर्राष्ट्रीय संधियां एवं समझौते उसी के नाम से होते हैं।

8. भारत का राष्ट्रपति देश की सेना का प्रधान सेनापति होता है तथा थल, जल, और वायु सेना अध्यक्षों की नियुक्ति करता है। प्रधान सेनापति होने के नाते वह किसी देश के साथ युद्ध की घोषणा तथा शान्ति संधि कर सकता है।

राष्ट्रपति को अपनी शक्तियों तथा कार्यों के निर्वहन में प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद द्वारा सहायता तथा परामर्श मिलता रहता है। इस प्रकार उसकी शक्तियां मन्त्रिपरिषद की शक्तियां बन जाती हैं। वह तो केवल सांविधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करता है जबकि मन्त्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका का कार्य करती है और सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

10.5.2 विधायी शक्तियां

भारत के राष्ट्रपति की विधायी शक्तियां इस प्रकार हैं :

1. राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों अथवा उनमें से किसी भी एक सदन को अधिवेशन के लिए आमन्त्रित कर सकता है या उनकी बैठक स्थगित कर सकता है परन्तु किन्ही भी दो सत्रों के बीच का अन्तराल छह महीने से अधिक नहीं होना चाहिए। राष्ट्रपति लोकसभा की अवधि समाप्त होने से पूर्व भी लोकसभा भंग कर सकता है।

2. साधारण विधेयक संबंधी गतिरोध की स्थिति में राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है।

3. वह प्रत्येक वर्ष होने वाली संसद के दोनों सदनों की प्रथम बैठक एवं आम चुनाव के बाद होने वाली संसद की प्रथम बैठक को सम्बोधित करता है।

4. राष्ट्रपति संसद को संदेश भेज सकता है, किन्तु संविधान बनने के उपरान्त लगभग 40 वर्ष के काल में न तो राष्ट्रपति ने कोई ऐसा सन्देश भेजा है और न ही उपरोक्त अवसरों के अतिरिक्त किसी अन्य अवसर पर संसद को सम्बोधित किया है।

5. राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह साहित्य, विज्ञान, कला तथा समाज सेवा के क्षेत्रों में विशेष ज्ञान रखने वाले किन्ही 12 व्यक्तियों को राज्यसभा का सदस्य मनोनीत कर सकता है। यदि लोकसभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व न हो, तो वह इस समुदाय के दो सदस्यों को लोकसभा में मनोनीत कर सकता है।

6. संसद द्वारा पारित कोई भी विधेयक अथवा संशोधन विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकता है। वह किसी भी विधेयक को स्वीकृति प्रदान कर सकता है अथवा पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है अथवा कुछ समय के लिए विलम्बित कर सकता है। यदि पुनर्विचार के लिए भेजा गया विधेयक इसके मौलिक या संशोधित रूप से संसद द्वारा पुन: पारित कर दिया जाए तो राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य है। इसी संदर्भ में हम राष्ट्रपति के निषेधाधिकार अथवा वीटो शक्ति की बात करते हैं। जब राष्ट्रपति किसी विधेयक की स्वीकृति प्रदान करने की अपेक्षा उसे अपने पास रख ले तो यह एक प्रकार का पूर्ण निषेधाधिकार है और यदि पुनर्विचार के लिए भेजे तो एक प्रकार का स्थगन रूपी निषेधाधिकार है। संसद द्वारा पुन: पारित किए जाने के पश्चात राष्ट्रपति के पास स्वीकृति देने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं होता।

7. जब संसद का अधिवेशन न हो रहा हो तो राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। इस प्रकार के अध्यादेश को कानून की शक्ति प्राप्त होती है और यह संसद की अगली बैठक के आरम्भ होने के छह

सप्ताह बाद तक मान्य होता है। यदि संसद इस काल में इस अध्यादेश को स्वीकृति न दे, तो यह अप्रभावी हो जाता है अन्यथा संसद निर्धारित समय के अन्दर एक ऐसा कानून बना सकती है जो इस अध्यादेश का स्थान ले लेगा।

राष्ट्रपति अपनी सभी विधायी शक्तियों का प्रयोग राज्याध्यक्ष के रूप में करता है। वह इन सभी शक्तियों का प्रयोग केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद के परामर्श एवं सहायता से करता है इसलिए उसकी अपनी शक्तियां तो मात्र औपचारिकता बन जाती है। मन्त्रिपरिषद के परामर्श से वह संसद की बैठक बुलाता है या स्थगित करता है। मन्त्रिपरिषद के परामर्श पर लोकसभा भंग कर सकता है। संसद के समक्ष दिया जाने वाला राष्ट्रपति का अभिभाषण भी मन्त्रिपरिषद द्वारा ही तैयार किया जाता है। राष्ट्रपति का आंशिक निषेधाधिकार तथा अध्यादेश जारी करने का अधिकार भी वास्तव में प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद का ही है।

10.5.3 वित्तीय शक्तियां

1. कोई धन विधेयक (वार्षिक अथवा पूरक बजट) राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति, जो वास्तव में मन्त्रिपरिषद की शक्ति है, के बिना संसद में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।
2. भारत की आकस्मिक निधि पर राष्ट्रपति का अधिकार होता है और वही इस निधि से धन स्वीकृत कर सकता है।
3. भारत की संचित निधि में से होने वाले खर्चों की स्वीकृति संसद द्वारा राष्ट्रपति की सिफारिश पर ही दी जाती है।
4. राष्ट्रपति प्रत्येक पांच वर्ष के पश्चात एक वित्तीय आयोग की नियुक्ति करता है। यह आयोग केन्द्र तथा राज्यों के बीच करों तथा अन्य शुल्कों के माध्यम से प्राप्त धन के बंटवारे में परिवर्तन संबंधी सुझाव देता है।

10.5.4 क्षमादान की शक्ति

1. भारत के राष्ट्रपति को राष्ट्राध्यक्ष के रूप में कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्रपति को क्षमादान करने, किसी दण्ड को कम करने अथवा कुछ समय के लिए स्थगित करने का अधिकार है।
2. राष्ट्रपति किसी भी न्यायालय द्वारा अथवा कोर्ट मार्शल द्वारा दिए गए किसी भी दण्ड को क्षमा, कम अथवा स्थगित कर सकता है।
3. राष्ट्रपति संघ सूची एवं समवर्ती सूची से सम्बंधित किसी कानून के उल्लंघनकर्त्ता को भी क्षमा करने का अधिकार रखता है।
4. राष्ट्रपति ही एकमात्र ऐसा अधिकारी है जो किसी का मृत्युदण्ड क्षमा कर सकता है।

> विशेषाधिकार, ऐसी विशिष्ट शक्ति है जो किसी राज्याध्यक्ष को उसके पद पर बने होने के कारण प्राप्त होती है। राष्ट्रपति को राष्ट्राध्यक्ष के रूप में विशेषाधिकार या विशिष्ट शक्तियां प्राप्त हैं।

राष्ट्रपति अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग स्वयं नहीं करता। यह तो केवल उसे अपने पद के कारण प्राप्त हैं। अन्य शक्तियों की तरह विशेषाधिकार भी, वास्तव में, मन्त्रिपरिषद के ही विशेषाधिकार हैं।

10.5.5 विविध सरकारी शक्तियां

1. राष्ट्रपति को कुछ कार्यों से सम्बंधित नियम बनाने का अधिकार है।
2. वह किसी भी महत्वपूर्ण जनहित सम्बंधी प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय की सूचना के लिए भेज सकता है।
3. राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह संवैधानिक या किसी अन्य कानूनी मामले पर सर्वोच्च न्यायालय की सलाह ले सकता है परन्तु, वह उस सलाह को मानने के लिए बाध्य नहीं है।

4. राष्ट्राध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति विभिन्न क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त नागरिकों को सम्मानित तथा पुरस्कृत करता है।

10.5.6 आपातकालीन शक्तियां

राष्ट्रपति जिन आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग करते हैं उनके विषय में आप अध्याय 9 में पढ़ चुके हैं।

10.5.7 राष्ट्रपति की स्थिति

भारत ने संसदात्मक शासन प्रणाली को अपनाया है जिसमें एक ओर नाममात्र की कार्यपालिका है और दूसरी ओर वास्तविक कार्यपालिका है। भारत में राष्ट्रपति ऐसा सांविधानिक प्रमुख या राष्ट्राध्यक्ष है जिसको अनेक शक्तियां प्राप्त हैं परन्तु वह उन सब का प्रयोग प्रधान मंत्री सहित मन्त्रिपरिषद की सहायता एवं परामर्श से करता है। राष्ट्रपति परामर्श को मानने के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार राष्ट्रपति की शक्तियां मन्त्रिपरिषद की शक्तियां हैं और उसके सभी कार्य भी सामूहिक रूप से मन्त्रिपरिषद के ही कार्य हैं। राष्ट्रपति वास्तविक शासक नहीं होता क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय ने 1971 में (राव *बनाम* इंदिरा मुकदमा) यह बात दृढ़ता से कही थी कि संविधान-सभा ने अध्यक्षात्मक प्रणाली नहीं चुनी थी। 1955 में सर्वोच्च न्यायालय ने मन्त्रिपरिषद की तुलना में राष्ट्रपति की स्थिति को स्पष्ट करते हुए यह कहा था कि संविधान के अनुच्छेद 53 (1) के अनुसार केन्द्रीय सरकार की कार्यपालिका संबंधी शक्तियां राष्ट्रपति में निहित हैं। परन्तु अनुच्छेद 74 के अनुसार प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में एक मन्त्रिपरिषद होनी चाहिए जो राष्ट्रपति को अपनी शक्तियों का प्रयोग तथा कार्यों के निर्वहन में परामर्श तथा सहायता प्रदान करे। इस प्रकार राष्ट्रपति को कार्यपालिका का औपचारिक अथवा सांविधानिक प्रमुख बनाया गया है। जबकि कार्यपालिका की वास्तविक शक्तियां मन्त्रियों में या मन्त्रिमण्डल में निहित हैं। इसलिए भारत के संविधान में इंग्लैंड जैसी संसदात्मक कार्यप्रणाली ही अपनाई गई है।

भारतीय संविधान की रचना किसी वास्तविक राज्याध्यक्ष को ध्यान में रख कर नहीं की गई। यही कारण है कि भारत का राष्ट्रपति अमरीका के राष्ट्रपति की तरह पूर्ण शक्तिमान अथवा इंग्लैंड के राजा की तरह पूर्णतया शक्तिहीन भी नहीं है। इसलिए भारत का राष्ट्रपति न तो रबड़ की मुहर है और न ही इंग्लैंड के राजा की तरह अप्रभावशाली। संविधान के अनुसार यह राष्ट्रपति का उत्तरदायित्व है कि वह भारत के संविधान की रक्षा करे और देखे कि सभी कार्य संविधान के अनुसार हो रहे हैं तथा प्रशासन भी संवैधानिक तरीके से चल रहा है। यही कारण है कि प्रधानमन्त्री सहित एक मन्त्रिपरिषद का होना आवश्यक है। राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता है परन्तु स्वयं प्रधानमन्त्री नहीं बन सकता। उसे मन्त्रिपरिषद का गठन इस प्रकार करना पड़ता है ताकि वह लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी हो; इसलिए, सन्देहास्पद स्थितियों में कई बार नवनियुक्त प्रधानमन्त्री को निश्चित अवधि के अन्दर लोकसभा में विश्वास मत प्राप्त करने के लिए कहा जाता है। यह सत्य है कि राष्ट्रपति शासक तो नहीं होता परन्तु देश का प्रशासन ठीक प्रकार से चल रहा है कि नहीं यह देखना उसका ही उत्तरदायित्व होता है। राष्ट्रपति कानून तो नहीं बना सकता परन्तु उससे संबंधित सुझाव दे सकता है और वह भी केवल एक बार चाहे उस सुझाव को माना जाए या न माना जाए। राष्ट्रपति किसी भी मन्त्री या मन्त्रिपरिषद को अपने निर्णय पर पुनर्विचार के लिए कह सकता है। यह बात अलग है कि पुनर्विचार के सुझाव को स्वीकार किया जाए या न किया जाए।

राष्ट्रपति की स्थिति केवल नाममात्र राज्य प्रमुख की नहीं है। मन्त्रिपरिषद द्वारा लिए गए सभी प्रशासनिक निर्णयों की सूचना तथा प्रशासन सम्बन्धी सभी जानकारी राष्ट्रपति को मिलनी चाहिए और प्रशासनिक निर्णय लेते समय राष्ट्रपति के विचार भी लिए जाने आवश्यक हैं। इसी प्रक्रिया में राष्ट्रपति सरकार को संभल कर तथा सोच-समझ कर निर्णय लेने के लिए कह सकता है। जब दलगत राजनीति से ऊपर उठकर, राष्ट्रपति सरकार को सुझाव, चेतावनी, या प्रोत्साहन देता है तो उसके पद की उपयोगिता समझ में आने लगती है। इस स्थिति में राष्ट्रपति एक परामर्शदाता, मित्र तथा आलोचक के रूप में उभर कर सामने आता है जिसे सभी प्रकार की सूचनाएं प्राप्त करने का अधिकार है तथा सरकार को परामर्श, प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा चेतावनी देने का भी अधिकार है।

राष्ट्रपति की स्थिति को समझने के लिए कुछ और तथ्य भी हैं। राष्ट्रपति संसद तथा राज्य विधानसभाओं के सभी

निर्वाचित सदस्यों से बने निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचित होने के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र के निष्पक्ष प्रतिनिधि के रूप में उभर कर सामने आता है। वह निष्पक्ष इसलिए कहलाता है क्योंकि वह दलगत राजनीति से ऊपर उठकर एक दल के शासन से दूसरे दल के शासन की निरन्तरता को बनाए रखता है। वह राष्ट्रीय एकता का प्रतीक इसलिए माना जाता है क्योंकि राष्ट्रपति केन्द्र तथा राज्यों दोनों का प्रतिनिधित्व करता है।

> मन्त्रिमण्डल मन्त्रिपरिषद के अन्तर्गत कुछ वरिष्ठ मन्त्रियों का एक निकाय है जबकि मन्त्रिपरिषद में सभी स्तरों के मन्त्री होते हैं।

भारत के संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के अनुसार, भारत के राष्ट्रपति की स्थिति कुछ इस प्रकार है, "भारत का राष्ट्रपति राज्याध्यक्ष तो है परन्तु शासनाध्यक्ष नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि है परन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन में उसका स्थान केवल एक औपचारिक तथा शिष्ट शासक का है। वह एक ऐसी मुहर है जिसके नाम से राष्ट्र के सभी निर्णय लिए जाते हैं।"

पाठगत प्रश्न 10.3

I कोष्ठक में दिए गए शब्द/शब्दों में से उपयुक्त शब्द/शब्दों से रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(क) ..... देश की सुरक्षा सेनाओं का प्रधान सेनापति होता है।
(राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, रक्षामन्त्री)

(ख) राष्ट्रपति को ..... भंग करने का अधिकार है।
(राज्यसभा, लोकसभा, विधानसभा)

(ग) ..... संबंधी उत्पन्न गतिरोधों को सुलझाने के लिए राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है। (धन विधेयक, साधारण विधेयक, संशोधन विधेयक)

(घ) राष्ट्रपति ..... सदस्यों को राज्यसभा के लिए मनोनीत करता है।
(10, 12, 15)

(ङ) जब ..... का अधिवेशन नहीं हो रहा हो तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। (लोकसभा, संसद, राज्यसभा)

(च) राष्ट्रपति प्रत्येक ..... वर्ष के पश्चात एक वित्त आयोग का गठन करता है।
(4, 5, 6)

II नीचे दिए गए विकल्पों में से सही उत्तर का चयन कीजिए।

(i) भारत में किस प्रकार की शासन प्रणाली अपनाई गई है?

(क) संसदीय (ख) अध्यक्षात्मक
(ग) अधिनायकवादी (घ) राजतन्त्र

(ii) राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग किस प्रकार करता है?

(क) मन्त्रिपरिषद की सलाह के बिना
(ख) मन्त्रिपरिषद की सलाह से
(ग) स्वयं
(घ) सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सलाह से।

(iii) सभी कानून किसके नाम से लागू किए जाते हैं?

10.6 उपराष्ट्रपति

भारतीय संविधान के अन्तर्गत देश में एक उपराष्ट्रपति की व्यवस्था है। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होता है जिसमें संसद के दोनों सदनों के सदस्य शामिल होते हैं। यह निर्वाचन आनुपातिक निधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के द्वारा गुप्त मतदान से होता है। उसकी योग्यताएँ हैं :

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. वह राज्यसभा का सदस्य बनने की योग्यता रखता हो।
4. वह संघ सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी लाभकारी पद पर आसीन न हो।

उपराष्ट्रपति का निर्वाचन पांच वर्ष के लिए होता है। वह पुन: चुनाव लड़ सकता है। वह कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व अपने पद से त्यागपत्र भी दे सकता है या अपदस्थ भी किया जा सकता है। इसके लिए 14 दिन पूर्व सूचना भेजना आवश्यक है। यदि राज्यसभा अपनी सदस्य संख्या के बहुमत से उपराष्ट्रपति के हटाए जाने का प्रस्ताव पारित कर दे और लोकसभा भी उस प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति प्रदान करे तो उसी दिन से उपराष्ट्रपति अपदस्थ माना जाएगा।

1998 में पारित अधिनियम के अनुसार उपराष्ट्रपति का मासिक वेतन 40,000 रुपये हैं।

उपराष्ट्रपति के कार्य एवं शक्तियां इस प्रकार हैं :

1. वह राज्यसभा का पदेन सभापति होता है।
2. जब कभी राष्ट्रपति का पद खाली हो जाता है, तो वह कार्यवाहक राष्ट्रपति का कार्य करता है। राष्ट्रपति के त्यागपत्र या मृत्यु या अपदस्थ किए जाने की स्थिति में नए राष्ट्रपति का निर्वाचन होने तक उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के पद पर कार्य करता है। नए राष्ट्रपति का निर्वाचन स्थान रिक्त होने के छह मास के अन्दर करवाया जाना आवश्यक है।

पाठगत प्रश्न 10.4

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(i) उपराष्ट्रपति का निर्वाचन ..... के सदस्यों द्वारा किया जाता है।
(लोकसभा, राज्यसभा, संसद)

(ii) उपराष्ट्रपति का कार्यकाल ..... वर्ष है।
(पाँच, छह, सात)

(iii) उपराष्ट्रपति ..... का पदेन सभापति होता है।
(लोकसभा, राज्यसभा, संसद)

10.7 राज्यपाल शक्तियाँ, कार्य एवं स्थिति

जिस प्रकार संघीय स्तर पर संवैधानिक प्रमुख राष्ट्रपति होता है, उसी प्रकार राज्यपाल राज्य स्तर पर संवैधानिक प्रमुख का कार्य करता है। प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होता है। एक ही व्यक्ति को दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। जैसे केन्द्र में संघीय सरकार की शक्तियां राष्ट्रपति में निहित होती हैं उसी प्रकार राज्य की शासन संबंधी शक्तियां राज्यपाल में निहित होती हैं।

1. राज्यपाल नियुक्ति, योग्यताएं और कार्यकाल

राज्यपाल की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इसलिए राज्यपाल के पद के लिए निर्वाचन नहीं होता बल्कि नामांकन होता है। राज्यपाल की नियुक्ति के लिए निर्धारित योग्यताएं इस प्रकार हैं।

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. कम से कम 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. किसी लाभकारी पद पर आसीन न हो।

किन्तु यदि कोई व्यक्ति संसद सदस्य हो, या राज्य विधान मण्डल का सदस्य हो या केन्द्र अथवा राज्य में मन्त्री हो और उसे राज्यपाल नियुक्त कर दिया जाए तो वह अपने पूर्व पद से मुक्त हो जाता है।

राज्यपाल की नियुक्ति पांच वर्ष के लिए की जाती है। वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है। वह अपना कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व पद त्याग कर सकता है या राष्ट्रपति द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है।

राज्यपाल को 36,000 रुपए मासिक वेतन के अतिरिक्त, भत्ते तथा अन्य सुविधाएं भी उपलब्ध होती हैं। उसे एक निःशुल्क सुसज्जित आवास मिलता है जिसे प्रायः राजभवन कहा जाता है। उसका वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधाओं का निर्धारण समय-समय पर कानून बनाकर किया जाता है किन्तु इन्हें किसी भी राज्यपाल के कार्यकाल में कम नहीं किया जा सकता।

2. राज्यपाल : शक्तियां तथा कार्य

राज्यपाल की शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(क) कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां

1. राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है और फिर उसकी सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। मन्त्रियों में विभागों का विभाजन भी राज्यपाल द्वारा किया जाता है।
2. राज्यपाल राज्य के महान्यायवादी और राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति करता है।
3. वह उच्च न्यायालय को छोड़कर राज्य के सभी न्यायालयों के न्यायाधीशों की भी नियुक्ति करता है किन्तु उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राज्यपाल से परामर्श कर लिया जाता है।
4. राज्य का सारा प्रशासन राज्यपाल के नाम से चलता है।

राज्य के कार्यपालिका का प्रमुख होने के नाते अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करने के लिए राज्यपाल मुख्यमन्त्री सहित मन्त्रिपरिषद से परामर्श एवं सहायता लेता है।

(ख) विधायी शक्तियां

1. राज्यपाल को राज्य विधानमण्डल की बैठक बुलाने या स्थगित करने का अधिकार है। वह चाहे तो मुख्यमन्त्री एवं मन्त्रिपरिषद के परामर्श पर विधानसभा को भंग भी कर सकता है।
2. वह राज्य विधानमण्डल को सम्बोधित कर सकता है अथवा संदेश भेज सकता है।
3. यदि राज्यपाल के विचार में आंग्ल भारतीय समुदाय को राज्य विधानसभा में उचित प्रतिनिधित्व न मिला हो, तो राज्यपाल इस समुदाय के एक सदस्य को विधानसभा के लिए मनोनीत कर सकता है।
4. जिन राज्यों में विधानपरिषद है, वहां का राज्यपाल विधानपरिषद की कुल सदस्य संख्या का 1/6 सदस्य मनोनीत करता है। ये मनोनीत सदस्य साहित्य कला, विज्ञान, सहकारिता अथवा समाज सेवा में ख्याति प्राप्त व्यक्ति होते हैं।

5. किसी भी विधेयक को कानून बनने के लिए राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। इस सम्बन्ध में राज्यपाल के पास निम्नलिखित विकल्प हैं :

   (i) राज्यपाल उसके पास भेजे गए विधेयक को स्वीकृति प्रदान करे ताकि वह कानून का रूप ले ले।

   (ii) राज्यपाल विधेयक को स्वीकृति देने की बजाए उसे अपने पास रख ले तो ऐसी स्थिति में विधेयक कानून नहीं बनता।

   (iii) राज्यपाल कुछ संशोधनों सहित विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है। यदि सदन इस विधेयक के संशोधित रूप को या मूल रूप को पारित कर राज्यपाल के पास भेज दे, तो वह स्वीकृति देने से मना नहीं कर सकता।

   (iv) राज्यपाल विधेयक को राष्ट्रपति के लिए विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है।

6. यदि राज्य विधान मण्डल का अधिवेशन चल रहा हो तो राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। किन्तु इस प्रकार के अध्यादेश को विधानमण्डल की अगली सभा प्रारम्भ होने के छह सप्ताह के अन्दर स्वीकृति मिलना आवश्यक है, नहीं तो यह अप्रभावी हो जाता है। यदि इसे स्वीकृति न मिले तो इसके स्थान पर एक नया कानून बनाया जाता है। राज्यपाल की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों की तरह विधायी शक्तियों का प्रयोग भी, वास्तव में मुख्यमन्त्री सहित मन्त्रिपरिषद द्वारा ही किया जाता है।

(ग) वित्तीय शक्तियां

1. राज्यपाल की पूर्व अनुमति के बिना कोई धन विधेयक राज्य विधानसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।
2. राज्य का वार्षिक बजट तथा अनुपूरक बजट विधानसभा में राज्यपाल के नाम से ही प्रस्तुत किया जाता है।
3. राज्य की आकस्मिक निधि पर राज्यपाल का नियन्त्रण होता है।

(घ) क्षमादान की शक्ति

राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह उच्च न्यायालय द्वारा दण्डित व्यक्ति को क्षमा प्रदान कर सके। वह उसकी सजा को कम कर सकता है या स्थगित कर सकता है।

(ङ) स्वविवेक की शक्तियां

राज्यपाल को कुछ स्वविवेक पर आधारित शक्तियां भी प्राप्त हैं। साधारणतया राज्यपाल राज्य मन्त्रिपरिषद के परामर्श से ही कार्य करता है परन्तु विशेष परिस्थितियों में, वह बिना मन्त्रिपरिषद के परामर्श के भी कार्य कर सकता है। इस प्रकार की शक्ति, जहां राज्यपाल अपने विवेक से निर्णय लेता है, उसकी स्वविवेक की शक्तियां कहलाती हैं।

> राज्यपाल की स्वविवेक संबंधी शक्तियां वे शक्तियां हैं, जिनका प्रयोग करते समय वह अपने विवेक का प्रयोग करता है और मन्त्रिपरिषद से परामर्श करने के लिए बाध्य नहीं है।

राज्यपाल की स्वविवेक संबंधी प्रमुख शक्तियां इस प्रकार हैं :

1. यदि राज्यपाल के विचार में राज्य में संवैधानिक तन्त्र विफल हो चुका हो तो वह इसकी सूचना तुरंत राष्ट्रपति को देकर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में मन्त्रिपरिषद की सलाह न लेकर राज्यपाल स्वयं निर्णय करता है, इसलिए इसे स्वविवेक संबंधी, शक्ति कहा जाता है। संवैधानिक तन्त्र के विफल होने की स्थिति में मन्त्रिपरिषद को भंग कर दिया जाता है और विधानसभा भी या तो भंग कर दी जाती है अथवा स्थगित कर दी जाती है। इस काल में राज्यपाल राष्ट्रपति की ओर से उस अभिकर्ता के रूप में शासन चलाता है।

2. यदि राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखना चाहे, तो वह यह निर्णय अपने विवेक से ले सकता है।

3. सिक्किम, नागालैण्ड, आसाम, मेघालय तथा त्रिपुरा में आदिवासी क्षेत्रों में वहां के आदिवासी जनजीवन के संरक्षण हेतु, वहां के राज्यपालों को कुछ विशेष अधिकार प्रदान किए गए हैं जिनका प्रयोग वे अपने विवेक से करते हैं।

राज्यपाल की भूमिका तथा स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस रूप में कार्य कर रहा है – एक संवैधानिक प्रमुख के रूप में अथवा राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में। जब राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करता है तो उसकी शक्तियां नाममात्र होती हैं क्योंकि वह अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद की सहायता एवं परामर्श से ही करता है। उसकी शक्तियां यदि वास्तव में उसकी अपनी शक्तियां हैं, तो वे सूचना प्राप्त करने या प्रोत्साहन अथवा चेतावनी देने तक ही सीमित हैं। ऐसे में वह केवल अपने प्रभाव का ही प्रयोग करता है। इस प्रकार, राज्यपाल का पद भी राष्ट्रपति के पद की तरह ही एक सम्मानजनक पद है।

पाठगत प्रश्न 10.5

निम्नलिखित विकल्पों में से सही उत्तर चुनो।

(1) राज्यपाल की नियुक्ति कौन करता है?

(क) राष्ट्रपति

(ख) उपराष्ट्रपति

(ग) प्रधानमन्त्री

(घ) सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश

(2) राज्यपाल की नियुक्ति कितने वर्ष के लिए की जाती है?

(क) 4 वर्ष

(ख) 5 वर्ष

(ग) 6 वर्ष

(घ) 7 वर्ष

(3) मुख्यमन्त्री सहित राज्य मन्त्रिपरिषद किसके प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है?

(क) विधानसभा

(ख) विधान परिषद

(ग) राज्यपाल

(घ) राष्ट्रपति

(4) किसी राज्य में अध्यादेश जारी करने का अधिकार किसे है?

(क) राज्यपाल

(ख) गृह मन्त्री

(ग) मुख्यमन्त्री

(घ) राष्ट्रपति

आपने क्या सीखा

इस पाठ में आपने सीखा कि :

भारत में संसदीय शासन प्रणाली की स्थापना की गई है जिसके अन्तर्गत संघीय स्तर पर राष्ट्रपति संवैधानिक प्रमुख का कार्य करता है और प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका के रूप में कार्य करती है। इसी प्रकार, राज्य स्तर पर राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख होता है और मुख्यमन्त्री सहित राज्य मन्त्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका।

भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा किया जाता है जबकि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है।

राष्ट्रपति पांच वर्ष के लिए निर्वाचित होता है और वह पुन: चुनाव भी लड़ सकता है। वह अपना कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व पद त्याग कर सकता है या महाभियोग द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है। राज्यपाल की नियुक्ति भी पांच वर्ष के लिए होती है। परन्तु उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और वह उसके द्वारा हटाया भी जा सकता है।

राष्ट्रपति की भांति राज्यपाल को भी अनेक शक्तियां प्राप्त हैं। परन्तु राष्ट्रपति की शक्तियों का प्रयोग प्राय: प्रधानमन्त्री सहित संघीय मन्त्रिपरिषद करता है तथा राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग मुख्यमन्त्री सहित राज्य मन्त्रिपरिषद करता है।

दोनों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हैं और दोनों किसी न किसी रूप में प्रशासन को प्रभावित करते हैं; दोनों को सूचना प्राप्त करने, परामर्श देने, चेतावनी देने तथा प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देने का अधिकार है।

पाठांत प्रश्न

1. भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
2. भारत के राष्ट्रपति को अपदस्थ करने की विधि का वर्णन कीजिए।
3. राष्ट्रपति का वेतन, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियां बताइए।
4. भारत के उपराष्ट्रपति पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5. भारत के राष्ट्रपति की कार्यपालिका संबंधी शक्तियों का वर्णन कीजिए।
6. भारत के राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
7. राज्य के राज्यपाल की शक्तियों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

10.1 (1) 35

(2) लोकसभा

10.2 (1) 20,000 रुपए

(2) 1,20,000 रुपए

(3) पांच वर्ष

(4) उपराष्ट्रपति

(5) संसद के दोनों सदनों में से कोई एक

10.3 I (क) राष्ट्रपति

(ख) लोकसभा

(ग) साधारण विधेयक

(घ) 12

(ङ) संसद

(च) पांच

II (1) संसदात्मक

(2) मन्त्रिपरिषद के परामर्श से

10.4 (1) संसद

(2) पांच वर्ष

(3) राज्यसभा

10.5 (1) राष्ट्रपति

(2) पांच वर्ष

(3) विधानसभा

(4) राज्यपाल

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, खण्ड 10.3.2 तथा 10.3.3
2. कृपया देखें, खण्ड 10.4.5
3. कृपया देखें, खण्ड 10.4.1 तथा 10.4.2
4. कृपया देखें, खण्ड 10.6
5. कृपया देखें, खण्ड 10.5.1
6. कृपया देखें, खण्ड 10.5.2
7. कृपया देखें, खण्ड 10.7.2

11

मन्त्रिपरिषद, प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री

11.1 भूमिका

पिछले पाठों में आप पढ़ चुके हैं कि भारत में संसदीय सरकार है। इस प्रणाली में राष्ट्रपति संवैधानिक अथवा नाममात्र का प्रधान होता है। सही अर्थों में कार्यपालिका राष्ट्रपति नहीं बल्कि मंत्रिमंडल के सहयोग से प्रधानमंत्री द्वारा संचालित होती है। संविधान में यह निर्देश है कि राष्ट्रपति को सरकार चलाने में प्रधानमंत्री अपने मंत्रिमंडल के सहयोग से सलाह देता रहेगा। राष्ट्रपति मंत्रिमंडल का परामर्श मानने पर बाध्य होगा। देश के संपूर्ण प्रशासन की जिम्मेदारी प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल के ऊपर होती है। हम पिछले पाठों में यह भी पढ़ चुके हैं कि भारत के संविधान में संघीय प्रणाली का प्रावधान है। केन्द्रीय स्तर पर केन्द्र सरकार तथा राज्य स्तर पर राज्य सरकारों की व्यवस्था है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों की शक्तियों का अलग-अलग विभाजन किया गया है। जिस तरह केन्द्र में राष्ट्रपति प्रमुख होता है उसी प्रकार राज्य में राज्यपाल प्रमुख होता है। प्रस्तुत पाठ में हम केन्द्रीय मंत्रिमंडल के गठन एवं कार्यों, प्रधानमंत्री की भूमिका तथा राज्य स्तर पर मुख्यमंत्रियों की भूमिका का अध्ययन करेंगे।

11.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- भारत की संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री की भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।
- मंत्रिमंडल के गठन की व्याख्या कर सकेंगे।
- व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्तरदायित्वों के अर्थ एवं निहितार्थों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- यह बता सकेंगे कि राष्ट्रपति की वास्तविक शक्तियां मंत्रिमंडल में निहित होती हैं।
- विश्लेषण कर सकेंगे कि किस प्रकार मुख्यमंत्री का चुनाव होता है तथा राज्य मंत्रिमंडल का चुनाव होता है।

11.3 केन्द्रीय मंत्रिमंडल

संविधान में यह निर्देश है कि राष्ट्रपति के कार्यों में सहयोग देने के लिए प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिमंडल का गठन किया जाएगा, जो उसे अपना परामर्श प्रदान करता रहेगा। राष्ट्रपति इन्हीं के परामर्श पर अपनी गतिविधियां जारी रखेगा। प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। दूसरे मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति की सलाह पर प्रधानमंत्री करता है। लोक सभा चुनावों के बाद राष्ट्रपति बहुमत प्राप्त दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करता है। यदि किसी भी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त है तब राष्ट्रपति सरकार के गठन की दूसरी संभावनाओं पर विचार करता है। ऐसे में प्राय: यही होता है कि वह लोकसभा में सबसे बड़े दल

को सरकार गठन का निमंत्रण भेजता है, जो कि दूसरे राजनीतिक दलों के सहयोग से सरकार बनाता है सन् 1989 में विश्वनाथ प्रताप सिंह ने भारतीय जनता पार्टी के सहयोग एवं वामपंथी पार्टियों के बाहरी समर्थन से सरकार का गठन किया था। 1990 में भारतीय जनता पार्टी द्वारा अपना समर्थन वापस ले लिए जाने के कारण विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार गिर गई थी। विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार की असफलता के बाद राष्ट्रपति ने कांग्रेस पार्टी को सरकार गठन के लिए आमंत्रित किया था, क्योंकि उस समय वही सबसे बड़ी पार्टी के रूप में संसद में मौजूद थी। किंतु कांग्रेस पार्टी ने वह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। इसके बाद चंद्रशेखर ने कांग्रेस पार्टी के बाहरी समर्थन से सरकार बनाई थी किन्तु वह भी कुछ ही दिनों बाद गिर गई थी।

सन् 1996 के लोकसभा चुनावों में किसी भी पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त था। भारतीय जनता पार्टी लोकसभा में सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी थी। तब राष्ट्रपति ने श्री अटलबिहारी वाजपेयी को सबसे बडी पार्टी के नेता के रूप में मंत्रिमंडल के गठन के लिए आमंत्रित किया था। किन्तु लोकसभा में समर्थन के अभाव में स्पष्ट बहुमत न व्यक्त कर पाने के कारण बहुमत सिद्ध करने संबंधी होने वाले मतदान से पूर्व ही वाजपेयी ने अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति को सौंप दिया। इसके बाद 13 राजनीतिक दलों ने मिलकर संयुक्त मोर्चा का गठन किया तथा श्री एच.डी. देवेगौड़ा के नेतृत्व मे सरकार का गठन किया। इस सरकार को कांग्रेस तथा कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा बाहर से समर्थन प्राप्त था। किन्तु अप्रैल, 1997 को कांग्रेस पार्टी द्वारा अपना समर्थन वापस ले लेने पर देवेगौड़ा सरकार भी गिर गई थी तब संयुक्त मोर्चा ने श्री इंद्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में पुन: सरकार का गठन किया। फरवरी 1998 में हुए लोकसभा चुनाव के पश्चात् श्री अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रीत्व में एक नई मिलीजुली सरकार सत्ता में आई। इस बहुदलीय सरकार में भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़ी पार्टी थी।

प्रधानमंत्री पहले अपने मंत्रिमंडल में शामिल किए जाने वाले प्रस्तावित व्यक्तियों की सूची राष्ट्रपति को देता है। मंत्रिमंडल का गठन करते समय प्रधानमंत्री को सभी राज्यों के प्रतिनिधियों की हिस्सेदारी तथा विभिन्न धर्मों तथा समुदाय के नेताओं की भागीदारी को ध्यान में रखना पड़ता है। संयुक्त सरकार में सम्मिलित सभी पार्टियों के प्रतिनिधियों द्वारा एक सम्मिलित मंत्रिमडल का गठन करना पड़ता है। मंत्रिमंडल का गठन हो जाने के बाद प्रधानमंत्री उनके विभागों का बंटवारा करता है।

मंत्रिमंडल का सदस्य होने के लिए किसी भी व्यक्ति को संसद के दोनों में से किसी न किसी का सदस्य अवश्य होना चाहिए। यदि कोई मंत्री संसद का सदस्य नहीं है तो उसे छह महीने के भीतर ही संसद के किसी न किसी सदन का सदस्य निर्वाचित होना आवश्यक होता है, यदि वह निर्वाचित नहीं हो पाता है तो उसे मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देना होगा। मंत्रिमंडल के सभी सदस्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सन् 1962 में चीन के हमले के बाद तत्कालीन रक्षामंत्री श्री वी.के. कृष्णमेनन ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था। श्री टी.टी. कृष्णमाचारी ने वित्त मंत्री पद तथा श्री लालबहादुर शास्त्री ने रेल मंत्री पद से अपनी व्यक्तिगत तथा नैतिक जिम्मेदारियों में असफल रहने का हवाला देते हुए इस्तीफा दे दिया था। 1978 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने श्री चरणसिंह तथा श्री राजनारायण से उनके सामूहिक उत्तरदायित्व में असफल होने के कारणों की पूछताछ की थी।

प्राय: मंत्रिमंडल में तीन स्तर के मंत्री होते है, केन्द्रीय मंत्री, राज्य मंत्री तथा उप मंत्री। केन्द्रीय मंत्री प्रमुख होते हैं जो उस मंत्रालय के प्रमुख हैं। संबंधित मंत्रालय की संपूर्ण जिम्मेदारी उन्हीं के ऊपर होती है। सरकार की समस्त नीतियों को वही ग्रहण करता है तथा उस मंत्रालय संबंधी सभी विधायी प्रस्तावों को प्रस्तुत करता है। राज्य मंत्रियों को केंद्रीय मंत्रियों के बाद का दर्जा प्राप्त है। ये कनिष्ठ मंत्री होते हैं तथा ये केंद्रीय मंत्रियों को सहयोग प्रदान करते हैं। राज्यमंत्रियों में कुछ ऐसे भी मंत्री होते हैं जिन्हें स्वतंत्र कार्यभार सौंपा जाता है। राज्य मंत्री केन्द्रीय मंत्रिमंडल के सदस्य नहीं होते और न ही वे केन्द्रीय मंत्रिमंडल की बैठकों में भाग लेते हैं। स्वतंत्र कार्यभार वाले राज्यमंत्री केंद्रीय मंत्रिमंडल की बैठकों में भाग में लेते हैं तथा वह अपने मंत्रालय द्वारा लिए गए सभी निर्णय प्रस्तुत करते हैं। उप मंत्री राज्य मंत्री से कनिष्ठ मंत्री होते हैं। संसद में उठाए जाने वाले सभी सवालों का उत्तर देने की जिम्मेदारी सभी मंत्रियों के ऊपर होती है।

पाठगत प्रश्न 11.1

1. केन्द्रीय मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता कौन करता है?

.....

.....

2. मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को कौन नियुक्त करता है?

.....

.....

3. किसने चीनी हमले के समय 1962 में अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेते हुए त्यागपत्र दे दिया?

.....

.....

11.4 प्रधानमंत्री

प्रधानमंत्री भारतीय कार्यपालिका का वास्तविक अध्यक्ष होता है। हमारे देश की सरकार में प्रधानमंत्री की प्रमुख भूमिका होती है। प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है किन्तु उसे संसद में बड़ी पार्टी के नेता के रूप में संयुक्त दल के सदस्यों द्वारा नेता चुना जाता है। जब तक लोकसभा में बहुमत प्राप्त है तब तक प्रधानमंत्री को उसके पद से नहीं हटाया जा सकता। राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर मंत्रिमंडल के सदस्यों की नियुक्ति करता है। मंत्रिमंडल के सभी सदस्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

प्रधानमंत्री लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होता है। वह न केवल संसद और राष्ट्रपति के बीच सेतु का कार्य करता है बल्कि मंत्रिमंडल का प्रमुख भी होता है। प्रधानमंत्री लोकसभा का नेता भी होता है। यदि कोई मंत्री उसका सहयोग नहीं कर रहा है तो वह उससे त्यागपत्र भी मांग सकता है। जरूरत पड़ने पर वह अपने मंत्रिमंडल का पुनर्गठन भी करता है। यदि कोई प्रधानमंत्री अपने पद से त्यागपत्र दे देता है अथवा उसका देहांत हो जाता है तो उसका संपूर्ण मंत्रिमंडल स्वतः भंग हो जाता है।

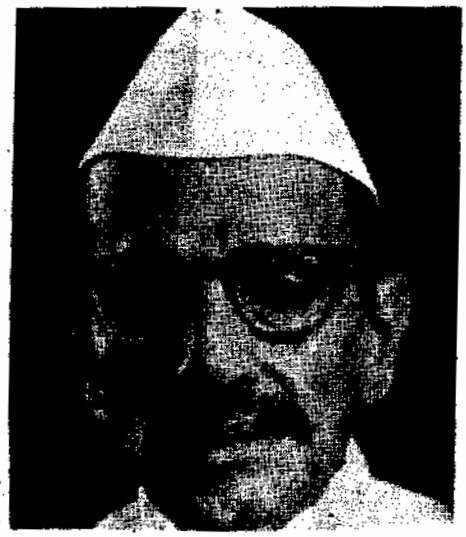

चित्र 11.1 प्रधानमंत्री

भारत के प्रधान मंत्री

लाल बहादुर शास्त्री

इंदिरा गाँधी

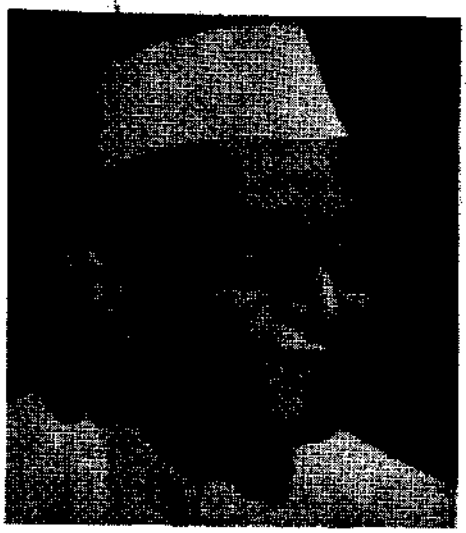

मुरारजी देसाई

चौधरी चरणसिंह

राजीव गाँधी

विश्वनाथ प्रतापसिंह

भारत के प्रधान मंत्री

चन्द्रशेखर

पी. वी. नरसिम्हा राव

एच. डी. देवगौड़ा

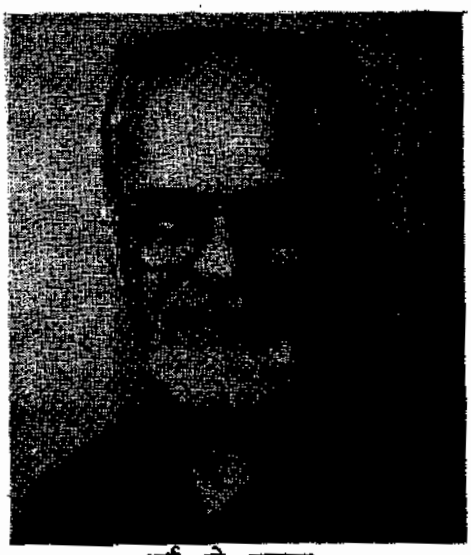

आई. के. गुजराल

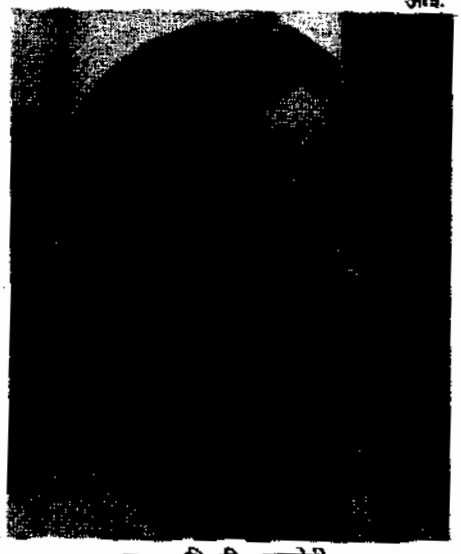

अटल बिहारी वाजपेयी

प्रधानमंत्री के कार्य

1. प्रधानमंत्री ही सरकार का वास्तविक अध्यक्ष होता है। वही संपूर्ण प्रशासन को नियंत्रित करता है। प्रधानमंत्री अपने मंत्रिमंडल का गठन करता है। उसको ही वास्तविक रूप से विस्तृत शक्तियां प्राप्त हैं। राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की ही सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है।

2. प्रधानमंत्री ही मंत्रियों के मंत्रालयों का बंटवारा करता है। वह अपने मंत्रिमंडल को अधिक सक्षम बनाने के लिए मंत्रियों के पदों में परिवर्तन भी कर सकता है, तथा नए मंत्रियों को भी उसमें शामिल कर सकता है।

3. प्रधानमंत्री ही केन्द्रीय मंत्रिमंडल की बैठकों को संचालित करता है। मंत्रिमंडल का प्रमुख होने के कारण वही मंत्रियों द्वारा लिए गए निर्णयों पर अंतिम रूप से निर्णय लेता है।

4. नीतियां निर्धारित किए जाने में प्रधानमंत्री अहम् भूमिका निभाता है। वह अपनी सरकार द्वारा निर्धारित आम नीतियों के लिए उत्तरदायी होता है। सभी मंत्रालयों में उसकी सहभागिता होती है।

5. यदि संसद में मंत्रिमंडल के प्रति अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाता है तो प्रधानमंत्री अपने संपूर्ण मंत्रिमंडल की जिम्मेदारी लेते हुए अपने पद से त्यागपत्र दे देता है।

6. प्रधानमंत्री संसद तथा राष्ट्रपति के बीच एक सेतु का कार्य करता है। मंत्रियों का राष्ट्रपति से कोई सीधा संबंध नहीं होता। उनकी समस्त संस्तुतियां प्रधानमंत्री के माध्यम से राष्ट्रपति तक पहुंचाई जाती हैं; इस प्रकार प्रधानमंत्री ही राष्ट्रपति का प्रमुख सलाहकार होता है। उसकी सलाह पर राष्ट्रपति लोक सभा भंग कर सकता है। प्रधानमंत्री लोकसभा भंग होने से बचाने की भरसक कोशिश करता है। प्रधानमंत्री अपने दल के विश्वासपात्र सदस्यों के माध्यम से लोकसभा को भंग होने से बचाता है।

7. सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियां प्रधानमंत्री की संस्तुति पर होती है। राज्यपालों, राजदूतों, भारत के लेखा महापरीक्षक, लोकसभा के सदस्यों, वित्त आयोग के अध्यक्ष तथा महान्यायवादी की नियुक्तियां प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

8. विदेश नीतियों के निर्धारण में प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह अंतर्राष्ट्रीय बैठकों में भाग लेता है। वह अंतर्राष्ट्रीय संगठन में देश का प्रतिनिधित्व प्रदान करता है। हमारा प्रधानमंत्री संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों को संबोधित करता है। वह राष्ट्रमंडल तथा निर्गुट देशों की बैठकों में गहरी रुचि लेता है। बेहतर संबंध विकसित करने तथा आपसी समझदारी बढ़ाने के लिए वह अनेक देशों की यात्रा करता है। दूसरे देशों के साथ किए जाने वाले अंतर्राष्ट्रीय समझौते अथवा अनुबंध प्रधानमंत्री की ही सहमति से किए जाते हैं।

   प्रधानमंत्री राष्ट्र का नेता होता है। इसलिए उसकी बातों पर देश के भीतर तथा बाहर दोनों तरफ बहुत ध्यान दिया जाता है। देश में उसकी एक महत्त्वपूर्ण स्थिति होती है। उसको विस्तृत शक्तियां प्राप्त हैं; उसकी स्थिति तथा शक्तियां उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती हैं। प्रधानमंत्री सरकार चलाने वाले दल का मुखिया होता है, संसद तथा सरकार दोनों जगह। संसद में स्थायी बहुमत प्राप्त हो जाने के बाद वह न सिर्फ संसद में बल्कि पूरे राष्ट्र में वह एक प्रमुख नेता के रूप में उभर कर आता है। वह राष्ट्रपति का प्रमुख सलाहकार तथा सरकार का वास्तविक प्रमुख होता है।

पाठगत प्रश्न 11.2

1. (क) भारत के प्रधानमंत्री की नियुक्ति कौन करता है?

   (ख) भारत में कार्यपालिका की वास्तविक शक्तियों का प्रयोग कौन करता है?

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

   (क) प्रधानमंत्री की नियुक्ति ..... करता है?

   (राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मुख्य न्यायाधीश)

(ख) प्रधानमंत्री ..... के समर्थन से ही अपने पद पर बना रहता है।

(राज्यसभा, लोकसभा, दोनों सदनों)

(ग) बहुमत प्राप्त दल के नेता को सरकार बनाने के लिए .....आमंत्रित करता है।

(राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष)

(घ) लोकसभा भंग करने की सलाह ..... देता है।

(राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री)

(ङ) मंत्रिमंडल में ..... स्तर के मंत्री हैं। (दो, तीन, चार)

(च) केन्द्रीय मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता ..... करता है।

(राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री)

11.5 मुख्यमंत्री

मुख्यमंत्री राज्य सरकार का प्रमुख होता है। मुख्यमंत्री के नेतृत्व ही वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता है। राज्यों के राज्यपालों को सरकार चलाने में मुख्यमंत्री अपने मंत्रिमंडल के साथ सहयोग एवं परामर्श प्रदान करता है। आप पाठ 10 में यह पढ़ चुके होंगे कि राज्यपाल को विवेकाधिकार भी प्राप्त होता है। यदि कोई राज्यपाल राज्य में अव्यवस्था पनप जाने के कारण वहां आपातकाल लगाए जाने के लिए राष्ट्रपति के पास प्रस्ताव भेजता है तो उस समय वह अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करता है।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है। जिस व्यक्ति को विधानसभा में बहुमत दल का नेता चुना जाता है उसे ही राज्यपाल मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। बाकी मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल करता है। मंत्रिमंडल के सदस्यों के लिए विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य होना अनिवार्य होता है। यदि कोई व्यक्ति राज्य विधानमंडल का सदस्य नहीं है और उसे मंत्री बना दिया गया है तो उसे छह महीने के भीतर ही किसी न किसी सदन का सदस्य निर्वाचित होना आवश्यक होता है। यदि ऐसा संभव नहीं होता है तब उसे अपने पद से इस्तीफा दे देना होता है। मंत्रियों के पदों का बंटवारा मुख्यमंत्री के परामर्श पर राज्यपाल द्वारा किया जाता है।

मुख्यमंत्री के कार्य

मुख्यमंत्री राज्य मंत्रिमंडल का प्रमुख होता है। मुख्यमंत्री की संवैधानिक स्थिति कमोबेश प्रधानमंत्री जैसी ही होती है। मुख्यमंत्री की ही सलाह पर राज्यपाल द्वारा मंत्रियों के विभागों का बंटवारा किया जाता है।

1. मुख्यमंत्री राज्य सरकार वास्तविक प्रधान होता है। मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की ही सलाह पर राज्यपाल द्वारा की जाती है। मुख्यमंत्री की ही सलाह पर राज्यपाल द्वारा मंत्रियों के विभागों का बंटवारा किया जाता है।
2. मंत्रिमंडल की बैठक की अध्यक्षता मुख्यमंत्री ही करता है। वह विभिन्न मंत्रालयों में सहअस्तित्व बनाए रखता है। वह मंत्रिमंडल के कार्यों में निर्देश देता रहता है।
3. राज्य सरकार द्वारा पारित किए जाने वाले कानून एवं नीतियों में मुख्यमंत्री की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। विधानमंडल के समक्ष मंत्रियों द्वारा लाए जाने वाले विधेयक प्रस्ताव भी मुख्यमंत्री की ही सलाह से होते हैं। विधानमंडल के भीतर तथा बाहर दोनों जगह वही सरकार द्वारा निर्धारित की जाने वाली नीतियों में प्रमुख प्रवक्ता होता है।
4. संविधान में यह निर्देश है कि मंत्रिमंडल द्वारा किए गए राज्य की नीतियों अथवा प्रशासन संबंधी निर्णयों तथा पारित विधेयकों की सूचना मुख्यमंत्री द्वारा राज्यपाल को दी जाती रहनी चाहिए।

5. राज्यपाल द्वारा पूछे जाने पर मुख्यमंत्री राज्य प्रशासन तथा विधेयक प्रस्तावों संबंधी समस्त सूचनाएं मुख्यमंत्री प्रस्तुत करता है।
6. राज्यपाल द्वारा पूछे जाने पर मुख्यमंत्री उन निर्णयों की सूचना भी उन्हें प्रस्तुत करता है जो मंत्रिमंडल द्वारा पारित किए जा चुके हैं अथवा मंत्रियों द्वारा तो निर्णय लिए जा चुके हैं किन्तु मंत्रिमंडल द्वारा नहीं स्वीकृत हुए हैं।
7. मुख्यमंत्री राज्यपाल तथा मंत्रिमंडल के बीच सेतु का काम करता है। राज्यपाल को यह अधिकार प्राप्त है कि वह मंत्रिमंडल द्वारा लिए गए निर्णयों की सूचना मुख्यमंत्री द्वारा प्राप्त कर सके।

11.6 राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच संबंध

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रधान होता है। राज्य में सभी कार्यपालिका संबंधी गतिविधियां उसी के नाम से संचालित होती हैं। राज्यपाल मुख्यमंत्री तथा उसकी सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। राज्य में शांतिपूर्ण प्रशासन के लिए राज्यपाल ही जिम्मेदार होता है। यह उसकी जिम्मेदारी है कि वह देखे कि राज्य की समस्त प्रशासनिक गतिविधियां संविधान के अनुसार ठीक चल रही हैं अथवा नहीं। यदि उसे लगता है कि राज्य में संवैधानिक तंत्र असफल हो गया है अथवा प्रशासन संविधान के बनाए नियमों के अनुसार कार्य करने में अक्षम हो गया है तो वह संविधान की रक्षा को ध्यान में रखते हुए राज्य में आपातकाल के लिए प्रस्ताव भेज सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति को राज्य में राष्ट्रपति शासन की सलाह दे सकता है। यदि उसके प्रस्ताव से राष्ट्रपति संतुष्ट हो जाता है तब वह राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की आज्ञा प्रदान कर देता है। राष्ट्रपति शासन लागू हो जाने पर राज्य का प्रशासन केन्द्र तथा केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल के अधीन आ जाता है। ऐसी स्थिति में मंत्रिमंडल तथा विधानसभा भंग कर दी जाती है।

संविधान में यह निर्देश वर्णित है कि राज्य का प्रशासन सुचारू रूप से चलाने के लिए राज्यपाल के सहयोग के लिए मुख्यमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिमंडल की व्यवस्था होगी जो उसके संवैधानिक विवेकाधिकार के अनुसार कार्य करेगा। जब विधानसभा में मुख्यमंत्री द्वारा विश्वास मत प्राप्त कर लिया जाता है तब राज्यपाल का विवेकाधिकार खत्म हो जाता है। तब मुख्यमंत्री ही राज्य प्रशासन का प्रमुख हो जाता है और राज्यपाल सिर्फ एक प्रकार की मुहर की भूमिका निभाने लगता है। राज्यपाल एक प्रकार का संवैधानिक राज्याध्यक्ष होता है जो मंत्रिमंडल के परामर्श पर तथा केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री के बीच संबंधों की स्थिति राज्य की राजनीतिक तथा संवैधानिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। सामान्य स्थितियों में राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख होता है। किन्तु आपातकाल की स्थिति में वही केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में राज्य प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित करता है।

पाठगत प्रश्न 11.3

1. (क) मुख्यमंत्री की नियुक्ति कौन करता है?
   (ख) राज्य के मंत्रियों का चुनाव कौन करता है?
2. उचित विकल्प द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-
   (क) राज्यपाल ..... की सलाह पर मंत्रियों की नियुक्ति करता है।
   (प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, राज्यपाल)
   (ख) राज्यपाल ..... की सलाह पर मंत्रियों की नियुक्ति करता है।
   (प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, राज्यपाल)
   (ग) राज्यमंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता ..... करता है।
   (राज्यपाल, विधानसभा, अध्यक्ष, मुख्यमंत्री)

(घ) मंत्रिमंडल उत्तरदायी होता है ..... के प्रति।

(राज्यपाल, मुख्यमंत्री, विधानसभा)

आपने क्या सीखा

भारत में संसदात्मक सरकार है। प्रधानमंत्री सरकार का वास्तविक प्रधान होता है। राष्ट्रपति राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है। प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। प्रधानमंत्री लोकसभा द्वारा प्राप्त विश्वास मत रहने तक ही अपने पद पर बना रहता है।

राष्ट्रपति के कार्यों में सहयोग के लिए मंत्रिमंडल के सहयोग से प्रधानमंत्री परामर्श देता है। मंत्रिमंडल में केन्द्रीय मंत्री, राज्य मंत्री तथा उपमंत्री होते हैं। मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह से राष्ट्रपति करता है। मंत्री व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

प्रधानमंत्री राष्ट्र का नेता होता है। वह देश के प्रशासन के लिए जिम्मेदार होता है। नीतियां निर्धारित करते समय वह मंत्रिमंडल को निर्देश देता है। वह मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह अंतर्राष्ट्रीय बैठकों में देश का प्रतिनिधित्व करता है। प्रधानमंत्री राष्ट्रपति तथा मंत्रिमंडल के बीच सेतु सभा का काम करता है। वह विभिन्न मंत्रालयों के बीच सहअस्तित्व बनाए रखने का प्रयास करता है। लोकसभा द्वारा प्राप्त विश्वास मत रहने तक ही वह अपने पद पर बना रह सकता है।

राज्य सरकारों का वास्तविक प्रमुख मुख्यमंत्री होता है। मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है। जिस व्यक्ति को विधानसभा में बहुमत प्राप्त पार्टी का नेता चुना जाता है राज्यपाल उसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। मुख्यमंत्री मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता करता है राज्य सरकार की संपूर्ण नीतियों के निर्धारण में वही उत्तरदायी होता है। वह राज्यपाल तथा मंत्रियों के बीच सेतु का कार्य करता है। वह विभिन्न मंत्रालयों के बीच सहअस्तित्व बनाए रखता है।

राज्य में सामान्य स्थिति होने पर राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह पर कार्य करता है किंतु संवैधानिक तंत्र के असफल होने पर वह विवेकाधिकार का प्रयोग करता है। तब वह मुख्यमंत्री तथा मंत्रिमंडल की सलाह नहीं लेता। राज्य में आपातकाल लागू होने पर वह राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।

पाठांत प्रश्न

1. केन्द्र में मंत्रिमंडल का गठन कैसे किया जाता है?
2. मंत्रिमंडल में मंत्रियों के तीनों स्तरों का वर्णन कीजिए।
3. प्रधानमंत्री की नियुक्ति की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
4. प्रधानमंत्री की क्या भूमिका होती है?
5. मुख्यमंत्री की नियुक्ति कैसे की जाती है?
6. राज्य में मुख्यमंत्री की स्थिति पर प्रकाश डालिए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

11.1

1. प्रधानमंत्री 2. राष्ट्रपति 3. वी.के. कृष्णमेनन

11.2

1. (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल

2. (क) राष्ट्रपति (ख) लोकसभा

   (ग) राष्ट्रपति (घ) प्रधानमंत्री (ङ) छह

11.3

1. (क) राज्यपाल (ख) मुख्यमंत्री

2. (क) मुख्यमंत्री (ख) मुख्यमंत्री (ग) विधानसभा

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, खण्ड 11.3
2. कृपया देखें, खण्ड 11.3
3. कृपया देखें, खण्ड 11.3
4. कृपया देखें, खण्ड 11.4
5. कृपया देखें खण्ड 11.5
6. कृपया देखें, खण्ड 11.5

12

भारतीय संसद

12.1 भूमिका

पिछले दो पाठों में आपने भारत सरकार के उस अंग का अध्ययन किया जिसे कार्यपालिका के नाम से पुकारा जाता है। आपने पढ़ा कि भारत में संसदात्मक लोकतन्त्र होने के नाते हमारे यहां नाममात्र अथवा संवैधानिक कार्यपालिका के अतिरिक्त वास्तविक कार्यपालिका भी है। केन्द्र में राष्ट्रपति हमारे राज्याध्यक्ष हैं और उनकी सभी शक्ति संविधान द्वारा प्रदत्त हैं परन्तु उनका प्रयोग मंत्रिपरिषद द्वारा किया जाता है।

संसद संघीय अथवा केन्द्रीय विधायिका है। यह एक द्विसदनीय विधि निर्मात्री संस्था है जिसका एक सदन लोकसभा तथा दूसरा सदन राज्यसभा है। भारत का राष्ट्रपति, यद्यपि वह किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता, संसद का एक अभिन्न अंग है। इस प्रकार संसद का गठन राष्ट्रपति, लोकसभा के प्रत्यक्ष निर्वाचित सदस्य तथा राज्यसभा के अप्रत्यक्ष निर्वाचित सदस्यों से होता है। मंत्रिपरिषद जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है, संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। इस पाठ में आप संसद के दोनों सदनों की रचना, कार्य एवं शक्तियां तथा दोनों सदनों के पारस्परिक संबंधों के बारे में अध्ययन करेंगे। आप यह भी अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार लोकसभा मंत्रिपरिषद पर नियन्त्रण बनाए रखती है और किस प्रकार संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के कानून बन जाते हैं। आप यह भी पढ़ें कि लोकसभा किस प्रकार वित्तीय नियंत्रण बनाए रखती है तथा किस प्रकार कुछ विशिष्ट कार्य केवल राज्यसभा का अधिकार क्षेत्र हैं। अगले पाठ में आप राज्यों की विधायिकाओं के बारे में अध्ययन करेंगे।

12.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- बता पाएंगे कि भारत की संघीय विधायिका का नाम संसद है जो राष्ट्रपति, लोकसभा तथा राज्यसभा से बनती है;
- संसद के दोनों सदनों की रचना का वर्णन कर सकेंगे;
- लोकप्रिय निर्वाचित सदन लोकसभा और अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राज्यसभा के सदस्यों की योग्यताएं एवं निर्वाचन पद्धति को समझ सकेंगे;
- संसद के विधायी तथा गैर विधायी कार्यों का उल्लेख कर सकेंगे;
- बता पाएंगे कि लोकसभा तथा राज्यसभा की पृथक-पृथक शक्तियां क्या हैं;
- भारत में विधि निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण कर सकेंगे;
- संसद के दोनों सदनों की शक्तियों की तुलना कर सकेंगे तथा यह स्थापित कर पाएंगे कि लोकसभा राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली है;

- यह विश्लेषण कर सकेंगे कि लोकसभा किस प्रकार संघीय मंत्रिपरिषद पर अपना नियंत्रण बनाए रखती है।

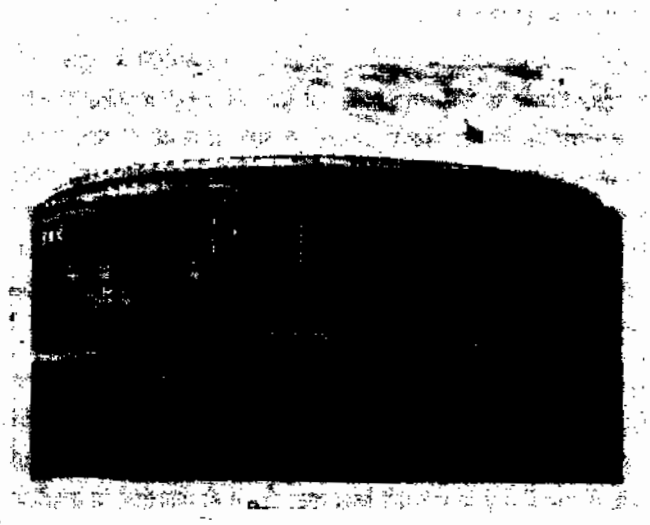

चित्र 12.1 संसद भवन

12.3 संसद की रचना

भारत की संसद दो सदनों से मिलकर बनती है। ये दो सदन हैं – लोकसभा तथा राज्यसभा। राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता परन्तु वह इसका अभिन्न अंग होता है। इस प्रकार संसद–

(क) राष्ट्रपति

(ख) लोकसभा, तथा

(ग) राज्यसभा से मिलकर बनती है। पाठ 10 में आपने राष्ट्रपति की भूमिका एवं शक्तियों के बारे में पढ़ा है। आपने देखा कि संसद द्वारा पारित सभी विधेयकों के लिए राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है। राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने के पश्चात विधेयक कानून बन जाता है। इस पाठ में आप संसद के दोनों सदनों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।

12.3.1 लोकसभा की सदस्यता एवं निर्वाचन

लोकसभा हमारी संसद का निम्न सदन है परन्तु यह उच्च सदन राज्यसभा से बहुत अधिक शक्तिशाली है। लोकसभा लोकप्रिय सदन है जिसके सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। आरम्भ में लोकसभा की सदस्य संख्या 500 निश्चित की गई थी परन्तु बाद में इसकी सदस्य संख्या में कई बार वृद्धि की गई। इसकी अधिकतम स्वीकार्य सदस्य संख्या 550 है जिसे वर्ष 2026 तक परिवर्तित नहीं किया जा सकता। लोकसभा के 550 सदस्यों में से 530 से अधिक राज्यों द्वारा निर्वाचित नहीं किए जा सकते और 20 से अधिक सदस्य केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली के सांसद दूसरी श्रेणी में आते हैं। वास्तव में लोकसभा की सदस्य संख्या 545 है यद्यपि यह 550 से अधिक नहीं हो सकती।

यदि राष्ट्रपति की दृष्टि में आंग्ल भारतीय समुदाय को निर्वाचन के आधार पर लोकसभा में उचित प्रतिनिधित्व न मिला हो तो वह इस समुदाय के दो सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। यह अस्थाई प्रावधान पहले केवल 10 वर्ष के लिए था परन्तु बाद में इसे कई बार बढ़ाया जा चुका है।

लोकसभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। वयस्क मताधिकार तथा चुनाव प्रक्रिया के बारे में और अधिक जानकारी तो आप पाठ 17 में प्राप्त करेंगे। संक्षेप में, वयस्क मताधिकार का अर्थ यह है कि भारत के सभी नागरिक जो 18 वर्ष की आयु पूरी कर चुके हैं, चाहे पुरूष हों अथवा स्त्री, लोकसभा के चुनाव में मत देने का अधिकार रखते हैं। धर्म, जाति, रंग, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर को कोई भेदभाव नहीं किया जाता। प्रत्येक मतदाता का एक मत होता है जिसका प्रयोग वह स्वतंत्रतापूर्वक किसी भी प्रत्याशी के पक्ष में कर सकता है।

लोकसभा में कुछ स्थान अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित है। इसका अर्थ यह है कि जो स्थान अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए आरक्षित हैं, वहां से केवल अनुसूचित जाति/जनजाति के सदस्य ही चुनाव लड़ सकते हैं परन्तु मत देने का अधिकार उस क्षेत्र के सभी मतदाताओं को प्राप्त है चाहे वे अनुसूचित जाति/जनजाति के हों या न हो। दूसरे शब्दों में आरक्षण का अर्थ यह है कि अनुसूचित जाति/जनजाति के सदस्य चुनाव लड़ सकते हैं और सदस्य निर्वाचित हो सकते हैं परन्तु भारत में निर्वाचक मंडल संयुक्त है जिसमें धर्म, जाति या जनजाति के आधार पर उन्हें पृथक नहीं किया जाता। आरक्षित स्थानों की यह व्यवस्था आरम्भ में केवल 10 वर्ष के लिए की गई थी जिसे बाद में बढ़ा दिया गया। आरक्षण का मुख्य उद्देश्य यह है कि पिछड़े तथा कमज़ोर वर्गों के लोग समाज के अन्य वर्गों के समान बन सकें।

लोकसभा की सदस्यता के लिए कुछ योग्यताएं निर्धारित की गई हैं। प्रत्याशी भारत का नागरिक होना चाहिए जो 25 वर्ष से छोटी आयु का न हो; देश के किसी भी संसदीय क्षेत्र में पंजीकृत मतदाता होना चाहिए। भारत में, प्रत्याशी के लिए उसी क्षेत्र का मतदाता होना आवश्यक नहीं है, जहां से वह चुनाव लड़ रहा है। धर्म, जाति, लिंग या जन्म स्थान आदि के नाम में कोई भेदभाव नही किया जाता और न ही मतदाताओं या प्रत्याशियों के लिए कोई सम्पत्ति संबंधी योग्यता रखी गई है तथापि कुछ वर्ग ऐसे भी हैं जो लोकसभा का सदस्य नहीं बन सकते। उदाहरण के लिए, विकृत मस्तिष्क वाला या पागल व्यक्ति अथवा संघ/राज्य सरकार के किसी लाभ के पद पर आसीन व्यक्ति चुनाव लड़ने के अयोग्य है। सरकारी कर्मचारी वोट तो दे सकते हैं परन्तु तब तक सांसद या विधायक नहीं बन सकते जब तक वे सरकारी नौकरी में है। जिन लोगों को दिवालिया घोषित किया जा चुका है, वे भी चुनाव नहीं लड़ सकते।

प्रत्येक राज्य तथा केन्द्र प्रशासित क्षेत्र से चुने जाने वाले लोकसभा सदस्यों की संख्या का निर्धारण वहां की जनसंख्या के आधार पर कानून बनाकर किया जाता है। इस प्रकार अधिक जनसंख्या वाले राज्यों से लोकसभा के सदस्य अधिक होते हैं और कम जनसंख्या वाले राज्यों में अपेक्षाकृत कम। देश के सर्वाधिक जनसंख्या वाले राज्य उत्तर प्रदेश से लोकसभा में 85 सदस्य हैं। सिक्किम तथा मिज़ोरम जैसे छोटे राज्यों से केवल एक–एक लोकसभा सदस्य निर्वाचित होता है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली से सात प्रतिनिधि चुने जाते हैं। निम्नलिखित तालिका में विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र प्रशासित क्षेत्र से लोकसभा के लिए चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या दर्शायी गई हैं।

लोकसभा सदस्य संख्या: 2004

राज्य का नाम	*सदस्य संख्या*
आंध्र प्रदेश	42
अरूणाचल प्रदेश	2
असम	14
बिहार	40
छत्तीसगढ़	11
गुजरात	26
गोआ	2
हरियाणा	10
हिमाचल प्रदेश	4

जम्मू एवं कश्मीर	6
झारखण्ड	14
कर्नाटक	28
केरल	20
महाराष्ट्र	48
मध्य प्रदेश	29
मणिपुर	2
मिज़ोरम	1
मेघालय	2
नागालैंड	1
उड़ीसा	21
पंजाब	13
राजस्थान	25
सिक्किम	1
तमिलनाडु	39
त्रिपुरा	2
उत्तर प्रदेश	80
उत्तरांचल	5
पश्चिमी बंगाल	42
केन्द्र शासित क्षेत्र	***सदस्य संख्या***
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	1
चंडीगढ़	1
दादर तथा नगर हवेली	1
दिल्ली (राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र)	7
लक्षद्वीप	1
पांडिचेरी	1
दमन एवं दीव	1
मनोनीत सदस्य	2

कार्य अवधि

लोकसभा की अवधि पांच वर्ष होती है किन्तु प्रधानमंत्री के परामर्श पर राष्ट्रपति उसे समय से पूर्व भी भंग कर सकता है। आपातकाल में संसद स्वंय कानून पारित कर अपनी अवधि को एक वर्ष तक बढ़ा सकती है परन्तु आपात स्थिति समाप्त हो जाने के पश्चात इसकी अवधि 6 मास से अधिक नहीं हो सकती। अनेक अवसरों पर लोकसभा को समय से पूर्व भी भंग किया गया; जो लोकसभा 1977 में निर्वाचित हुई थी उसे 1979 में भंग किया गया, 1989 में चुने गए सदन को 1991 में भंग करना पड़ा, तथा 1996 में निर्वाचित लोकसभा 1997 में भंग की गई। बारहवीं लोकसभा का चुनाव 1998 में हुआ, तथा 2004 में चौदहवीं लोकसभा के चुनाव सम्पन्न हुए।

संविधान के अनुसार लोकसभा का अधिवेशन एक वर्ष में कम से कम दो बार अवश्य होना चाहिए। परन्तु दो सत्रों के बीच की अवधि 6 मास से अधिक नहीं होनी चाहिए। अधिवेशन के स्थान एवं समय का निर्णय राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। आज तक संसद के सभी अधिकवेशन नई दिल्ली में हुए हैं।

पाठगत प्रश्न 12.1

1. लोकसभा की अधिकतम मान्य सदस्य संख्या कितनी है?

.....

.....

2. देश के किस राज्य से लोकसभा में भेजे जाने वाले सदस्यों की संख्या अधिकतम है?

.....

.....

3. लोकप्रिय सदन से क्या अभिप्राय है?

.....

.....

4. राष्ट्रपति कितने आंग्ल-भारतीयों को लोकसभा का सदस्य मनोनीत कर सकता है?

.....

.....

5. समाज के किस वर्ग के लिए लोकसभा में स्थान आरक्षित किए गए हैं?

.....

.....

12.4 लोकसभा का अध्यक्ष

संविधान के अनुसार लोकसभा का अध्यक्ष ही सदन का सभापति होता है। अध्यक्ष का निर्वाचन अपने ही सदस्यों में से सदन द्वारा किया जाता है। यदि उसकी सदन की सदस्यता समाप्त हो जाए तो उसे अध्यक्ष का पद छोड़ना पड़ता है। लोकसभा सदस्य बहुमत से उसके विरुद्ध प्रस्ताव पारित करके उसे पदच्युत कर सकते हैं। तथापि ऐसे प्रस्ताव को सदन में रखने के लिए 14 दिन का नोटिस आवश्यक है। अध्यक्ष का कार्यकाल लोकसभा की कार्य अवधि से थोड़ा सा अधिक होता है। सदन के भंग होने की स्थिति में अध्यक्ष अपने पद पर तब तक बना रहता है जब तक नई लोकसभा का गठन तथा नए अध्यक्ष का निर्वाचन न हो जाए। संविधान में एक उपाध्यक्ष की भी व्यवस्था है। यदि अध्यक्ष अनुपस्थित हो या त्यागपत्र दे दे या किसी और कारणवश उसे पद छोड़ना पड़े तो उपाध्यक्ष उसके स्थान पर कार्य करता है। जब अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों सदन से, अनुपस्थित हों या सदन की अध्यक्षता करने में असमर्थ हों, तो सदन का कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए, लोकसभा अध्यक्ष सदस्यों में से कम से कम 6 सदस्यों को मनोनीत कर सूचीबद्ध करता है जो समय-समय पर सदन की अध्यक्षता कर सकें। जब ऐसा अध्यक्ष सभापति की कुर्सी पर बैठता है तो उसे अध्यक्ष की सभी शक्तियां प्राप्त होती हैं।

लोकसभा का अध्यक्ष न तो चर्चा में भाग लेता है और न ही मतदान करता है। उसका अपना एक निर्णायक मत होता है जिसका प्रयोग वह उस स्थिति में कर सकता है जब किसी विषय पर मतदान के समय पक्ष तथा विपक्ष दोनों ओर मत समान हो।

अध्यक्ष के कार्य

अध्यक्ष सदन की कार्यवाही चलाता है। कौन सा सदस्य कब और किस क्रम से भाषण देगा, इसका निर्णय भी अध्यक्ष करता है। अध्यक्ष प्रश्नकाल में प्रश्न पूछने, सभी प्रकार के प्रस्ताव, विधेयक, संशोधन विधेयक आदि रखने की स्वीकृति प्रदान करता है। सदन के नेता के परामर्श से अध्यक्ष यह भी निर्धारित करता है कि सदन के विभिन्न कार्यों में से किस कार्य को कितना समय दिया जाए। कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं यह निश्चित करने का अधिकार भी अध्यक्ष को है।

अध्यक्ष अपना सारा कार्य सदन के लिए बनाए गए प्रक्रिया के नियमों के अनुसार करता है वह सदन में अनुशासन व व्यवस्था बनाए रखता है। वह सुनिश्चित करता है कि किसी भी सदस्य की भाषा या व्यवहार अवांछनीय नहीं

होना चाहिए। यदि कोई सदस्य अध्यक्ष के आदेश का पालन नहीं करता तो उसे सदन से बाहर जाने के लिए कहा जा सकता है या पूरे सत्र के लिए भी निकाला जा सकता है। यदि अध्यक्ष के विचार में सदन में व्यवस्था बनाए रखना कठिन हो तो वह सदन की बैठक को कुछ समय के लिए या पूरे समय के लिए स्थगित कर सकता है। यदि कोई सदस्य सदन से बाहर जाने से इन्कार करदे तो अध्यक्ष सदन के मार्शलों को उसे बाहर निकालने का आदेश दे सकता है। कई बार तो मार्शल ऐसे सदस्य को जबरदस्ती उठाकर बाहर ले जाते हैं। लोकसभा का अध्यक्ष सदस्यों के विशेषाधिकारों तथा विरोधी पक्ष के हितों की रक्षा करता है। वह सदस्यों को मुख्य विषय से हट कर बोलने की अनुमति नहीं देता। संसदीय प्रक्रिया के उल्लंघन संबंधी आपत्तियों की ओर अध्यक्ष का ध्यान बार-बार दिलाया जाता है। इस संबंध में अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है। अध्यक्ष सभी समितियों के अध्यक्षों की नियुक्ति करता है। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष कुछ समितियों के पदेन अध्यक्ष होते हैं। लोकसभा अध्यक्ष राष्ट्रपति तथा सदन के बीच की कड़ी हैं। किसी भी विधेयक के पारित होने के पश्चात उसे राज्यसभा में भेजने से पूर्व या राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजने से पूर्व अध्यक्ष को हस्ताक्षर करने होते हैं।

विभिन्न प्रकार के प्रस्तावों को स्वीकार करने या न करने के अध्यक्ष के अधिकार ने उसके पद को और भी महत्वपूर्ण बना दिया है। अध्यक्ष के आदेश का उल्लंघन सदन की मानहानि समझी जाती है। कभी-कभी विपक्ष द्वारा रखे गए काम रोको प्रस्ताव या किसी अन्य प्रस्ताव को अध्यक्ष स्वीकार नहीं करता परन्तु उसके इस निर्णय को कोई चुनौती नहीं दे सकता। मार्च 1997 में एक बहुत ही महत्वपूर्ण निर्णय देते हुए, लोकसभा अध्यक्ष पी.ए. संगमा ने बी.जे.पी. के उपनेता द्वारा उत्तर प्रदेश के राज्यपाल को हटाए जाने संबंधी प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपना निर्णय सुनाते समय अध्यक्ष ने बड़े कठोर शब्दों में कहा कि देवेगौड़ा सरकार में सामूहिक उत्तरदायित्व की कमी है। अध्यक्ष की यह टिप्पणी सत्ताधारी मोर्चा सरकार के लिए काफी कष्टदायक सिद्ध हुई परन्तु इसे चुनौती नहीं दी जा सकी।

अध्यक्ष की शक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की राजनीतिक व्यवस्था में उसका स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। वह सदन की मान-मर्यादा का रक्षक और सदन की कार्यविधि के नियमों का निष्पक्ष व्याख्याता माना जाता है। यद्यपि उसका निर्वाचन दलगत आधार पर होता है फिर भी उसे सदन में निष्पक्ष रहना पड़ता है। ग्रेट ब्रिटेन में अध्यक्ष अपने दल से संबंध-विच्छेद कर राजनीति से संन्यास ले लेता है। आरम्भ में इस तरह की स्वस्थ परम्परा भारत में भी अपनाई गई परन्तु पूर्णतया विकसित न हो सकी। 1967 में लोकसभा के अध्यक्ष संजीवा रेड्डी ने कांग्रेस पार्टी से त्यागपत्र दे दिया परन्तु 1969 में जब उन्हें कांग्रेस पार्टी द्वारा राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी घोषित किया गया वे पुनः सक्रिय राजनीति में आ गए। श्री जी.सी. ढिल्लों ने भी अध्यक्ष बनने पर तो कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया परन्तु 1971 में कांग्रेस की सहायता से उन्होंने फिर चुनाव जीता और 1975 में मंत्रिपरिषद में शामिल कर लिए गए। इसी प्रकार लोकसभा के अध्यक्ष बलराम जाखड़ भी बाद में नरसिंहराव मंत्रिपरिषद के सदस्य बन गए। जहां तक सम्भव हो अध्यक्ष को पक्षपातपूर्ण व्यवहार से मुक्त होना चाहिए। जी. वी. मावलंकर ने कहा था, "अध्यक्ष को अपने दल का सदस्य अवश्य रहना चाहिए परन्तु उसे अपने दल की विभिन्न गतिविधियों में भाग नहीं लेना चाहिए जिनकी चर्चा या निर्णय सदन में होने वाला है। हम इस बात को उचित समझते हैं कि उसे सदन में रखे जाने वाले किसी भी सार्वजनिक विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। संक्षिप्त में अध्यक्ष को अपने आप को न तो किसी प्रचार से संबध करना चाहिए और न ही कोई राय देनी चाहिए जिससे ऐसा लगने लगे कि अध्यक्ष पक्षपातपूर्ण है।" अध्यक्ष का कार्य तो बहुत ही नाजुक है और उसकी सफलता उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है।

12.5 लोकसभा के कार्य एवं शक्तियां

लोकसभा की शक्तियां तथा कार्यों का उल्लेख नीचे किया गया है:

1. **विधायी कार्य :** संसद का मुख्य कार्य जनता के सामाजिक तथा भौतिक कल्याण हेतु कानूनों का निर्माण है। यह संघ सूची तथा समवर्ती सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। कुछ परिस्थितियों में यह राज्य सूची में आने वाले विषयों पर भी कानून बना सकती है। साधारण विधेयक संसद के दोनों सदनों में से किसी में भी प्रस्तावित किया जा सकता है परन्तु दोनों सदनों से पारित होना अनिवार्य है। यदि दोनों सदनों में विधेयक पारित करने पर मतभेद हो तो दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाया

जा सकता है। यहां पर विधेयक दोनों सदनों के उपस्थित तथा मतदान करने वाले सांसदों के बहुमत से पारित होना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में प्रायः वही होता है जैसा लोकसभा चाहती है।

यह धारणा भ्रामक है कि राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए अध्यादेशों को संसद स्वीकृति देती है। अध्यादेश तो केवल दोनों सदनों के सभा पटल पर रखे जाते हैं। यदि संसद उन्हें बहुमत से अस्वीकार नहीं करती, तो वे सत्र आरम्भ होने के सप्ताह पश्चात प्रभावी नहीं रहते अर्थात समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार संसद या तो अध्यादेश को अस्वीकार करती है या उस पर कोई कार्यवाही नहीं करती। संसद अध्यादेश को स्वीकृति नहीं देती बल्कि उसके स्थान पर एक नया विधेयक प्रस्तावित एवं पारित किया जाता है। पारित होने पर यह विधेयक, कानून बन जाता है।

2. **वित्तीय कार्य** : "जिसका धन पर नियंत्रण हो, वास्तविक शक्ति भी उसी के पास होगी" यह कहावत लोकसभा पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। भारत के संविधान के अनुसार वित्त विधेयक केवल लोकसभा से प्रस्तावित किया जा सकता है राज्यसभा से नहीं। लोकसभा से पारित होने के पश्चात इसे राज्यसभा की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राज्यसभा को यह विधेयक 14 दिन के अन्दर-अन्दर वापिस भेजना अनिवार्य है, चाहे वो उस पर सुझाव दें या न दें। लोकसभा इन सुझावों को न माने तो भी विधेयक अपने मूल रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाता है। इस प्रकार, राज्यसभा किसी भी वित्त विधेयक को केवल 14 दिन तक रोक सकती है।

3. **कार्यपालिका पर नियंत्रण** : संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका का ही एक भाग होती है। प्रशासन चलाने वाली कार्यपालिका को व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त होना अनिवार्य है, विशेषतौर पर निचले सदन को जो जनता का प्रतिनिधित्व करता है। कार्यपालिका के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होने के कारण, लोकसभा प्रशासन पर अपना नियंत्रण बनाए रखती है। यदि कार्यपालिका अर्थात मंत्री परिषद लोकसभा का विश्वास प्राप्त करने में असमर्थ हो तो उसे त्याग पत्र देना पड़ता है। संविधान ने लोकसभा को यह शक्ति दी है कि वह सरकार के क्रिया-कलापों पर दिन-प्रतिदिन निगरानी रखे। मंत्री भी इस तथ्य से भलीभांति अवगत हैं कि उनको उनके कार्यों के लिए संसद में उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

अविश्वास मत के अतिरिक्त लोकसभा कई अन्य विधियों से भी कार्यपालिका पर नियंत्रण बनाए रख सकती है। सर्वप्रथम, प्रश्नकाल के दौरान संसद सदस्य प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछते हैं ताकि किसी राष्ट्रीय महत्व के विषय अथवा सरकार द्वारा की गई प्रगति के बारे में पूरी सूचना प्राप्त कर सकें। संसदीय समितियों की नियुक्ति करके प्रशासनिक कार्यों के बारे में सूचना प्राप्त की जा सकती है। दूसरे, लोकसभा में किसी भी विषय पर चर्चा करने के लिए पर्याप्त अवसर दिए जाते हैं। सरकार तथा विपक्ष की ओर से प्रस्ताव रखे जाते हैं। उन पर चर्चा होती है तथा आलोचना भी। किसी विधेयक को पारित करते समय उसका रूप पूर्णतया भिन्न भी हो सकता है। जब सदन में राष्ट्रपति के अभिभाषण पर चर्चा होती है तो यह समय विपक्ष के लिए सरकार की आलोचना का सर्वोत्तम अवसर होता है। तीसरे, जब बजट पर चर्चा हो रही होती है तो यह अवसर सदन द्वारा मंत्रिमंडल पर नियन्त्रण का अच्छा अवसर है। पूरक मांगों की पूर्ति का प्रस्ताव भी आलोचना का अच्छा अवसर प्रदान करता है।

सरकार के विभिन्न विभागों से संबंधित मंत्रियों को संसद सदस्यों की आशाओं के अनुरूप काम करना चाहिए। लोकसभा का कोई भी सदस्य मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रख सकता है। सत्ता पक्ष की शक्ति का अनुमान लगाने के लिए सदस्यों को पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। जब तक सत्ता पक्ष को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है, उसे हटाये जाने का कोई डर नहीं। किन्तु यदि सत्ता पक्ष का बहुमत स्पष्ट नहीं है तो खतरा हो सकता है। मंत्रिपरिषद की आलोचना का महत्वपूर्ण अवसर स्थगन प्रस्ताव पर होने वाले वाद-विवाद का समय होता है। कोई भी सदस्य किसी महत्वपूर्ण विषय को लेकर स्थगन प्रस्ताव रखता है। यदि अध्यक्ष इसे स्वीकार कर ले, तो उस पर वाद-विवाद होता है। इसी प्रकार 'ध्यानाकर्षण प्रस्ताव' भी सदन में लाया जा सकता है, यह प्रस्ताव किसी आकस्मिक घटना की ओर सदन का ध्यान आकर्षित करता है। इन प्रस्तावों के माध्यम से सरकार की कटु आलोचना की जाती है और साधारण नागरिक को

राहत या न्याय दिलाने का प्रयास किया जाता है। विभिन्न प्रश्नों से उत्पन्न होने वाले विषयों पर आध ो घन्टे की चर्चा होती है जहां सदस्यों को अपने-अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता है। यह सब सरकार को निरंकुश नहीं होने देता। नियंत्रण के सभी तरीके तभी प्रभावी सिद्ध होते हैं, जब विरोधी पक्ष अपना उत्तरदायित्व समझता हो चाहे वे संख्या में अधिक न भी हों और सत्ताधारी पक्ष लोकतन्त्र के मूल्यों में विश्वास रखता हो।

4. **संशोधन संबंधी कार्य** : लोकसभा राज्यसभा के साथ मिलकर संविधान में संशोधन कर सकती है। संविधान में संशोधन संबंधी विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है और अनुच्छेद 368 में वर्णित विधि के अनुसार ही पारित होना चाहिए। यदि दोनों सदनों में गतिरोध की स्थिति हो तो संयुक्त अधिवेशन का कोई प्रावधान नहीं है।

5. **निर्वाचन संबंधी कार्य** : संविधान ने संसद को कुछ चुनाव संबंधी शक्तियां दी हैं। लोकसभा, राज्यसभा तथा राज्यों की विधान सभाओं से मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। लोकसभा और राज्यसभा उपराष्ट्रपति का निर्वाचन भी करते हैं।

6. **विविध कार्य** : लोकसभा तथा राज्यसभा दोनों उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के किसी न्यायाधीश को उसके असंविधानिक या अनैतिक व्यवहार के आधार पर हटाने का प्रस्ताव रख सकती हैं। ऐसा प्रस्ताव दोनों सदनों के दो तिहाई बहुमत से पारित होना आवश्यक है। दोनों सदनों द्वारा राष्ट्रपति पर भी महाभियोग चलाया जा सकता है। उपराष्ट्रपति को हटाने के लिए राज्यसभा द्वारा पारित प्रस्ताव का अनुमोदन भी लोकसभा करती है। दोनों सदन मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा महा लेखा परीक्षक के हटाए जाने की सिफारिश कर सकते हैं। राष्ट्रपति द्वारा घोषित आपातकालीन स्थिति के बारे में स्वीकृति या उस की अवधि बढ़ानें के लिए स्वीकृति संसद के दोनों सदन प्रदान करते हैं। विभिन्न विभागों द्वारा बनाए गए नियम तथा कानूनों को स्वीकृति प्रदान की जाती है। संघ लोक सेवा आयोग, अनुसूचित जाति/जनजाति आयोग, महालेखा परीक्षक तथा वित्त आयोग द्वारा संसद में रखी गई रिपोर्ट पर दोनों सदन विचार किसी महत्वपूर्ण विषय के लिए करते हैं। समय-समय पर किसी महत्वपूर्ण विषय के लिए सरकार द्वारा गठित आयोग की रिपोर्ट पर भी लोकसभा तथा राज्यसभा दोनों विचार करते हैं।

पाठगत प्रश्न 12.2

1. लोकसभा के अध्यक्ष को कौन चुनता है?
2. अध्यक्षीय सूची से क्या अभिप्राय है?
3. लोकसभा अध्यक्ष का कार्यकाल कितना होता है?
4. प्रश्न काल से क्या अभिप्राय है?
5. संसद के दोनों सदन किस-किस पद के लिए निर्वाचन का कार्य करते हैं?
6. वित्त विधेयक संसद के किस सदन में प्रस्तावित किया जाता है?

12.6 राज्यसभा: सदस्यता एवं निर्वाचन

राज्यसभा संसद का उपरि सदन या द्वितीय सदन कहलाता है। संविधान-सभा इस बात पर एक मत थी कि राज्यसभा राज्यों के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए अवश्य होनी चाहिए किन्तु इसकी रचना तथा शक्तियों के बारे में कुछ मतभेद था। संविधान-सभा ने निर्णय लिया कि राज्यसभा में 250 सदस्य होंगे जिनमें राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत 12 सदस्यों को छोड़कर बाकी सबका निर्वाचन राज्यों की विधानसभाओं द्वारा किया जाएगा। मनोनीत सदस्य कला, साहित्य, विज्ञान, शिक्षा या सामाजिक सेवा आदि के क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त व्यक्ति होते हैं। शेष 238 सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से राज्यों की विधान सभाओं के सभी निर्वाचित

सदस्यों द्वारा किया जाता है। यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा होता है। केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों से राज्यसभा में प्रतिनिधित्व के बारे में निर्णय संसद लेती है। दिल्ली पूर्ण राज्य न होते हुए भी तीन राज्यसभा सदस्यों का चुनाव करती है। अमरीका के संविधान में द्वितीय सदन में राज्यों के प्रतिनिधित्व के लिए समानता का सिद्धान्त अपनाया है। अमरीका की सीनेट (द्वितीय सदन) में प्रत्येक राज्य से दो-दो प्रतिनिधि होते हैं चाहे वह राज्य जनसंख्या तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटा हो या बड़ा। भारत में यह प्रतिनिधित्व प्रत्येक राज्य की जनसंख्या के अनुपात में होता है। इस समय उत्तर प्रदेश के सर्वाधिक 34 तथा सिक्किम से न्यूनतम अर्थात 1 राज्यसभा सदस्य है।

योग्यताएं

संविधान में राज्यसभा का सदस्य बनने के लिए कुछ योग्यताएं निर्धारित की गई हैं। ये इस प्रकार हैं :

(क) वह भारत का नागरिक होना चाहिए;

(ख) उसकी आयु 30 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए;

(ग) उसमें वे सभी योग्यताएं हों जिन्हें संसद समय-समय पर निर्धारित करती है। जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के अनुसार, वह पागल या दिवालिया न हो और न ही संघ सरकार या राज्य सरकार के किसी पद पर आर्थिक लाभ रखता हो। राज्यसभा की सदस्यता के लिए यह भी अनिवार्य है कि व्यक्ति का उस राज्य के किसी भी क्षेत्र की मतदाता सूची में नाम होना चाहिए जहां से वह चुनाव लड़ना चाहता है।

कोई भी व्यक्ति लोकसभा या विधान सभा का सदस्य होने के साथ राज्यसभा का भी सदस्य नहीं बन सकता। इसी प्रकार किसी फौजदारी जुर्म के आधार पर दण्डित व्यक्ति भी संसद का सदस्य बनने के लिए अयोग्य माना जाता है। यदि कोई सांसद 60 दिन की अवधि तक संबंधित सदन के अधिवेशन से अनुपस्थित रहे और उसने पूर्व अनुमति प्राप्त न की हो तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है।

कार्य अवधि

अमरीका की सीनेट की तरह राज्यसभा भी एक स्थायी सदन है। यह कभी भंग नहीं होती। इसके सदस्य 6 वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। हर दो वर्ष पश्चात इसके एक तिहाई सदस्य सेवानिवृत्त हो जाते हैं किन्तु उनके पुनः चुनाव लड़ने पर कोई प्रतिबंध नहीं। यद्यपि राज्यसभा के सदस्य बदलते रहते हैं तथापि संसद के एक सदन में निरन्तरता बनी रहती है।

12.7 राज्यसभा का सभापति

भारत का उपराष्ट्रपति अपने पद के कारण (पदेन) राज्यसभा का सभापति होता है। राज्यसभा का उपसभापति भी होता है जिसका निर्वाचन राज्यसभा के सदस्यों द्वारा अपने में से ही किया जाता है। सभापति की अनुपस्थिति में या जब वह राष्ट्रपति पद का कार्यभार संभाल रहा हो, उपसभापति राज्यसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है। यदि सभापति एवं उपसभापति दोनों ही अनुपस्थित हों, तो किसी अन्य सदस्य को निर्धारित नियमों के अनुसार निर्वाचित किया जा सकता है ताकि वह बैठकों की अध्यक्षता कर सके।

सभापति राज्यसभा का सदस्य नहीं होता। इसलिए उसे मतदान का अधिकार नहीं होता किन्तु आवश्यकता पड़ने पर निर्णायक मत दे सकता है। वह अपनी पदच्युति से संबंधित प्रस्ताव पर भी मतदान नहीं कर सकता। उसका पद एक प्रतिष्ठित पद है। वह सभापति के रूप में सभी कार्य करता है जैसे सदस्यों को बोलने का अधिकार देना, किसी विधेयक को प्रस्तावित करने की अनुमति देना, मतदान कराना, तथा परिणाम घोषित करना आदि।

सभापति को राज्यसभा द्वारा पारित प्रस्ताव द्वारा जिसे लोकसभा ने भी स्वीकृति प्रदान की हो, हटाया जा सकता है। जब उसे हटाए जाने संबंधी प्रस्ताव पर चर्चा हो रही हो तो वह सदन की बैठक की अध्यक्षता नहीं कर सकता और न ही मतदान कर सकता है परन्तु उसे सदन में अपनी बात कहने का अधिकार है। उपसभापति को राज्यसभा की कुल सदस्यता के स्पष्ट बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। उसको भी अपने विरुद्ध पदच्युति के प्रस्ताव की चर्चा के दौरान अध्यक्षता करने का अधिकार नहीं होता। सभापति एवं उपसभापति के वेतन तथा भत्ते आदि संसद द्वारा निर्धारित किए जाते हैं तथा संचित निधि में से दिए जाते हैं।

12.8 राज्यसभा के कार्य एवं शक्तियां

राज्यसभा के कार्य एवं शक्तियों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं :

1. विधायी कार्य

वैसे तो विधायी प्रक्रिया को पूरा करने का उत्तरदायित्व पूरी संसद अर्थात राष्ट्रपति, लोकसभा एवं राज्यसभा का है, किन्तु धन विधेयकों के अतिरिक्त अन्य सभी विधेयक राज्यसभा से प्रस्तावित किए जा सकते हैं परन्तु वे लोकसभा की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकते। इसका अर्थ यह हुआ कि साधारण विधेयकों के संबंध में दोनों सदनों की शक्ति समान है। यदि किसी विधेयक को पारित करते समय दोनों सदनों में असहमति हो, तथा राष्ट्रपति संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। संयुक्त अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों के स्पष्ट बहुमत द्वारा पारित प्रस्ताव द्वारा गतिरोध को दूर किया जा सकता है। यदि किसी साधारण विधेयक को राज्यसभा 6 मास तक पारित न करे तो भी संयुक्त अधिवेशन बुलाया जा सकता है। वास्तव में संयुक्त अधिवेशन में लोकसभा का पलड़ा भारी रहता है क्योंकि अबकी सदस्य संख्या राज्यसभा के दुगने से भी अधिक है। राज्यसभा तो लोकसभा द्वारा पारित किसी विधेयक को अधिक से अधिक 6 मास तक लटका सकती है परन्तु पारित होने से रोक नहीं सकती। ऐसे संयुक्त अधिवेशन कई बार बुलाए जा चुके हैं। संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोकसभा अध्यक्ष करता है।

2. वित्तीय कार्य वित्तीय क्षेत्र में राज्यसभा का नियंत्रण केवल नाममात्र का है। यह निर्णय कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। धन विधेयक केवल लोकसभा में प्रस्तावित किए जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। जब कोई वित्त विधेयक/धन विधेयक लोकसभा द्वारा पारित कर दिया जाता है तो उसे राज्यसभा में भेज दिया जाता है जहां उसे पारित करना 14 दिन के अन्दर-अन्दर या अपने सुझावों सहित लोकसभा को वापिस भेजना आवश्यक है। यदि ऐसा न किया जाए तो विधेयक 14 दिन के पश्चात पारित माना जाता है। राज्यसभा द्वारा भेजी गई सिफारिशों को मानने के लिए लोकसभा बाध्य नहीं है। 1978 में राज्यसभा ने वित्त विधेयक में संशोधन संबंधी सुझाव लोकसभा को भेजे जिसे लोकसभा ने अस्वीकार कर दिया। अनुदान मांगे भी लोकसभा में ही रखी जाती हैं। इस प्रकार लोकसभा राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली बन जाती है।

3. प्रशासकीय कार्य

मंत्रियों की नियुक्ति दोनों सदनों से की जाती है। वे दोनों सदनों की बैठकों में हिस्सा लेते हैं तथा उन्हें दोनों सदनों को संतुष्ट करना होता है। प्रश्नकाल में राज्यसभा सांसद किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। चर्चा करते समय मंत्रियों की आलोचना भी की जा सकती है। विधि निर्माण की प्रक्रिया में सरकार का पुन:निरीक्षण होता है और राज्यसभा कानून बनाने में बराबर की भागीदार है। सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों के पक्ष में मत प्रकट करने हेतु मंत्री राज्यसभा में उपस्थित होते हैं चाहे वो उसके सदस्य न भी हों ऐसी स्थिति में उन्हें मतदान का अधिकार नहीं होता। किन्तु राज्यसभा को यह अधिकार नहीं है कि वह सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर सके। मंत्रियों को अपदस्थ करने का अधिकार केवल लोकसभा का है।

4. संशोधन संबंधी कार्य

संविधान में संशोधन का कार्य लोकसभा तथा राज्यसभा, दोनों करते हैं। संशोधन संबंधी विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है परन्तु अनुच्छेद 368 में वर्णित विधि के अनुसार दोनों सदनों से पारित होना आवश्यक है। संशोधन विधेयक के संबंध में गतिरोध को दूर करने की कोई विधि या व्यवस्था का वर्णन संविधान में नहीं दिया गया।

5. विविध कार्य

सर्वप्रथम राज्यसभा, लोकसभा तथा विधान सभाओं सहित राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेती हैं और लोकसभा के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति का भी निर्वाचन करती है। दूसरे, राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग, उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं महालेखा-जोखा अधिकारी को हटाने की प्रक्रिया में राज्यसभा तथा लोकसभा की शक्तियां समान हैं। तीसरे, लोकसभा सहित राज्यसभा भी संघ लोक सेवा आयोग,

महालेखा-जोखा अधिकारी, वित्त आयोग तथा अनुसूचित जाति/जनजाति आयुक्त की वार्षिक रिपोर्ट पर विचार करती है। चौथे, लोकसभा सहित राज्यसभा राष्ट्रपति द्वारा घोषित आपात स्थिति को स्वीकृति प्रदान करती है। यदि आपातकाल की अवधि बढ़ानी हो तो भी राज्यसभा की स्वीकृति आवश्यक है। पांचवें, राज्यसभा को यह अधिकार है कि यदि वह राष्ट्रहित में उचित समझे तो राज्य सूची में दिए गए किसी विषय पर कानून बनाने का अधिकार उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके संसद को दे सकती है। किन्तु ऐसे विषय पर बना हुआ कानून केवल एक वर्ष तक चल सकता है। छठे, राज्यसभा को यह भी अधिकार है कि वह अपने उपस्थित तथा मत देने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से यह प्रस्ताव पारित करे कि एक या एक से अधिक अखिल भारतीय सेवा आरम्भ करना राष्ट्रहित में है। इसलिए संसद को इस पर कानून बनाना चाहिए।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसभा लोकसभा की अपेक्षा कम शक्तिशाली है। संविधान में राज्यसभा को अधिक शक्तियां नहीं दी गई हैं। साधारण विधेयक पारित करते समय उत्पन्न गतिरोध का समाधान लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है क्योंकि लोकसभा सदस्य की संख्या काफी अधिक हैं। जहां तक किसी वित्त विधेयक का प्रश्न है, राज्यसभा इसे अधिक से अधिक 14 दिन तक अपने पास रख सकती है। प्रशासन पर राज्यसभा का कोई नियंत्रण नहीं होता। राज्यसभा मंत्रियों को भी त्याग पत्र देने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। राज्यसभा द्वितीय सदन होते हुए भी संघात्मक व्यवस्था में द्वितीय सदन का वांछित उत्तरदायित्व नहीं निभा सकती। राज्यसभा न तो अमरीका की सीनेट की भांति राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान करती है और न ही राज्य सरकारों की सलाह पर कार्य करती है। राज्यसभा राज्यों के हितों की रक्षा भी नहीं कर सकती। यह तो सत्ता में आए राजनैतिक दलों के हाथ की कठपुतली मात्र है। मौरिस जोन्स ने ठीक कहा है कि राज्यसभा सदैव एक गौण सदन रहा है।

पाठगत प्रश्न 12.3

1. राज्यसभा की बैठकों की अध्यक्षता कौन करता है?
2. राज्यसभा किसी धन विधेयक को कितने दिन तक अपने पास रख सकती है?
3. राज्यसभा के कितने सदस्य मनोनीत किए हुए होते हैं?
4. राज्यसभा के प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल कितना होता है?
5. राज्यसभा की किसी एक विशिष्ट शक्ति का उल्लेख करें।

12.9 गणपूर्ति एवं संसद सदस्यों के वेतन और भत्ते

संसद के दोनों सदनों में किसी भी बैठक के लिए गणपूर्ति कुल सदस्यों का दसवां भाग होगी। यदि सदन के किसी अधिवेशन में किसी समय गणपूर्ति न हो तो सदस्यों की सूचनार्थ एक घन्टी बजती है। यदि घन्टी बजने के पश्चात भी गणपूर्ति न हो तो अध्यक्ष सदन की बैठक को स्थगित कर सकता है।

सांसदों के वेतन और भत्ते

प्रत्येक संसद सदस्य को 12,000/- रुपये वेतन 10,000/- रुपये निर्वाचन क्षेत्र भत्ता एवं 14,000/- रुपये अन्य व्ययों के लिए प्रति मास मिलता है। प्रत्येक सदस्य को 500/- रुपये दैनिक भत्ता मिलता है यदि वह दिल्ली में उपस्थित है और संसद के रजिस्टर में उपस्थिति लगाए। यह दैनिक भत्ता केवल अधिवेशन के दिनों में तथा संसदीय समितियों की बैठक के दिनों में ही दिया जाता है। अधिवेशन बैठक आरम्भ होने से तीन दिन पूर्व तथा समाप्त होने के बाद के तीन दिन भी इस दैनिक भत्ते की गणना में शामिल किए जाते हैं। प्रत्येक संसद सदस्य को रेल द्वारा प्रथम श्रेणी से यात्रा करने तथा वर्ष में 32 बार वायुयान द्वारा यात्रा करने की सुविधा प्राप्त है। उसे दो निशुल्क टेलीफोन तथा 300/- रुपये प्रतिमास बिजली—पानी के बिल के लिए भी दिए जाते हैं। चार साल की अवधि पूरा कर लेने पर सदस्यों को 3,000/- रुपये प्रति मास की पैंशन तथा प्रत्येक अतिरिक्त एक वर्ष की अवधि के लिए 600/- रुपए अतिरिक्त की राशि प्रतिमास दी जाती है।

भारत में एक स्थान से दूसरे स्थान तक कहीं भी वायुयान द्वारा जाने के लिए 32 निशुल्क यात्राओं के अतिरिक्त यदि किसी सांसद को अधिवेशन अथवा किसी समिति की बैठक के लिए वायुयान द्वारा यात्रा करनी पड़े तो उसे हवाई टिकट का सवाया (5/4 गुणा) यात्रा भत्ते के रूप में दिया जाता है। यदि यह यात्रा रेल द्वारा की जाए तो संसद सदस्यों को एक प्रथम श्रेणी तथा एक द्वितीय श्रेणी के रेल भाड़े के समान भत्ता दिया जाता है चाहे उसने यात्रा किसी भी श्रेणी से क्यों न की हो। संसद के प्रत्येक सत्र के लिए संसद सदस्य के पति या पत्नि के घर से दिल्ली तक आने जाने का रेल द्वारा वातानुकूल प्रथम श्रेणी का किराया मिलता है। निशुल्क टेलीफोन की सुविधा के अन्तर्गत प्राप्त दो टेलीफोनों में से प्रत्येक पर एक वर्ष में 50,000 बार निःशुल्क टेलीफोन करने की सुविधा प्राप्त है। एक टेलीफोन दिल्ली में तथा दूसरा सदस्य के निर्वाचन क्षेत्र में उपलब्ध कराया जाता है। इसके अलावा 50,000 कॉल इन्टरनेट के लिए दिया गया है।

12.10 लोकसभा तथा राज्यसभा के पारस्परिक संबंध

यद्यपि लोकसभा तथा राज्यसभा की विधायी शक्तियां समान हैं फिर भी संविधान के अनुसार लोकसभा कई मामलों में राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली है। प्रथम, तो यह कि केवल लोकसभा ही मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण रख सकती है। चाहे मंत्री किसी भी सदन से क्यों न हों, उन्हें दोनों सदनों की बैठक में भाग लेने का अधिकार है। दोनों सदनों में उनके कार्यों की आलोचना की जा सकती है परन्तु उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव केवल लोकसभा ही पारित कर सकती है राज्यसभा नहीं।

वित्तीय मामलों में राज्यसभा का नियंत्रण बहुत ही कम है। धन विधेयक केवल लोकसभा से प्रस्तावित किए जा सकते हैं राज्यसभा से नहीं। किसी भी लोकतन्त्र का यह मूल सिद्धान्त है कि राज्य के वित्त पर जनता का नियंत्रण होना चाहिए। देश की आय और व्यय के मामले में लोगों को अवश्य विश्वास में ले लेना चाहिए। यह व्यवस्था केवल लोकसभा में ही सम्भव है क्योंकि लोकसभा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदन है परन्तु संविधान के अनुसार यह अनिवार्य है कि प्रत्येक धन/वित्त विधेयक को राज्यसभा के विचारार्थ भेजा जाए। राज्यसभा चाहे उसे संशोधित करे या न करे, उसे वह विधेयक 14 दिन के अन्दर अवश्य वापिस करना होगा 14 दिन के पश्चात विधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जाता है। इस प्रकार वित्तीय मामलों में राज्यसभा परामर्श देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकती।

साधारण विधेयक तथा संशोधन संबंधी विधेयक के बारे में राज्यसभा की शक्ति लोकसभा के समान है। ऐसे विधेयक संसद के किसी भी सदन से प्रस्तावित किए जा सकते हैं। लोकसभा द्वारा पारित किसी भी विधेयक को राज्यसभा रद्द या अस्वीकार कर सकती है। यदि दोनों सदनों में असहमति हो – जिसे गतिरोध कहा जाता है तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है जिसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है। यह गतिरोध उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा दूर किया जाता है और फिर राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। क्योंकि लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की सदस्य संख्या के दो गुना से भी अधिक है, इसलिए संयुक्त बैठक में होने वाला निर्णय लोकसभा की इच्छानुसार होता है।

यद्यपि उपरोक्त चर्चा के पश्चात ऐसा लगता है कि राज्यसभा एक कमजोर सदन है तथापि कुछ प्रावधान ऐसे हैं जो राज्यसभा की शक्ति को स्थापित करते हैं। इन दोनों परिस्थितियों में राज्यसभा को लोकसभा की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। ये हैं :

(क) यदि राज्यसभा चाहे, तो अनुच्छेद 249 के अनुसार, दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राज्य सूची के किसी भी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित करके कुछ समय के लिए संसद को उस पर कानून बनाने का अधिकार दे सकती है। इस प्रकार का प्रस्ताव एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए नहीं हो सकता और बनाया गया कानून सारे देश के लिए या देश के किसी भाग के लिए भी हो सकता है।

(ख) अनुच्छेद 312 के अनुसार, राज्यसभा को यह अधिकार दिया गया है कि वह दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके किसी नई अखिल भारतीय सेवा की स्थापना कर सकती है। इस प्रकार का प्रस्ताव केवल राज्य से प्रस्तावित किया जा सकता है, लोकसभा से नहीं। इस प्रकार स्थापित की गई अखिल भारतीय सेवा केन्द्र तथा राज्य दोनों के लिए होगी।

इस प्रकार संविधान द्वारा राज्यसभा तथा लोकसभा दोनों को विधायी कार्यों के लिए समान शक्ति प्रदान की गई है। राज्यसभा को कुछ विशेष शक्तियां भी प्रदान की गई हैं। तुलनात्मक दृष्टि से राज्यसभा छोटा सदन है जिसमें वरिष्ठ सदस्य होते हैं और अधिक रचनात्मक चर्चा सम्भव है। इसके अतिरिक्त राज्यसभा एक स्थायी सदन भी है। जब लोकसभा भंग कर दी जाती है, राज्यसभा जनमत को सजीव रखती है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राज्यसभा ने अपनी उपयोगिता प्रमाणित की है। यद्यपि राज्यसभा की शक्तियां सीमित हैं तो भी राज्यसभा समय के साथ-साथ अधिक उपयोगी एवं प्रभावशाली बनती जा रही है।

आपने अनुभाग 12.5 में लोकसभा की शक्तियों एवं कार्यों के बारे में तथा अनुभाग 12.8 में राज्यसभा की शक्तियों के बारे में पढ़ा और इस अनुभाग में आपने संसद के दोनों सदनों के पारस्परिक संबंधों के बारे में अध्ययन किया। अब तो आप यह निर्णय लेने के योग्य हो गए होंगे कि संसद के एक सामूहिक संस्था के रूप में क्या कार्य हैं और इसके दोनों सदनों अर्थात राज्यसभा तथा लोकसभा के अलग-अलग कार्य एवं शक्तियां क्या हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संसद के मुख्य कार्यों में शामिल हैं – कानून बनाना, मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण रखना, बजट प्रस्तावों को स्वीकृति प्रदान करना तथा देश के वित्त पर नियंत्रण रखना; राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेना, विशेष बहुमत द्वारा संविधान में संशोधन करना; राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा पदच्युत करना तथा विशेष प्रक्रिया द्वारा उपराष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा भारत के मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपदस्थ करना; एवं राष्ट्रपति द्वारा घोषित आपात स्थिति को जारी रखने को स्वीकृति प्रदान करना।

लोकसभा की विशिष्ट शक्तियों में शामिल है – प्रधानमंत्री तथा उसकी मंत्री परिषद को अविश्वास के प्रस्ताव को पारित कर अपदस्थ करना और केन्द्रीय सरकार के वित्तीय कार्यों पर प्रभावी नियन्त्रण। जैसा कि ऊपर कहा गया है राज्यसभा राज्य सूची के किसी विषय पर संसद द्वारा कानून बनाए जाने की सिफारिश कर सकती है और किसी नई अखिल भारतीय सेवा की स्थापना कर सकती है। इसके अतिरिक्त उपराष्ट्रपति को अपदस्थ करने का प्रस्ताव भी केवल राज्यसभा से प्रारम्भ हो सकता है और तब लोकसभा की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है।

12.11 संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया

संसद संघ सूची तथा समवर्ती सूची में आने वाले सभी विषयों पर कानून बना सकती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में यह राज्य सूची में आने वाले विषयों पर कानून बना सकती है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारतीय संसद, ब्रिटिश पार्लियामेंट की तरह संप्रभु नहीं है। भारतीय संसद की शक्तियां सीमित हैं। हमारी संसद के कार्यों पर न्यायिक नियंत्रण की व्यवस्था है। संसद का कोई भी कार्य जो संविधान की भावनाओं के अनुरूप नहीं, तो उसे न्यायपालिका द्वारा अवैध घोषित किया जा सकता है। इसलिए भारतीय संसद को संविधान द्वारा मर्यादित सीमाओं में कार्य करना पड़ता है।

किसी भी प्रस्ताव को विधेयक का रूप दिया जाता है चाहे वह धन विधेयक हो या न हो। धन विधेयक/वित्त विधेयक का संबंध धन से या वित्तीय मामलों से होता है जैसे कर लगाना, वर्तमान करों में परिवर्तन करना या उन्हें हटाना, सार्वजनिक ऋण, व्यय आदि। गैर वित्तीय विधेयकों का संबंध जनता के सामान्य कल्याण से होता है। वित्त विधेयकों को केवल लोकसभा में ही प्रारम्भ तथा प्रस्तावित किया जाता है जब कि गैर वित्तीय या साधारण विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं। साधारण विधेयक की पुनर्स्थापना किसी मंत्री द्वारा या किसी निजी सदस्य द्वारा की जा सकती है। मंत्री द्वारा रखा जाने वाला विधेयक सरकारी विधेयक कहलाता है और निजी, सदस्य वाला गैर सरकारी विधेयक। इन दोनों प्रकार के विधेयकों को पारित करने का तरीका एक जैसा ही है। प्रत्येक विधेयक को निम्नलिखित से गुजरना पड़ता है। ये हैं :

1. प्रथम पठन या प्रथम वाचन
2. द्वितीय पठन या द्वितीय वाचन
3. समिति अवस्था
4. रिपोर्ट अवस्था
5. तृतीय पठन या तृतीय वाचन

1. **प्रथम वाचन :** इस अवस्था में बिल या विधेयक को प्रस्तावित किया जाता है और फिर गज़ट में छाप दिया जाता है। बिल को प्रस्तावित करने की अनुमति के लिए प्रार्थना के साथ उसको रखने का कारण एवं उद्देश्य सभापति के पास भेज दिए जाते हैं। यदि किसी निजी सदस्य को कोई विधेयक प्रस्तावित करना हो तो उसे सभापति या अध्यक्ष अपने इस आशय के संबंध में एक नोटिस अर्थात पूर्व सूचना देनी होती है। सदन में रखे जाने वाले प्रत्येक विधेयक का गज़ट में छापा जाना आवश्यक है। निश्चित तिथि को मंत्री या निजी सदस्य विधेयक को प्रस्तावित करने की अनुमति मांगता है तथा इसका शीर्षक पढ़ देता है। इस अवस्था में विधेयक पर कोई चर्चा नहीं होती परन्तु अध्यक्ष मतदान द्वारा सदन की राय जान लेता है। प्राय: सदन प्रस्तावित करने की स्वीकृति सामूहिक स्वर से दे देता है। कभी-कभी विधेयक को प्रस्तावित करने का भी विरोध होता है। ऐसी स्थिति में अध्यक्ष प्रस्तावक को विधेयक के पक्ष में अपना वक्तव्य देने को कहता है। यदि विधेयक को प्रस्तावित करने का विरोध इस आधार पर किया जा रहा हो क्योंकि वह सदन के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता, तो अध्यक्ष उस पर पूरी चर्चा कराने की आज्ञा भी दे सकता है। सदन द्वारा अनुमति मिल जाने के बाद, विधेयक को औपचारिक रूप से पुनर्स्थापित करा दिया जाता है और प्रथम वाचन समाप्त हो जाता है।

2. **द्वितीय वाचन :** द्वितीय अवस्था को दो भागों में बांटा जाता है:

   (i) विधेयक के गुण दोषों पर सामान्य रूप से प्रकाश डाला जाता है।

   (ii) विधेयक की सभी धाराओं पर विचार तथा तत्सम्बंधी संशोधन प्रस्ताव यदि कोई रखा जाए और फिर विधेयक को पारित करना। सामान्य चर्चा के पश्चात प्रस्तावकर्ता मंत्री या सदस्य के लिए चार विकल्प खुले हैं (i) विधेयक पर सदन स्वयं विचार करे (ii) इसे प्रवर समिति के विचारार्थ भेजा जाए (iii) इसे दोनों सदनों की संयुक्त समिति को सौंपा जाए (iv) विधेयक जनता का दृष्टिकोण जानने के लिए जनमत संग्रह के लिए प्रसारित किया जाए। विधेयक पर तत्काल चर्चा केवल तभी होती है यदि विधेयक या तो परमावश्यक अथवा पूर्णतया विवाद रहित हो। संयुक्त प्रवर समिति की अवस्था में दूसरे सदन की सहमति अवश्य ली जाती है। जो विधेयक समाज कल्याण से संबंधित हों या ऐसे विषय से संबंधित हों जो राष्ट्रीय जीवन के लिए बिल्कुल नया हो या किसी विवादास्पद विषय से संबंधित हो उसे जनमत संग्रह के लिए प्रसारित किया जाता है। हमारे देश में अधिकतर विधेयक प्रवर समिति को नहीं सौंपे जाते।

   द्वितीय वाचन के प्रारम्भ में, सदन में विधेयक के प्रमुख सिद्धांतों पर चर्चा होती है। प्रस्तावक प्रस्तावित विधेयक के उद्देश्यों पर विस्तार से प्रकाश डालता है। विरोधी पक्ष इसका विरोध या आलोचना करता है। परन्तु यहां पर विचार नहीं होता और न ही कोई संशोधन प्रस्तावित करने की अनुमति दी जाती है। यदि संशोधन प्रस्तावित करना भी हो तो वह ऊपर उल्लिखित चार विकल्पों के संबंध में ही होना चाहिए। सामान्य चर्चा के पश्चात मुख्य प्रस्ताव पर मतदान कराया जाता है। सदन जिस विकल्प के पक्ष में प्रस्ताव पारित करता है, विधेयक उसी के अनुसार भेज दिया जाता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि विधेयक प्राय: प्रवर समिति को नहीं भेजा जाता।

3. **समिति स्तर :** इस समिति का गठन प्रभारी मंत्री द्वारा प्रस्तावित सदस्यों द्वारा किया जाता है। प्रस्तावक मंत्री या सदस्य पहले से ही यह सुनिश्चित कर लेता है कि प्रस्तावित सदस्य समिति की सदस्यता ग्रहण करने से इन्कार नहीं करेंगे। अध्यक्ष समिति के सदस्यों में से एक को इसका अध्यक्ष नियुक्त करता है। यदि सदन का उपाध्यक्ष या उपसभापति किसी समिति का सदस्य हो तो वह ही उस समिति का अध्यक्ष होता है। संयुक्त समितियों में लोकसभा तथा राज्यसभा प्रस्तावित सदस्यों की संख्या का अनुपात 2:1 होता है। प्रवर समिति की गणपूर्ति इसकी कुल सदस्य संख्या का एक-तिहाई होता है। यदि कोई व्यक्ति समिति का सदस्य नहीं है तो वह इसकी बैठकों में बैठ तो सकता है परन्तु इसकी गतिविधियों में भाग नहीं ले सकता। किन्तु संबंधित मंत्री समिति के अध्यक्ष की अनुमति से इसे सम्बोधित कर सकता है। समिति में सभी निर्णय बहुमत द्वारा लिए जाते हैं। अध्यक्ष का मत निर्णायक मत होता है।

   समिति विधेयक का धारावार निरीक्षण करती है। इसके सदस्य अध्यक्ष की अनुमति से संशोधन प्रस्तावित कर सकते हैं। समिति विधेयक से संबंधित किसी भी व्यक्ति को बुला सकती है या किसी भी पत्र या अभिलेख को मंगा सकती है। परन्तु राष्ट्रहित में, सरकार यदि चाहे, तो किसी पत्र या अभिलेख को देने से इनकार भी

कर सकती है। समिति विशेषज्ञों तथा विशेष हित समूहों के प्रतिनिधियों के विचार भी जान सकती है। सभी व्यक्तियों को सुनने के पश्चात तथा सभी अभिलेख या पत्र देखने के बाद, समिति किसी निष्कर्ष पर पहुंचती है। समिति विधेयक के मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए कुछ संशोधन भी प्रस्तावित कर सकती है।

4. **रिपोर्ट स्तर** : समिति द्वारा रखी गई रिपोर्ट दो भागों में होती है – पहले भाग में वे सभी बिन्दु होते हैं जिनका समावेश, समिति के अनुसार, विधेयक में अवश्य किया जाना चाहिए। इसी के साथ-साथ इस में प्रस्तावित संशोधन के पीछे औचित्य या कारण भी लिखे जाते हैं। दूसरे भाग में समिति द्वारा बनाया गया विधेयक का पूर्ण विवरण तथा प्रारूप दिया जाता है।

   निर्धारित तिथि को अध्यक्ष या कोई अन्य अधिकृत व्यक्ति समिति द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। रिपोर्ट को रखने वाला संक्षिप्त वक्तव्य भी देता है। इस अवस्था में रिपोर्ट पर चर्चा नहीं होती। रिपोर्ट की प्रतियां सदन में सदस्यों को बांट दी जाती हैं और प्रस्तावक सदस्य सदन में इस पर विचार करने की मांग रखता है। विधेयक पर धारावार विचार किया जाता है और संशोधन भी प्रस्तावित किए जाते हैं संशोधित प्रस्तावित करने के लिए सदस्यों को एक दिन पूर्व सूचना देनी होती है। अध्यक्ष या सभापति संशोधन प्रस्तावित करने की अनुमति के बारे में निर्णय लेता है। प्रत्येक संशोधन संबंधी प्रस्ताव पर मतदान होता है। यदि उपस्थित सदस्यों द्वारा बहुमत से समर्थन हो तो संशोधन पारित माना जाता है। इसके पश्चात पूरी धारा को पारित करने के लिए मतदान कराया जाता है। कभी-कभी समय बचाने के लिए दो, तीन या इससे अधिक धाराओं पर इकट्ठे मतदान करा लिया जाता है यदि सदन को इस पर कोई आपत्ति न हो। जब सब धाराओं को सदन की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो द्वितीय वाचन समाप्त हो जाता है।

5. **तृतीय वाचन** : इस अवस्था में संबंधित मंत्री विधेयक को पारित करने के लिए सदन से अनुरोध करता है। विधेयक के संशोधित रूप पर विचार किया जाता है। इस अवस्था में वाद-विवाद होने की आज्ञा दी जा सकती है परन्तु यह चर्चा केवल विधेयक का विरोध या समर्थन करने तक ही सीमित होनी चाहिए। केवल मौखिक संशोधन रखे जा सकते हैं। यदि उपस्थित सदस्य बहुमत से पारित कर दे तो संशोधन स्वीकार कर लिया जाता है। तत्पश्चात सम्पूर्ण विधेयक पर मतदान कराया जाता है। यदि उपस्थित सदस्य बहुमत से पक्ष में मत दें तो विधेयक पारित हो जाता है।

   अब यह विधेयक अध्यक्ष के हस्ताक्षर होने के पश्चात दूसरे सदन में भेज दिया जाता है जहां इसे सभा पटल पर रखा जाता है। तत्पश्चात कोई भी सदस्य विधेयक पर विचार करने का नोटिस दे सकता है। अब विधेयक उन सब अवस्थाओं में से गुजरेगा जैसा कि पहले सदन में हुआ। यदि विधेयक दूसरे सदन से भी पारित हो जाए तो इसे पहले सदन में वापिस भेज दिया जाता है जहां से इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति या तो विधेयक पर हस्ताक्षर कर अपनी स्वीकृति प्रदान करता है या विधेयक अपने पास रख लेता है या विधेयक पर पुनर्विचार करने के लिए सदन को वापिस भेज देता है। परन्तु यदि संसद के दोनों सदन पुनर्विचार के पश्चात, राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तावित संशोधन को स्वीकार या अस्वीकार करके, विधेयक को पुन: पारित कर दें तो तब राष्ट्रपति को इसे अपनी स्वीकृति प्रदान करनी ही पड़ती है। इस प्रकार यह विधेयक कानून में परिणित हो जाता है।

दोनों सदनों की असहमति की स्थिति में संयुक्त अधिवेशन : यदि द्वितीय सदन द्वारा प्रस्तावित कोई संशोधन प्रथम सदन को मान्य न हो या प्रथम सदन कुछ और संशोधन प्रस्तावित करे जो द्वितीय सदन को मान्य न हो, तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाता है। सभी संशोधन प्रस्ताव इस संयुक्त अधिवेशन में रखे जाते हैं यदि अध्यक्ष उन्हें रखने की स्वीकृति प्रदान करे। ऐसा समय बचाने के लिए किया जाता है। यदि उपस्थित सदस्य बहुमत से विधेयक के पक्ष में मत दें तो इसे पारित मान लिया जाता है और यह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है।

गैर-सरकारी विधेयक : जो विधेयक मंत्रियों के अतिरिक्त किसी अन्य सदस्य द्वारा रखा जाता है, उसे अध्यक्ष द्वारा केवल गैर सरकारी सदस्यों के कार्यों के लिए निर्धारित दिनों पर ही स्वीकार किया जाता है जो नियमानुसार एक शुक्रवार छोड़कर अगले शुक्रवार को होता है। छोड़े गये शुक्रवार गैर सरकारी सदस्यों के संकल्पों के लिए रखे जाते हैं। सचिवालय में इन विधेयकों की जांच पड़ताल करके सदस्यों को विधेयक की रूपरेखा बनाने में सहायता की

जाती है। गैर-सरकारी विधेयक प्रस्तावित करने की विधि वही है जो सरकारी विधेयकों के लिए अपनाई जाती है। अन्तर केवल इतना है कि गैर सरकारी विधेयक एक विशेष समिति को सौंप दिया जाता है जिसे गैर-सरकारी सदस्य विधेयक तथा संकल्प संबंधी समिति कहते हैं। इस समिति के अध्यक्ष की नियुक्ति सदनाध्यक्ष द्वारा की जाती है। यदि सदन का उपाध्यक्ष इस समिति का सदस्य हो, तो वही इसका अध्यक्ष होगा। यह समिति विधेयक का निरीक्षण करके निर्धारित समय में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती है। इसके पश्चात विधेयक उन सब अवस्थाओं से गुजरता है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

वित्त विधेयक संबंधी प्रक्रिया : भारत में अपनाई जाने वाली वित्त विधेयक संबंधी प्रक्रिया वैसी ही है जैसी कि ब्रिटेन में अपनाई जाती है। ब्रिटिश संसद की तरह, भारत में भी धन विधेयक केवल लोकसभा में ही प्रस्तावित किया जा सकता है राज्यसभा में नहीं। इसी प्रकार ब्रिटेन के निचले सदन की तरह हमारी लोकसभा भी वित्तीय मामलों पर निर्णय लेने का एकाधिकार रखती है। दोनों देशों में सार्वजनिक व्यय निचले सदन अर्थात लोकसभा का ही उत्तरदायित्व है।

धन विधेयक : धन विधेयक केवल लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। किन्तु लोकसभा से पारित होने के पश्चात इन्हें राज्यसभा के पास भेज दिया जाता है। राज्यसभा इसको अस्वीकार नहीं कर सकती परन्तु 14 दिन तक अपने पास रख सकती है। 14 दिन के अन्दर-अन्दर उसे अपनी सिफारिशों सहित या बिना सिफारिशों के वापिस लोकसभा को भेजना होता है। इन सिफारिशों का मानना या न मानना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। इसके पश्चात या राज्यसभा द्वारा 14 दिन तक रोके रखे जाने के बाद धन विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। अब यह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति किसी भी धन विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापिस नहीं भेज सकता क्योंकि धन विधेयक को प्रस्तावित करने से पूर्व उसकी अनुमति प्राप्त कर ली जाती है।

धन विधेयक

जो विधेयक किसी प्रकार के कर को लगाने, घटाने, बढ़ाने या समाप्त करने, भारत सरकार द्वारा ऋण लेने, व प्रत्याभूति देने, या वित्तीय उत्तरदायित्व के लिए कानून का नियमन करने तथा भारत की संचित निधि अथवा आकस्मिक निधि से सम्बंधित हो, उसे धन विधेयक कहते हैं।

बजट : सार्वजनिक धन में से होने वाले आय तथा व्यय का वार्षिक ब्यौरा बजट कहलाता है। इसे संसद में दो भागों में प्रस्तावित किया जाता है: रेल बजट तथा सामान्य बजट। रेल बजट में केवल रेल यातायात से संबंधित अनुमानित आय और व्यय का ब्यौरा दिया जाता है, जिसे लोकसभा में रेल मंत्री द्वारा प्रस्तावित किया जाता है। सामान्य बजट में भारत सरकार के रेलवे विभाग को छोड़ बाकी सभी विभागों का अनुमानित आय-व्यय का ब्यौरा होता है। यह बजट वित्त मंत्री द्वारा लोकसभा में प्रस्तावित किया जाता है। संसद में बजट पारित करने की प्रक्रिया इस प्रकार है।

1. **बजट पर सामान्य वाद-विवाद :** इस अवस्था में सरकार की वित्तीय नीतियों पर चर्चा होती है परन्तु विभिन्न विभागों से संबंधित विस्तृत चर्चा नहीं होती। सामान्य चर्चा के पश्चात वित्त मंत्री सदस्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

2. **मांगों पर मतदान :** अब प्रत्येक विभाग या मंत्रालय की मांगों पर अलग-अलग विचार होता है। सदन के नेता के परामर्श से, अध्यक्ष किसी विशेष मांग पर, या सम्पूर्ण व्यय पर या बजट के किसी भाग पर विचार के लिए दिया जाने वाला समय निर्धारित करता है। मांगों में प्रत्येक विभाग द्वारा प्रस्तावित अनुदान तथा व्यय का ब्यौरा होता है। अनुदान मांग केवल सरकार द्वारा ही प्रस्तावित की जा सकती है किसी गैर सरकारी सदस्य द्वारा नहीं क्योंकि धन की आवश्यकता सरकार को होती है। किन्तु गैर-सरकारी सदस्य किसी व्यय को समाप्त करने या कम करने, का प्रस्ताव रख सकते हैं। कटौती के प्रस्ताव दो प्रकार के होते हैं – आर्थिक कटौती एवं सांकेतिक कटौती। आर्थिक कटौती का उद्देश्य खर्चों में मितव्ययता है जबकि सांकेतिक कटौती सरकार के विरुद्ध एक प्रकार का अविश्वास प्रस्ताव है जिसके पारित हो जाने पर मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देना पड़ता

है। सदन में विचार के पश्चात विधेयक पर मतदान होता है और बहुमत से पारित कर दिया जाता है। वर्ष 1993-94 से प्रारम्भ की गई एक नई व्यवस्था के अनुसार विभागीय प्रवर समितियां बनाई जाने लगी हैं। लोकसभा सभी मुख्य मंत्रालयों और विभागों के लिए समितियां स्थापित करती है। समितियों की सभी सिफारिशों पर सदन में मतदान कराया जाता है।

3. **विनियोग विधेयक** : संचित निधि से किए जाने वाले खर्च और अनुदान मांगों को मिलाकर एक विधेयक तैयार किया जाता है जिसे विनियोग विधेयक कहा जाता है। इस विधेयक को बजट के साथ-साथ लोकसभा में प्रस्तावित किया जाता है और पारित होने पर राज्यसभा के पास भेज देते हैं जिसे 14 दिन के अन्दर-अन्दर यह विधेयक लोकसभा को वापिस भेजना होता है। अब यह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है जहां उसके हस्ताक्षर होने के पश्चात यह अधिनियम बन जाता है।

4. **वित्तीय विधेयक** : सरकार द्वारा प्रस्तावित करों का समावेश जिस विधेयक में किया जाता है उसे वित्तीय विधेयक कहते हैं। बजट प्रस्तावित करने के साथ-साथ वित्तीय विधेयक भी लोकसभा में प्रस्तावित किया जाता है और सदन द्वारा पारित करने से पूर्व प्रवर समिति को भी सौंपा जा सकता है। फिर इसे राज्यसभा के पास भेज देते हैं जहां से 14 दिन के अन्दर-अन्दर वापिस आना आवश्यक है। इस सम्बंध में लोकसभा का निर्णय अन्तिम होता है।

5. **लेखा अनुदान**

कई बार जब समय पर (नया वित्त वर्ष आरम्भ होने से पूर्व) बजट पास नहीं हो पाता तो कुछ समय (प्रायः चार मास) के लिए संसद सरकार को कुछ धन राशि व्यय करने की अनुमति दे देती है। इस प्रकार स्वीकृति धन राशि को लेखा अनुदान कहते हैं।

पाठगत प्रश्न 12.4

1. निम्नलिखित विधेयकों में से कौन-सा विधेयक राज्यसभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता?
   (धन विधेयक संविधान संशोधन विधेयक, किसी नई अखिल भारतीय सेवा की स्थापना संबंधी विधेयक, विदेश सेवा में संशोधन संबंधी विधेयक)
2. निम्नलिखित में से किसको केवल लोकसभा अपदस्थ कर सकती है?
   (राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, मुख्य निर्वाचन आयुक्त)
3. निम्नलिखित में से कौन उपराष्ट्रपति को अपदस्थ का प्रस्ताव प्रस्तावित कर सकता है?
   (केवल लोकसभा, केवल राज्यसभा, दोनों में से कोई एक सदन)
4. साधारण विधेयक निम्नलिखित में से किस स्थिति में प्रवर समिति को सौंपा जा सकता है?
   (प्रथम वाचन के पश्चात, द्वितीय वाचन में सामान्य चर्चा के पश्चात, द्वितीय वाचन के पश्चात, तृतीय वाचन के पश्चात)
5. वित्त विधेयक निम्नलिखित में से किस से संबंधित है?
   (व्यय प्रस्ताव, कर संबंधी प्रस्ताव, वित्त आयोग की स्थापना संबंधी प्रस्ताव)

12.12 संसद की सर्वोच्चता तथा मूल ढाँचे का सिद्धान्त

भारतीय संविधान में संशोधन करने के अधिकार का प्रयोग लगभग 17 वर्ष तक हमारी संसद द्वारा निर्विरोध होता रहा। इन 17 वर्षों में कई महत्वपूर्ण संशोधन किए गए। परन्तु 1967 में गोलक नाथ *बनाम* पंजाब राज्य मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि संसद संविधान में ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती जिससे नागरिकों के मूल अधिकारों का हनन होता ले। यह निर्णय संविधान के अनुच्छेद 13 की व्याख्या पर आधारित था जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा कोई भी कानून नहीं बनाया जा सकता जिससे मौलिक अधिकारों का हनन

होता हो। राजनीतिक क्षेत्रों में गोलकनाथ मुकदमें के इस निर्णय की कटु आलोचना इस आधार पर की क्योंकि यह संसद की शक्तियों को सीमित करता था। संसद के सभी वर्ग यह चाहते थे कि संसद की असीम शक्तियां उसे पुन: लौटा दी जाएं। 1971 में 24वें संशोधन के माध्यम से संसद की ये असीम शक्तियां उसे लौटा दी गईं। इस प्रकार संसद की सर्वोच्चता एक बार पुन: स्थापित कर दी गई।

दो वर्ष पश्चात 1973 में संसद की सर्वोच्चता को पुन: चुनौती दी गई। केशवानन्द भारती *बनाम* केरल राज्य नामक मुकदमें में निर्णय देते समय सर्वोच्च न्यायालय के 6 न्यायाधीशों ने यह कहा कि संसद सर्वोच्च है और किसी भी संशोधन को करने में सक्षम है परन्तु 13 में से बाकी सात न्यायाधीश इस तर्क से सहमत नहीं थे। उनमें से एक थे न्यायमूर्ति एच. आर. खन्ना जिन्होंने संविधान के मूल ढाँचे की ओर हमारा ध्यान दिलाया। बहुमत द्वारा पारित इस निर्णय में यह कहा गया कि यह ठीक है कि संसद के पास संविधान में संशोधन करने की असीम शक्ति है परन्तु यह संविधान के मूल ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। संसद की संशोधन संबंधी शक्तियों से संबंधित इस विवाद ने एक रोचक रूप धारण कर लिया। न्यायमूर्ति खन्ना ने यह स्वीकार किया कि यद्यपि संसद के पास संविधान में संशोधन करने की शक्ति है पर वह अपनी इस शक्ति के माध्यम से संशोधन करके संविधान को नष्ट नहीं कर सकती।

न्यायमूर्ति एच.आर. खन्ना का दृष्टिकोण यह था कि हमारे संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं जिसके अनुसार वर्तमान संविधान का स्थान कोई नया संविधान ले सके और फिर यह आवश्यक भी नहीं कि प्रत्येक संविधान में अपने ही विनाश के लिए व्यवस्था हो। अन्तिम सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित है। यदि किसी समय देश यह अनुभव करे कि उसे एक नए संविधान की आवश्यकता है तो संसद के स्थान पर नई संविधान सभा बनाकर नया संविधान बनाया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के इस दृष्टिकोण का समर्थन एन.ए. पालखीवाला, कोगेकर तथा एस.पी. साठे के अतिरिक्त कई अन्य लोगों ने भी किया है। श्री साठे का मत यह है कि संविधान में संशोधन करके किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को समूल नष्ट नहीं किया जा सकता। संशोधन का उद्देश्य परिवर्तन लाना होता है न कि इसे नष्ट करना। मूल ढाँचे का सिद्धांत इन्ही तर्कों पर आधारित है।

मूल ढाँचे की अवधारणा के आलोचकों का कहना यह है कि संविधान निर्माताओं ने ऐसी किसी धारणा के बारे में सोचा भी नहीं था। यह तो केवल सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों के मस्तिष्क की उपज है। श्रीमती गांधी ने भी इस अवधारणा को हानिकारक बताया है। कुछ आलोचकों का कहना यह है कि संसद के माध्यम से की गई जन अभिव्यक्ति को चुनौती देने का अधिकार न्यायपालिका को नहीं दिया जा सकता। यह भी कहा जाता है कि मूल ढाँचे जैसी कोई भी व्यवस्था अनुच्छेद 368 में नहीं दी गई है। इस अनुच्छेद में संविधान में संशोधन संबंधी प्रक्रिया का विवरण दिया गया है। आलोचकों का मत यह भी है कि वर्तमान पीढ़ी संविधान के मूल ढाँचे के नाम पर भावी पीढ़ी को नहीं बाँध सकती। वास्तव में न्यायालय ने इस बात की व्याख्या कहीं भी नहीं की है कि इस मूल ढाँचे का अर्थ क्या है। नेहरू जी ने एक बार कहा था कि यदि संविधान कठोर एवं स्थायी बना दिया जाए तो देश की प्रगति को विराम लग जाएगा।

श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार ने एक बार फिर प्रयास किया कि संसद की सर्वोच्चता को पुन: स्थापित किया जाए और मूल ढाँचे के सिद्धान्त से उत्पन्न विवाद का कोई हल निकाला जाए। 1976 में पारित 42वें संशोधन में यह स्पष्ट प्रावधान है कि अनुच्छेद 368 के अंतर्गत भविष्य में किए जाने वाले संशोधन अन्तिम तौर पर मान्य होंगे। किसी भी न्यायालय में उनकी वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकती। इस प्रकार, संविधान में संशोधन संबंधी संसद की शक्ति की सर्वोच्चता पुन: स्थापित कर दी गई।

42वें संविधान संशोधन अधिनियम के लागू होने के बावजूद भी मूल ढाँचे के सिद्धांत संबंधी विवाद हल नहीं हो सके। अधिकतर राजनीतिक नेता इस बात पर प्रसन्न हैं कि संसद की सर्वोच्चता पुन: स्थापित हो गई। परन्तु अधिकतर न्यायवेत्ता यह अनुभव करते हैं कि 42वें संशोधन से न्यायपालिका की वास्तविक शक्तियों को सीमित कर दिया गया है। उनका तर्क है कि नियंत्रण एवं संतुलन के सिद्धांत को नष्ट करके व्यवस्थापिका को मनमाने तरीके से निर्णय लेने का अधिकार दे दिया गया है।

1977-79 में जनता शासन के दौरान पारित दो संशोधनों के माध्यम से न्यायपालिका की छीनी गई शक्तियों को पुनः वापिस दिलाया गया। परन्तु संसद ने यह स्वीकार नहीं किया कि वह संविधान के मूल ढाँचे को नहीं छोड़ेगी। वास्तव में यह विवाद, राजनीतिक बन चुका था और देश में होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों से प्रभावित हुए बिना रह भी नहीं सकता था।

यद्यपि 42वें संशोधन में इस बात की व्यवस्था थी कि किसी भी सांविधानिक संशोधन की वैधता को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती तो भी सर्वोच्च न्यायालय ने अगस्त 1980 में, मिनर्वा मिल मुकदमें में यह कहा कि 42वें संशोधन की दो धाराएँ अवैध हैं। न्यायालय ने 4:1 के अपने निर्णय में यह स्पष्ट कहा कि यह व्यवस्था कि किसी भी संशोधन अधिनियम की वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकती, अपने आप में अवैध तथा गैर कानूनी है क्योंकि इससे मूल ढाँचे के सिद्धांत का उल्लंघन होता है। इस प्रकार, न्यायालय ने एक बार फिर इस बात पर बल दिया कि केवल वही यह निर्णय कर सकता है कि मूल ढाँचे में परिवर्तन हुआ है या नहीं।

आपने क्या सीखा

इस पाठ में आपने भारत की केन्द्रीय विधायी संस्था के बारे में अध्ययन किया जिसे संसद कहा जाता है। राष्ट्रपति संसद का एक अभिन्न अंग है। यह द्विसदनीय व्यवस्थापिका है जिस के दो सदन हैं – लोकसभा तथा राज्यसभा। राष्ट्रपति दोनों में से किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता परन्तु संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित सभी विधेयक उसकी स्वीकृति के लिए भेजे जाते हैं। राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो जाने के पश्चात विधेयक कानून बन जाते हैं।

लोकसभा वयस्क मताधिकार पर आधारित जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदन है जिसमें 18 वर्ष तथा उससे अधिक आयु के सभी पुरुष तथा स्त्रियां मतदान कर सकती हैं। लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 550 हो सकती है। इस समय प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित 542 सदस्य हैं। राष्ट्रपति दो एंग्लो इंडियन सदस्यों को मनोनीत करता है। विभिन्न राज्यों से निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या वहां की जनसंख्या पर आधारित है। अधिकतम जनसंख्या वाले राज्य उत्तर प्रदेश के 85 सदस्य हैं और न्यूनतम सिक्किम का केवल एक। कुछ स्थान अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित होते हैं। महिलाओं के लिए आरक्षण का प्रस्ताव भी रखा जाने वाला है। सभी मतदाता जिनकी आयु कम से कम 25 वर्ष हो और जो सरकारी कर्मचारी नहीं हो, लोकसभा का सदस्य बन सकता है। इसका सामान्य कार्यकाल 5 वर्ष है। इसका सभापतित्व अध्यक्ष द्वारा किया जाता है जो लोकसभा सदस्यों द्वारा अपने में से ही निर्वाचित किया जाता है।

राज्यसभा राज्यों की प्रतिनिधि सभा है। इसकी अधिकतम सदस्य संख्या 250 हो सकती है। इसमें 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। ये सदस्य विभिन्न क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त नागरिक होते हैं। बाकी के 238 सदस्य राज्यों की विधान सभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन से निर्वाचित होते हैं। राज्यसभा की सदस्यता के लिए न्यूनतम आयु 30 वर्ष है। यह एक स्थाई सदन है जिसका प्रत्येक सदस्य 6 वर्ष के लिए निर्वाचित होता है परन्तु एक-तिहाई सदस्य हर दो वर्ष के पश्चात अवकाश प्राप्त कर लेते हैं और उतने ही निर्वाचित कर लिए जाते हैं। प्रत्येक राज्य से निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार उत्तर प्रदेश से 34 सदस्य, सिक्किम से केवल एक और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली से तीन सदस्य हैं। राज्यसभा का सभापति भारत का उपराष्ट्रपति होता है।

संसद अनेक कार्य करती है। यह संघ सूची एवं समवर्ती सूची में आने वाले विषयों पर कानून बनाती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में यह अस्थायी तौर पर राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाती है। संसद देश का वार्षिक बजट पारित करती है और कर लगाने तथा व्यय करने की भी अनुमति देती है। संसद मंत्रिपरिषद पर अपना नियंत्रण बनाए रखती है और लोकसभा तो मंत्रिपरिषद को अपदस्थ भी कर सकती है। संसद के दोनों सदनों के सभी निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं। संसद सदस्य उपराष्ट्रपति का भी निर्वाचन करते हैं तथा उसे अपदस्थ भी कर सकते हैं। राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाना, सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायधीशों को अपदस्थ करना तथा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को हटाना संसद के अधिकार क्षेत्र में आता है। यह

विशेष बहुमत द्वारा संविधान में संशोधन भी कर सकती है। लोकसभा राज्यसभा की तुलना में निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली है क्योंकि यह मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त देश के वित्त पर भी नियंत्रण रखती है।

आपने यह भी पढ़ा कि विधेयक दो प्रकार के होते हैं। वे हैं – धन विधेयक और साधारण विधेयक। धन विधेयक केवल लोकसभाओं में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं । इसलिए पहले इसे लोकसभा पारित करती है। साधारण विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है तथा दोनों सदनों से पारित होना आवश्यक है। गतिरोध या असहमति की अवस्था में संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है और वहीं विधेयक के बारे में निर्णय लिया जाता है। कानून बनाने की प्रक्रिया के अंतर्गत प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होते हैं। कुछ परिस्थितियों में दूसरे वाचन में सामान्य चर्चा के बाद विधेयक प्रवर समिति को भेज दिया जाता है। आगामी वर्ष का अनुमानित आय तथा व्यय संबंधी बजट प्रस्ताव लोकसभा में प्रस्तावित किया जाता है। सभी प्रकार के विधेयक संसद से पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिए जाते हैं। साधारण विधेयक पर हस्ताक्षर करने से पूर्व राष्ट्रपति उसे पुनर्विचार के लिए वापिस भेज सकता है।

पाठांत प्रश्न

1. लोकसभा की रचना तथा सदस्यों के निर्वाचन की पद्धति का वर्णन कीजिए।
2. संसद के दोनों सदनों की रचना का वर्णन कीजिए।
3. लोकसभा के कार्यों का विश्लेषण कीजिए।
4. लोकसभा तथा राज्यसभा की दो-दो ऐसी शक्तियों का वर्णन कीजिए, जिन पर उनका एकाधिकार हो।
5. संसद के दोनों सदनों के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
6. भारत में कानून बनाने की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
7. धन विधेयक तथा साधारण विधेयक में अन्तर स्पष्ट कीजिए। इन दो प्रकार के विधेयकों को पारित करने की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
8. लोकसभा के अध्यक्ष के कार्य लिखो।
9. संसद की सर्वोच्चता से क्या अभिप्राय है? संविधान के मूल ढाँचे की अवधारणा का अर्थ समझाइए।
10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखो:
    (क) राज्यसभा की सदस्यता के लिए योग्यताएं
    (ख) बजट
    (ग) द्वितीय वाचन
    (घ) संसद में गणपूर्ति

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

12.1

1. 550
2. उत्तर प्रदेश
3. जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित
4. दो
5. अनुसूचित जाति/जनजाति

12.2

1. लोकसभा के सदस्य।
2. उन सदस्यों की सूची जिन्हें अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष दोनों की अनुपस्थिति में सदन का सभापतित्व करने को कहा जा सकता है।
3. लोकसभा के कार्यकाल से नई लोकसभा के निर्वाचन तक।
4. प्रथम एक घन्टा जिसमें मंत्री सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हैं।
5. राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति
6. लोकसभा

12.3

1. उपराष्ट्रपति
2. 14 दिन
3. बारह
4. 6 वर्ष
5. नई अखिल भारतीय सेवा की स्थापना

12.4

1. धन विधेयक
2. प्रधानमंत्री
3. राज्यसभा
4. दूसरे वाचन में सामान्य चर्चा के पश्चात
5. कर संबंधी प्रस्ताव

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, खण्ड 12.3.1
2. कृपया देखें, खण्ड 12.3.1 तथा 12.6
3. कृपया देखें, खण्ड 12.5
4. कृपया देखें, खण्ड 12.5 तथा 12.8
5. कृपया देखें, खण्ड 12.10
6. कृपया देखें, खण्ड 12.11
7. कृपया देखें, खण्ड 12.11
8. कृपया देखें, खण्ड 12.4

9. कृपया देखें, खण्ड 12.13

10. (क) कृपया देखें, खण्ड 12.6

(ख) कृपया देखें, खण्ड 12.11

(ग) कृपया देखें, खण्ड 12.11

(घ) कृपया देखें, खण्ड 12.9

13

राज्य विधानमण्डल

13.1 भूमिका

आप जानते हैं कि भारत एक संघ-राज्य है। इसका अर्थ यह होता है कि हमारे देश में सरकार के दो स्तर हैं। एक तो केन्द्रीय सरकार और दूसरी कई अन्य राज्य सरकारें। फिलहाल भारतीय संघ में 25 राज्य सरकारें हैं। इनमें प्रत्येक का अपना विधानमण्डल है।

आप पहले ही, पाठ 12 में संघीय विधायिका अर्थात् संसद के संबंध में पढ़ चुके हैं। अब आप इस पाठ में राज्य विधानमण्डल की संरचना, शक्तियों तथा कार्यप्रणाली के बारे में पढ़ेंगे। राज्यपाल, विधानसभा तथा विधानपरिषद को मिलाकर विधानमंण्डल का गठन होता है। सभी राज्यों में विधानपरिषद की व्यवस्था नहीं है। केवल कुछ ही राज्यों में विधानसभा तथा विधानपरिषद से बनी द्विसदनीय विधानमण्डल की व्यवस्था है। अधिकांश राज्यों में सिर्फ एक सदनीय व्यवस्था है – जिसे विधानसभा के नाम से जाना जाता है। किसी राज्य में विधानपरिषद का गठन अथवा उन्मूलन करने का अधिकार संसद के पास होता है।

13.2 उद्धेश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- यह जान जाएंगे कि प्रत्येक राज्य में प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित एक विधानसभा होती है।
- विधानसभा तथा विधानपरिषद की संरचना की व्याख्या कर सकेंगे।
- विधानपरिषद के गठन तथा उन्मूलन संबंधी प्रणाली की व्याख्या कर सकेंगे।
- विधानमण्डल के ऊपरी सदन द्वारा विभिन्न मामलों में निभाई जाने वाली भूमिकाओं के महत्व एवं आवश्यकता को पहचान सकेंगे।
- विधानमण्डल के कार्य एवं शक्तियों का वर्णन कर सकेंगे, और
- विधानमण्डल के दोनों सदनों के कार्य एवं शक्तियों की तुलना कर सकेंगे तथा उनसे संबंधित महत्व को पहचान सकेंगे।

13.3 विधानमण्डल की संरचना

आमतौर पर प्रत्येक राज्य में एक विधानसभा होती है। यह जनता द्वारा निर्वाचित सदन होता है। इसके सदस्य राज्य की जनता द्वारा वयस्क मताधिकार प्रणाली के तहत चुने जाते हैं। कुछ राज्यों में विधानपरिषद की भी व्यवस्था होती है। जिन राज्यों में द्विसदनीय व्यवस्था है। वहां विधानपरिषद ऊपरी तथा विधानसभा निचले सदन

के रूप में कार्य करते हैं। इसी अध्याय के खण्ड 13.8 में हम देखेंगे कि विधानसभा विधानपरिषद की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सदन होता है।

13.4 विधानसभा की संरचना

प्रत्येक राज्य में एक विधानसभा होती है। यह राज्य की जनता का प्रतिनिधित्व करती है। विधानसभा सदस्य राज्य के विभिन्न निर्वाच क्षेत्रों के जनता द्वारा वयस्क मताधिकार प्रणाली के तहत प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं।

संविधान में विधानसभा की संख्या निर्धारित करते हुए यह वर्णन किया गया है कि सदस्यों की संख्या 500 से अधिक और 60 से कम नहीं होनी चाहिए। किन्तु संविधान में असम, गोवा, सिक्किम तथा मिज़ोरम की विधानसभाओं के लिए विशेष संख्या निर्धारित की गई है, जो वर्तमान में क्रमशः 40,32 और 40 है।

निम्नलिखित तालिका में विभिन्न राज्यों की विधानसभा सदस्यों की संख्या दर्शाई गई है।

विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र शासित क्षेत्रों की विधानसभाओं में सदस्यों की संख्या

संख्या	राज्य का नाम	विधान सभा में कुल सीटें	अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित सीटें	अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित सीटें
1.	आंध्र प्रदेश	294	39	15
2.	अरूणाचल प्रदेश	60	–	–
3.	असम	126	08	28
4.	बिहार	243	39	–
5.	गोवा	40	01	0
6.	गुजरात	182	13	26
7.	हरियाणा	90	17	–
8.	हिमाचल प्रदेश	68	16	03
9.	जम्मू एवं कश्मीर	87	07	–
10.	कर्नाटक	224	33	02
11.	केरल	140	13	01
12.	मध्य प्रदेश	230	33	41
13.	महाराष्ट्र	288	18	22
14.	मणिपुर	60	01	19
15.	मेघालय	60	–	55
16.	मिज़ोरम	40	–	39
17.	नागालैंड	60	–	59
18.	उड़ीसा	147	22	34
19.	पंजाब	117	29	–
20.	राजस्थान	200	33	24
21.	सिक्किम	32	02	12
22.	तमिलनाडू	234	42	03
23.	त्रिपुरा	60	07	20
24.	उत्तर प्रदेश	403	89	–
25.	पश्चिम बंगाल	294	59	17
26.	छत्तीसगढ़	90	10	34
27.	झारखण्ड	81	9	28
28.	उत्तरांचल	70	12	3
1.	दिल्ली	70	13	–
2.	पांडिचेरी	30	5	–

यदि विधानसभा में आंग्ल–भारतीय समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त है तो राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह इस समुदाय के एक सदस्य को मनोनीत करे। कुछ सीटें अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के प्रतिनिधियों के लिए भी आरक्षित होती हैं। विधानसभा का कार्यकाल पांच वर्ष का होता है। किंतु मुख्य मंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा अथवा राज्य में संवैधानिक गतिरोध पैदा हो जाने की स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा कार्यकाल पूरा होने से पूर्व भी इसे भंग किया जा सकता है। आपातकाल की घोषणा होने पर अनुच्छेद 352 संसद द्वारा इसका कार्यकाल बढ़ाया भी जा सकता है। किन्तु यह अवधि एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। लेकिन विधानसभा का यह कार्यकाल विस्तार आपातकाल खत्म होने के बाद छह महीने से अधिक नहीं जारी रह सकता।

विधानसभा की सदस्यता के लिए योग्यता

विधानसभा का सदस्य होने के लिए एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि:

(क) वह भारत का नागरिक हो

(ख) 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो

(ग) मतदाता सूची में उसका नाम दर्ज हो

(घ) किसी सरकार अथवा लाभकारी पद पर न हो

(ङ.) पागल अथवा दिवालिया न हो

विधानसभा के सदस्य अपने अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव करते हैं अध्यक्ष सदन की अध्यक्षता करता है तथा सदन का संचालन करता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में सदन की कार्यवाही उपाध्यक्ष संचालित करता है। इनके भी कार्य तथा शक्तियां लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के समान ही होती है। वह अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकता है। अध्यक्ष सदन में अनुशासन बनाए रखता है। वह सदस्यों को बोलने तथा प्रश्न पूछने की आज्ञा प्रदान करता है। वह सदन के समक्ष विधेयक रखता है तथा उस पर मतदान से संबंधित शर्तें निर्धारित करता है। वह अंत में मतदान के परिणाम की घोषणा करता है। लेकिन ऐसे मौकों पर आमतौर पर अध्यक्ष मतदान नहीं करता। हालांकि उसे मतदान का अधिकार प्राप्त है। लेकिन जब मतदान का परिणाम टाई हो जाता है तब वह अपने मताधिकार का प्रयोग करता है। टाई का अर्थ होता है कि किसी प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष दोनों में मतों की संख्या बराबर हो जाती है।

पाठगत प्रश्न 13.1

उचित विकल्प चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. भारत में .....राज्य हैं। (18, 21, 25)
2. किसी राज्य का राज्यपाल .....का एक अनिवार्य अंग होता है। (संसद, विधानसभा)
3. विधानसभा का सदस्य होने के लिए न्यूनतम आयु ..... वर्ष है। (21,25,30)
4. राज्यपाल विधानसभा में .....समुदाय का एक सदस्य मनोनीत कर सकता है। (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, आंग्ल भारतीय)
5. विधानसभा का कार्यकाल ..... वर्ष होता है। (4, 5, 6)
6. मतदान की प्रक्रिया को व्यावहारिक रूप देता है। (राज्यपाल, मुख्य मंत्री, विधानसभा का अध्यक्ष)

13.5 विधानपरिषद की संरचना

विधानपरिषद को विधानमण्डल का ऊपरी सदन कहते हैं। किन्तु यह सभी राज्यों में स्थित नहीं है। कुछ राज्यों में द्विसदनीय विधानमण्डल है तथा अधिकांश में एक सदनीय – जिसे विधानसभा कहते हैं। फिलहाल केवल छः

राज्यों – उत्तर प्रदेश, बिहार, कर्नाटक, महाराष्ट्र, जम्मू–कश्मीर में ही विधानपरिषदें हैं तथा शेष तेइस राज्यों में सिर्फ एक सदनीय व्यवस्था है – विधानसभा।

संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह बहुमत से आधार पर प्रस्ताव पारित कर किसी भी राज्य में विधानपरिषद का गठन अथवा उन्मूलन कर सकती है। किंतु वह बहुमत उसका कुल सदस्य संख्या के दो–तिहाई से कम नही होना चाहिए। किंतु संसद यह कार्य संबंधित राज्य के विधानसभा के निवेदन पर निष्पादित कर सकती है।

विधानपरिषद का आकार उस राज्य के विधानसभा की कुल सदस्य संख्या के आधार पर निर्धारित किया जाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 171 में यह निश्चित किया गया है किसी भी राज्य में विधानपरिषद के सदस्यों की संख्या उसके विधानसभा सदस्यों की संख्या के एक–तिहाई से अधिक नहीं होनी चाहिए तथा यह संख्या 40 से कम भी नहीं होनी चाहिए।

विधानपरिषद के सदस्यों का कुछ हिस्सा निर्वाचित तथा कुछ मनोनीत होता है।

विधानपरिषद के सदस्यों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल हस्तांतरणीय निर्वाचन पद्धति द्वारा होता है। इसका संगठन निम्नलिखित ढंग से होता है:

(क) विधानपरिषद के कुल सदस्य संख्या का एक–तिहाई भाग राज्य की नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों तथा अन्य स्थानीय निकायों के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा चुना जाता है।

(ख) कुल संख्या का बारहवां भाग राज्य के स्नातकों द्वारा चुना जाता है।

(ग) कुल संख्या का एक अन्य बारहवां भाग प्राथमिक विद्यालयों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों के अध्यापकों द्वारा जिन्हें कम से कम तीन साल का अध्ययन अनुभव प्राप्त हो, चुना जाता है।

(घ) एक–तिहाई भाग राज्य विधानसभा के सदस्यों द्वारा चुना जाता है किंतु एक ही व्यक्ति दोनों सदन का सदस्य नहीं हो सकता, तथा

(ड.) शेष छठा भाग राज्यपाल द्वारा साहित्य, कला, विज्ञान तथा अन्य सामाजिक एवं सहयोगी संगठनों के विशेषज्ञ तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से मनोनीत किए जाते हैं।

राज्यसभा की तरह विधानपरिषद भी एक स्थाई सदन होता है। यह कभी भंग नहीं होता। इसके निर्वाचित तथा मनोनीत सदस्यों का कार्यकाल छह वर्ष होता है। इसके एक तिहाई सदस्य हर दो साल बाद अवकाश ग्रहण कर लेते हैं अवकाश प्राप्त सदस्य पुनः चुनाव लड़ सकते हैं। किसी सदस्य के त्यागपत्र, मृत्यु अथवा अन्य कारणों से स्थान रिक्त होने पर शेष अवधि के लिए मध्यावधि चुनाव कराए जा सकते हैं। निम्न तालिका में विभिन्न राज्यों में विधानपरिषदों की स्थिति दर्शाई गई है :

विभिन्न राज्यों में विधानपरिषद के सदस्यों की स्थिति

राज्य का नाम	*सदस्यों की कुल संख्या*
1. बिहार	96
2. जम्मू एवं कश्मीर	36
3. कर्नाटक	75
4. महाराष्ट्र	78
5. उत्तर प्रदेश	108

विधानपरिषद की सदस्यता के लिए योग्यताएँ

विधानपरिषद का सदस्य बनने के लिए एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह :

1. भारत का नागरिक हो
2. 30 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो
3. मतदाता सूची में उसका नाम हो
4. पागल अथवा दिवालिया न हो
5. किसी सरकारी अथवा लाभकारी पद पर न हो
6. संविधान द्वारा निर्धारित अन्य कानूनों का उसे ज्ञान हो

विधानपरिषद की समस्त कार्यवाहियां परिषद द्वारा निर्वाचित सभापति के निर्देशन में संपन्न होती हैं। सभापति सदन की अध्यक्षता करता है तथा सदन में अनुशासन एवं व्यवस्था बनाए रखता है। वह अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकता है। उसकी अनुपस्थिति में उपसभापति सदन की अध्यक्षता करता है। उपसभापति का चुनाव भी परिषद के सदस्य ही करते हैं।

विधानमण्डल की सदस्यता के लिए अयोग्यताओं का निर्धारण भी संसद की सदस्यता की अयोग्यताओं के समान ही किया जाता है। आप पहले ही इन अयोग्यताओं के बारे में पाठ 12 में पढ़ चुके हैं।

विधानमण्डल की बैठकें साल में कम से कम दो बार अनिवार्य रूप से होनी चाहिएं तथा इन बैठकों के बीच छह महीने से अधिक का अंतराल नहीं होना चाहिए।

राज्यपाल विधानमण्डल के सत्र के लिए स्थगन आदेश जारी कर सकता है। जब चुनाव के बाद पहले सत्र की बैठक होती है अथवा वर्ष की पहली बैठक होती है तब वह विधानसभा अथवा दोनों सदनों (यदि द्विसदनीय विधानमण्डल है) को संबोधित करता है। वह अपने संबोधन में विधानमण्डल में तय की जाने वाली नीतियों की रूपरेखा तथा होने वाली बहसों के आदर्श रूप का निर्देश देता है।

संसद के सदस्यों, उनकी प्राथमिकताओं, शक्तियों तथा अधिकारों के बारे में पाठ 12 में पहले ही पढ़ चुके हैं। विधानमण्डल की प्राथमिकताओं, उन्मुक्तियों तथा सदस्यों का स्वरूप भी संसद तथा इसके सदस्यों के समान ही होता है।

पाठ्गत प्रश्न 13.2

उचित विकल्प चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(क) विधानपरिषद की सदस्यता के लिए न्यूनतम आयु ..... वर्ष होनी चाहिए। (25, 30, 35)

(ख) विधानपरिषद के सदस्यों का कार्यकाल ..... वर्ष होता है। (4, 5, 6)

(ग) राज्य का राज्यपाल विधानपरिषद के ..... सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। (1/3, 1/6, 1/8)

(घ) विधानपरिषद के एक-तिहाई सदस्य हर ..... वर्ष बाद अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। (2, 4, 6)

(ङ) ..... को विधानपरिषद के गठन अथवा उन्मूलन का अधिकार है। (राष्ट्रपति, राज्यपाल, संसद)

(च) ..... में द्विसदनीय विधानमण्डल है। (पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश)

13.6 विधानमण्डल के कार्य तथा शक्तियां

1. **कानून बनाने संबंधी कार्य :** संसद की तरह ही राज्य विधानमण्डल का भी प्राथमिक कार्य कानून बनाना होता है। विधानमण्डल को राज्य तथा समवर्ती सूची में वर्णित किसी भी विषय पर कानून बनाने का

अधिकार प्राप्त है। किसी भी विधेयक को कानून बनने से पूर्व विधानमण्डल के समक्ष तर्क के लिए प्रस्तुत किया जाना आवश्यक होता है।

विधेयक दो प्रकार के होते हैं – साधारण विधेयक तथा वित्त विधेयक। साधारण विधेयक किसी भी सदन में (यदि विधानमण्डल द्विसनीय है तो) रखा जा सकता है। किन्तु वित्त विधेयक को सबसे पहले विधानसभा में रखा जाता है। और जब विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है तब उसे स्वीकृति के लिए राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है। राज्यपाल किसी भी विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है। किंतु यदि वह विधेयक पुन: पारित करके राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है तब राज्यपाल उस पर अपनी स्वीकृति के लिए बाध्य होता है। यह कानून निर्माण संबंधी प्रक्रिया भी केन्द्रीय विधायिका के समान ही होती है जिसके बारे में आप पाठ 12 में पहले ही पढ़ चुके हैं।

आप यह भी पहले ही पढ़ चुके हैं कि यदि संसद का सत्र नहीं चल रहा है और इस बीच किसी आकस्मिक कानून की आवश्यकता पड़ती है तब राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। इसी तरह राज्य संबंधी मामले में राज्यपाल भी अध्यादेश जारी कर सकता है। अध्यादेशों का पालन भी कानून की तरह ही किया जाता है किंतु तभी तक जब तक कि ये अस्तित्व में होते हैं। अध्यादेश तभी तक अस्तित्व में बने रहते हैं जब तक कि विधानसभा की बैठक नहीं हो जाती। विधानसभा अपने सत्र गठन के छह सप्ताह के भीतर किसी भी अध्यादेश को कानून में बदल सकती है। और विधानसभा की बैठक के छह सप्ताह बाद यह स्वत: समाप्त भी हो जाता है। कार्यपालिका की संस्तुति के पूर्व ही सरकार चाहे तो इसे वापस भी ले सकती है।

2. **वित्तीय शक्तियां** : राज्य के वित्तीय मामलों में राज्य विधायिका का पूरा नियंत्रण होता है। कोई भी वित्त विधेयक सबसे पहले विधानसभा के सामने रखा जाता है। इन विधेयकों में सरकार द्वारा व्यय किए जाने वाले धन की प्रतिवेदन, करों के लागू किए जाने अथवा हटाए जाने संबंधी प्रस्ताव, ऋण संबंधी प्रस्ताव आदि आते हैं। ये विधेयक संबंधित मंत्री द्वारा राज्यपाल की संस्तुति पर लागू किए जाते हैं। वित्त विधेयक किसी गैर सरकारी व्यक्ति द्वारा नहीं रखे जा सकते। विधानसभा अध्यक्ष इस बात की पुष्टि करता है कि संबंधित विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं।

कोई भी वित्त विधेयक विधानसभा द्वारा पारित हो जाने के बाद विधानपरिषद के पास स्वीकृत के लिए भेज दिया जाता है। विधानपरिषद को 14 दिन के अंदर इसे अपनी संस्तुति के साथ लौटाना होता है। विधानसभा को यह अधिकार होता है कि वह विधानपरिषद के सुझावों को स्वीकार करे या न करे। विधेयक को दोनों सदनों द्वारा पारित होना चाहिए। इसके बाद विधेयक को राज्यपाल के पास संस्तुति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल इसपर अपनी संस्तुति से इनकार नहीं कर सकता।

3. **कार्यपालिका पर नियंत्रण** : आप पढ़ चुके हैं कि राज्य तथा केन्द्र दोनों स्तरों पर भारत में सरकार की संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है। मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्री राज्य विधायिका के सदस्य होते हैं। यदि कोई व्यक्ति इसका सदस्य नहीं है और उसे मंत्री बना दिया गया है तो उसे छह महीने के अंदर विधायिका की तरह राज्य विधायिका का भी कार्यपालिका के ऊपर पूर्ण नियंत्रण होता है। मंत्रिपरिषद पूरी तरह विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है तथा वह अपने अधिकार एवं शक्तियों का प्रयोग तभी कर सकता है जब तक कि विधानसभा अस्तित्व में है। यदि विधानसभा कोई भी कानून सरकार के खिलाफ पारित कर देती है तो उसे समाप्त कर दिया जाता है। किसी सरकारी अथवा वित्त विधेयक को विधानमण्डल की सहमति से ही खारिज किया जा सकता है।

4. **चुनाव संबंधी कार्य** : विधानसभा के सदस्य एक प्रकार से भारत में होने वाले राष्ट्रपति के चुनाव प्रक्रिया के भी सदस्य होते हैं। इस प्रकार भारत गणतंत्र के राष्ट्रपति के चुनाव में अपनी हिस्सेदारी निभाते हैं। वे राज्यसभा के साथ-साथ विधानपरिषद के एक-तिहाई सदस्यों का भी चुनाव करते हैं (यदि राज्य में स्थित है तो)।

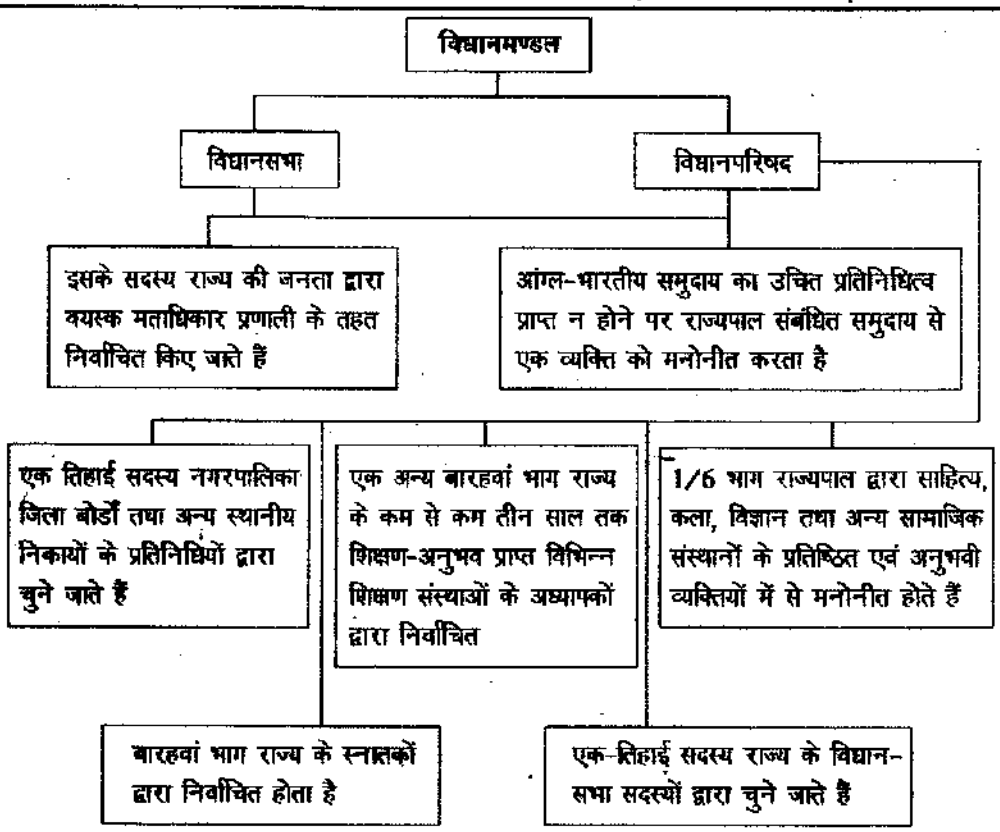

5. **संवैधानिक कार्य** : पाठ 12 में आप संविधान में होने वाले सुधारों के बारे में पढ़ चुके हैं। तीसरी प्रविधि के आधार पर हमारा संविधान एक कठोर संविधान है किंतु एक विशेष बहुमत के आधार पर इसमें संशोधन किए जा सकते हैं। इसके लिए संसद के दोनों सदनों के बहुमत एवं आधे से अधिक राज्यों के अभिसमर्थन से संविधान में संशोधन किए जा सकते हैं। संविधान में संशोधन के लिए अभिसमर्थन विधानमण्डलों द्वारा साधारण बहुमत से पारित किए जाते हैं। विधानमण्डल के अभिसमर्थन के बिना संविधान में किसी प्रकार संशोधन संभव नहीं है।

पाठगत प्रश्न 13.3

(क) उचित विकल्प चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. राज्य विधानमण्डल ..... सूची में सम्मिलित विषयों पर कानून नहीं बना सकता।
(केन्द्रीय, राज्य, समवर्ती)

2. कोई भी वित्त विधेयक ..... की परामर्श से विधानमण्डल में पेश किया जाता है।
(राष्ट्रपति, राज्यपाल, मुख्यमंत्री)

3. राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव राज्य की ..... के सदस्य करते हैं।
(नगरपालिका, विधानसभा, विधानपरिषद)

4. विधानपरिषद को वित्त विधेयक ..... दिनों में लौटा देना होता है।
(14, 30, 90)

5. मंत्रिपरिषद के सदस्य ..... के अस्तित्व में बने रहने तक ही अपनी शक्तियों तथा अधिकारों का प्रयोग कर सकते हैं। (राज्यपाल, विधानसभा, विधानपरिषद)

(ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए :

1. विधानमण्डल में विधेयकों की प्रकृति को कौन प्रमाणित करता है?
2. राज्य में अध्यादेश जारी करने का अधिकार किसके पास होता है?
3. भारत में राष्ट्रपति के चुनाव में निर्वाचक मंडल के सदस्य कौन होते हैं?

13.7 विधानमण्डल की विधायी शक्तियों की सीमाएं

विधानमण्डल समवर्ती सूची में वर्णित किसी भी विषय पर कानून बनाने के लिए स्वतंत्र है। यदि संसद द्वारा पारित किसी कानून के खिलाफ विधानमण्डल द्वारा कोई कानून पारित किया जाता है तो उसे लागू नहीं किया जाता क्योंकि इससे केन्द्रीय कानून की अवमानना होती है।

आपातकाल की घोषणा (अनुच्छेद 352) के बाद संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य सूची में वर्णित किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। संवैधानिक तंत्र के दो-तिहाई बहुमत और दो या दो से अधिक राज्यों की सहमति पर संसद राज्य सूची के किसी भी मुद्दे पर कानून बना सकती है।

मौलिक अधिकारों के मामले में भी विधानमण्डल की शक्तियों को सीमित किया गया है। विधानमण्डल कोई भी ऐसा कानून नहीं बना सकता जो नागरिक अधिकारों का उल्लंघन करता हो। यदि विधानमण्डल द्वारा बनाया गया कोई भी कानून असंवैधानिक हो अथवा उससे नागरिक अधिकारों का उल्लंघन होता हो तो उसे उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय खारिज कर सकता है।

पाठगत प्रश्न 13.4

सही विकल्प चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. राज्यपाल अपनी संस्तुति को ..... से परामर्श के लिए सुरक्षित रख सकता है।
   (प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष)
2. राज्य सूची के किसी भी विषय पर संसद कानून बना सकती है यदि ..... द्वारा उसे पारित कर लिया गया हो। (लोकसभा, राज्यसभा, सर्वोच्च न्यायालय)

13.8 विधानमण्डल के दोनों सदनों की तुलना

लोकसभा की तरह विधानसभा ने भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। विधानपरिषद विधानसभा की तुलना में कम शक्तियों का प्रयोग कर पाता है। यहां तक कि साधारण विधेयक के मामले में भी। हालांकि केन्द्र में राज्यसभा वित्त विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयक संबंधी मामलों में समान शक्तियों का प्रयोग करती है। जबकि विधानपरिषद राज्यसभा की तुलना में कम शक्तियों का प्रयोग कर पाती है।

विधानसभा तथा विधानपरिषद के तुलनात्मक संबंध निम्नलिखित हैं :

1. साधारण विधेयक के संबंध में

संसद में यदि किसी साधारण विधेयक पर दोनों सदनों के बीच मतभेद है तो राष्ट्रपति दोनों सदनों को सूचना भेजकर संयुक्त बैठक बुलाता है और दोनों सदनों के संयुक्त मतदान के द्वारा बहुमत के आधार पर वह विधेयक पारित कर दिया जाता है। किन्तु राज्य में इस तरह का कोई प्रावधान नहीं है।

हालांकि कोई भी साधारण विधेयक किसी भी सदन द्वारा रखा जा सकता है किन्तु दोनों सदनों की शक्तियों में असमानता है। यदि विधानसभा में कोई विधेयक पारित होता है तो उसे संस्तुति के लिए विधानपरिषद के पास भेजा जाता है। और विधानपरिषद उसमें बिना किसी संशोधन के उस विधेयक को राज्यपाल के पास स्वीकृति के लिए भेज देती है। यदि विधेयक (क) परिषद द्वारा वापस भेज दिया जाता है (ख) अथवा तीन महीने से अधिक

रोक लिया जाता है तो उसे परिषद द्वारा स्वीकृत मान लिया जाता है। (ग) अथवा विधानसभा उसमें सुधार करके विधानसभा के सत्र के शुरू में अथवा उसी सत्र में उसे पारित कर देती है। इसके बाद वह विधेयक पुनः विधानपरिषद के पास भेज दिया जाता है और यदि परिषद एक महीने के अंदर उस विधेयक को स्वीकृति प्रदान कर वापस नहीं भेज देता तो वह विधेयक विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है और उसे राज्यपाल के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। विधानपरिषद किसी भी विधेयक को अधिकतम चार महीने तक रोक सकता है। अगर कोई विधेयक विधानपरिषद द्वारा पारित किया जाता है और विधानसभा द्वारा उसे खारिज कर दिया जाता है तो वह विधेयक रद्द समझा जाता है और वह कभी कानून का रूप नहीं ले सकता।

2. वित्त विधेयक के संबंध में

लोकसभा की तरह कोई भी वित्त विधेयक सबसे पहले विधानसभा में रखा जाता है। विधानपरिषद इस संबंध में कोई पहल नहीं कर सकती। लोकसभा अध्यक्ष की तरह ही विधानसभा अध्यक्ष यह प्रमाणित करता है कि कोई भी विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं। यदि विधानसभा द्वारा यह विधेयक पारित कर दिया जाता है तो उसे विधानपरिषद के पास भेज दिया जाता है। और यदि यह विधेयक विधानपरिषद द्वारा 14 दिन के अंदर स्वीकृत होकर नहीं आता तो उसे स्वीकृत मान लिया जाता है। यदि विधानपरिषद उसमें किसी संशोधन के लिए वापस भेजता है तो यह विधानसभा के ऊपर निर्भर करता है कि वह उसके सुधार संबंधी सुझावों को स्वीकार करे या नहीं। इसके बाद वह विधेयक राज्यपाल के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है और राज्यपाल उस पर स्वीकृति के लिए बाध्य होता है।

3. कार्यपालिका पर नियंत्रण

मंत्रि परिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है और वह तभी तक अपने अधिकार तथा शक्तियों का प्रयोग कर सकती है जब तक कि विधानसभा का अस्तित्व है। हालांकि विधानपरिषद के सदस्य प्रश्न पूछ सकते हैं, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव रख सकते हैं किन्तु विधानपरिषद सरकार के ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगा सकती।

4. मतदान संबंधी अधिकार

विधानसभा के केवल निर्वाचित सदस्य ही राष्ट्रपति के चुनाव में भाग ले सकते हैं। विधानसभा के सभी सदस्य एक चुनाव परिषद के सदस्य होने के नाते इस मताधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। किंतु विधानपरिषद के सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग नहीं ले सकते।

उपरोक्त विश्लेषणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विधानपरिषद को कम शक्तियां प्राप्त हैं तथा वह द्वितीय सदन के रूप में कार्य करता है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि विधानपरिषद की शक्तियों को नजरअंदाज किया जा सकता है। विधानसभा द्वारा हड़बड़ी में पारित कर दिए गए किसी विधेयक के कमजोर पक्षों की ओर यह ध्यान दिलाता है। विधानसभा की व्यस्तताओं को थोड़ा कम करने के लिए कुछ विधेयकों पर परिषद की पहल करती है। इसके कुछ सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं तथा कुछ मनोनीत किए जाते हैं।

विधानपरिषद का अपने क्षेत्रों की विशेषज्ञता और अनुभव के कारण कानून बनाने तथा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने में बहुत सहायता प्राप्त होती है। साधारणतया विधानपरिषद में प्रतिष्ठित, उच्च योग्यता वाले तथा अलग- अलग रुचियों के प्रतिनिधि होते हैं।

पाठगत प्रश्न 13.5

उचित विकल्प चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. विधानपरिषद किसी साधारण विधेयक को अधिक से अधिक ..... महीने का विलम्ब सकती है। (एक, दो, तीन, चार)
2. राज्यपाल वित्त विधेयक में अपनी सहमति ..... सकता है। (रोक, नहीं रोक)
3. विधानसभा मंत्रि परिषद को भंग ..... है। (कर सकती, नहीं कर सकती)

आपने क्या सीखा

विधानमण्डल के दोनों सदन – विधानसभा तथा विधानपरिषद – राज्यपाल की सहमति से संचालित होते हैं। अधिकांश राज्यों में विधानपरिषद नहीं है। फिलहाल उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, केरल तथा जम्मू एवं कश्मीर में विधानपरिषदें हैं। किसी भी राज्य में विधानपरिषद के गठन एवं उन्मूलन का अधिकार संसद को है।

विधानपरिषद का कुछ हिस्सा अप्रत्यक्ष मतदान द्वारा निर्वाचित तथा कुछ हिस्सा मनोनीत होता है। यह राज्यसभा की तरह स्थाई सदन होती है। यह कभी भंग नहीं होती। इसके सदस्यों का कार्यकाल छः वर्ष का होता है। इसके एक-तिहाई सदस्य हर दो वर्ष पर अवकाश ग्रहण कर लेते हैं।

विधानपरिषद की सदस्यता के लिए न्यूनतम आयु 30 वर्ष है जबकि विधानसभा के लिए 25 वर्ष। विधानसभा के सदस्य राज्य की जनता द्वारा वयस्क मतदान प्रणाली के तहत प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। इनका कार्यकाल पांच वर्ष होता है। किंतु मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा इसे कार्यकाल पूरा होने से पूर्व भी भंग किया जा सकता है। संवैधानिक संकट के समय राष्ट्रपति द्वारा भंग किया जा सकता है। विधानमण्डल के मुख्य कार्य– कानून बनाना, वित्तीय मामलों में नियंत्रण रखना, कार्यकारिणी पर नियंत्रण, चुनाव संबंधी सक्रियता तथा संवैधानिक सक्रियता हैं।

विधानसभा को प्रभुत्व प्राप्त है। साधारण विधेयक, वित्त विधेयक, कार्यकारिणी पर नियंत्रण तथा राष्ट्रपति के चुनाव में हिस्सेदारी संबंधी दृष्टियों से विधानपरिषद को विधानसभा की अपेक्षा कम शक्तियां प्राप्त हैं।

पाठांत प्रश्न

1. विधानसभा के संगठन की व्याख्या कीजिए।
2. विधानपरिषद का गठन किस प्रकार होता है?
3. विधानमण्डल के कार्य एवं शक्तियों की सीमाओं का वर्णन कीजिए।
4. विधानमण्डल के कार्य एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।
5. विधानपरिषद तथा विधानसभा की शक्तियों की तुलना कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

13.1 (1) 25 राज्यों (2) विधानमण्डल
(3) 25 वर्ष (4) आंग्ल भारतीय
(5) 5 वर्ष (6) विधानसभा का अध्यक्ष

13.2 (1) 30 वर्ष (2) 6 वर्ष
(3) 1/6 (4) दो वर्ष
(5) संसद (6) उत्तर प्रदेश

13.3 (क) (1) केन्द्र (2) राज्यपाल
(3) विधानसभा (4) 14 दिन
(5) विधानसभा

13.3 (ख) (1) विधानसभा का अध्यक्ष (2) राज्यपाल
(3) संसद तथा विधानसभा के निर्वाचित सदस्य

13.4 (1) राष्ट्रपति (2) राज्यसभा
(3) उच्च न्यायालय (4) संसद

13.5 (1) तीन (2) नहीं कर सकता
(3) सकता है

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, खण्ड 13.4
2. कृपया देखें, खण्ड 13.5
3. कृपया देखें, खण्ड 13.5
4. कृपया देखें, खण्ड 13.4
5. कृपया देखें, खण्ड 13.8

14

भारतीय न्यायपालिका की संरचना तथा उसका क्षेत्राधिकार

14.1 भूमिका

पिछले पाठ में आप सरकार के अंगों के विषय में पढ़ चुके हैं। उसमें आपने पढ़ा कि सरकार के दो अंग होते हैं– विधायिका तथा कार्यपालिका। आपने देखा कि विधायिका कानूनों को बनाती है और कार्यपालिका इनको लागू करती है। अब आप इस पाठ में न्यायपालिका के विषय में पढ़ेंगे जो कि सरकार का तीसरा महत्वपूर्ण अंग है। यह नागरिकों के मौलिक अधिकारों तथा आपसी झगड़ों के कानूनी निपटारे करती है तथा एक अभिभावक की तरह संविधान की रक्षा करती है। अब हम अपनी न्याय प्रणाली के विषय में पढ़ेंगे।

14.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे कि :

- भारत की न्याय प्रणाली संपूर्ण रूप से एकीकृत एवं स्वतंत्र न्यायपालिका के अधीन है।
- भारत के सर्वोच्च न्यायालय के गठन की व्याख्या कर सकेंगे।
- सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों तथा उसकी न्याय व्यवस्था की व्याख्या कर सकेंगे।
- सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के रक्षक के रूप में तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षक के रूप में देख सकना।
- राज्य में उच्च न्यायालयों के गठन की व्याख्या करना।
- राज्य के उच्च न्यायालयों की शक्तियां तथा उनकी न्याय व्यवस्था, तथा जिला स्तर पर अधीनस्थ न्यायालयों के कार्यों की व्याख्या करना।

14.3 एकीकृत न्याय प्रणाली

आप पिछले अध्यायों में पढ़ चुके हैं कि हमारा संविधान राज्यों के संगठन की व्याख्या प्रस्तुत करता है किन्तु वह अपने आपमें पूर्णत: स्वतंत्र है। हमारे संविधान में केन्द्र स्तर पर एक संगठित सरकार की व्यवस्था की गई है किन्तु साथ ही साथ राज्य स्तर पर राज्य सरकारों की भी व्यवस्था है। संविधान में केन्द्र तथा राज्य दोनों सरकारों को अलग-अलग शक्तियां प्रदान की गई हैं तथा इनके क्षेत्रों का विभाजन किया गया है।

हमारी न्यायपालिका की यह विशेषता है कि यह सम्पूर्ण देश के लिए एकबद्ध और एकीकृत है। सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय है, उसके बाद राज्यों के उच्च न्यायालय और उसके बाद अधीनस्थ (छोटे) न्यायालय जोकि भारत के अन्य भागों में काम करते हैं।

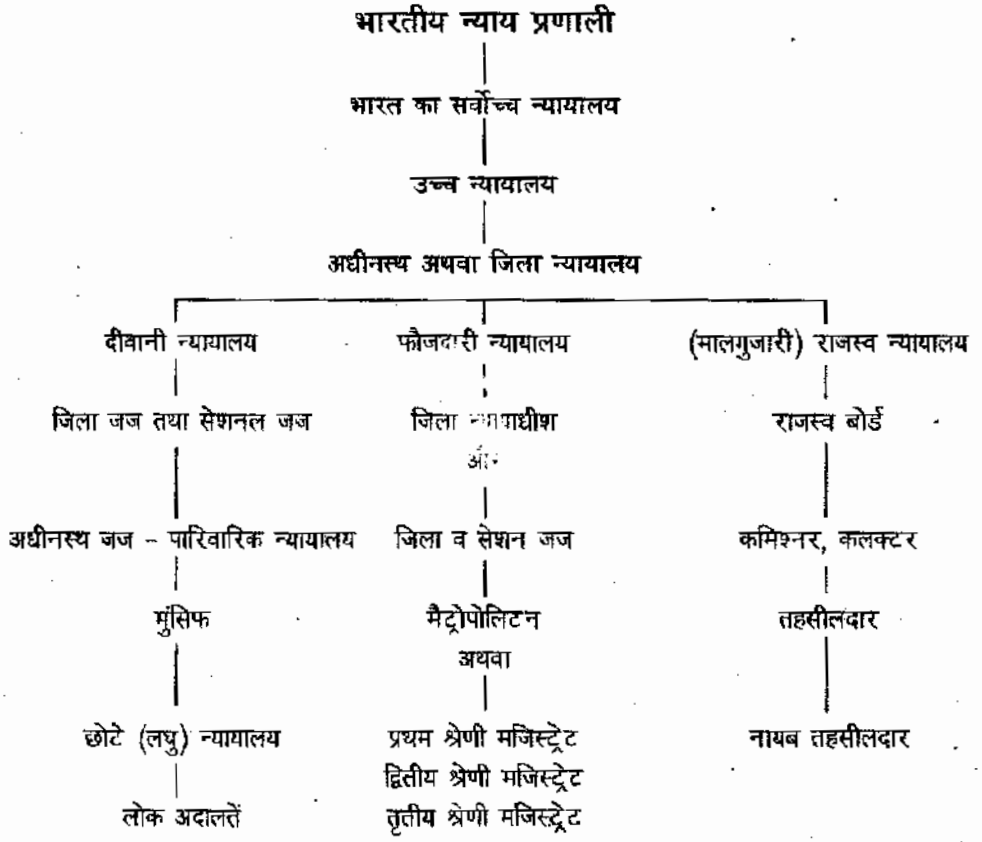

14.4 सर्वोच्च न्यायालय

भारत का सर्वोच्च न्यायालय देश का उच्चतम न्यायालय है। यह नई दिल्ली में स्थित है।

14.4.1 गठन

फिलहाल सर्वोच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और 25 अन्य न्यायाधीश हैं। संसद को यह अधिकार है कि इसके न्यायाधीशों की संख्या को बढ़ा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति अन्य वरिष्ठ न्यायाधीशों – जिन को वह उचित समझता है, से परामर्श करता है। सेवानिवृत्त न्यायाधीशों से भी परामर्श किया जाता है। साधारणत सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश को ही भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है। दूसरे न्यायाधीशों को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति, मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करता ही है राष्ट्रपति चाहे तो अन्य न्यायाधीशों – जिनको वह समझे कि आवश्यक और उचित है – परामर्श करता है।

सर्वोच्च न्यायालय के नौ न्यायाधीशों वाली एक पीठ के 6 अक्तूबर 1993 के फैसले के बाद अब स्थिति यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश को ही भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है सर्वोच्च न्यायालय के दूसरे न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति को भारत के मुख्य न्यायाधीश और दो दूसरे वरिष्ठ न्यायाधीशों से सलाह करनी ही होगी। किन्तु इसमें राष्ट्रपति की सहमति महत्वपूर्ण होती है।

उपर्युक्त स्थिति में न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में अब थोड़ा-सा सुधार किया गया है। इसके अन्तर्गत कार्यपालिका न्यायपालिका के योग्य सदस्यों के साथ जोकि इस संबंध में उचित सलाह दे सकते हैं – से परामर्श करने के बाद अपना सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश के निर्णय को मानने के लिए बाध्य होता है।

विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की सहमति से योग्य न्यायाधीशों को अस्थायी (तदर्थ) रूप से न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है। सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों के सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को भी अस्थायी (तदर्थ) रूप से न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है।

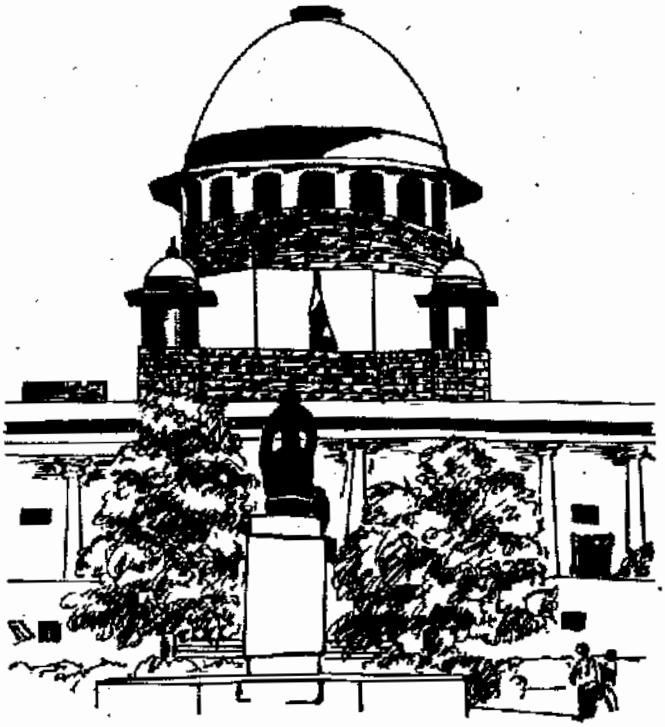

चित्र 14.1 सर्वोच्च न्यायालय

14.4.2 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

कोई भी व्यक्ति जिसे सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया जाएगा उसमें निम्नलिखित योग्यताएँ होनी आवश्यक हैं :

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसे किसी एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय में कम से कम 5 वर्ष का कार्यानुभव प्राप्त हो।

   अथवा

   वह किसी एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय में कम से कम 10 वर्ष तक वकालत कर चुका हो।

   अथवा

   राष्ट्रपति की दृष्टि में वह कोई प्रख्यात न्यायाधिवक्ता हो।

14.4.3 न्यायाधीशों का कार्यकाल

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक न्यायाधीश के रूप में कार्यरत रह सकते हैं। कोई भी न्यायाधीश इस अवधि से पहले अपनी इच्छानुसार त्यागपत्र दे सकता है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए न्यायाधीशों की सुरक्षा व्यवस्था का उचित प्रबंध आवश्यक होता है।

14.4.4 पदच्युति

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को 65 वर्ष की आयु से पहले भी उसकी अयोग्यता व कदाचार के आधार पर

अपदस्थ किया जा सकता है। दोनों सदन अलग-अलग इस प्रस्ताव को पारित कर दें अथवा वह प्रस्ताव संसद के एक ही सत्र में दोनों सदनों द्वारा दो-तिहाई बहुमत से पारित कर राष्ट्रपति को सौंप दिया जाए तो सर्वोच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को अपदस्थ करने पर राष्ट्रपति विवश होता है।

14.4.5 वेतन तथा भत्ते

मुख्य न्यायाधीश को रुपये 33,000/- मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों को रुपए 30,000/- मासिक वेतन मिलता है। इसके साथ–साथ उनको अनेक सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं जैसे ।बेना किराए का फर्नीचर सहित दफ्तर, मकान तथा अन्य भत्ते। सेवानिवृत्त होने पर न्यायाधीश को संसद द्वारा समय समय पर निश्चित की गई वार्षिक पेंशन मिलती है। न्यायाधीशों को वेतन, भत्ते और पेंशन देश की संचित निधि में से दिए जाते हैं और इस पर संसद का नियंत्रण नहीं होता है। न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते या पेंशन को घटाया अथवा उसमें किसी भी प्रकार की कटौती नहीं की जा सकती है। यदि देश में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाए तो राष्ट्रपति ही उसको घटा सकता है। इस प्रकार संविधान में, न्यायाधीशों की कार्यक्षमता को बनाए के लिए उचित सुविधाएँ उपलब्ध कराए जाने का प्रावधान है। ताकि वे निष्पक्ष तथा स्वतंत्र रूप से काम कर सकें।

पाठगत प्रश्न 14.1

1. निम्नलिखित रिक्त स्थानों को साथ में दिए गए शब्दों में से सही शब्द चुनकर भरिए :

   (क) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति ..... करता है।
   (राष्ट्रपति/प्रधान मंत्री)

   (ख) सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश और ..... दूसरे न्यायाधीश होते हैं।
   (21, 23, 25, 27)

   (ग) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश ..... वर्ष की आयु के बाद सेवानिवृत्त होते हैं। (58, 60, 62, 65)

   (घ) भारत के मुख्य न्यायाधीश का मासिक वेतन ..... रुपए है।
   33,000, 9,000, 10,000, 12,000)

   (ङ) न्यायाधीशों की संख्या ..... द्वारा बढ़ाई जा सकती है।
   (राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, संसद, मुख्य न्यायधीश)

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए :

   (क) सबसे बड़ा न्यायालय कौनसा है?

   (ख) भारतीय न्याय प्रणाली में किस न्यायालय को उच्च कोटि का न्यायालय कहा जाता है?

   (ग) किसी न्यायाधीश को अपदस्थ करने का आदेश, संसद सत्र में पारित हो जाने के बाद कौन देता है?

14.4.6 सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियां अत्यंत विस्तृत हैं। कानून द्वारा संसद इसकी शक्तियों में विस्तार करती है। मुकदमों को सुनना और उनके फैसले करने के अधिकार या शक्ति को ही न्यायिक अधिकार क्षेत्र कहते हैं। इसके अधिकार इस प्रकार हैं :

14.4.7 सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र

सर्वोच्च न्यायालय के पास निम्न मुकदमों के फैसले करने का अधिकार है:

1. मूल न्यायाधिकार
2. अपील संबंधी न्यायाधिकार
3. मंत्रणा संबंधी न्यायाधिकार

1. मूल न्यायाधिकार

मूल न्यायाधिकार – इसके अंतर्गत ऐसे मुकदमें आते हैं जिनको सीधे सर्वोच्च न्यायालय में ही दायर किया जाता है। ये मुकदमें हैं :

- ऐसे मुकदमें, जिनके एक ओर केन्द्रीय सरकार और दूसरी ओर एक या एक से अधिक राज्यों की सरकारें हों।
- ऐसे मुकदमें, जिनके एक ओर केन्द्रीय सरकार और एक या एक से अधिक राज्यों की सरकारें हों और दूसरी ओर एक या एक से अधिक राज्यों की सरकारें हों।
- दो या दो से अधिक राज्यों के बीच कोई विवाद हो।
- इसके अतिरिक्त नागरिकों के मौलिक अधिकारों के उल्लंघन संबंधी मुकदमें सीधे सर्वोच्च न्यायालय में दायर किये जा सकते हैं।

> **मूल न्यायाधिकार** : यह एक प्रकार का विशेषाधिकार है जिसके अंतर्गत विशेष प्रकार के मुकदमें सिर्फ सर्वोच्च न्यायालय में ही सुने जा सकते हैं। उनकी सुनवाई निचली अदालतों में नहीं हो सकती।

2. अपील संबंधी न्यायाधिकार

भारत में सर्वोच्च न्यायालय में की गई अपील अंतिम होती है। न्यायालय में यदि कोई व्यक्ति उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए फैसले से संतुष्ट नहीं है तो सुनवाई के लिए वह सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय में सांविधानिक, दीवानी तथा फौजदारी संबंधी मामलों की सुनवाई की जाती है।

i संविधानिक मामले

यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उसके विचाराधीन कोई मामला कानून से संबंधित है या कोई तात्विक प्रश्न है तो उस विवाद की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय ऐसे मामलों में अपील की इजाजत स्वेच्छा से दे देता है। किन्तु उसमें उच्च न्यायालय की पुष्टि आवश्यक होती है। यदि किसी स्थिति में उच्च न्यायालय प्रमाणपत्र देने से इन्कार कर दे तब भी सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

ii दीवानी मामले

दीवानी मुकदमों के अन्तर्गत सम्पत्ति, धन या समझौते के मुकदमें आते हैं। उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे मुकदमों की अपील भी की जा सकती है जोकि नागरिकों की भलाई से संबंधित हों और जिसे सर्वोच्च न्यायालय के व्याख्या की आवश्यकता हो।

iii फौजदारी मामले

फौजदारी के मामले में निम्नलिखित स्थितियों में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष रखे जा सकते हैं :

(क) बिना प्रमाणपत्र वाले

(ख) प्रमाणपत्र वाले

(क) बिना प्रमाणपत्र वाले

यदि किसी व्यक्ति को निचली अदालत द्वारा दोषमुक्त घोषित कर दिया गया हो, किन्तु उच्च न्यायालय ने उसे पलटकर मौत की सजा सुना दी हो। तब उस व्यक्ति को यह अधिकार है कि अपने इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष रखे। इस प्रकार के मामले को सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष रखा जा सकता है जिसमें यदि उच्च न्यायालय ने स्वयं पहल करके किसी निचली अदालत से किसी मुकदमें को उठा ले और उस व्यक्ति को दोषी करार देते हुए मृत्युदण्ड सुना दे। इन दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपने मामले को बिना प्रमाणपत्र के ही सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष रख सकता है।

(ख) प्रमाणपत्र वाले

यदि उच्च न्यायालय ने किसी मामले को यह कहते हुए प्रमाणित कर दिया हो कि यह मामला संवैधानिक सवालों से संबंधित है और इसकी सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय में की जानी चाहिए, तब ऐसे मामले अपील के लिए सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष रखे जाते हैं। बहुत कम स्थितियों में ऐसा होता है कि सर्वोच्च न्यायालय ऐसे मामलों को स्वतः दायर किए जाने के लिए विशेष छूट प्रदान कर दें।

> अपील संबंधी अधिकार : किसी भी अधीनस्थ न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपील सुनने संबंधी अधिकार को अपील संबंधी न्यायाधिकार कहते हैं। असंतुष्ट पक्ष अधीनस्थ न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील कर सकता है।

3. मंत्रणा संबंधी न्यायाधिकार

राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से जनता के महत्त्व के किसी भी विषय पर परामर्श मांग सकता है। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय उस पर अपनी सलाह देने के लिए बाध्य नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिया गया परामर्श भी बाध्य नहीं होता। हालांकि आज तक जितने भी परामर्श दिए गए, उन्हें सरकार ने माना है।

14.4-8 सर्वोच्च न्यायालय संविधान का संरक्षक

भारत का संविधान भारत का सर्वोच्च कानून है और सर्वोच्च न्यायालय इसका एकमात्र और अंतिम व्याख्याता। यह सर्वोच्च न्यायालय का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह इसका संरक्षण करे अर्थात इसकी रक्षा करे। कोई भी संविधान के विरुद्ध नहीं जा सकता चाहे वह संसद हो, राज्य विधान मंडल हो, केन्द्र हो या कोई राज्य हो। सर्वोच्च न्यायालय कानून या संविधान के विरुद्ध विधायी आदेश को अवैध घोषित कर देता है।

किसी भी कानून या दिए गए विधायी आदेश की अवैधता को जांचने के अधिकार को सर्वोच्च न्यायालय का न्यायिक पुनरावलोकन संबंधी अधिकार कहते हैं। इस अधिकार के विषय में विस्तारपूर्वक पाठ 15 में आप पढ़ेंगे। 18 मार्च 1997 के निर्णय के अनुसार संसद संविधान में किसी प्रकार का संशोधन करके सर्वोच्च न्यायालय से न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार नहीं छीन सकती।

14.4-9 मौलिक अधिकारों का रक्षक

नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा का भार सर्वोच्च न्यायालय के साथ उच्च न्यायालयों के कंधों पर भी है। यदि कोई नागरिक ऐसा महसूस करता है कि उसके मौलिक अधिकारों को कुचला जा रहा है तो वह सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा दायर कर सकता है और सर्वोच्च न्यायालय अपने संवैधानिक उपचारों जैसे – बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार तथा उत्प्रेषण लेख का उल्लेख देकर उसके मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है। आप इस विषय में विस्तारपूर्वक "मौलिक अधिकारों की रक्षा में न्यायालय का महत्त्व" वाले पाठ में पढ़ेंगे।

14.4-10 न्यायिक संग्रहालय के रूप में

सर्वोच्च न्यायालय एक प्रकार का न्यायिक संग्रहालय भी है। इसके सभी निर्णय और फैसले यहां पर संजोकर रखे जाते हैं। देशभर के न्यायालयों में इनका संदर्भ (उदाहरण) दिया जाता है। न्यायालय का अनादर या मानहानि करने पर उसे किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार है।

14.4-11 अपने निर्णय पर पुनर्विचार

सर्वोच्च न्यायालय को अपने पूर्वनिर्णय पर पुनर्विचार करने और अपने निर्णय को बदलने का अधिकार है। यदि सर्वोच्च न्यायालय को नए तथ्यों का पता चल जाए या नए प्रमाण उपलब्ध हो जाएं या यह पता चल जाए कि उससे कोई भूल हो गई है जोकि जनता के अहित में हैं तो वह अपने दिये गए निर्णय को बदल सकता है।

14.4-12 सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून सर्वमान्य होता है

कोई भी कानून जिसको सर्वोच्च न्यायालय ने पारित कर दिया हो वह कानून भारत के सभी न्यायालयों में मान्य होता है।

14.4.13 न्यायिक सक्रियतावाद

सर्वोच्च न्यायालय ने अब ऐसे मामलों पर अपना निर्णय देना शुरू कर दिया है जो जनहित से जुड़े होते हैं और उस पर किसी भी प्रकार की कार्यवाही कर पाने में सरकार की विधायिका और कार्यपालिका – दोनों शक्तियां, लगभग असफल रही हैं। इसके अंतर्गत वे मामले आते हैं जैसे किसी औद्योगिक इकाई अथवा कारखानों द्वारा शहर के वातावरण को प्रदूषित करने का, सार्वजनिक पार्कों का दुरुपयोग तथा उच्चस्तरीय भ्रष्टाचारों की पूछताछ तथा छानबीन आदि। सर्वोच्च न्यायालय के इस प्रकार की सक्रिय कार्य शैली को न्यायिक सक्रियतावाद कहते हैं। इसके संबंध में आपको अध्याय 16 में विस्तार से बताया गया है।

पाठगत प्रश्न 14.2

1. कोष्ठक में दिए शब्दों में से सही शब्द चुनकर खाली स्थानों की पूर्ति कीजिए :

   (क) दो या दो से अधिक राज्यों का झगड़ा सर्वोच्च न्यायालय में ..... न्याय के लिए लाया जाता है। (अपील संबंधी/आरम्भिक क्षेत्र)

   (ख) राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से ..... महत्त्व के मामलों पर सलाह ले सकता है। (कानूनी/राजनीतिक)

   (ग) सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए ..... होता है। (बाध्य/बाध्य नहीं)

   (घ) संविधान की व्याख्या का अधिकार ..... के पास है। (उच्च न्यायालय/सर्वोच्च न्यायालय)

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

   (क) यदि कोई कानून संविधान के नियमों के विरुद्ध है तो सर्वोच्च न्यायालय क्या करेगा?

   (ख) यदि कोई मनुष्य इसके (संविधान के) प्रति अनादर का भाव प्रकट करे तो सर्वोच्च न्यायालय क्या कर सकता है?

14.5 राज्यों में उच्च न्यायालय

14.5.1 संगठन

हर राज्य में एक उच्च न्यायालय पाया जाता है। फिर भी कई बार विशेष स्थिति में दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही संयुक्त उच्च न्यायालय होता है। उदाहरण के लिए – पंजाब, हरियाणा और चंडीगढ़ का एक ही उच्च न्यायालय है जोकि चंडीगढ़ में स्थित है। इसी तरह से उत्तर-पूर्व के सात राज्यों असम, नागालैंड, मणीपुर मेघालय, मिज़ोरम, त्रिपुरा और अरुणाचल प्रदेश के लिए एक ही उच्च न्यायालय है जोकि गुवाहाटी में स्थित है। दिल्ली का अपना उच्च न्यायालय है। हर उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश होता है और कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं। न्यायाधीशों की संख्या हर राज्य में अलग-अलग होती है। जिनकी संख्या राष्ट्रपति निश्चित करता है।

अभी हमारे देश में 25 राज्यों और 7 संघ शासित प्रदेशों के लिए 18 उच्च न्यायालय हैं। (उच्च न्यायालयों का क्षेत्र तथा स्थिति पाठ के अन्त में दी गई है।)

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी भारत का राष्ट्रपति करता है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए राष्ट्रपति को उस राज्य के राज्यपाल से परामर्श करना पड़ता है। अन्य न्यायाधीशों को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा उसी राज्य के राज्यपाल से परामर्श करना पड़ता है। राष्ट्रपति के पास न्यायाधीशों को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित (तबादला) करने का अधिकार है। जैसा कि पहले बताया गया है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति और तबादले के लिए राष्ट्रपति को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करना ही पड़ेगा। ऐसा निर्णय 1993 के न्यायाधीशों के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने लिया था।

14.5.2 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए एक व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है :

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसे जिला या सेशन जज होने का कम से कम 10 वर्ष का अनुभव प्राप्त हो या वह किसी एक उच्च न्यायालय या एक से अधिक उच्च न्यायालयों में निरंतर 10 वर्ष तक एडवोकेट के रूप में कार्य कर चुका हो।

14.5.3 कार्यावधि तथा पदच्युति

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रह सकते हैं। सेवानिवृत्त होने पर चाहें तो उनको सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है या सर्वोच्च न्यायालय या किसी भी उच्च न्यायालय में (अपने उच्च न्यायालय को छोड़कर) वे अपनी वकालत शुरू कर सकते हैं।

उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसकी अयोग्यता अथवा कदाचार के आधार पर 62 वर्ष की आयु से पहले भी पदमुक्त किया जा सकता है। यदि संसद के दोनों सदन अलग-अलग 2/3 (दो-तिहाई) बहुमत से इस प्रस्ताव को पारित कर दें, तो राष्ट्रपति उस न्यायाधीश को पदच्युत कर सकता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पदमुक्त अथवा अपदस्थ करने का तरीका भी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की तरह ही है।

14.5.4 वेतन एवं भत्ते

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को मासिक 30,000 रुपये और अन्य न्यायाधीशों का 26,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को निःशुल्क निवास तथा कई अन्य भत्ते मिलते हैं। सेवानिवृत्त होने पर संसद द्वारा समय-समय पर निश्चित की गई वार्षिक पेंशन मिलती है। इनको वेतन राज्य के संचित कोष से मिलता है, इस पर राज्य के विधान परिषद अथवा कार्यपालिका का कोई नियंत्रण नहीं होता।

पाठगत प्रश्न 14.3

1. निम्नलिखित रिक्त स्थानों को दिए गए शब्दों में से उचित शब्द चुनकर भरिए :

   (i) इस समय भारत में ..... उच्च न्यायालय हैं।
   (16, 18, 20)

   (ii) संघ राज्यों में ..... का अपना अलग उच्च न्यायालय है।
   (दमन और दीव, चंडीगढ़ दिल्ली)

   (iii) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ..... नियुक्त करता है।
   (राज्य का राज्यपाल, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री)

   (iv) उच्च न्यायालय के न्यायाधीश ..... की आयु में सेवानिवृत्त होते हैं।
   (60, 62, 65)

   (v) उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का वेतन ..... रु. मासिक होता है।
   (8,000/- 9,000/- 10,000/-)

14.5.5 उच्च न्यायालय के अधिकार व न्यायक्षेत्र

उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि जो मुकदमें सीधे उसके समक्ष दर्ज किये गये हैं उनको सुने और अपना फैसला दे। इस अधिकार को मूल न्यायाधिकार कहते हैं। जब उच्च न्यायालय किसी अधीनस्थ न्यायालय के फैसले के विरुद्ध किसी अपील को सुनता है तो उसे अपीलीय न्यायाधिकार कहते हैं। उच्च न्यायालय व्यापक स्तर पर अपील का ही न्यायालय है। दीवानी और फौजदारी के मुकदमों पर निचली अदालतों द्वारा दिये गये फैसलों के विरुद्ध यहां अपील की जाती है।

उच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्र बहुत ही सीमित है। कुछ मुकदमों जैसे 'मौलिक अधिकारों का उल्लंघन' को सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त उच्च न्यायालय में भी शुरू किया जा सकता है। उच्च न्यायालय को यह अधिकार

है कि वह लोगों के मौलिक अधिकारों को बनाये रखने का आदेश दे। इन आदेशों को याचिका कहते हैं।

निचली अदालत में सुनाए गए मृत्युदंड को उच्च न्यायालय द्वारा ही स्वीकृति प्रदान की जाती है। मुम्बई (बम्बई) और चेन्नई (मद्रास) के उच्च न्यायालयों को यह अधिकार है कि वह ईसाइयों और पारसियों की शादी और तलाक के मुकदमें अपने मूल न्यायाधिकार के अन्तर्गत सुनें।

संसद द्वारा पारित कानून के अनुसार दिल्ली और हिमाचल प्रदेश के उच्च न्यायालय 5 लाख अथवा उससे अधिक की सम्पत्ति के दीवानी मुकदमें की सुनवाई कर सकते हैं।

उच्च न्यायालय चुनाव संबंधी मुकदमों की सुनवाई भी कर सकती है। यदि संसद अथवा विधानसभा का कोई उम्मीदवार किसी बार की चुनौती देता है। यदि उच्च न्यायालय को यह पता चल जाए कि चुनाव में किसी सदस्य ने धोखाधड़ी या भ्रष्टाचार फैलाने वाले तत्वों का प्रयोग किया है, तब वह उसके चुनाव को रद्द कर सकता है। सभी निचली अदालतें उच्च न्यायालय की देखरेख और सलाह के अन्तर्गत ही कार्य करती हैं।

14. 5.6 अभिलेख न्यायालय

उच्च न्यायालय भी सर्वोच्च न्यायालय की तरह एक अभिलेख न्यायालय है। राज्य के सभी अधीनस्थ न्यायालय उच्च न्यायालय के फैसलों को मानने के लिए बाध्य होते हैं जिसका संदर्भ पहले भी दिया गया है। इसकी अवहेलना करने पर उच्च न्यायालय को किसी को भी दण्डित करने का पूरा अधिकार प्राप्त है।

पाठगत प्रश्न 14.4

1. किस न्यायक्षेत्र के अंतर्गत मुकदमें सीधे उच्च न्यायालय में दर्ज कराए जाते हैं?
2. ईसाईयों और पारसियों की शादी और तलाक के मुकदमें किन उच्च न्यायालयों में दर्ज कराए जाते हैं?
3. निचली अदालतों द्वारा सुनाए गए मृत्युदण्ड की पुष्टि कौन करता है?
4. मौलिक अधिकारों के कुचले जाने संबंधी मुकदमें किस न्यायालय में दर्ज कराए जाते हैं?

14.6 अधीनस्थ न्यायालय

भारत के हर जिले में विभिन्न प्रकार के अधीनस्थ न्यायालय होते हैं जैसे कि दीवानी, फौजदारी और मालगुजारी न्यायालय। ये न्यायालय अपने-अपने दीवानी, फौजदारी और मालगुजारी के मुकदमों की सुनवाई करते हैं।

दीवानी मुकदमे : जैसे - दो या दो से अधिक व्यक्तियों में सम्पत्ति का झगड़ा, किसी समझौते को तोड़ देना, तलाक या मकान मालिक-किरायेदार का झगड़ा इन सबको दीवानी न्यायालय निबटाते हैं।

फौजदारी मुकदमे : जैसे - किसी कानून का उल्लंघन करना। ऐसे मुकदमें जैसे चोरी, डकैती, अपहरण, जेब काटना, शारीरिक रूप से नुकसान, कत्ल आदि। ऐसे मुकदमों में अपराधी को जुर्माना, कैद या फिर मृत्युदंड भी दिया जाता है।

मालगुजारी के मुकदमे : जैसे - कृषि योग्य भूमि पर भूमि राजस्व आदि से संबंधित मुकदमें दायर किये जाते हैं।

14.6.1 दीवानी न्यायालय

जिला न्यायालय जिले का सबसे बड़ा न्यायालय है जहां दीवानी मुकदमें सुने जाते हैं। जब यह दीवानी और फौजदारी दोनों के मुकदमें जिला स्तर पर ही देखे जाते हैं तब अकसर इसी न्यायालय को डिस्ट्रिक्ट और सेशन जज का न्यायालय भी कहा जाता है। इस न्यायालय के न्यायाधीश को उस राज्य का राज्यपाल नियुक्त करता है।

जिला न्यायाधीश के अधीन एक या दो अधीनस्थ जज होते हैं। स्वतंत्र पारिवारिक न्यायालय, जोकि अधीनस्थ न्यायाधीश के बराबर है, को जिलों में स्थापित किया गया है जहां पर पारिवारिक झगड़े, जैसे कि तलाक, बच्चों का अभिभावकत्व सौंपना। इसके बाद आती है मुंसिफ की अदालत और छोटे-मोटे कारणों की अदालतें जैसे कि छोटे (धनराशि) के झगड़े। इन छोटे न्यायालयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती। सभी झगड़ों का निबटारा ये दीवानी न्यायालय ही करते हैं।

जिला न्यायाधीश केवल अधीनस्थ न्यायाधीश के विरुद्ध की अपील को ही नहीं सुनता बल्कि कभी-कभी कुछ मुकदमें सीधे जिला न्यायाधीश के न्यायालय में ही सीधे दर्ज कराये जाते हैं। इसके न्याय के विरुद्ध राज्य के उच्च न्यायालय में अपील की जाती है।

> **दीवानी न्यायालय** : दीवानी न्यायालय ऐसे मुकदमे की सुनवाई करती है जोकि दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच हों, सम्पत्ति संबंधी हों, किसी समझौते को तोड़ा गया हो अथवा मकान मालिक-किरायेदार के बीच हो।

14.6.2 फौजदारी न्यायालय

जिले के अन्दर फौजदारी मुकदमों के लिए सेशन जज का न्यायालय सबसे बड़ा न्यायालय होता है। इसके बाद प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट के न्यायालय आते हैं। मैट्रोपोलिटन शहरों जैसे दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई और चेन्नई में प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट को मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट कहते हैं। उन सभी व्यक्तियों को जो कानून का उल्लंघन करते हुए पाए जाते हैं उन्हें ये सभी फौजदारी न्यायालय कानूनी आधार पर दोषमुक्त अथवा दण्डित करने के लिए स्वतंत्र होते हैं।

छोटे-छोटे मुकदमे जोकि ग्राम स्तर के होते हैं उनका निबटारा न्याय-पंचायत करती है। आप इसके बारे में विस्तार से अध्याय 24 में पढ़ेंगे।

> **फौजदारी न्यायालय** : कानून का उल्लंघन करने वाले फौजदारी मुकदमें सुनते हैं। ऐसे मुकदमें जिनमें चोरी, डकैती, अपहरण, जेब काटना, कत्ल और शारीरिक रूप से नुकसान पहुंचना आदि। ऐसे मुकदमों में अभियुक्त को सजा देना। यह सजा जुर्माना, कैद और कभी-कभी मृत्युदंड भी हो सकती है।

14.6.3 मालगुजारी न्यायालय

भूमि संबंधी मालगुजारी के मुकदमें जिले में दायर किये जाते हैं। मालगुजारी न्यायालय में बोर्ड ऑफ रिवेन्यू सबसे बड़ा न्यायालय होता है। इसके अधीन कमिश्नर, कलक्टर, तहसीलदार तथा नायब तहसीलदार की अदालतें आती हैं। बोर्ड ऑफ रिवेन्यू इन सभी छोटी-मोटी अदालतों के विरुद्ध की गई अंतिम अपील को सुनता है।

> **भूमि राजस्व** : यह एक प्रकार का कृषि भूमि पर लगाया जाने वाला कर है जो सरकार किसानों से वसूल करती है।

पाठगत प्रश्न 14.5

1. किसी जिले के सबसे बड़े दीवानी न्यायालय का नाम बताओ।
2. सबसे बड़ा फौजदारी न्यायालय कौन सा है?
3. रिक्त स्थानों की पूर्ति करो :

   (क) ..... न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती।

   (ख) ग्राम स्तर के छोटे-मोटे मुकदमों का फैसला ..... करती है।

आपने क्या सीखा

हमारे देश की न्याय व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि यह एकीकृत और एकहरी है।

सर्वोच्च न्यायालय भारत का सबसे बड़ा न्यायालय है, जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश और दूसरे 25 न्यायाधीश हैं, जिनको राष्ट्रपति नियुक्त करता है। ये 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं।

इसके पास प्रारम्भिक, अपील संबंधी और मंत्रणा संबंधी अधिकार क्षेत्र हैं। यह संविधान का रक्षक और मौलिक अधिकारों का संरक्षक है। इसके पास पुनर्विचार करने का भी अधिकार है। यह न्यायिक संग्रहालय भी है।

हमारे देश में 25 राज्यों और 7 संघ शासित राज्यों के लिए 18 उच्च न्यायालय हैं। इनके न्यायाधीशों को भी राष्ट्रपति ही नियुक्त करता है। वे अपने पद पर 62 वर्ष की आयु तक बने रह सकते हैं।

उच्च न्यायालय मुख्य रूप से अपील का न्यायालय है। इसका प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

हर जिले में अधीनस्थ, दीवानी, पारिवारिक, फौजदारी और मालगुजारी न्यायालय हैं। लघु अदालतों के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

पाठांत प्रश्न

1. सर्वोच्च न्यायालय के संगठन का वर्णन करो।
2. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उसके पद से कैसे अपदस्थ किया जा सकता है।
3. सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक और मंत्रणा अधिकार क्षेत्र का वर्णन करो।
4. सर्वोच्च न्यायालय के अपील संबंधी अधिकार क्षेत्र का वर्णन करो।
5. राज्य के उच्च न्यायालय के संगठन का वर्णन करो।
6. उच्च न्यायालय की शक्तियों तथा अधिकार क्षेत्र का वर्णन करो।
7. किसी भी जिले में अधीनस्थ न्यायालयों का गठन कैसे किया जाता है।
8. किसी जिले में दीवानी न्यायालय के अधिकार और कार्य फौजदारी न्यायालय के कार्य और अधिकार से किस प्रकार भिन्न हैं?

विस्तृत जानकारी

सर्वोच्च न्यायालय और संसद के बीच मौलिक अधिकारों या नैतिक सिद्धांतों को लेकर संघर्ष

संसद और न्यायपालिका के बीच आरम्भ से ही तनाव चला आ रहा है। यह संघर्ष मौलिक अधिकारों और नैतिक सिद्धांतों को लेकर है। उच्च न्यायालय नैतिक सिद्धांतों से अधिक मौलिक अधिकारों पर जोर देता है। उच्च न्यायालय ने उन कानूनों को रद्द (अप्रमाणित) कर दिया जोकि नैतिक सिद्धांतों के आधार पर बने हैं, जैसे कि जनसाधारण के सामाजिक-आर्थिक स्तर को ऊपर उठाना जोकि एक प्रकार से मौलिक अधिकारों को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, जमींदारी प्रणाली का बहिष्कार करना, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, गोपनीय तरीकों से धन बनाना, अध्यादेश का बहिष्कार आदि को सर्वोच्च न्यायालय ने असंवैधानिक घोषित कर दिया है।

संविधान के 42वें संशोधन के अधीनियम ने सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार पर पाबंदी लगा दी गई थी। परन्तु 44वें संशोधन अधिनियम में उसे यह अधिकार दे दिये गये हैं।

उच्च न्यायालय तथा उनके न्यायक्षेत्र की सीमा

आपने पढ़ा कि हमारे देश के 25 राज्यों और 7 संघ शासित राज्यों के लिए 18 उच्च न्यायालय हैं। हमारे देश के उच्च न्यायालय और उनके न्यायक्षेत्र निम्न दिए गए हैं।

उच्च न्यायालयों के नाम	स्थापना	न्यायक्षेत्र	उन शहरों के नाम जहां उच्च न्यायालय स्थित हैं
1. इलाहाबाद	1966	उत्तर प्रदेश	इलाहाबाद (बेंच लखनऊ)
2. आंध्र प्रदेश	1954	आंध्र प्रदेश	हैदराबाद

3.	मुम्बई (बम्बई)	1861	महाराष्ट्र, गोआ और दमन-दीव के संघ राज्य तथा दादर-नागर हवेली संघ-राज्य	नागपुर, पणजी और औरंगाबाद
4.	कलकत्ता	1861	पश्चिम बंगाल, अंडमान निकोबार द्वीपसमूह (संघ राज्य)	कलकत्ता
5.	दिल्ली	1966	दिल्ली	दिल्ली
6.	गुवाहाटी	1972	असम, मणीपुर, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा, मिज़ोरम, अरुणाचल प्रदेश	गुवाहाटी (इम्फाल, अगरतला शिलांग अस्थाई रूप से कोहिमा)
7.	गुजरात	1960	गुजरात	अहमदाबाद
8.	हिमाचल प्रदेश	1971	हिमाचल प्रदेश	शिमला
9.	जम्मू व कश्मीर	1928	जम्मू व कश्मीर	श्रीनगर, जम्मू
10.	कर्नाटक	1884	कर्नाटक	बंगलौर
11.	केरल	1956	केरल और लक्षद्वीप के संघ राज्य	एर्नाकुलम्
12.	मध्य प्रदेश	1956	मध्य प्रदेश	जबलपुर (ग्वालियर और इंदौर)
13.	चेन्नई (मद्रास)	1861	तमिलनाडु और पांडिचेरी के संघ राज्य	चेन्नई (मद्रास)
14.	उड़ीसा	1948	उड़ीसा	कटक
15.	पटना	1916	बिहार	पटना (बैंच-रांची)
16.	पंजाब और हरियाणा	1947	पंजाब, हरियाणा तथा केंद्र शासित क्षेत्र चंडीगढ़	चंडीगढ़
17.	राजस्थान	1949	राजस्थान	जोधपुर (बैंच-जयपुर)
18.	गंगटोक	1975	सिक्किम	गंगटोक

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

14.1 1. (क) राष्ट्रपति
(ख) 25
(ग) 65
(घ) 10,000
(ङ) संसद

2. (क) सर्वोच्च न्यायालय
(ख) राष्ट्रपति

14.2 1. (क) मूल
(ख) कानूनी
(ग) बाध्य नहीं
(घ) सर्वोच्च न्यायालय

2. (क) असंविधानिक घोषित करना
(ख) उसे न्यायालय की अवमानना के लिए दण्डित करना

14.3 (क) 18
(ख) दिल्ली
(ग) राष्ट्रपति
(घ) 62
(ङ) 9,000

14.4 1. मूल
2. मुम्बई, कलकत्ता, चेन्नई
3. उच्च न्यायालय
4. किसी भी उच्च न्यायालय में या सर्वोच्च न्यायालय में

14.5 1. जिला जज का न्यायालय
2. सेशन जज का न्यायालय
3. (क) छोटे-मोटे मामले
(ख) न्याय पंचायत

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, खण्ड 14. 4.1
2. कृपया देखें, खण्ड 14.4.4
3. कृपया देखें, खण्ड 14.4.7
4. कृपया देखें, खण्ड 14.4.7
5. कृपया देखें, खण्ड 14.4.1
6. कृपया देखें, खण्ड 14.5.5
7. कृपया देखें, खण्ड 14.6
8. कृपया देखें, खण्ड 14.6.1 तथा 14.6.2

15

न्यायिक पुनरावलोकन एवं मौलिक अधिकारों की सुरक्षा

15.1 भूमिका

हमारे देश के नागरिकों को जो मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं, उनके बारे में आप पहले ही विस्तार से पढ़ चुके हैं। आप यह भी जानते हैं कि हमारे देश का संविधान ही देश का सर्वोच्च कानून हैं। इस बात से दो प्रश्न हमारे सामने उभर कर आते हैं। पहला तो यह कि क्या संविधान में सिर्फ मौलिक अधिकारों की गणना और उनके प्रति आश्वासन व्यक्त कर देना भर ही पर्याप्त है? और दूसरा यह कि संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने की जिम्मेदारी किसकी है? इन प्रश्नों के उत्तर सर्वोच्च न्यायालय तथा इसके न्यायिक पुनरावलोकन की शक्तियों में निहित हैं। सर्वोच्च न्यायालय के गठन, कार्य तथा शक्तियों के बारे में आप पहले ही पढ़ चुके हैं। इस अध्याय में आप पढ़ेंगे कि सर्वोच्च न्यायालय किस प्रकार हमारे मौलिक अधिकारों की सुरक्षा करता है तथा हमारे संवैधानिक तंत्र में न्यायिक पुनरावलोकन की क्या भूमिका है।

15.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- इस बात को पुन:स्मरण कर सकेंगे कि भारतीय संविधान सर्वोच्च होता है तथा सरकार के सभी घटक एक निर्धारित सीमा रेखा के भीतर ही कार्य करने पर बाध्य होते हैं।
- अनुच्छेद 32 को पुन:स्मरण कर सकेंगे जिसमें मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होने पर नागरिकों के लिए प्रति विधान सुझाए गए हैं।
- न्यायिक पुनरावलोकन की अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगे तथा यह जान सकेंगे कि यह सरकार को सही दिशा में चलाते रहने का एक प्रकार का हथियार है।
- इस बात का पुन:स्मरण कर सकेंगे कि हमारे अधिकारों की सुरक्षा में जनहित याचिका एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।
- मौलिक अधिकारों एवं मौलिक कर्तव्यों के महत्त्व को स्थापित कर सकेंगे।
- दुनिया के दूसरे संविधानों से तुलना करके इसके विशिष्ट गुणों को जान सकेंगे तथा इसकी प्रशंसा कर सकेंगे।

15.3 न्यायिक पुनरावलोकन क्या है?

हमारे देश की राजनीतिक संरचना को ध्यान में रखते हुए यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया कि संविधान ही हमारे

देश का सर्वोच्च कानून है। इसमें सरकार के तीनों घटकों के कार्य एवं शक्तियों का विधिवत् विश्लेषण है। संविधान में एक स्वतंत्र तथा शक्तिशाली न्यायपालिका की व्यवस्था है जोकि हमारे जनतंत्र के स्तंभों में से सर्वप्रमुख स्तंभ है। संसद तथा हमारे विधान मंडल नागरिक हितों को ध्यान में रखते हुए कानून बनाते हैं तथा कार्यपालिका इसे लागू करती है।

कभी-कभी व्यक्तिगत अधिकारों अथवा जरूरतों और सामाजिक आवश्यकताओं को लेकर विवाद भी उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी क्षेत्र में पानी की कमी हो जाती है सरकार को वहां की जनता की सुविधा के लिए जलकुंडों का निर्माण करवाना पड़ेगा अथवा नदी की धारा को दूसरी तरह मोड़कर पानी का इंतज़ाम करना पड़ेगा। तो ऐसी स्थिति में उस क्षेत्र के कुछ लोगों को विस्थापित भी होना पड़ सकता है। लेकिन ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक आवश्यकताएं प्रमुख हो जाती हैं। ऐसे में सुव्यवस्थित तथा मैत्रीपूर्ण सामाजिक जीवन व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है।

दूसरा उदाहरण लें – हमारे अधिकांश गांवों में सड़कें नहीं हैं। यदि सरकार किसी गांव में सड़क बनाने का निर्णय लेती है तो निश्चित रूप से उस गांव में रहने वाले लोगों के संपत्ति संबंधी अधिकार उससे प्रभावित होंगे। यदि इस स्थिति में किसी के व्यक्तिगत हितों को ठेस पहुंचती है तो वह अदालत के समक्ष अपनी समस्या रख सकता है और अदालत सामाजिक जरूरतों अथवा हितों तथा व्यक्तिगत हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। दूसरे शब्दों में, कहें तो अदालत व्यक्तिगत हितों को सामाजिक हितों के साथ रखकर तोलता है। कभी-कभी सामाजिक हितों के विरुद्ध लिए गए निर्णय के लिए सर्वोच्च न्यायालय सरकार की भर्त्सना भी करता है तथा जारी किए गए उस संबंधित कानून को असंवैधानिक करार देकर उसे लागू न किए जाने के निर्णय भी देता है। यदि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सुनाए गए निर्णय पर संसद को कोई आपत्ति होती है तो उसे यह अधिकार है कि वह संविधान में संशोधन करे। इस प्रकार संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखना होता है।

तो न्यायिक पुनरावलोकन क्या है? विभिन्न मुकदमों में अदालतों को फैसले सुनाने पड़ते हैं और वे इसके लिए संविधान की सहायता लेती हैं। हालांकि हमारे संविधान में सरकार के सभी कामों तथा हमारे अधिकारों का विस्तार से वर्णन है। फिर भी कई अनुच्छेदों तथा शब्दों के सही अर्थ समझने में कठिनाई होती है तथा कई बार भ्रम भी पैदा हो जाता है। सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त है। वही समझा सकता है कि वास्तव में संविधान है क्या? इन सारी प्रक्रियाओं के तहत यदि सर्वोच्च न्यायालय को लगता है कि संसद द्वारा बनाए गए कानून अथवा कार्यपालिका की किसी व्यवस्था द्वारा संविधान के किसी नियम का उल्लंघन हो रहा है तो वह उस कानून अथवा व्यवस्था को अवैध घोषित कर सकता है। इसका मतलब यह होता है कि उसके बाद वह कानून और व्यवस्था रद्द समझी जाएगी। यही न्यायिक पुनरावलोकन है।

न्यायालय अपने न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार का प्रयोग कहां करता है? दूसरे शब्दों में कहें तो न्यायिक पुनरावलोकन एक प्रकार का संवैधानिकता प्रमाणित करने का अधिकार है जो विधायिका के आदेशों तथा कार्यपालिका की व्यवस्थाओं के संदर्भ में प्रयुक्त होता है। विशेष मामलों में सर्वोच्च न्यायालय किसी कानून को वैध करार दे सकता है तथा यह घोषणा कर सकता है कि संबंधित कानून से संविधान के सिद्धांतों की पुष्टि होती है। कुछ मामलों में यदि अदालत को लगता है कि कोई कानून अथवा व्यवस्था संविधान की पुष्टि नहीं कर रहा है तो वह उसे रद्द करने के आदेश दे देती है। न्यायालय उसे अवैध अथवा *अल्ट्रावायरस* घोषित कर सकता है।

> *अल्ट्रावायरस* का अर्थ होता है संविधान के साथ तारतम्य न बिठा पाना। दूसरे शब्दों में उसे असंवैधानिक कह सकते हैं, जोकि लागू किए जाने योग्य नहीं है।

संविधान में कहीं भी अलग से न्यायिक पुनरावलोकन की चर्चा नहीं की गई है। संविधान के विभिन्न प्रावधानों द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन का अंदाजा लगाया जा सकता है। इनमें से पहला तो धारा 13 के द्वारा, जिसमें राज्यों, स्थानीय सरकारों अथवा विधान मंडलों के मौलिक अधिकारों की अवहेलना करते हुए कोई भी कानून बनाने के लिए वर्णित किया गया है। यदि वे ऐसा करते हैं तो उन्हें असंवैधानिक करार दिए जाने का प्रावधान है।

दूसरा, अनुच्छेद 32 तथा 226 में मौलिक अधिकारों की रक्षा का प्रावधान है। चूंकि संविधान की रक्षा का दायित्व

सर्वोच्च न्यायालय के ऊपर होता है इसलिए वहां मौलिक अधिकारों से संबंधित किसी भी समस्या को लेकर याचिकाएं दायर की जा सकती हैं।

मार्च 1997 में सर्वोच्च न्यायालय ने एक ऐतिहासिक निर्णय में नियम सुनाया कि संसद अपने संवैधानिक सुधार संबंधी अधिकारों के द्वारा अदालतों के न्यायिक पुनरावलोकन संबंधी अधिकार को अधिग्रहीत नहीं कर सकती। इसमें यह भी बताया गया कि न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार अनुच्छेद 32 और 226 के अंतर्गत वर्णित है और ये धाराएँ संविधान के मूलभूत ढाँचे के अभिन्न अंग हैं।

न्यायिक पुनरावलोकन की अवधारणा अमेरिका की संविधान प्रणाली से ली गई है। संयुक्त राज्य की अदालतों ने इसे एक मुकदमें के सिलसिले में अभिग्रहीत कर लिया था। अब यह अमेरिकी संविधान में 'कानून की प्रक्रिया' सिद्धांत के अंतर्गत व्यवस्था का रूप ले चुकी है। इसका अर्थ यह होता है कि अमेरिका की अदालतें सिर्फ कानून की अवैधता को ही नहीं व्याख्यायित करती बल्कि उससे संबंधित सही दिशा के लिए अपने सुझाव भी देती हैं– इसका अर्थ यह भी होता है कि यदि कोई कानून गलत अथवा न्यायोचित है तो अदालतें उसे अवैध घोषित कर देती हैं – यदि उससे संविधान का उल्लंघन होता है तो। भारत में 'कानून की प्रक्रिया' का कोई प्रचलन नहीं है। हमारे यहां 'कानून द्वारा स्थापित प्रणाली' का प्रचलन है। इसका अर्थ यह होता है कि अदालत को सिर्फ कानून के परीक्षण का अधिकार है जबकि विधान मंडल के पास कानून बनाने तथा उसकी औपचारिकताओं को बनाए रखने का अधिकार है, इंग्लैंड में संसद सर्वोच्च होती है। वहां पर संसद द्वारा पारित किसी भी कानून को किसी भी अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती। भारत में सरकार के तीन घटक हैं जोकि अपनी-अपनी सीमा रेखाओं के भीतर स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय उनके ऊपर निगाह रखता है। जबकि संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि यह संवैधानिक सुधारों के द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन संबंधी अधिकारों को कम अथवा अप्रभावी कर सकता है। लेकिन वह ऐसा उसी अवस्था में कर सकता है जब उसे लगे कि जनता की सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की मांग बढ़ चली है।

पाठगत प्रश्न 15.1

1. न्यायिक पुनरावलोकन क्या है?

   .....

   .....

2. संवैधानिक व्याख्या से आप क्या समझते हैं?

   .....

   .....

3. न्यायिक पुनरावलोकन की किस संवैधानिक प्रणाली में व्याख्या की गई है।?

   .....

   .....

4. संवैधानिक सुधारों संबंधी अधिकार किसे प्राप्त हैं?

   .....

   .....

15.4 मौलिक अधिकारों की सुरक्षा

मौलिक अधिकारों के संबंध में आप पाठ छह में पहले ही पढ़ चुके हैं। आप यह भी जानते हैं कि यदि मौलिक अधिकारों का हनन होने पर यदि उससे संबंधित कार्यवाही न की गई तो फिर संविधान में मौलिक अधिकारों की परिगणना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसीलिए अधिकारों की सुरक्षा तथा संरक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय तथा अन्य दूसरे न्यायालयों की व्यवस्था की गई है।

इसी पाठ के अनुभाग 15.3 में आपने यह भी पढ़ा कि अनुच्छेद 13 में यह भी प्रावधान है कि न्यायिक सामंजस्य स्थापित करने के लिए कई बार मौलिक अधिकारों को शून्य घोषित कर दिया जाता है। धारा 32 तथा 226 में मौलिक अधिकारों की सुरक्षा तथा संविधान के उपचारों के लिए न्यायालयों की स्थापना का प्रावधान है। ये धाराएं नागरिकों को अपने अधिकारों के लिए न्यायालय के दरवाजे खटखटाने के लिए प्रेरित करती हैं। और सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह अधिकारों से संबंधित याचिकाओं पर उचित निर्णय तथा सलाह दे। संवैधानिक उपचार भी संविधान के तीसरे भाग में चलकर अधिकार का रूप ग्रहण कर लेता है। सन् 1951 में चिंतामनारों *बनाम* मध्य प्रदेश सरकार के मामले में अदालत ने यह निर्णय दिया कि संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों की सुरक्षा केवल सर्वोच्च न्यायालय ही सुनिश्चित कर सकता है। संविधान में निर्देशित स्वतंत्रता का हनन होने पर सर्वोच्च न्यायालय विधायिका की शक्तियों का प्रयोग करते हुए उसके हल सुझा सकता है।

डॉ० अम्बेडकर ने धारा 31 के अंतर्गत संविधान की आत्मा एवं हृदय के रूप में संवैधानिक उपचारों का प्रावधान सुझाया था। इस धारा के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिए गए हैं कि वह मौलिक अधिकारों को कड़ाई से लागू कराए। देश के नागरिकों को यह अधिकार प्राप्त है कि राज्यों द्वारा उनके अधिकारों के हनन किए जाने की स्थिति में वे सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष अपनी अपील प्रस्तुत कर सकते हैं। मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक पुनरावलोकन का प्रावधान प्रतिपादित किया है। इसके अंतर्गत कई प्रकार की याचिकाएं दायर की जा सकती हैं। प्रमुख याचिकाएं निम्नवत हैं —

1. बंदी प्रत्यक्षीकरण से संबंधित याचिका

बंदी प्रत्यक्षीकरण का अर्थ है 'सशरीर उपस्थित रहना' इस याचिका के तहत सर्वोच्च न्यायालय गिरफ्तार करने वाली हस्ती को यह निर्देश जारी कर सकता है कि गिरफ्तार किए हुए व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष उपस्थित करे। यदि किसी व्यक्ति को बिना किसी उचित कारण के हवालात में बंद कर दिया जाता है तो अदालत को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उस व्यक्ति की गिरफ्तारी के कारणों की जांच करे और उसकी गिरफ्तारी के गैर कानूनी साबित होने पर उसे तुरंत हिरासत से मुक्त करने के आदेश दे।

2. परमादेश संबंधी याचिका

सार्वजनिक संगठनों, संस्थानों तथा परिषदों द्वारा अपनी जिम्मेदारी के प्रति शिथिलता बरते जाने अथवा उनके असफल हो जाने की अवस्था में उनके ऊपर नियंत्रण स्थापित किए जाने के लिए परमादेश का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार के आदेश सिर्फ सार्वजनिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए दिए जाते हैं। व्यक्तिगत हितों के लिए नहीं। आवेदक को अदालत के समक्ष यह स्पष्ट करना आवश्यक होता है कि सार्वजनिक अफसरशाहों की अकर्मण्यता के कारण उसके अधिकारों का हनन हुआ है। उदाहरण के लिए, यदि कुछ औपचारिकताएं पूरी न हो पाने के कारण किसी व्यक्ति को नियुक्ति पत्र नहीं दिया जाता है और उसके लिए वह व्यक्ति अदालत के समक्ष जाता है तो उससे संबंधित विभाग को नियुक्ति पत्र प्रदान किए जाने के आदेश देगा।

3. निषेध संबंधी याचिका

निषेध संबंधी याचिका में ऊपरी अदालत द्वारा किसी निचली अदालत को किसी गैर कानूनी मामले को सुलझाने की चेष्टा करने पर निषेध का आदेश जारी किया जाता है। ये याचिकाएं सिर्फ न्यायिक इकाइयों को ही जारी की जा सकती हैं। किसी सरकारी कर्मचारी को नहीं।

4. उत्प्रेषण लेख संबंधी याचिका

इसमें किसी लंबित पड़े मामले पर निर्णय सुनाए जाने के लिए ऊपर अदालत द्वारा निचली अदालत को संबंधित कागजात उपलब्ध करवाए जाने संबंधी आदेश दिया जाता है। ऐसा तभी होता है जब कोई मामला निचली अदालत से ऊपरी अदालत में जाता है और वहां विपरीत निर्णय सुनाया जाता है।

5. अधिकार-पृच्छा संबंधी याचिका

इसका अर्थ होता है, 'किस अधिकार से' इसके द्वारा उस व्यक्ति पर निषेध लगाया जाता है तो अपने अधिकारों से बाहर कार्य करता है। इसके द्वारा केन्द्र तथा राज्य सरकार के कर्मचारियों को 'कारण बताओ' नोटिस जारी

किया जाता है और पूछा जाता है कि 'आपने ऐसा किस अधिकार से किया।'

उपरोक्त याचिकाओं के द्वारा अदालतें शक्तियों के दुरुपयोग को रोकती है तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा करती हैं।

अब हम देखेंगे कि किस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है, न्यायिक पुनरावलोकन का क्या महत्त्व है तथा जनहित याचिकाओं के माध्यम से कैसे सर्वोच्च न्यायालय मानव जीवन से संबंधित सभी मामलों को अपने हाथों में ले लेती है।

इन सभी बिन्दुओं पर विचार करने के लिए आप इसी पाठ में न्यायिक पुनरावलोकन *बनाम* न्यायिक प्रतिबंध संबंधी बहसों को पढ़ेंगे।

पाठगत प्रश्न 15.2

1. धारा 13 से क्या अभिप्राय है?
2. किस धारा के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय को मौलिक अधिकारों को कड़ाई से लागू किए जाने संबंधी निर्देश दिए गए हैं?
3. मौलिक अधिकारों की रक्षा तथा संरक्षा कौन करता है?
4. किन्हीं दो याचिकाओं का उल्लेख कीजिए जो अनुच्छेद 32 के अंतर्गत अदालतों द्वारा जारी की जाती हैं।

15.5 न्यायिक पुनरावलोकन का विकास तथा मौलिक अधिकारों की सुरक्षा

मौलिक अधिकारों की सुरक्षा संबंधी न्यायिक सक्रियता का क्षेत्र सीमित है। सबसे पहले तो संविधान स्वयं राज्यों द्वारा मौलिक अधिकारों पर लगाए गए प्रतिबंधों के समुचित कारणों की जांच करता है। इसका अर्थ यह होता है कि जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए राज्य सुरक्षा की दृष्टि से सुव्यवस्था स्थापित करने, नैतिकता, जनस्वास्थ्य, तथा विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने अथवा राज्य में भड़की हुई हिंसा को रोकने के लिए मौलिक अधिकारों में कांट-छांट अथवा कमी की जा सकती है। न्यायपालिका किसी भी कानून के औचित्य की परीक्षा कर सकता है। यदि सर्वोच्च न्यायालय को लगता है कि अधिकारों पर लगाए प्रतिबंधों के पीछे सही तर्क नहीं है और उसकी वजह से विषय परिस्थितियां पैदा हो रही हैं तो वह नागरिक हितों को ध्यान में रखकर उसे रोकने के आदेश देता है।

राज्य के नीतिनिर्देशक तत्त्व मौलिक अधिकारों के पूरक अंग होते हैं। आप इस संबंध में पाठ 7 में पढ़ चुके हैं। संविधान में इनकी स्थापना सामूहिक रूप से समान सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना की दृष्टि से की गई है। पहले संसाधनों की कमी के कारण सामाजिक-आर्थिक न्याय की समुचित आश्वस्ति नहीं प्रदान की गई थी। इन नीति निर्देशक तत्त्वों के माध्यम से इसी का आश्वासन सुनिश्चित किया गया है। जैसा कि आप जानते हैं कि ये निर्देशक तत्त्व सिर्फ राज्यों को निर्देश देते हैं इन्हें अदालतों के द्वारा जबरदस्ती किसी पर थोपा नहीं जा सकता। हालांकि इनके द्वारा भी मौलिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाया जाता है।

मौलिक अधिकारों को लागू किए जाने के क्रम में ही संसद ने मौलिक अधिकारों के उल्लंघन से संबंधित कानून भी पारित कर दिए हैं। इनमें से अधिकांश को अदालत ने खारिज भी कर दिया है। अब मौलिक अधिकारों तथा नीति निर्देशक तत्त्वों की सर्वोच्चता को लेकर विवाद है।

15.5.1 न्यायिक पुनरावलोकन तथा मौलिक अधिकार

हमारे संविधान की प्रस्तावना में आर्थिक-सामाजिक न्याय के सिद्धांत पर आधारित समाज पर विचार करने की बात कही गई है। इसी बात को आधार बनाकर संसद ने जमींदारी तथा भू-स्वामित्व के उन्मूलन से संबंधित अनेक कानून पारित किए। किंतु इन सभी कानूनों के विरुद्ध अदालत में संपत्ति के मौलिक अधिकार के हनन संबंधी चुनौतियां दी गईं। सन् 1950 में शंकरी प्रसाद के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी फैसला सुनाया कि

धारा 13 के अंतर्गत सिर्फ सामान्य कानून ही बनाए जा सकते हैं, संवैधानिक संशोधन नहीं किए जा सकते। इसमें यह सन्निहित था कि संसद संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से अधिकारों में कमी कर सकती है।

इस निर्णय को 1967 में गोलकनाथ के मामले में स्वयं सर्वोच्च न्यायालय ने ही तोड़ा और निर्णय दिया कि मौलिक अधिकारों में किसी प्रकार के संशोधन नहीं किए जा सकते। इस प्रकार इस कानून के द्वारा संसद द्वारा सामाजिक विषयों पर पारित किए जाने वाले विधेयकों संबंधी शक्ति पर नियंत्रण रखने का कार्य किया जाता है। इसके साथ ही दो और मामले उठाए गए थे जिनके फैसलों द्वारा बनाए कानूनों से न्यायिक पुनरावलोकन तथा संसदीय शक्तियों को मौलिक अधिकारों में संशोधन के द्वारा परीक्षण किया जा सकता है।

1964 में जनहित को दृष्टि में रखते हुए 14 बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया था। इसके अगले ही साल राष्ट्रपति द्वारा राजकीय भत्ता उन्मूलन का अध्यादेश जारी किया गया। आजादी के बाद जब देश में बिखरी अनेक छोटी-छोटी रियासतों को भारतीय प्रशासन में मिलाया गया था तब हमारे पूर्व कानून निर्माताओं ने उन रियासतों के शासनाध्यक्षों को निर्धारित राजकीय भत्ते का प्रावधान बनाया था। किन्तु आजादी के कुछ ही दिनों बाद यह महसूस किया गया कि राजकीय भत्ता समानता के अधिकार संबंधी सिद्धांत का उल्लंघन करता है। तब राजकीय भत्ता-उन्मूलन का आदेश दिया गया और उन दोनों आदेशों को अदालतों द्वारा असंवैधानिक घोषित कर दिया गया। इसके बाद संसद ने राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों में सामाजिक-आर्थिक समानता को संतुलित करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए दो महत्त्वपूर्ण संशोधन किए।

सन् 1971 में संविधान के 24वें तथा 25 वें संशोधन के द्वारा मौलिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास किया गया। 25वें संशोधन में कहा गया कि (नीति निर्देशक तत्त्व 39 बी तथा सी) यदि आर्थिक शक्ति को संतुलित करने की दृष्टि से अथवा कम करने की दृष्टि से कोई विधेयक पारित किया जाता है तथा उससे यदि मौलिक अधिकारों का हनन भी होता है तो भी उसको किसी अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती।

24वें संशोधन में यह कहा गया कि संवैधानिक संशोधनों को कानून की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। इसका अर्थ यह होता है कि संसद संविधान में संशोधन करके मौलिक अधिकारों पर नियंत्रण रखने का प्रयास कर सकती है।

इस प्रकार इन दो संशोधनों के द्वारा मौलिक अधिकारों से संबंधित न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार पर नियंत्रण रखने का प्रयास किया गया।

केशवानंद भारती मामले में उक्त संशोधनों की वैधता को खारिज करते हुए गोलकनाथ मामले में दिए गए अपने निर्णय को नजरअंदाज कर दिया तथा यह निर्णय सुनाया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन के लिए सक्षम है। हां यह बात अवश्य ध्यान में रखी जानी चाहिए कि इससे संविधान के मूलभूत ढांचे में किसी प्रकार की काट-छांट न की जाए।

न्यायिक पुनरावलोकन संबंधी शक्ति को एक पुन: तब आघात पहुंचा जब संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा यह बात कही गई कि तीसरे भाग सहित संविधान में किए गए किसी भी संशोधन को किसी भी अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती।

किन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने मिनर्वा मिल्स मामले में न्यायिक पुनरावलोकन की अपनी शक्ति को पुन: ग्रहण कर लिया तथा संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा संसद को जो संविधान संशोधन संबंधी अनियंत्रित शक्ति प्रदान की गई थी उसे भी तोड़ा। 44वें संविधान संशोधन में संपत्ति के अधिकार को संविधान के मौलिक अधिकारों की सूची से बाहर कर दिया गया।

अब हमारे पास सिर्फ छह मौलिक अधिकार रह गए हैं। तथा संसद के पास इन अधिकारों में संशोधन का अधिकार सुरक्षित है। इस प्रकार हमने देखा कि सर्वोच्च न्यायालय ने संपत्ति के अधिकार की रक्षा करना चाहा किंतु संसद ने 44वें संशोधन के द्वारा उसे हटा दिया।

किंतु अन्य मौलिक अधिकारों के सम्मान को दृष्टि में रखते हुए धारा 32 में किसी पीड़ित अथवा अपमानित नागरिक को यह अधिकार प्रदान किए गए हैं कि वह अपने अधिकारों के हनन संबंधी याचिका सीधे न्यायालयों

के समक्ष रख सकता है।

आइए, अब हम देखें कि किस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय इन अधिकारों के परिरक्षक के रूप में कार्य करता है।

मौलिक अधिकारों में सबसे महत्त्वपूर्ण है समानता का अधिकार, जो कानून से पहले समानता तथा समान कानूनी सुरक्षा को प्रतिष्ठापित करता है। इसका अर्थ होता है विशेष वरीयता का निषेध तथा समान सुविधाओं का वितरण। हम जानते हैं कि पूर्ण समानता एक असंभव वस्तु है, तो ऐसे में समान सुविधाओं का वितरण कैसे हो जाएगा। इसके लिए सर्वोच्च न्यायालय ने व्याख्या की है कि समान स्थितियों में व्यक्ति को वरीयता तथा दायित्व दोनों प्रकार से समानता का अधिकार है। एक अध्यापक स्कूल में पढ़ाता है तथा किसान खेत में काम करता है। दोनों की परिस्थितियां अलग-अलग हैं। संविधान में स्त्री तथा पुरुष दोनों को समान अधिकार प्रदान किए गए हैं किंतु ये दोनों सभी अवस्थाओं में समान नहीं होते। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय तर्कपूर्ण विभाजन अथवा रक्षात्मक विभाजन के सिद्धांतों में विश्वास करता है। उदाहरण के लिए, कोई भी राज्य अपने यहां शराब पीने पर पूर्ण निषेधाज्ञा लागू कर सकता है किंतु वह फौज के ऊपर मदिरा सेवन की निषेधाज्ञा नहीं लागू कर सकता। इसी प्रकार शिक्षण संस्थाएं अपने छात्रों को मेरिट के आधार पर पुरस्कारों का बंटवारा कर सकता है। यह वैधानिक है। किंतु यदि वह किसी विद्यार्थी को पुस्तकालय में प्रवेश पर किसी वरीयता के चलते रोक लगा देता है तो वह अवैधानिक होगा। शारीरिक अथवा मानसिक रूप से सक्षम व्यक्तियों को यदि कोई विशेष अधिकार प्रदान किया जाता है तो वह वैधानिक कहलाएगा।

समानता के अधिकार में यह बात भी निश्चित कर दी गई है कि नागरिकों के हितों का बंटवारा किसी भी प्रकार के धर्म, जाति समुदाय अथवा जन्म स्थान के आधार पर नहीं किया जाएगा। इस प्रकार के बनाए गए कई कानूनों को सर्वोच्च न्यायालय ने रद्द करने के आदेश दिए। संविधान में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ी जाति के लोगों के लिए कुछ विशेष सुविधाएं प्रदान की गई हैं। इस आधार पर शिक्षण संस्थानों में उनके लिए कुछ सीटों का आरक्षण किया गया है। कुछ राज्यों में मेधावी छात्रों की अपेक्षा आरक्षित सीटों का विस्तार अत्यंत व्यापक हो गया है। डॉ. के.बी. गुप्ता *बनाम* केरल राज्य (1980) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने जब यह छानबीन की तो पाया कि केवल दो प्रतिशत सीटें ही खुले प्रतियोगितात्मक प्रवेश के लिए छोड़ी गई हैं।

इसके बाद सर्वोच्च न्यायालय ने यह आदेश दिया कि किसी भी स्थिति में 70 प्रतिशत से अधिक सीटों पर आरक्षण नहीं किया जा सकता। 30 प्रतिशत सीटें अखिल भारतीय प्रतियोगिता द्वारा मेरिट के आधार पर भरी जाएंगी।

बहुत सारे मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने भाषण की स्वतंत्रता को सुरक्षित बनाया है। धारा 19 तथा 20 के अंतर्गत संविधान में व्यक्ति को छह मौलिक स्वतंत्रताएं प्रदान की गई हैं।

इन स्वतंत्रताओं में भाषण अथवा अभिव्यक्ति को स्वतंत्रता, बिना हथियार के सभाएं करने, स्वतंत्रतापूर्वक घूमने-फिरने, भारत में कहीं भी बसने, किसी भी व्यवसाय को अपनाने तथा व्यापार संबंधी स्वतंत्रताएं निहित हैं। बाद में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मद्देनजर प्रेस को भी स्वतंत्रता प्रदान की गई, जोकि पहले इस धारा में सम्मिलित नहीं था। इसके साथ ही सर्वोच्च न्यायालय ने इसके प्रसार को भी स्वतंत्रता प्रदान की। तमिलनाडु सरकार ने अपने राज्य में एक अखबार के प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया तथा उसकी बिक्री बंद कर दी। तब न्यायालय ने यह निर्णय सुनाया कि यदि अखबारों का प्रसार नहीं होगा तो फिर विचारों और समाचारों का प्रसार कैसे होगा। सर्वोच्च न्यायालय ने आगे यह भी कहा कि सूचना का अधिकार एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है और इसके अंतर्गत हर व्यक्ति को जनतंत्र के विकासात्मक पहलुओं में हिस्सेदारी तथा उसकी जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार की आलोचना करने वाली फिल्मों के निर्माण तथा प्रदर्शन की स्वतंत्रता को भी उचित ठहराया।

किंतु इन स्वतंत्रताओं पर तर्कपूर्ण प्रतिबंध भी लगाए जा सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय कुछ अवस्थाओं में तर्कपूर्ण प्रतिबंध लगा सकती है। किसी भी आजादी का प्रयोग व्यक्तिगत तथा सामाजिक अधिकारों में संतुलन को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय बिना हथियार के तथा शांतिपूर्ण ढंग से की जाने वाली सभाओं के पक्ष में हमेशा अपना समर्थन व्यक्त करता है। जनतांत्रिक मूल्यों की रक्षा को ध्यान में रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय सामूहिक विरोध जलूसों में

सरकार की हिस्सेदारी का भी समर्थन करता है।

सर्वोच्च न्यायालय भारतीय सीमा क्षेत्र में किसी भी नागरिक को कहीं भी स्वतंत्रतापूर्वक घूमने-फिरने की स्वतंत्रता की रक्षा करता है। इसके लिए उनके ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। कोई भी नागरिक न केवल अपने राज्य के सीमा क्षेत्र में ही बल्कि संपूर्ण देश में कहीं भी स्वतंत्रतापूर्वक घूम-फिर सकता है। 1988 में एन.बी. खरे बनाम दिल्ली राज्य के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने देश के बाहर जाने की स्वतंत्रता को भी एक महत्त्वपूर्ण अधिकार में सम्मिलित कर दिया जोकि इसके पूर्व मौलिक अधिकारों के अंतर्गत नहीं आता था।

संविधान में वर्णित है कि आपातकाल की स्थिति में मौलिक अधिकार स्वत: समाप्त हो जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने व्याख्या दी है कि यह किसी प्रकार के अधिकारों के अंतर्गत ऐसा नहीं किया जाता बल्कि यह तो अधिकारों संबंधी एक अभियान है जिन्हें आपात काल के दौरान अस्थाई रूप से समाप्त कर दिया जाता है। किंतु संविधान के 44वें संशोधन के तहत यह विधान बनाया गया कि आपातकाल के दौरान धारा 20 तथा 21 के अनुसार आपातकाल के दौरान किसी नागरिक को अदालत के समक्ष अपनी याचिका दायर करने के अधिकार से वंचित नहीं रखा जा सकता।

सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी व्याख्या दी है कि किसी प्रकार की जांच में लगाई जाने वाली देर संवैधानिक अवहेलना है। शीघ्रातिशीघ्र जांच भी एक प्रकार का अधिकार है। धारा 20 तथा 21 की व्याख्या करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने त्वरित जांच की बात कही है। धारा 20 तथा 21 के अंतर्गत जांच चलने तक अभियुक्त को जमानत पर रिहा किया जाना तथा गरीब अभियुक्तों को नि:शुल्क न्यायिक सहायता प्रदान करवाना भी मौलिक अधिकारों के अंतर्गत आता है। इन बातों का समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय ने बंधुआ मजदूरी, नारी शोषण को रोकने तथा बच्चों एवं कमज़ोर वर्ग के लोगों के अधिकारों की रक्षा के लिए कई कदम उठाए हैं। आज भी बहुत से मंदिरों में अनुसूचित जाति के लोगों का बहुत से मंदिरों में प्रवेश निषेध है। सर्वोच्च न्यायालय ने बेंकटराम बनाम मैसूर राज्य के मामले में मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश संबंधी अधिकार का समर्थन किया।

किसी भी व्यक्ति को जबरदस्ती मजदूरी करने पर बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया जाता है तो वह उसके अधिकारों का शोषण है। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी व्याख्या दी है कि निर्धारित मजदूरी से कम पर कार्य कराया जाना भी एक प्रकार से जबरदस्ती कार्य कराए जाने जैसा ही है। 1982 में एशियन मजदूर मामले में उनके प्रशासनिक अधिकारियों को और अधिक मजदूरी प्रदान करने के निर्देश दिए थे। सर्वोच्च न्यायालय ने दैनिक मजदूरी पर कार्य करने वाले डाक एवं तार विभाग के कर्मचारियों के अधिकारों की भी रक्षा की है।

मुसलमान स्त्रियों के अधिकारों के संबंध में भी सर्वोच्च न्यायालय ने एक महत्त्वपूर्ण फैसला सुनाया था जिसको लेकर मुसलमान रुढ़िवादियों ने चुनौती भी दी थी।

मुस्लिम पर्सनल कानून में चार शादियों का प्रावधान है। 1984 में सबरी बेगम के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि यदि कोई व्यक्ति दूसरी शादी करता है तो उसकी पहली पत्नी अपने पति से गुजारा भत्ता की अधिकारी है। यदि कोई व्यक्ति अपनी पहली पत्नी को भी दूसरी के साथ रखना चाहता है तो भी पहली पत्नी पति से गुजारा भत्ते के लिए पूछ सकती है। इसके पहले शाहबानो मामले में न्यायालय ने यह फैसला दिया था कि कोई भी तलाकशुदा औरत गुजारा भत्ता पाने का अधिकार रखती है। तब न्यायालय द्वारा सरकार पर यह दबाव डाला गया था कि वह इस मुसलमान महिला कानून को कड़ाई से लागू करे।

सर्वोच्च न्यायालय अल्पसंख्यकों के भाषायी अधिकारों की भी रक्षा करता है। कोई भी राज्य अल्पसंख्यक व्यवस्थापकों द्वारा चलाए जा रहे संस्थाओं में माध्यम के संबंध में कोई दबाव नहीं डाल सकता।

नागरिकों के धार्मिक अधिकारों को ध्यान में रखते हुए न्यायालय ने निर्णय दिया कि किसी भी व्यक्ति को जबरदस्ती धर्म परिवर्तन पर मजबूर नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ होता है कि किसी भी प्रकार के प्रलोभन एवं धोखे से धर्म परिवर्तन वर्जित है।

इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय अपने न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार एवं मौलिक अधिकारों के रक्षा संबंधी

सामान्य शक्तियों द्वारा हमारे अधिकारों की रक्षा करता है। हालांकि कई स्थितियों में न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्तियों का विरोध भी किया गया है। इसमें पहले तो यह आरोप लगाया गया है कि जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा संसद में बनाए गए कानून को बिना चयनित प्रतिनिधियों वाले न्यायालयों के कुछ न्यायाधीशों द्वारा असंवैधानिक करार देकर रद्द कर दिया जाता है, जबकि वह कानून संयुक्त बहुमत से पारित किया गया होता है।

दूसरा आरोप यह है कि यह याचिकाओं को प्रोत्साहन प्रदान करता है। इससे अधिक से अधिक लोग अदालतों की तरफ भागते हैं और अपना समय तथा अधिक से अधिक धन इसमें व्यय करते हैं। इसके द्वारा किसी मामले को आपस में बैठकर बातचीत के द्वारा सुलझाए जाने की प्रवृत्ति समाप्त हुई है। सर्वोच्च न्यायालय ने मुख्य रूप से संपत्ति के अधिकार के संबंध में प्रगतिशील कानून बनाने पर भी रोक लगा दी है।

पाठगत प्रश्न 15.3

1. मौलिक अधिकारों के संबंध में न्यायिक सक्रियता की सीमा एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
2. शंकरी प्रसाद मामले में सर्वोच्च न्यायालय का क्या निर्णय था?
3. गोलकनाथ मामला क्यों महत्त्वपूर्ण है?
4. केशवानंद भारती मामले में न्यायालय ने क्या निर्णय लिए?

15.6 जनहित याचिका (पी.आई.एल.)

पहले अनुच्छेद 32 के अंतर्गत यह कहा गया था कि वही व्यक्ति याचिका दायर कर सकता था जिसके मौलिक अधिकारों का हनन हुआ हो। बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने आदेश दिया कि जनहित याचिका के आधार पर कोई प्रतिनिधि भी याचिका दायर कर सकता है। इसका अर्थ यह होता है कि यदि किसी व्यक्ति को लगता है कि किसी खास वर्ग अथवा समुदाय के लोगों के अधिकारों का हनन हो रहा है तो वह उसके बदले याचिका दायर कर सकता है। इसका महत्त्व इसलिए भी बढ़ गया है कि हमारे देश की न्याय प्रणाली गरीब तथा कमज़ोर वर्ग के लोगों के लिए बहुत आसान नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय अधिकांश याचिकाएं पत्रकारों, वकीलों तथा समाज सेवकों द्वारा लिखे पत्रों अथवा अखबारों में छपे समाचारों के आधार पर ग्रहण कर लेता है। जनहित याचिका के द्वारा अवैध रूप से की गई गिरफ्तारी को जांच होने तक रोका जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि अधिकांश अभियुक्तों को अपना अधिकांश समय जेलों में बिताना पड़ता है। जो कि गलत है। जब तक उसका अपराध सिद्ध नहीं हो जाता तब तक उसको जमानत पर रिहा रखा जाएगा। सर्वोच्च न्यायालय ने अधिकांश ऐसे मामले निपटाए हैं जिसमें अक्षम अधिकारियों के चलते लोगों के जांच के दौरान जेलों में बिताना पड़ रहा था। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि किसी भी प्रकार की याचिका अथवा प्रशासनिक अक्षमता के चलते व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन नहीं होना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने बंधुआ मजदूरों की मुक्ति, आदिवासियों, झुग्गी-झोपड़वासियों, अनाथ आश्रम में पल रहे बच्चों तथा सरकारी नारी निकेतनों में रह रही महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए भी सर्वोच्च न्यायालय ने बहुत सारे कदम उठाए हैं। अभी हाल ही में (1997) घरों अथवा संस्थाओं में काम कर रहे बाल मजदूरों से संबंधी एक निर्णय सुनाया है।

प्रदूषण को जीने के अधिकार के लिए खतरनाक कारण देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को प्रदूषण नियंत्रण के आदेश दिए। 1987 में एक सामाजिक कार्यकर्ता श्री एम.सी. मेहता द्वारा दायर याचिका के आधार पर पर्यावरण प्रदूषण को ध्यान में रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने गंगा के पानी को प्रदूषण मुक्त करने के आदेश दिए थे। जनहित याचिका का क्षेत्र निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। कोई भी व्यक्ति एक साधारण पत्र के माध्यम से अदालत के समक्ष अपनी समस्या रख सकता है और यदि अदालत को लगता है कि सचमुच वह उससे प्रभावित है तो वह उससे संबंधित निर्णय सुनाता है।

जनहित याचिका के उद्भव से मौलिक अधिकारों की रक्षा में सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्र एवं सुविधाएं बढ़ गई हैं। जनहित याचिका की परंपरा न्यायमूर्ति श्री पी.एन. भगवती तथा न्यायमूर्ति श्री सव्यसांची मुखर्जी द्वारा शुरू की गई

थी। जब वी.सी. ओबेराय नाम के एक व्यक्ति ने उक्त न्यायाधीशों को पत्र के माध्यम से अपनी समस्या से अवगत कराया और बताया कि उसे पूर्ण स्वस्थ होने का प्रमाणपत्र मिल जाने के बाद भी जबरदस्ती 13 वर्षों से रांची के पागलखाने में रखा गया है। उसके बाद न्यायाधीशों ने रांची के पागलखाने के संबंधित अधिकारी पर 15,000 रुपए जुर्माने के रूप में लगाए तथा श्री ओबेराय को तुरंत वहां से मुक्त करने के आदेश दिए। आप जनहित याचिका के संबंध में विस्तार से अगले पाठ में पढ़ेंगे।

आपने क्या सीखा

संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों का तब तक कोई अर्थ नहीं है जब तक कि उनकी कड़ाई से रक्षा करने वाला शक्तिशाली तंत्र न हो। इसीलिए सर्वोच्च न्यायालय के मौलिक अधिकारों के रक्षक तथा अभिभावक के रूप में संविधान में कुछ विशेष राज्यों के ऊपर निगरानी रखी जाती है। सामाजिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए कार्यपालिका तथा विधायिका इन अधिकारों का आदर करती हैं।

भारत में, हमने संविधान को सर्वोच्चता प्रदान की है। सरकार की सभी इकाइयां इसके द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंदर ही कार्य करने पर बाध्य हैं। सर्वोच्च न्यायालय को कुछ विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण शक्तियां प्रदान की गई हैं। इन शक्तियों के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय नागरिक अधिकारों के संरक्षक तथा संविधान के प्रहरी के रूप में कार्य करता है। जरूरत पड़ने पर संसद राज्य के कल्याण को ध्यान में रखते हुए संविधान में संशोधन कर सकती है, जिसके चलते न्यायिक पुनरावलोकन को थोड़ी बाधा भी पहुंचती है। सर्वोच्च न्यायालय को अपने ही दिए गए फैसले पर पुनर्विचार करने तथा समाज के हितों को ध्यान में रखते हुए उसमें परिवर्तन का अधिकार भी है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरावलोकन संबंधी अधिकार का अर्थ है इसके द्वारा शक्तियों के दुरुपयोग पर नियंत्रण रखना। जनहित याचिका के अस्तित्व में आ जाने के कारण हमारे समाज का बहुत बड़ा हिस्सा, जोकि कमज़ोर आर्थिक स्थिति के कारण न्याय प्रणाली से वंचित रह जाता था, अब उन्हें आसानी से न्याय प्राप्त हो जाता है।

पाठांत प्रश्न

1. न्यायिक पुनरावलोकन का क्या अर्थ है? भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन का क्या आधार है?
2. अनुच्छेद 32 के अंतर्गत दायर की जाने वाली विभिन्न याचिकाओं के बारे में बताइए।
3. एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए कि किस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है?
4. मौलिक अधिकारों की रक्षा में जनहित याचिका ने सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका के विस्तार में अपना क्या योगदान किया है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

15.1 1. संवैधानिकता घोषित करने अथवा कार्यपालिका की असमताओं को उद्घाटित करने की शक्ति।
2. संविधान के शब्दों, अनुच्छेदों तथा प्रक्रियाओं की व्याख्या करना।
3. अमेरिकी संविधान
4. संसद

15.2 1. मौलिक अधिकारों को दृष्टि में रखते हुए ही कोई कानून वैध है।
2. धारा 32
3. सर्वोच्च न्यायालय तथा अन्य न्यायालय
4. बंदी प्रत्यक्षीकरण संबंधी, उत्प्रेषण संबंधी, परमादेश संबंधी, निषेध संबंधी तथा अधिकार पृच्छा संबंधी याचिकाएं।

15.3 1. धारा 13 में नीति-निर्देशक तत्त्वों का वर्णन है।
2. धारा 13 के अंतर्गत संसद संविधान में मौलिक अधिकारों को ध्यान में रखते हुए परिवर्तन कर सकता है।

3. गोलकनाथ मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने शंकरी प्रसाद मामले में दिए गए निर्णय को बदल कर फैसला सुनाया था कि मौलिक अधिकारों में परिवर्तन नहीं किए जा सकते।
4. केशवानंद भारती मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला दिया कि संसद मौलिक अधिकारों समेत संविधान में संशोधन कर सकती है। बस संविधान के मूल ढांचे में किसी प्रकार की काट-छांट नहीं होनी चाहिए।

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, खण्ड 15.3
2. कृपया देखें, खण्ड 15.4
3. कृपया देखें, खण्ड 15.5.1
4. कृपया देखें, खण्ड 15.6

16

न्यायिक सक्रियतावाद

16.1 भूमिका

पिछले दो पाठ में आप यह पढ़ चुके हैं कि भारत के संविधान में एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था है। भारत में न्यायपालिका का अधिकार क्षेत्र केवल विवादों के निपटारे तथा कानून का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसे संविधान के संरक्षण तथा नागरिक अधिकारों की सुरक्षा का भी अधिकार प्राप्त है। यहां तक कि न्यायपालिका अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विधायिका अथवा कार्यपालिका द्वारा लिए गए किसी भी निर्णय को असंवैधानिक घोषित कर सकती है अथवा निरस्त कर सकती है। इस संबंध में भी आपको पिछले अध्याय में पहले ही बताया जा चुका है।

सामान्यत: संसदीय जनतंत्र में संसद को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है किंतु भारत में यही बात संविधान के ऊपर लागू होती है। यहां संविधान को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। और न्यायपालिका अपने न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार के बल पर संसद से उच्च सिद्ध हो जाती है। हालांकि भारतीय संविधान में कहीं भी न्यायिक पुनरावलोकन का अलग से कोई उल्लेख नहीं किया गया है। किंतु वहीं पर इस बात का उल्लेख अवश्य मिलता है कि यदि कोई भी क्रियाकलाप मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता है तो उसे असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है। और इस घोषणा को करने का अधिकार न्यायिक पुनरावलोकन के तहत न्यायपालिका को प्राप्त है। आरंभ में न्यायपालिका का यह अधिकार सिर्फ इस बात की समीक्षा तक ही सीमित था कि कार्यपालिका अथवा विधायिका द्वारा लिए गए किसी निर्णय अथवा उठाए गए किसी कदम से कहीं मौलिक अधिकारों का हनन तो नहीं हो रहा है। किंतु धीरे-धीरे न्यायपालिका ने अपने इस अधिकार का विस्तार करना शुरू कर दिया और सामाजिक मुद्दों से जुड़े, सवालों, पर्यावरण संबंधी समस्याओं तथा जनतांत्रिक संगठनों के क्रिया-कलापों की भी समीक्षा करनी प्रारंभ कर दी। न्यायपालिका के इसी सक्रियता को न्यायिक सक्रियतावाद कहा जाता है। पिछले कुछ वर्षों से न्यायपालिका की इस भूमिका पर काफी बहसें हो रही हैं। एक राजनीति विज्ञान का छात्र होने के नाते आपको इन बहसों के संबंध में भी जानकारी होनी चाहिए तथा न्यायिक सक्रियतावाद के अर्थ एवं उसके महत्व के संबंध में जानकारी होनी चाहिए। इस अध्याय में हम आपको यही जानकारी देंगे।

16.2 उद्धेश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप कर सकेंगे :

- न्यायिक सक्रियतावाद के अर्थ एवं एवं उसकी व्याख्या;
- भारत में न्यायिक सक्रियतावाद की पृष्ठभूमि तथा उसके विकास संबंधी घटनाओं को पुनर्स्मरण;
- जनहित कानूनों की प्रासंगिकता, तथा उसके सिद्धांत की पहचान;

- लोक अदालतों की कार्य-प्रणाली तथा उनके महत्व का वर्णन; तथा
- कानूनी सहायता कार्यक्रम के आरम्भ तथा उसके उपयोग की व्याख्या।

16.3 न्यायिक सक्रियतावाद : अर्थ एवं विशेषताएँ

आप पिछले अध्याय में यह पढ़ चुके हैं कि न्यायिक सक्रियतावाद का अर्थ उस अधिकार से है जिसके तहत न्यायालय कार्यपालिका, विधायिका तथा सार्वजनिक निकायों के कार्य-प्रणाली की समीक्षा करता है तथा उसे प्रमाणिकता प्रदान करता है। नि:संदेह यह एक व्यापक अधिकार है। ब्रिटेन में संसद की सर्वोच्चता संबंधी सिद्धांत के चलते वहां की न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त नहीं है। किंतु संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सीमित अथवा संवैधानिक सरकार के सिद्धांत में इसे सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। अपने इसी अधिकार के चलते संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के संरक्षक के रूप में गरीब तथा दलित वर्गों के हितों की तरफ अपना ध्यान आकर्षित किया है एवं उनको कानूनी सहायता उपलब्ध करानी शुरू कर दी है। और इसके अंतर्गत वह न सिर्फ गरीब और असहाय लोगों को ही कानूनी सहायता प्रदान करती है बल्कि उन साधारण नागरिकों को भी कानूनी सहायता प्रदान करती है जो न तो अपने मुकदमों के लिए वकील का प्रबंध कर सकते हैं न दूसरे कानूनी संगठनों के पास जा सकते हैं और न ही किसी तरह के प्रशासन के समक्ष अपने मामले रख पाते हैं। न्यायालय के इस कार्य को न्यायिक सक्रियतावाद कहते हैं।

> **सीमित सरकार :** इसका अर्थ उन शक्तियों से है जिनके द्वारा सरकार के अधिकारों पर अंकुश लगाया जाता है ताकि वे नागरिकों के ऊपर असीमित अधिकारों का प्रयोग न कर सकें। इन अधिकारों पर अंकुश संविधान द्वारा लगाया जाता है। इसके अंतर्गत संविधान सरकार के अधिकारों को सीमित करता है तथा उनकी व्याख्या करता है।

भारत में भी न्यायपालिका ने ऐसे मामलों की सुनवाई की प्रक्रिया शुरू कर दी है जो गरीबों द्वारा अथवा उनकी तरह से शिकायतें दर्ज कराई जाती हैं अथवा ऐसे मामले जो जनहित से जुड़े हों। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने इन मामलों से संबंधित अपनी न्यायिक प्रक्रिया में संवैधानिक नियमों की पुनर्व्याख्या करके काफी सुधार तथा विस्तार किया है।

इस प्रकार न्यायिक पुनरावलोकन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत ऐसे मामलों का निपटारा किया जाता है जो कि जनहित तथा सामाजिक कल्याण से जुड़े हों एवं उनका हल पारंपरिक न्यायिक प्रक्रिया के अंतर्गत हो पाना असंभव होता है। न्यायपालिका ऐसे मामलों की व्याख्या करता है तथा उनका पक्ष लेता है। इसके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि न्यायालय ऐसे मामलों के निपटारे में पारंपरिक न्याय प्रक्रिया तथा पूर्वनिर्धारित नियमों का ही सहारा ले।

16.3.1 न्यायिक सक्रियतावाद : नकारात्मक से सकारात्मक से सकारात्मक

आपको पहले ही यह बात बताई जा चुकी है कि भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन के संबंध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है किंतु न्यायपालिका ने मौलिक अधिकारों की वाद योग्यता निर्धारित करने एवं संविधान की व्याख्या करने संबंधी अपने अधिकारों के बल पर इसे अधिग्रहीत कर लिया है। जबकि संविधान में न्यायालय के लिए उसकी व्याख्या करने संबंधी कोई रूपरेखा भी नहीं निर्धारित की गई है जिसके आधार पर न्यायालय आगे बढ़ सके। इसीलिए न्यायालयों के समक्ष न्यायिक बहस तथा तार्किक कसरत करने के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र फैला हुआ है।

न्यायिक पुनरावलोकन संबंधी अधिकार का पहली बार प्रयोग संविधान में लिखित नियमों की व्याख्या करने के लिए ही किया गया। किंतु मौलिक अधिकारों को किसी पवित्र वस्तु की तरह अनछुआ बना रहने दिया गया। लेकिन बाद में जब न्यायपालिका ने ऐसा महसूस किया कि नीति निर्देशक तत्व तो मौलिक अधिकारों के ही अनुपूरक अंग हैं तब उसने संपत्ति संबंधी अधिकार पर प्रतीकात्मक रूप से अपना मत व्यक्त किया। और न्यायालय ने यह निर्णय लिया कि यदि कोई राज्य अथवा सामाजिक संस्था किसी की संपत्ति, जैसे भूमि, का अधिग्रहण करती है तो

उसके बदले उसे उचित मुआवजे का भुगतान करना होगा। 1967 में गोलकनाथ मामले में सर्वोच्च न्यायालय का रुख और भी तीखा हो गया और उसने निर्णय दिया कि मौलिक अधिकारों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन अथवा सुधार करने संबंधी संसद को कोई अधिकार नहीं है। किंतु बार-बार न्यायपालिका द्वारा संसद के ऊपर व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हनन का जो आरोप लगाया जाता रहा है और उस पर पाबंदी घोषित की जाती रही है उसके पीछे आर्थिक तथा सामाजिक सुविधाओं का ध्यान नहीं रखा जाता रहा जो कि न्यायिक सक्रियतावाद का एक ऋणात्मक पहलू था।

संपत्ति का अधिकार

सन् 1978 से पूर्व संविधान में यह नियम था कि किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था की संपत्ति को बिना मुआवजा दिए कानूनी रूप से अधिगृहीत नहीं किया जा सकता। और न्यायालय ने उस संपत्ति का मुआवजा बाजार मूल्य के आधार पर देने का प्रावधान बनाया था। किंतु सन् 1978 में 44वें संशोधन में संपत्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया गया।

इस सक्रियतावाद का सबसे ऋणात्मक पक्ष तो केशवानंद भारती के मामले में सामने आया जब उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद संविधान के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन, संशोधन अथवा काट-छांट नहीं कर सकती। उच्चतम न्यायालय के इस फैसले को लेकर काफी दिनों तक बहस भी चलती रही थी। जिन लोगों का यह मानना था कि नीति-निर्देशक तत्वों को प्रोत्साहन प्रदान करने से देश में आर्थिक विकास होगा तथा देश में परिवर्तन आएगा। वे लोग भी उन दिनों इस सक्रियतावाद का नकारात्मक रुख और नीति निर्देशक तत्वों के आलोचक हो गए थे।

इस न्यायिक सक्रियतावाद का एक और आलोचनात्मक पक्ष यह है कि यह बहुत ही महंगी और देर से निर्णय प्रदान करने वाली व्यवस्था है। भारत में न्याय व्यवस्था इतनी महंगी है कि एक गरीब आदमी तो न्यायालय परिसर में घुसने तक की हिम्मत नहीं कर सकता। और यह इतना सुस्त ढंग (धीमीगति) से काम करती है कि व्यक्ति को एक न्याय पाने में वर्षों लग जाते हैं। इस प्रकार नीति-निर्देशक तत्वों की मौलिक अधिकारों की अपेक्षा प्राथमिकता और महंगी न्याय प्रणाली दोनों ही संपन्न लोगों के पक्ष में जाती हैं और इसमें गरीब आदमी का विकास बाधित होता है, इसमें उसकी समस्याएं छिप जाती हैं और न्यायपालिका की उस पर दृष्टि नहीं जा पाती।

16.3.2 सुधारों के लिए दबाव

अनेक सामाजिक संगठनों द्वारा गरीब तथा दलित लोगों की तरफ से दबाव डाले जाने के कारण भारत जैसे बहुस्तरीय सामाजिक व्यवस्था वाले देश में सामाजिक न्याय की एकरूपता बनाए रखने के लिए न्यायपालिका ने उनकी संतुष्टि एवं सहयोग के लिए इस क्षेत्र में कार्य करना शुरू किया। और अब जिन मुद्दों को लेकर न्यायपालिका की आलोचना होती रही है वह अब लगभग समाप्त हो गई है। सरकार ने कई ऐसे आयोगों का गठन कर दिया है जिससे कि न्यायपालिका तथा कानून व्यवस्था में काफी सुधार आया है तथा महंगी और सुस्त प्रणाली में भी सुधार हुआ है। सन् 1975 में जब आपातकाल लागू किया गया था तब एक जबरदस्त मानवाधिकार आंदोलन उठ खड़ा हुआ था। तब सर्वोच्च न्यायालय में कुछ न्यायाधीशों ने संविधान की आत्मा एवं दर्शन की संकीर्ण व्याख्या पर अपने सवाल खड़े किए थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि मौलिक अधिकारों के साथ-साथ जनतांत्रिक एवं सामाजिक न्याय का अधिकार भी संविधान के प्रतीक चिह्न हैं। और उसके बाद ये सिद्धांत संविधान के नियम के रूप में स्वीकार कर लिए गए और न्यायालयों को यह अधिकार मिल गया कि संविधान के संरक्षक के रूप में वह संसदीय गतिविधियों में भी प्रतिभागी हो सकता है तथा उन लोगों के पक्षधर के रूप में भी कार्य करेगा जोकि अपने मामले किसी कारण अदालत के सामने ले आ पाने में अक्षम हैं। इस प्रकार एक प्रकार का नूतन न्यायिक सक्रियतावाद उभर कर सामने आया जिससे कि न्यायिक व्यवस्था में अनेक सुधारों की संभावना बनी। इन सुधारों के बाद जनहित याचिकाएँ, लोक अदालतें तथा कानूनी सहायता जैसी प्रतीकात्मक सुविधाओं का जन्म हुआ। आप इनके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे।

पाठगत प्रश्न 16.1

सही कथन का चुनाव कीजिए।

1. न्यायिक सक्रियतावाद ने ऋणात्मक अर्थों में इनको प्रश्रय दिया :

   (क) मौलिक अधिकार

   (ख) सामाजिक न्याय

   (ग) नीति-निर्देशक तत्त्व

2. भारत में गरीब वर्ग के लिए न्याय व्यवस्था सफल नहीं हो सकी है क्योंकि:

   (क) गरीब लोगों के मौलिक अधिकारों को संविधान में नजरअंदाज किया गया है।

   (ख) महंगी न्याय प्रणाली है।

   (ग) जिला स्तर पर न्यायालयों की व्यवस्था न हो पाने के कारण ।

   (घ) स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था न हो पाने के कारण।

16.4 जनहित याचिका

आप पीछे यह पढ़ आए हैं कि एक विशेष प्रकार की सामाजिक सक्रियता के साथ-साथ किस तरह न्यायपालिका के अंदर भी नई प्रवृत्तियों तथा पूर्वावलोकन की प्रवृत्ति तेजी से पनप रही है।

कुछ न्यायाधीशों ने सामाजिक-कल्याण तथा गरीब और असहाय लोगों से जुड़े न्यायालय के उत्तरदायित्वों में कुछ और सुधार के सुझाव भी दिए थे। 1980 के शुरुआत में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी न्याय प्रक्रिया तथा कानून संबंधी नियमों में सुधार भी किए। और इन सुधारों के पीछे यह उद्देश्य निहित था कि उन गरीब और असहाय लोगों की समस्याओं को अदालत के सामने लाकर हल किया जाय जो संसाधनों की कमी अथवा जानकारी की कमी के कारण अपनी समस्याएं सामने नहीं ला पाते। इसी उद्देश्य के तहत जनहित याचिका का भी प्रावधान सामने लाया गया। आप इस संबंध में संक्षेप में पिछले अध्याय में पढ़ भी चुके हैं।

16.4.1 जनहित याचिका: अर्थ एवं विशेषताएँ

जनहित याचिका वह प्रक्रिया है जिसके तहत गरीब और असहाय लोगों, जोकि सामाजिक अयोग्यता, गरीबी तथा अज्ञानता के कारण अपने अधिकारों के लिए अदालत के सामने नहीं जा पाते, उनकी तरफ से किसी भी जन प्रतिनिधि अथवा सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा अदालत में उनके अधिकारों को रखा जाता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि याचिका किसी वकील के माध्यम से परम्परागत प्रक्रिया के तहत ही दायर की जाए। यदि किसी दुर्घटना में सामूहिक रूप से लोग घायल होते हैं और उसके द्वारा संविधान अथवा किसी कानून का उल्लंघन होता है तब उस स्थिति में कोई भी व्यक्ति जनहित याचिका दायर कर सकता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि निम्नलिखित दो स्थितियों में जनता का कोई भी प्रतिनिधि अथवा सामाजिक कार्यकर्ता जनहित याचिका दायर कर सकता है चाहे वह उस मामले में स्वयं भुक्तभोगी भले न हो :

(क) यदि प्रताड़ित व्यक्ति गरीब हो अथवा सामाजिक रूप से पिछड़ा हो, आर्थिक अथवा शैक्षिक रूप से असहाय हो। यदि प्रताड़ित व्यक्ति अथवा समुदाय इस बात के लिए नहीं भी कहता है तब भी याचिका दायर की जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति अवैधरूप से किसी सार्वजनिक कार्य में बाधा उपस्थित करता है, प्रशासन की लापरवाही के चलते यदि सामूहिक हिंसा अथवा हत्या हो जाती है तथा मजदूरों की सुरक्षा जैसे मामलों में।

(ख) यदि कष्ट पाने वाला अथवा प्रताड़ित कोई विशेष व्यक्ति अथवा किसी सुपरिचित समुदाय से संबंध रखने वाला व्यक्ति न होकर समाज के एक बड़े हिस्से के रूप में हो जैसे गैस-रिसाव से होने वाली हानि, तब

ऐसे मामले में भी जनहित याचिका दायर की जा सकती है। नदियों के जल-प्रदूषण तथा किसी सार्वजनिक स्थल को क्षति पहुंचाने संबंधी मामले भी इसी के अंतर्गत आते हैं।

1990 के बाद से तो अदालतों ने एक कदम और आगे बढ़कर काम करना शुरू कर दिया। अब इन मुद्दों पर जनहित याचिकाओं के अलावा अदालतों ने अखबारों में छपी खबरों अथवा अन्य स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर स्वयं भी कार्यवाही करनी प्रारंभ कर दी है। इसका अर्थ यह हुआ कि अब यदि कोई व्यक्ति याचिका नहीं भी दायर करता है तो ऐसे मुद्दों पर अदालतें कार्यवाही शुरू कर सकती हैं, उस पर निर्णय ले सकती हैं तथा संबंधित संस्थाओं को संबंधित समस्याओं से जुड़े निर्देश जारी कर सकती है।

16.4.2 जनहित याचिका की शर्तें

उपरोक्त अध्ययनों के आधार पर अब यह स्पष्ट हो गया कि जनहित याचिका किसी व्यक्ति विशेष के विशेषाधिकार के लिए डाला जाने वाला दबाव नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय भी इस बात के लिए चौकन्ना रहता है कि जिस व्यक्ति द्वारा जनहित याचिका दायर की जा रही है वह असहाय वर्ग के लिए हो न कि उसके व्यक्तिगत हित के लिए। जनहित याचिकाएँ किसी राजनीतिक अथवा संस्थागत स्वार्थों को प्रोत्साहन प्रदान करने वाली भी नहीं होनी चाहिए। इसलिए जनहित याचिका दायर करते समय यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति देख ले कि कहीं उसमें उसका निजी स्वार्थ न जुड़ा हो। यह सामान्य रूप से सामाजिक हित से संबंधित हो न कि किसी प्रकार के राजनीतिक स्वार्थ से। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जनहित याचिका दायर करना कोई अधिकार नहीं है। यह सर्वोच्च न्यायालय के ऊपर निर्भर करता है कि वह दायर की गई जनहित याचिका को स्वीकार करता है अथवा खारिज कर देता है।

16.4.3 जनहित याचिका की सार्थकता

जनहित याचिका सिद्धांत के बन जाने से हमारे समाज के एक बहुत बड़े हिस्से को जो कि अनपढ़ है, गरीब है और सामाजिक तथा आर्थिक रूप से पिछड़ा है तथा जिसे अपने अधिकारों की अपर्याप्त जानकारी है उसे न्यायिक सहयोग प्राप्त हुआ। इस आधार पर अब हमारे देश के करोड़ों नागरिक इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि उन्हें न्यायिक सहयोग नहीं प्राप्त हो सका है। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायधीश न्यायमूर्ति श्री पी.एन. भगवती ने कहा था कि "पहले अदालतों की कोशिश सिर्फ यही रहती थी कि लोग अपने अधिकारों का प्रयोग साफ-सुथरे ढंग से तथा अधिक से अधिक कर सकें। किंतु तब इससे सिर्फ उन्हीं लोगों को लाभ मिल पाता था जो अदालतों के पास अपनी समस्याएं लेकर आते थे। किंतु अब अदालतों ने उन गरीब और निचले तबके के लोगों के लिए भी अपने दरवाजे पूरी तरह खोल दिए हैं जो अनपढ़ और उपेक्षित हैं।"

इसी से मिलते-जुलते विचार पूर्व न्यायधीश न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्णा अय्यर के भी हैं, "यह सच है कि न्यायाधीश संवैधानिक मूल्यों का खोजी और संवैधानिक व्याख्याता होता है किंतु साथ ही वह नीति-निर्देशक तत्त्वों के लिए भी उत्तरदायी होता है।"

उक्त कथनों से यह पता चलता है कि कुछ ही वर्षों में न्यायपालिका ने यह सिद्ध कर दिया है कि संविधान केवल अध्ययन का विषय नहीं बल्कि इसके आदर्शों को लागू किए जाने की भी आवश्यकता है जोकि सामाजिक मुद्दों के माध्यम से अदालतों ने हमारे सामने प्रस्तुत किए हैं। सामाजिक न्यायिक सक्रियता के चलते न्यायप्रणाली अभिव्यक्ति के लिए संघर्षरत लोगों की वाहिका सिद्ध हुई है। समाज के गरीब तथा निचले तबके की एक विशाल जनसंख्या ने पहली बार यह महसूस किया है कि न्यायालय उनके हितों की सुरक्षा तथा संरक्षा के लिए तत्पर है।

16.4.4 जनहित याचिका की आलोचना

उपरोक्त अध्ययनों से यह पता चलता है कि जनहित याचिका ने अदालतों के कार्यों का बंटवारा कर दिया है। कुछ प्रेक्षकों का मानना है कि भारत में न्यायपालिका ने अपने अधिकारों का अतिक्रमण भी करना शुरू कर दिया है। आलोचकों का कहना है कि जनहित याचिका के नाम पर न्यायपालिका नीति से संबंधित मामलों पर अधिक विचार करती है। इसने कार्यपालिका तथा विधायिका के कार्य विषयक तत्त्वों की जांच को अपना परमाधिकार बना लिया है। हमारी अदालतों ने जनसहयोग के चलते विधायिका तथा कार्यपालिका से जुड़े लोगों के ऊपर अपने अधिकार

का दावा करने लगी हैं। संविधान के नियमों पर चिंतन, मनन नहीं करतीं। इस तरह की शक्तियों का प्रयोग तो अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय भी नहीं करता जिसे कि सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। पिछले कुछ वर्षों से भारत में अदालतें लगभग सभी मुद्दों पर हस्तक्षेप करने लगी हैं। इस प्रकार न्यायपालिका एक तरह से तीसरे सदन की भूमिका अदा करने लगी है अथवा ऐसे अधिकारों का प्रयोग करने लगी है जो उससे संबंधित नहीं हैं।

> **तीसरा सदन :** संसद में दो सदनों की व्यवस्था है – लोक सभा तथा राज्य सभा। इन्हीं दोनों सदनों के बहुमत से पारित कोई भी बिल कानून बनता है। किंतु न्यायपालिका इन दोनों सदनों द्वारा पारित किसी कानून को खारिज भी कर सकती हैं। इसीलिए न्यायपालिका के इस व्यवहार को तीसरे सदन के रूप में व्याख्यापित करके आलोचना की गई है।

दूसरे कोणों से आलोचकों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं कि किसी भी समाज में सामाजिक कल्याण तथा जनहित के कार्य में संलग्न विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ होती हैं। हालांकि न्यायिक सक्रियतावाद बेहतर उद्देश्यों को लेकर चलती हैं किंतु इसका मतलब यह नहीं कि सिर्फ न्यायाधीश ही समाज के सच्चे सुधारक होते हैं। कई बार ये लोग संस्थाओं की समस्याओं एवं प्रकृति को जाने बिना उन्हें अपना निर्देश जारी कर देते हैं। आलोचकों का तर्क है कि न्यायाधीशों को यह कोई अधिकार नहीं है कि वे नीतियां तय करने में अपनी भूमिका निभाएं अथवा जनतंत्र का मूल्यांकन करें। कुछ आलोचक न्यायपालिका पर राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का आरोप लगाते हैं। उनका आरोप है कि कुछ न्यायाधीश लोकप्रियता हासिल करने के लिए कुछ अतिरिक्त रूप से अपनी सक्रियता प्रकट करते रहते हैं। इस संबंध में आलोचकों का यह भी कहना है कि सर्वोच्च न्यायालय कार्यपालिका तथा विधायिका से संबंधित मामलों में तो धड़ाधड़ अपने निर्णय सुनाता रहता है जबकि उसके पास राज्यों से संबंधित हजारों मामले वर्षों से लंबित पड़े हुए हैं। उनके अनुसार अदालतों को त्वरित गति से इन मामलों को निपटाने के लिए सक्रिय हो जाना चाहिए बनिस्पत इसके कि वह दूसरे सामाजिक निकायों अथवा संस्थानों के ऊपर अपना भय बनाए रखे तथा अपनी अतिरिक्त निरीक्षण शक्ति का प्रयोग करके सभी मामलों में अपना निर्णय सुनाता फिरे।

16.4.5 जनहित याचिका का महत्त्व

उपरोक्त आरोपों के बावजूद जनहित याचिका ने बहुत लोकप्रियता हासिल कर ली है। अब व्यवस्था के पक्षधर संविधान की किसी भी प्रकार की क्षति को अनदेखा नहीं करते। अदालतों के ऊपर लगाए जाने वाले अतिरिक्त सक्रियता के आरोप के जवाब में इसके पक्षधरों का कहना है कि न्यायिक सक्रियतावाद अदालतों पर डाले गए दबावों का परिणाम है। न्यायपालिका का तो समस्याओं से वहां आमना सामना होता है जहां संसद कानूनों को पारित तो कर देती है किंतु कार्यपालिका किसी कानून को लागू करवाने में शिथिलता बरतने लगती है। ऐसे में न्यायपालिका उस पर दबाव डालकर कार्य में तेजी लाती है। और यह उल्लेखनीय बात है कि अधिकांश जनहित याचिकाओं पर अदालतों ने उन्हीं निर्णयों को लागू करने का दबाव डाला है जोकि पहले ही संसद में पारित किए जा चुके थे।

सर्वोच्च न्यायालय के एक पूर्व न्यायाधीश न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह ने न्यायिक सक्रियतावाद के पक्ष में बोलते हुए कहा था कि "न्यायाधीश तो सिर्फ अपनी संवैधानिक ड्यूटी पूरा करते हैं ताकि जनता के अधिकारों के चारों तरफ एक बाड़ लगी रहे और विधायी, कार्यकारिणी अथवा प्रशासनिक कोई भी शक्ति उसे क्षति न पहुंचा सके।"

न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह ने आगे कहा कि "आप इसे न्यायिक अतिक्रमण अथवा न्यायिक आतंकवाद का नाम कैसे दे सकते हैं। अदालत तो उन मासूम लोगों की समस्याओं को खोजने का कार्य करती है, उसमें हस्तक्षेप करने का काम करती है जहां कानून की अवहेलना होती है। दिल्ली के 75 प्रतिशत गंदे नाले यमुना में आकर मिलते हैं जिससे कि लोगों को भयानक बिमारियां हो सकती हैं यदि इस संबंध में अदालत सरकार से पूछताछ करती है तो क्या बुराई है।"

न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने इस बात को स्पष्ट करते हुए बहुत पहले ही कहा था कि "जनहित याचिका कोई प्रतिक्रियात्मक याचिका नहीं होती। अदालतें जनहित याचिका किसी प्रतिक्रिया स्वरूप अथवा कार्यपालिका की आलोचना करने की दृष्टि से या उनके ऊपर अपना दबदबा बनाए रखने की दृष्टि से नहीं करतीं। हमेशा से

ही अदालतों का प्रयास सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रमों को सुचारू रूप से क्रियान्वित करने का रहा है। और विधायिका तथा जहां तक संभव होता है कार्यपालिका भी असहाय लोगों के हितों की रूपरेखा स्वतंत्र रूप से तैयार करती हैं।" लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि आज लोगों के अंदर यह विश्वास बैठ गया है कि सिर्फ उच्चस्तरीय अदालतों के ऊपर ही भरोसा करने लायक रह गया है। राजनीतिज्ञों को लेकर भ्रम, सरकार की निष्क्रियता तथा अदालतों की सक्रियता आदि अनेक ऐसे कारण हैं जिसके चलते अदालतों की शक्तियों में निरंतर विस्तार होता जा रहा है। न्यायिक सक्रियतावाद के चलते लोगों के मन में ये उम्मीदें बनी हुई हैं कि उनके अधिकारों को कानूनी सहयोग संभव है।

पाठगत प्रश्न 16.2

(1) सही कथन का चुनाव कीजिए:

क. न्यायाधीशों की सक्रिय राजनीतिक हिस्सेदारी के कारण न्यायिक सक्रियता का जन्म हुआ।

ख. जनहित याचिका दायर करने के लिए अदालतों द्वारा निर्धारित शुल्क भरना पड़ता है।

ग. जनहित याचिका किसी भी नागरिक द्वारा अथवा जनसमूह द्वारा दायर की जा सकती है।

(2) कौन तीसरा सदन बन गया है। (राज्यसभा, लोकसभा, न्यायपालिका)

16.5 लोक अदालतें

दूसरे क्षेत्रों में न्यायप्रणाली में सुधार लाने के लिए लोक अदालतों का गठन किया गया। न्याय प्रणाली के इस सुधार में कार्यपालिका तथा विधायिका ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लोक अदालतों के गठन के पीछे लंबित पड़े मामलों को जल्दी तथा सस्ते ढंग से निपटाने का उद्देश्य रहा है।

16.5.1 लोक अदालतों का उद्भव तथा अर्थ

लोक अदालतों का गठन पहली बार गुजरात में 'गुजरात राज्य विधायी सहायता समिति' द्वारा किया गया। सितम्बर 1985 में मुख्य न्यायाधीशों, मुख्यमंत्रियों तथा कानून मंत्रियों के दो दिवसीय सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि लोक अदालतों का गठन किया जाए जोकि ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर मामलों का निपटारा करे। इसके बाद राज्यों के विधायकों तथा न्यायालयों द्वारा भी लोक अदालतों के प्रस्ताव को स्वीकृति प्राप्त हो गई।

लोक अदालतें एक प्रकार से उन मामलों का निपटारा करती हैं। जो अदालतों से बाहर के मामले हैं। ऐसे विवाद जो किसी प्रकार के अपराध अथवा गंभीर किस्म के किसी आपसी समझौते के टूट जाने से संबंधित न हों, लोक अदालतों में निपटारे के लिए लाए जाते हैं। पंचों की सहायता के लिए तथा उनकी उचित जानकारी के लिए ताकि वे मामले की तह तक जा सकें लोगों के लिए यह आवश्यक होता है कि सही तथ्य उपलब्ध कराएं। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर तथा विवाद से संबंधित दोनों पक्षों की आपसी सहमति के आधार पर पंच मामलों का निपटारा करते हैं। इसके लिए किसी निर्धारित विधायी प्रक्रिया का अनुसरण करना आवश्यक नहीं होता। आपसी तालमेल पर ज्यादा बल दिया जाता है। लेकिन निपटारे किसी पक्ष की उम्मीदों पर एकदम खरे उतरें यह भी आवश्यक नहीं होता। लेकिन मामलों के निपटारे कम से कम समय में तथा अदालतों में लगने वाले खर्चों के बिना किए जाते हैं।

तलाक, गुजारे-भत्ते का निर्धारण तथा भुगतान एवं बच्चों के पालन-पोषण जैसे पारिवारिक विवादों के निपटारे लोक अदालतें पारंपरिक ढंग से, पारिवारिक ढंग से, पारिवारिक समझौतों तथा ग्राम पंचायतों की सहायता से करती हैं। पारिवारिक मामलों को सुलझाने तथा पुनर्व्यवस्थित करने में पारिवारिक अदालतें भी अपना सहयोग प्रदान करती हैं। छोटी-मोटी संपत्ति संबंधी विवाद, जीवन बीमा अथवा दुर्घटना से संबंधित दावों तथा बिजली तथा टेलीफोन बिल से संबंधी विवाद जैसे मामलों का निपटारा लोक अदालतों के अधीन किए जाते हैं।

किंतु उल्लेखनीय बात यह है कि लोक अदालतें कार्यरत स्थापित अदालतों का स्थान नहीं ले सकती। यह एक प्रकार की वैकल्पिक तथा स्वैच्छिक व्यवस्था है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी आदमी को लोक अदालत की न्याय

प्रणाली को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। चोरी, डकैती तथा हत्या संबंधी मामलों में लोक अदालतों को किसी प्रकार के फैसले देने अथवा दण्ड सुनाने का अधिकार नहीं हैं। संक्षेप में हम लोक अदालतों की कार्यप्रणाली को इस प्रकार समझ सकते हैं :

(क) अदालतों से बाहर के मामलों को समझौतों के आधार पर सुलझाना

(ख) न्यायाधीश द्वारा आपसी समझौतों पर बल देना

(ग) वकील तथा अदालती शुल्क के बिना मामलों के निपटारे करना

(घ) पारिवारिक विवादों से संबंधित मामलों तथा इसी प्रकार के अन्य दीवानी मामलों का आपसी समझौतों के आधार पर निपटारे करना।

16.5.2 लोक अदालत प्रणाली का महत्व

लोक अदालतें कई प्रकार से जन साधारण की सहायता करती है। इसमें लोगों के समय और पैसे दोनों की बचत होती है। लोगों को समाज में आने वाली अनेक मुसीबतों तथा सामाजिक तनावों से लोक अदालतें कानूनी रूप से मुक्त करती हैं। इससे विवाद से संबंधित पक्षों के बीच आपसी संबंध बेहतर बनते हैं।

लोक अदालतों का एक और कार्य सराहनीय तथा स्वागत योग्य है कि इनकी वजह से अदालतों का बहुत सारा समय बचता है। भारतीय न्यायालयों में हजारों मामले बरसों बरस लटके रहते हैं। अत्यधिक काम के दबावों के चलते वकील तथा अदालत के कर्मचारी वादी को बेवजह परेशान करते रहते हैं। अब लोक अदालतों द्वारा ऐसे मामलों को अपने अधीन ले लिए जाने के कारण अदालतें अति महत्वपूर्ण मामलों पर अपना ज्यादा से ज्यादा समय दे सकती हैं। उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निरंतर लोक अदालत प्रणाली को प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा है।

16.6 कानूनी सहायता आंदोलन

गरीब तथा उपेक्षित लोगों तक कानून प्रणाली को पहुंचाने के लिए तथा जरूरतमंद लोगों को कानूनी सहयोग प्रदान करने में न्यायपालिका ने अपनी सक्रिय भूमिका निभाई है। इस बारे में आप पिछले अध्याय में पढ़ भी चुके हैं। अनुच्छेद 39 (क) में वर्णित एक नीति-निर्देश तत्व द्वारा राज्यों को समान न्याय एवं कानूनी सहयोग के निर्देश दिए गए हैं तथा सर्वोच्च न्यायालय ने इस निर्देश की बहुत ही सकारात्मक एवं विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार कानूनी सहयोग का अर्थ यह नहीं है कि इसके द्वारा गरीब वादकर्ताओं को सहयोग प्रदान किया जाए बल्कि इसका मतलब यह भी है कि

(क) कानूनी साक्षरता कार्यक्रमों के तहत लोगों में विधायी जागरूकता पैदा करना

(ख) गरीब तथा शोषित लोगों के पक्षधर संगठनों के भीतर ऐसे दृष्टिकोण पैदा करना ताकि वे अधिनियमों के पारित करने तथा समतामूलक कानूनों के निर्माण के लिए दबाव बनाए रख सकें

(ग) गरीब तथा विकलांग लोगों को कानूनी सहयोग प्रदान करना

(घ) उपेक्षित लोगों को न्याय दिलाने के लिए जनहित याचिकाओं अथवा परंपरागत ढंग से अदालतों के साथ संघर्ष की प्रवृत्ति पैदा करना

(ङ) सस्ते ढंग से तथा जल्दी विवादित मामलों के निपटारों के विकल्प की तलाश करना

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि न्यायिक सहयोग का उद्देश्य सबके लिए और विशेषकर उन उपेक्षित तथा इससे वंचित लोगों के लिए समुचित न्याय की व्यवस्था करना होता है जोकि संसाधनों की कमी के चलते नहीं प्राप्त हो पा रही थी। सर्वोच्च न्यायालय ने कानूनी सहायता को एक आन्दोलन के रूप में चलाए जाने का सुझाव दिया है।

भारतीय संसद ने भी नीति निर्देशक तत्वों तथा जरूरतमंद लोगों को न्यायपालिका द्वारा कानूनी सहयोग प्रदान किए जाने संबंधी क्रियाशीलता की तरफ अपना ध्यान आकर्षित किया है एवं इससे संबंधित अधिनियम पारित करने में

अपना सहयोग प्रदान किया है। सामाजिक कल्याण समितियों ने भी कई प्रकार की कानूनी प्रक्रिया में अपना सहयोग प्रदान किया है जैसे दहेज उन्मूलन अधिनियम 1961, पारिवारिक अदालत अधिनियम 1984, उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 आदि अनेक ऐसे मामले उल्लेखनीय हैं। कानूनी सहायता लोगों में विधायी सतर्कता पैदा करने में भी अपना सहयोग प्रदान करती है। इसके कारण भविष्य में आगे चलकर कई प्रकार के सामाजिक परिवर्तन संभव होंगे।

पाठगत प्रश्न 16.3

सही कथन पर सही का निशान लगाइए।

1. लोक अदालतें :
   - (क) कई प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने की कोशिश करती हैं
   - (ख) अदालतों से बाहर के विवादित मामलों का निपटारा करती हैं
   - (ग) अपराधियों को दण्डित कर सकती हैं
   - (घ) सिर्फ अपराध से संबंधित मामलों के निपटारे कर सकती है
2. मुफ्त कानूनी सहायता का क्या उद्देश्य होता है?
   - (क) न्यायालय को बढ़ावा देना
   - (ख) सभी को न्याय उपलब्ध करवाना
   - (ग) कानूनी खर्च कम करवाना

आपने क्या सीखा

भारतीय संविधान में एक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था है। अदालतें संविधान की संरक्षिका तथा लोगों के मौलिक अधिकारों के सुरक्षा कवच की तरह होती हैं। अपनी इन शक्तियों का प्रयोग करते हुए न्यायपालिका कार्यपालिका के ऊपर कानूनों को सुचारू रूप से लागू किए जाने के लिए दबाव डालती हैं तथा ऐसे कानूनों को अवैधानिक करार देती हैं जिनकी वजह से मौलिक अधिकारों का हनन होता है। न्यायपालिका की यह क्रियाशीलता न्यायिक सक्रियता के रूप में जानी जाती है।

प्रारंभिक वर्षों में कुछ जनतांत्रिक समाजवादी रुझान वाले लोगों द्वारा न्यायिक सक्रियता की आलोचना की गई थी। उनका आरोप था कि अदालतें इसके माध्यम से सिर्फ व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की रक्षा करती हैं और उनका ध्यान समाज-कल्याण तथा नीति-निर्देशक तत्वों की तरफ नहीं जाता। इससे सिर्फ संपन्न लोगों को ही लाभ पहुंचता है। गरीब लोग महंगी एवं सुस्त (लचीली) न्याय प्रणाली के चलते अंततः इससे उपेक्षित ही रहते हैं।

धीरे-धीरे न्यायपालिका ने अपने बढ़ते प्रभावों के कारण लोगों के मन में यह धारणा पैदा कर दी कि संविधान को पढ़ा जाना चाहिए तथा उसकी शक्तियों तथा उसके दर्शन को जानना चाहिए। संविधान का उद्देश्य था सबको न्याय दिलाना तथा नीति-निर्देशक तत्व इसके अविभाज्य अंग के रूप में थे, न्यायालय का कर्त्तव्य गरीबों तथा संपूर्ण समाज के अधिकारों की रक्षा करना था। न्यायपालिका अपनी सकारात्मक भूमिका निभा रही है। यह गरीब लोगों को न्याय दिलाने के लिए प्रोत्साहित भी कर रही है तथा न्यायपालिका ने इसके लिए अपनी न्याय प्रक्रिया को काफी लचीला भी बनाया है। इसीलिए जनहित याचिका काफी तेजी से प्रभावी सिद्ध हो रही है। जनहित याचिका के माध्यम से कोई भी नागरिक गरीब तथा अशिक्षित लोगों की तरफ से अथवा संपूर्ण समाज की ओर से मुकदमा दायर कर सकता है।

1990 में अदालतों ने यह महसूस किया कि कुछ विशेष क्षेत्रों में कार्यपालिका तथा कुछ मामलों में विधायिका संविधान की आत्मा के अनुरूप तथा सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पा रही है। उसके बाद से कभी-कभी न्यायपालिका ने नीतियां तय करने संबंधी कार्यों में भी हस्तक्षेप करना शुरू

कर दिया । इस बात को लेकर कई आलोचकों ने न्यायपालिका की निंदा भी की तथा इसे सामान्य संवैधानिक तथा जनतांत्रिक भूमिका नहीं माना। हालांकि सामान्य जनता अदालतों की इस भूमिका से काफी प्रसन्न है।

जनहित याचिका तथा न्यायिक सक्रियता के चलते न्याय प्रक्रिया में भी कई प्रकार से सुधार हुए हैं इनमें से दो बहुत महत्वपूर्ण हैं। एक तो यह कि लोगों को लोक अदालत प्रणाली के चलते सस्ता और आसान न्याय मिलने लगा है तथा दूसरा न्यायिक सहायता। इससे गरीब लोगों को काफी राहत मिली है जोकि संसाधनों की कमी के कारण न्यायालय तक नहीं पंहुच पाते थे। भारतीय न्याय प्रणाली अब सामान्य आदमी के अधिकारों की रक्षा करने तथा जनतांत्रिक मूल्यों को बनाए रखने के लिए बराबर तत्पर रहती है। लेकिन संसदीय जनतंत्र को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि सरकार के तीनों अंग आपसी सहयोग के साथ कार्य करें तथा अपनी विरासत को बनाए रखें।

पाठांत प्रश्न

1. न्यायिक सक्रियतावाद से आप क्या समझते हैं?
2. सर्वोच्च न्यायालय पर क्यों यह आरोप लगाया जाता था कि यह सिर्फ संपन्न लोगों के हितों की रक्षा करता है?
3. भारत में जनहित याचिका के उद्भव तथा महत्व पर प्रकाश डालिए।
4. लोक अदालत प्रणाली की क्या विशेषता है? इसकी उपयोगिता पर भी प्रकाश डालिए।
5. क्या भारत में न्यायिक सहायता आंदोलन आवश्यक है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

16.1 1. मौलिक अधिकार

2. महंगी न्याय प्रक्रिया

16.2 1. (ग) जनहित याचिका किसी भी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा दायर की जा सकती है

2. न्यायपालिका

16.3 1. अदालतों से बाहर के विवादों का निपटारा करना

2. सभी को न्याय उपलब्ध करवाना।

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, खण्ड 16.3
2. कृपया देखें, खण्ड 16.3.2
3. कृपया देखें, खण्ड 16.4.1
4. कृपया देखें, खण्ड 16.5
5. कृपया देखें, खण्ड 16.6

17

वयस्क मताधिकार : चुनाव प्रक्रिया तथा प्रतिनिधित्व की प्रणालियाँ

17.1 भूमिका

पिछले पाठ में संविधान की प्रस्तावना के संबंध में पढ़ते हुए आपने पढ़ा होगा कि संविधान की प्रस्तावना में जो सबसे पहली बात कही गई है वह है **'हम भारत के लोग'**। आप जानते हैं इसका क्या अर्थ होता है? इसका अर्थ है कि सरकार की वास्तविक शक्तियां जनता में निहित होती हैं, जो कि वह अपने मताधिकार के बल पर, अपना प्रतिनिधि चुनकर प्राप्त करती है, तथा इन प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता अपना शासन स्वयं चलाती है।

आपको याद होगा कि संविधान की प्रस्तावना में भारत को 'जनतांत्रिक गणतंत्र' कहा गया है। जनतंत्र का अर्थ होता है कि जनता अपना शासन स्वयं चलाती है तथा इसके लिए सरकार गठित करने तथा प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए समय–समय पर चुनाव कराए जाते हैं। ये चुनाव एक निरपेक्ष चुनावतंत्र (जिसे चुनाव आयोग के नाम से जाना जाता है) द्वारा वयस्क मताधिकार प्रणाली के तहत संपन्न कराए जाते हैं। इस प्रकार जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि ही सरकार बनाने के लिए उत्तरदायी होते हैं। इसका अर्थ होता है कि 'भारत एक प्रातिनिधिक जनतंत्र' है। 'गणतंत्र' के बारे में भी आप जानते हैं कि भारत राज्यों का संघ है, तथा इसका प्रमुख राष्ट्रपति होता है, जो ब्रिटेन के राष्ट्राध्यक्ष की पैतृक संपत्ति की तरह प्राप्त पद नहीं होता बल्कि वह जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चुना जाता है।

इस पाठ में आप जनतंत्र में वयस्क मताधिकार के महत्व इसकी विभिन्न विधियों तथा भारत में चुनाव एवं प्रातिनिधिक प्रणाली के बारे में पढ़ सकेंगे।

17.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- जनतंत्र में वयस्क मताधिकार के महत्व की व्याख्या कर सकेंगे;
- मताधिकार की न्यूनतम आयु के बारे मे पुन:स्मरण कर सकेंगे तथा यह विश्लेषण कर सकेंगे कि विभिन्न देशों से यह मताधिकार संबंधी योग्यता किस प्रकार भिन्न है;
- प्रतिनिधित्व की विभिन्न प्रणालियों की गणना एवं व्याख्या प्रस्तुत कर सकेंगे;
- लोक सभा, विधान सभा, राज्य सभा तथा विधान परिषदों के लिए होने वाले चुनावों की प्रक्रिया का विश्लेषण कर सकेंगे·

- चुनाव की घोषणा से लेकर चुनाव परिणामों की घोषणा तक की चुनाव प्रक्रिया का पुनःस्मरण कर सकेंगे;
- चुनाव आयोग की भूमिका तथा उसके कार्यों की सराहना कर सकेंगे और;
- यह विश्लेषण कर सकेंगे कि चुनाव आयोग किस प्रकार आजादी के पैमाने निर्धारित करता है।

17.3 जनतंत्र में वयस्क मताधिकार का महत्व

संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने जनतंत्र को परिभाषित करते हुए कहा था, "जनता द्वारा, जनता के लिए बनाई गई जनता की ही सरकार।" किंतु जनता द्वारा बनाई गई सरकार तभी जनतंत्र का रूप ले सकती है जबकि प्रत्येक नागरिक सरकारी नीतियों तथा कानूनों के क्रियान्वयन में बराबर की हिस्सेदारी निभा सके। जनता इस अधिकार का प्रयोग अपने मताधिकार के द्वारा ही कर सकती है।

इसके अलावा राजनीतिक समानता जनतंत्र का मूल सिद्धांत है। इसके लिए जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति के मत को समान महत्व प्रदान किया जाए। यदि किसी व्यक्ति को उसके किसी विशेष समुदाय से संबंधित होने के नाते उसे मताधिकार से वंचित किया जाता है तो वह उसके समानता के अधिकार का हनन होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो जनतंत्र की आत्मा तभी तक सुरक्षित रह सकती है जब तक कि जनता को बिना किसी भेदभाव के वोट डालने का अधिकार प्राप्त हो।

जनता द्वारा वोट डालने तथा अपना प्रतिनिधि चुनने के अधिकार को वयस्क मताधिकार कहते हैं, जिसे अंग्रेजी में 'ऐडल्ट फ्रेंचाइज' कहते हैं। 'फ्रेंचाइज' शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच भाषा के 'फ्रेंक' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ होता है स्वतंत्र। इस तरह मताधिकार का अर्थ हुआ स्वतंत्रतापूर्वक अपने प्रतिनिधि का चुनाव करना।

नागरिकों द्वारा अपने मताधिकार का प्रयोग तथा अपनी पसंद की सरकार का चुनाव करने की प्रणाली को चुनाव कहा जाता है। प्रतिनिधियों के चुनाव के क्रम में यह भी विधान है कि संसद तथा विधान मंडलों के प्रतिनिधियों की चुनाव प्रक्रिया एक निश्चित समय तक ही लागू रह सकती है। इसके द्वारा जनता की शक्तियों के महत्व तथा नीतियों के निर्धारण में उसकी हिस्सेदारी बनाए रखने की कोशिश की गई है।

स्वस्थ तथा जनतांत्रिक प्रातिनिधिक प्रणाली बनाए रखने के लिए चुनावों से संबंधित कुछ निश्चित तथा अपरिहार्य गतिविधियां निर्धारित की गई हैं जो ये हैं :

1. चुनाव शांतिपूर्ण एवं सुनियोजित ढंग से एक पार्टी से दूसरी पार्टी के हाथों में शक्ति सौंपने में सहायक सिद्ध होता है।
2. चुनाव ग्रामीण से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक विभिन्न स्तरों पर जनता को एक साथ जोड़ने का काम करता है। चाहे वह ग्राम पंचायत का चुनाव हो, नगर निगम का चुनाव हो, विधान मंडल के चुनाव हों अथवा राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले चुनाव हों, सबमें नागरिक अपनी-अपनी हिस्सेदारी निभा सकते हैं, मताधिकार का प्रयोग कर सकते हैं, तथा उस पर नियंत्रण बनाए रखने में अपनी भूमिका निभा सकते हैं।
3. चुनावों द्वारा नागरिक हितों की रक्षा भी होती है। सरकार चलाते समय जनजीवन से सीधा संबंध स्थापित करना पड़ता है। इस प्रकार पता चलता है कि क्या किया जाना चाहिए, सो सार्वजनिक हित में हो। इस प्रकार जनता के सामूहिक राजनीतिक शक्तियों के प्रयोग द्वारा आम कल्याणकारी योजनाओं को प्रोत्साहित किया जाता है।
4. चुनावों द्वारा लोगों को राजनीतिक जीवन में शिक्षा भी प्राप्त होती है। इसके द्वारा लोगों में देश के प्रति राजनीतिक जागरूकता प्राप्त होती है। यह राजनीतिक शिक्षा जनता की भूमिका तथा उसके महत्व को मजबूत बनाती है।

   बहुत कम समय में ही जनता के मताधिकार ने जनतांत्रिक प्रणाली को मजबूती प्रदान की है। प्रत्येक राज्य वयस्क मताधिकार प्रणाली को स्थापित करने तथा उसे बनाए रखने का भरसक प्रयास करता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वोट डालने के अधिकार के कारण व्यक्ति में आत्मसम्मान, गौरव की भावना तथा जिम्मेदारी की भावना आती है। इससे राजनीतिक तथा नागरिक शिक्षा भी प्राप्त होती है।

17.4 सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार

सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार का अर्थ होता है हर वयस्क महिला तथा पुरुष को बिना किसी भेदभाव के वोट डालने का अधिकार प्रदान करना। इस प्रणाली के तहत एक निर्धारित उम्र पार करने के बाद व्यक्ति को वोट डालने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

वयस्क मताधिकार ने धीरे-धीरे स्वत: एक सामूहिक कानून का रूप ले लिया है। शुरू में वोट डालने का अधिकार सिर्फ उन्हीं लोगों को प्राप्त था जिनके पास या तो अचल संपत्ति हुआ करती थी अथवा जो सरकार को कर देते थे। कुछ देशों में तो सिर्फ पुरुषों को ही वोट डालने का अधिकार प्राप्त था। अब सभी वयस्क व्यक्तियों को बिना किसी संपत्ति अथवा शिक्षा के आधार पर वोट डालने का अधिकार प्रदान किया गया है और उसे 'मानवीय अधिकार' कहा गया।

काफी समय तक, यहां तक कि विकसित देशों में भी, महिलाओं को वोट डालने का अधिकार नहीं था। इस सदी के दूसरे दशक तक किसी भी देश में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार नहीं लागू किया गया था।

सबसे पहले जर्मनी में 1919 में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को लागू किया गया। 1918 में ब्रिटेन में कुछ सीमित महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया गया था। 21 वर्ष से ऊपर के पुरुषों तथा 30 वर्ष से ऊपर की स्त्रियों को वोट डालने का अधिकार प्रदान किया गया, किन्तु 1928 में इस भेदभाव को सुधार लिया गया।

1936 में सोवियत संघ ने सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को लागू किया। किंतु यह आश्चर्य की बात है कि लगातार उदारता तथा बराबरी के नारे उछालने वाला फ्रांस 1945 तक अपने नागरिकों के लिए वयस्क मताधिकार के सिद्धांत का विरोध करता रहा। और इससे भी आश्चर्य की बात तो यह है कि स्विटजरलैंड जैसे प्रत्यक्ष जनतंत्र वाले देश में भी महिलाओं के वोट के अधिकार को लेकर 1979 तक गतिरोध बना रहा।

इन सबकी तुलना में भारत में 1950 में, जब संविधान लागू किया गया था तभी से वयस्क मताधिकार व्यवहार में अपनाया गया है।

मताधिकार की उम्र: अलग-अलग देशों में वोट डालने की अलग-अलग उम्र निर्धारित की गई है। डेनमार्क तथा जापान में 25 वर्ष से ऊपर का व्यक्ति ही वोट डाल सकता है, जबकि नार्वे में यह उम्र 23 वर्ष है। लेकिन ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका तथा सोवियत संघ में यह उम्र 18 वर्ष निर्धारित की गई है।

हमारे देश में भी अब वोट डालने के लिए न्यूनतम आयु 18 वर्ष निर्धारित कर दी गई है। इस प्रकार वे सभी स्त्री-पुरुष जिनकी आयु 18 वर्ष है, वोट डालने के अधिकारी हैं।

अयोग्यता की शर्तें: मताधिकार केवल उन्हीं वयस्क नागरिकों को प्राप्त है, जो पूर्णत: स्वस्थ हैं।

इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि वोट डालने का अधिकार महज अधिकार नहीं बल्कि एक कर्त्तव्य भी है। इसलिए यह अधिकार सिर्फ उन्हीं व्यक्तियों को मिले जो स्वयं अपने इस अधिकार का प्रयोग कर सकें। नाबालिगों को छोड़कर अयोग्य व्यक्तियों के लिए कुछ निम्नलिखित शर्तें निर्धारित की गई हैं:

1. जो व्यक्ति इस देश का नागरिक नहीं है।
2. मानसिक रूप से विकलांग अथवा पागल हो।
3. वह व्यक्ति, जिसे न्यायालय द्वारा दीवालिया घोषित किया जा चुका हो।

ऐसे लोग मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते।

पाठांत प्रश्न: 17.1

1. मताधिकार से क्या तात्पर्य है?

.....

.....

2. जनतंत्र में एक निश्चित अवधि के लिए ही चुनाव क्यों कराए जाते हैं?

.....

.....

3. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर उनके नीचे दिए विकल्पों में से उचित विकल्प छांटकर दीजिए।

.....

.....

4. वयस्क मताधिकार का अर्थ ..... को मतदान का अधिकार प्रदान करना है।

(क) सभी वयस्क महिला तथा पुरूषों को

(ख) केवल पुरुषों को

(ग) केवल महिलाओं को

(घ) नाबालिगों को

5. निम्न में से किसे वोट डालने का अधिकार प्राप्त नहीं है?

(क) नाबालिगों को

(ख) मानसिक रूप से विकलांग व्यक्तियों को

(ग) पागल अथवा दीवालिया को

(घ) उपरोक्त सभी को

6. भारत में मतदान की न्यूनतम आयु क्या है?

(क) 21 वर्ष

(ख) 18 वर्ष

(ग) 16 वर्ष

(घ) 25 वर्ष

17.5 प्रतिनिधित्व की प्रणालियाँ

प्रतिनिधियों के चुनाव की दो प्रणालियाँ हैं जिन्हें हम क्षेत्रीय तथा व्यावसायिक चुनाव प्रक्रिया के नाम से जानते हैं।

17.5.1 क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व जनतांत्रिक देशों में प्रतिनिधियों के चुनाव का यह एक प्रसिद्ध तरीका है । भारत में लोकसभा तथा विधान सभाओं के चुनाव इसी प्रक्रिया के तहत कराए जाते हैं। इस प्रक्रिया के तहत एक निश्चित सीमा क्षेत्र के मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग कर प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं।

दूसरे शब्दों में, क्षेत्रीय प्रतिनिधि का अर्थ है, किसी क्षेत्र विशेष अथवा चुनाव क्षेत्र के लोगों द्वारा प्रतिनिधि चुना जाना। एक निश्चित निर्वाचन क्षेत्र के सभी मतदाता अपने मताधिकार द्वारा संयुक्त रूप से प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं।

निर्वाचन क्षेत्र : वह निर्धारित क्षेत्र जहां के लोग अपने एक या एक से अधिक प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, निर्वाचन क्षेत्र कहलाता है।

निर्वाचन क्षेत्र कई प्रकार के होते हैं –

1. एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र: क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के अंतर्गत उनके संभागों की संख्या उनके प्रतिनिधियों की संख्या के आधार पर निर्धारित की जाती है। ऐसे चुनाव क्षेत्र जहां से सिर्फ एक ही प्रतिनिधि चुना जाता है उस चुनाव

क्षेत्र को एक सदस्यीय चुनाव क्षेत्र कहते हैं। जैसे उत्तर प्रदेश को 85 लोक सभा सीटों में विभाजित किया गया है क्योंकि वहां से लोक सभा के लिए 85 प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

2. बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र: इस प्रणाली को सामान्य टिकट प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली में एक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। यह संख्या दो, तीन या इससे भी अधिक हो सकती है। इसलिए इसे बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। हालांकि राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव सभी विधान सभा के सदस्यों द्वारा किया जाता है किंतु हर विधान सभा क्षेत्र में राज्य सभा के कई सदस्यों को चुने जाने का प्रावधान है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व: व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का अर्थ है, व्यावसायिक समुदायों जैसे व्यापारिक संगठनों, व्यापार मंडलों, डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों तथा ट्रांसपोर्टरों द्वारा प्रतिनिधि चुना जाना।

दूसरे शब्दो में, इस प्रकार के प्रतिनिधियों का चुनाव व्यावसायिक रूप से किया जाता है। प्रत्येक व्यावसायिक संगठनों को अपना एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया है। क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की तरह व्यावसायिक चुनाव, चुनाव क्षेत्रों में बांटकर नहीं कराए जाते। कुल मिलाकर यह विभिन्न व्यावसायिक समूहों की प्रतिनिधित्व प्रक्रिया है।

साधारण बहुमत प्रणाली: एकल प्रतिनिधित्व वाले चुनाव क्षेत्र से सिर्फ एक ही सदस्य को प्रतिनिधि के रूप में चुना जाता है तथा चुनाव में जिसे सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं उसे ही विजयी घोषित कर दिया जाता है।

मान लीजिए कि किसी चुनाव क्षेत्र में तीन प्रत्याशी चुनाव लड़ रहे हों तथा एक को 5,000 मत मिलते हैं दूसरे को 6,500 तथा तीसरे को 4,050 मत प्राप्त होते हैं तो ऐसी स्थिति में दूसरे प्रत्याशी को विजयी घोषित किया जाएगा क्योंकि उसे सबसे अधिक बहुमत प्राप्त हुआ है। इस प्रणाली को सामान्य बहुमत प्रणाली कहते हैं।

पाठगत प्रश्न: 17.2

1. क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व किसे कहते हैं?
2. व्यावसायिक-प्रतिनिधित्व से क्या तात्पर्य है?
3. प्रतिनिधियों की संख्या के अनुसार उतनी ही संख्या में सभी चुनाव क्षेत्रों का विभाजन किया जाता है तो उसे ..... प्रतिनिधित्व चुनाव क्षेत्र कहते हैं।
4. बहु सदस्यीय चुनाव क्षेत्र को ..... के नाम से भी जाना जाता है।
5. भारत में लोकसभा तथा विधान सभाओं के चुनाव ..... प्रक्रिया के तहत कराए जाते हैं।

17.6 आनुपातिक प्रतिनिधित्व:

आनुपातिक चुनाव प्रणाली के तहत लगभग सभी वर्गों के प्रतिनिधियों को चुने जाने का प्रयास किया जाता है ताकि कमोबेश हर वर्ग की समस्याओं की तरफ सरकार का ध्यान आकर्षित होता रहे।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की वकालत सबसे पहले 1793 में फ्रांस में हुई एक कन्वेंशन में की गई थी किंतु एक फ्रांसीसी मंत्री कार्ल आंद्रे द्वारा 1858 में क्रियान्वित किया गया था। अंग्रेज दार्शनिक थामस हेयर ने भी 1858 में इसकी वकालत की थी। जे.एस.मिल आनुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों में से थे। वे कहा करते थे कि सच्चे जनतंत्र का अर्थ तभी ठीक होगा जब उसमें सभी वर्गों से समान अनुपात में प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाए। हमेशा अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधियों की संख्या बहुसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधियों की संख्या से कम होती है। इसका अर्थ है कि सभी वर्गों के प्रतिनिधियों का समानुपातिक चुनाव होना चाहिए। विधान पालिका में प्रतिनिधियों के लिए सीटों का बंटवारा भी समानुपातिक ढंग से किया जाता है। कभी-कभी सामान्य बहुमत प्रणाली में ऐसा भी देखने को मिलता है कि एक विधान सभा क्षेत्र में किसी पार्टी को सीटें तो बहुत मिल जाती हैं किंतु उसके वोटों का

प्रतिशत कम होता है, यहां तक कि 25% से भी कम होता है फिर भी वह जीत जाती है। 1971 के लोक सभा चुनावों में कांग्रेस पार्टी को कुल 46% वोट मिले थे जबकि उसे 522 में से 351 सीटें प्राप्त हुई थीं। इस प्रकार वोटों का प्रतिशत तो 50% से भी कम था, जबकि सीटों 66% मिल गई थीं।

पिछले चुनावों में इस कमी को आनुपातिक चुनाव प्रणाली द्वारा सुधारने का प्रयास किया गया। आनुपातिक प्रतिनिधित्व दो प्रकार का होता है।

1. एकल संक्रमणीय मतदान प्रणाली : इसे 'हेयर सिस्टम' अथवा 'आंद्रे स्कीम' के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रणाली के अंतर्गत एक मतदाता केवल एक ही मत देने का अधिकारी होता है किंतु यदि वह चाहे तो अपने इस वोट को किसी दूसरे प्रत्याशी को भी बदल कर दे सकता है। इसके लिए उसे मतपत्र पर अपनी वरीयता दर्ज करनी पड़ती है। यह प्रणाली निम्नविधि द्वारा कार्य करती है।

(क) इस प्रणाली में तीन अथवा उससे अधिक प्रत्याशियों का होना आवश्यक होता है।

(ख) एक मतदाता वरीयता क्रम में एक ही वोट को कई प्रत्याशियों को दे सकता है। किंतु इसके लिए उसे मतपत्र पर 1, 2, 3 अथवा इससे आगे तक अपनी इच्छानुसार वरीयता निर्धारित करनी होती है।

(ग) मतदाता अपनी सभी वरीयताएं एक ही प्रत्याशी के आगे नहीं लिख सकता।

(घ) वरीयता क्रम में सबसे ऊपर आने वाले प्रत्याशी को ही उसका वोट मिलता है किंतु यदि किसी स्थिति में दो प्रत्याशी बराबर मत प्राप्त कर लेते हैं तब उस स्थिति में प्रत्याशियों का कोटा निर्धारित किया जाता है तथा उस कोटे के आधार पर जिसकी वरीयता पहले आती है उसे वह वोट मिल जाता है। कोटा निम्नलिखित सूत्र द्वारा निर्धारित किया जाता है :

$$\text{कोटा} = \frac{\text{डाले गए कुल मतों की संख्या}}{\text{कुल दलों की संख्या} + 1} + 1$$

मान लीजिए किसी चुनाव में कुल प्रत्याशियों की संख्या तीन है तथा कुल डाले गए मतों की संख्या 200 है तो कोटा होगा :

$$\frac{200}{3 + 1} + 1 = 51$$

(च) वोटों की गिनती पहली वरीयता के आधार पर ही शुरू की जाती है। पहले वरीयता क्रम वाले व्यक्ति को ही कोटा निर्धारित किया जाता है तथा यदि जरूरत पड़ी तो उसे दूसरे प्रत्याशी से बदल दिया जाता है, जिसे दूसरे नंबर की वरीयता प्राप्त होती है।

कभी-कभी यदि कोई प्रत्याशी उस सीट तक नहीं पहुंच पाता तो उस सीट को खाली ही छोड़ दिया जाता है। चुनाव की यह प्रणाली राज्य सभा के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए अपनाई जाती है। यही प्रणाली भारत के राष्ट्रपति के चुनाव में भी अपनाई जाती है।

सूची प्रणाली : यह आनुपातिक प्रतिनिधित्व की दूसरे प्रकार की प्रणाली है, जिसे सूची प्रणाली के नाम से जाना जाता है क्योंकि प्रत्येक प्रत्याशी अपनी पार्टी द्वारा निर्धारित सूची के आधार पर ही चुनाव लड़ने का अधिकारी होता है। प्रत्याशी को अपनी रुचि के अनुसार ही सूची का चुनाव करना होता है और स्वभावत: ऐसा उसे वरीयता क्रम में ही करना पड़ता है।

सूची प्रणाली के दो भेद हैं – बन्द सूची तथा खुली सूची। बंद सूची में प्रत्याशियों के लिए चुनाव की कोई गुंजाइश नहीं होती जोकि पार्टी द्वारा बनाई गई होती है। खुली सूची में से प्रत्याशी अपनी रुचि के अनुसार वरीयता क्रम में चुनाव की गुंजाइश होती है।

मान लीजिए कि चुनाव अधिकारियों द्वारा दो प्रकार की सूचियां बनाई गई हैं– सूची अ तथा सूची ब। यदि सूचियां बंद हैं तो प्रत्याशी किसी एक सूची में से ही अपनी निर्धारित सीट चुन सकता है, जबकि इन सूचियों के खुली होने पर वह वरीयता क्रम में अपनी इच्छानुसार जैसे ख, घ, च, ग, क अथवा ग, घ, ख, क, च अथवा किसी दूसरे तरीके से चुन सकता है।

अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व : आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर अल्पसंख्यकों को भी विधान पालिका में समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान किए जाने की व्यवस्था की गई है। जहां अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व और आनुपातिक प्रतिनिधित्व में अंतर स्पष्ट कर लिया जाना चाहिए। हर जगह अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई है, किंतु उसके लिए यह आवश्यक शर्त नहीं है कि अल्पसंख्यकों के वोटों के प्रतिशत के आधार पर ही उनका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया जाए, जबकि आनुपातिक प्रतिनिधित्व का अर्थ होता है कि अल्पसंख्यकों के वोटों के प्रतिशत के आधार पर प्रतिनिधियों की संख्या सुनिश्चित करना। अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व को निम्नलिखित तर्कों के आधार पर समझा जा सकता है।

1. संचित मत प्रणाली: इस प्रक्रिया में मतदाता के पास प्रत्याशियों के हिसाब से कई वोट होते हैं जो वह अपनी इच्छानुसार एक ही प्रत्याशी को भी दे सकता है और चाहे तो विभिन्न प्रत्याशियों को भी दे सकता है।

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक निर्वाचन क्षेत्र से पांच प्रत्याशियों को चुना है तो मतदाता के पास 5 वोट होंगे, जिसे कि वह चाहे तो सिर्फ एक प्रत्याशी को ही अपने पांचों वोट दे सकता है अथवा इच्छानुसार एक–दो या तीन को । इस प्रणाली को 'भरती प्रणाली' अथवा 'फ्रंपिंग' के नाम से भी जाना जाता है।

2. सीमित मत योजना: इस योजना के तहत बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आते हैं जिसमें कम से कम 3 प्रत्याशी होते हैं तथा एक मतदाता एक प्रत्याशी को एक वोट दे सकता है। इसके बाद हर मतदाता के सीटों के अनुसार वोट घटते जाते हैं। उदाहरण के लिए, किसी निर्वाचित क्षेत्र में 5 सदस्यों को चुना जाना है तो ऐसे में मतदाता चाहे तो दो या तीन प्रत्याशियों को अपना वोट दे सकता है किंतु वह अपने पांचों वोट सिर्फ एक ही प्रत्याशी को नहीं दे सकता। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि अल्पसंख्यक वर्ग के कम से कम एक प्रत्याशी का स्थान सुरक्षित बनाया जा सके। इस तरह उन पांच में से कम से कम एक सीट तो अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधि के लिए सुरक्षित रह ही जाती है।

द्वितीय मतपत्र प्रणाली : इस प्रणाली के तहत यदि एक सीट के लिए दो सदस्य चुनाव लड़ रहे हों तो उसमें जिसे सबसे अधिक मत प्राप्त होंगे उसे विजयी घोषित कर दिया जाएगा किंतु यदि दो से अधिक प्रत्याशी चुनाव मैदान में हों और उनमें से किसी ने भी बहुमत प्राप्त नहीं किया हो तो उस चुनाव को पुन: कराया जाता है और वह द्वितीय मतपत्र प्रणाली के द्वारा कराया जाता है। इसका अर्थ होता है कि चुनाव के कुछ ही दिनों बाद मतदाताओं को पुन: वोट डालना पड़ता है।

उदाहरण के लिए, यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र में तीन प्रत्याशी चुनाव लड़ रहे हों और उनमें से क को 5,000, ख को 4,000 तथा ग को 3,000 वोट प्राप्त हुए हों तो आप देखेंगे कि ख तथा ग ने मिलकर क से ज्यादा मत प्राप्त कर लिया है इसलिए इसमें क को अल्पसंख्यक वोट प्राप्त हुए और इसमें द्वितीय मतपत्र द्वारा निर्णय लेना पड़ेगा। इसलिए अबकी बार चुनाव क तथा ख के बीच में कराया जाएगा तथा जिसे बहुमत प्राप्त होगा उसे विजयी घोषित किया जाएगा।

पाठगत प्रश्न 17.3

1. 'हेयर प्रणाली' को आमतौर पर किस नाम से जाना जाता है?

   .....

   .....

2. किन दो विधियों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित किया जाता है?

   .....

   .....

3. संचित मत प्रणाली को और किस नाम से जाना जाता है।

.....

.....

4. निम्नलिखित में से कौन सा अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व है?

(क) सामान्य बहुमत प्रणाली

(ख) सूची प्रणाली

(ग) हेयर प्रणाली

(घ) संचित मत प्रणाली

17.7 भारत में चुनाव

भारत दुनिया का विशालतम जनतांत्रिक देश है । इसकी आजादी के 50 वर्षों में अब तक 12 लोक सभा चुनाव हो चुके हैं तथा इसके अलावा बहुत बार विधान सभाओं के चुनाव भी संपन्न कराए जा चुके हैं। भारत में चुनाव प्रक्रिया हमारी राजनीतिक प्रणाली की अनिवार्यता को सुनिश्चित करती है। चुनावों का महत्व इस अर्थ में और भी बढ़ जाता है कि इसके द्वारा हमारे जनतंत्र को बल मिलता है तथा इसके द्वारा सरकार एवं जनता के ऊपर आसानी से नियंत्रण बनाए रखा जा सकता है।

हालांकि भारत में चुनाव की प्रक्रिया बहुत पुरानी है, किंतु पहली बार जनतांत्रिक ढंग से 1952 में शुरू हुई। अंग्रेजी शासन के समय से ही भारत के लोगों को सीमित मत प्रणाली के तहत चुनावों के अनुभव हैं। अंग्रेजी शासन में कुछ सीमित लोगों को वोट डालने का अधिकार प्राप्त था।

किंतु आजादी के बाद एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। भारत के नए संविधान में संपत्ति, शिक्षा तथा दूसरे किसी प्रकार के प्रतिबंधों को न मानते हुए सभी के लिए वयस्क मताधिकार प्रणाली लागू कर दी गई। सांप्रदायिक आधार पर होने वाले चुनावों को भी रद्द कर दिया गया। संविधान में 18 वर्ष से ऊपर के हर वयस्क नागरिक को बिना जाति, धर्म, लिंग, सामाजिक स्थिति अथवा वर्ग विभाजन के वोट डालने का अधिकार प्रदान किया गया है।

सांप्रदायिक निर्वाचक: इस प्रणाली के अंतर्गत विभिन्न समुदाय के लोग अपने हितों को ध्यान में रखते हुए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं । यह प्रणाली अल्पसंख्यक वर्ग अथवा किसी समुदाय विशेष के हितों की रक्षा को ध्यान में रखते हुए अपनाई जाती है। इस प्रणाली के तहत मुसलमान मतदाता मुसलमान प्रत्याशियों को, सिख सिख को तथा इसाई इसाई प्रत्याशियों को ही अपना वोट देता है। इस प्रणाली के द्वारा समाज में सांप्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा मिलता है तथा राष्ट्रीयता को हानि पहुँचती है।

1952 में हुए चुनावों में कुल मतदाताओं की संख्या के 45.7% मतदाताओं ने वोट डाले थे जो कि 1991 में बढ़कर 63.53% हो गया। अब निरंतर ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में पड़ने वाले वोटों का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है, इससे यह पता चलता है कि भारत के लोगों में वोट डालने के प्रति जागरूकता बढ़ती जा रही है।

17.8 भारत में निर्वाचन प्रणाली

भारत में होने वाले चुनावों की प्रक्रिया को निम्नलिखित ढंग से समझ सकते हैं।

1. सूचना जारी करना: यह चुनाव प्रक्रिया का प्रथम चरण है। इसमें भारत का राष्ट्रपति जनता को नई लोकसभा के चुनाव की सूचना जारी करता है, तथा भारत के चुनाव आयोग द्वारा इसके कार्यक्रम जारी किए जाते हैं।

इसी क्रम में चुनाव आयोग नामांकन पत्र भरने की तिथि, नामांकन पत्रों के जांच की अंतिम तिथि, नाम वापस लेने की अंतिम तिथि तथा चुनाव की तिथि की घोषणा भी राज्यपाल करता है।

चुनावों की सूचना जारी हो जाने के बाद राजनीतिक दलों के अपने प्रत्याशियों के चुनाव से लेकर व्यस्त कार्यक्रम शुरू हो जाते हैं। अपने प्रत्याशियों का चुनाव राजनीतिक दल अधिक से अधिक सीटें प्राप्त करने के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए बड़ी सावधानी पूर्वक करते हैं। राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों के अतिरिक्त बहुत सारे निर्दलीय प्रत्याशी भी इन चुनावों में भाग लेते हैं।

> **निर्दलीय प्रत्याशी:** निर्दलीय प्रत्याशी वे होते हैं जो स्वतंत्र रूप से चुनाव लड़ते हैं। उनको किसी राजनीतिक दल का न तो समर्थन प्राप्त होता है और न उसके चुनाव खर्चे ही कोई पार्टी उठाती है।

2. नामांकन पत्रों का भरा जाना: जो भी व्यक्ति चुनाव लड़ना चाहता है उसे अपना नामांकन पत्र भरना होता है। इसके लिए ये नामांकन पत्र निर्वाचन आयोग द्वारा उपलब्ध कराए जाते हैं । प्रत्येक नामांकन पत्र उस संबंधित निर्वाचन क्षेत्र के कम से कम दो मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित तथा अनुमोदित होने चाहिए। ये नामांकन पत्र दो प्रतियों में उस क्षेत्र के संबंधित मतदान अधिकारी के पास जमा करना होता है। जब प्रत्याशी नामांकन पत्र भरता है तो उसके साथ एक निर्धारित जमानत राशि भी जमा करनी होती है जोकि प्रत्याशी द्वारा चुनाव न जीतने अथवा कुल पड़े मतों का 1/6 मत न प्राप्त कर पाने की स्थिति में जब्त हो जाती है।

3. जमानत राशि तथा नामांकन वापसी: प्रत्याशी द्वारा जो नामांकन पत्र भरे जाते हैं उनकी विधिवत जांच की जाती है तथा चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों की योग्यता की जांच की जाती है। चुनाव अधिकारी निम्नलिखित बिंदुओं पर किसी भी प्रत्याशी का नामांकन पत्र रद्द कर सकता है :

(क) यदि प्रत्याशी का देश के किसी भी हिस्से में मतदाता सूची में नाम नहीं है।

(ख) लोकसभा तथा विधान सभाओं के लिए निर्धारित आयु (25 वर्ष) न पूरी की हो।

(ग) यदि वह किसी सरकारी अथवा लाभकारी पद पर नियुक्त है।

(घ) यदि उसने जमानत राशि न जमा की हो।

(च) यदि वह मानसिक रूप से विकलांग हो।

(छ) यदि प्रस्तावित अथवा अनुमोदित करने वाले व्यक्तियों का नाम संबंधित निर्वाचन क्षेत्र की मतदाता सूची में दर्ज न हो।

यदि कोई प्रत्याशी नामांकन पत्र भर लेने के बाद चुनाव लड़ने का इच्छुक नहीं है तो वह चुनाव आयोग द्वारा नियत नामांकन वापस लेने की तिथि के भीतर अपना नाम वापस ले सकता है। नाम वापस ले लिए जाने के बाद चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों के नामों की सूची प्रकाशित कर दी जाती है। यदि नामांकन वापस लिए जाने की अंतिम तिथि तक भी कोई प्रत्याशी अपना नाम वापस नहीं ले पाता और वह चुनाव लड़ने का इच्छुक नहीं है तो वह चुनाव न लड़ने की घोषणा कर सकता है। हालांकि उसका नाम मतपत्र पर प्रकाशित होता है लेकिन ऐसा होने पर लोग उसे वोट नहीं देते।

4. चुनाव प्रचार: विभिन्न राजनीतिक पार्टियों द्वारा अपना घोषणा-पत्र जारी करने के साथ ही चुनाव शुरू हो जाता है। राजनीतिक पार्टियाँ तथा प्रत्याशी विभिन्न तरीकों से अपनी बात मतदाताओं तक पहुंचाने और उनका समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।

> **चुनाव घोषणा-पत्र :** यह एक प्रकार का दस्तावेज होता है जिसके माध्यम से राजनीतिक पार्टियां अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों का ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं । इसमें पार्टी जनता को एक साफ-सुथरी और सक्षम सरकार बनाने का वचन देती है।

प्रत्येक प्रत्याशी अधिक से अधिक मतदाताओं तक पहुंचने की कोशिश करता है, इसलिए वह घर-घर जाकर चुनाव प्रचार करता है तथा जनता से मिलता है। हालांकि हमारे देश में इतने बड़े-बड़े निर्वाचन क्षेत्र हैं कि उसमें

सभी मतदाताओं से मिल पाना मुश्किल काम है। जनसंपर्क का दूसरा तरीका है जनसभाएं करना । इन जनसभाओं के माध्यम से प्रत्याशी बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित मतदाताओं से एक साथ संपर्क बना सकता है। इन सभाओं को प्रत्याशियों के अलावा उनके समर्थक नेता तथा पार्टी के बड़े नेता भी संबोधित करते हैं। इसके अलावा पोस्टर चिपकाए जाते हैं, पर्चे बांटे जाते हैं और जगह–जगह बैनर तथा होर्डिंग लगाए जाते हैं।

कानून के नियमानुसार मतदान बंद होने के 48 घंटे पूर्व चुनाव प्रचार, बंद कर दिए जाते हैं। इसका अर्थ होता है कि लाउडस्पीकरों द्वारा तथा जनसभाओं द्वारा चुनाव प्रचार कर दिए जाते हैं किंतु उस पार्टी के कार्यकर्ता तथा प्रत्याशी लोगों से व्यक्तिगत संपर्क बना सकते हैं।

5. मतदान: इस दौरान चुनाव आयोग यह सुनिश्चित करता है कि मतपत्र छप चुके हैं तथा विभिन्न मतदान केंद्रों पर कड़ी सुरक्षा व्यवस्था के अंतर्गत पहुंचाए जा चुके हैं। यह भी चुनाव आयोग का ही कर्त्तव्य होता है कि वह आवश्यकतानुसार मतपेटियां तैयार करके मतदान केंदों तक पहुंचाए। मतदान की गोपनीयता को बनाए रखने के लिए यह व्यवस्था बनाई जाती है कि मतदाता मतपत्र पर मुहर लगाने के बाद स्वयं ही उसे मतपेटी में डाले। मतदाता द्वारा बिना किसी भय अथवा दबाव के अपने मत का प्रयोग किया जाना भी गुप्त मतदान की एक अनिवार्य शर्त होती है।

> **गुप्त मतपत्र:** गुप्त मतपत्र के सिद्धांत का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि मतदाता बिना किसी भय अथवा दबाव में आए निष्पक्ष रूप से अपनी इच्छानुसार मतदान कर सकें। जब मतदाता को मतपत्र प्रदान किया जाता है तो वह उसे लेकर पर्दे के पीछे जाता है और वहां उस पर अपनी इच्छानुसार मुहर लगाकर स्वयं उसे मतपेटी में डाल देता है।

अधिकारियों की नियुक्ति : चुनाव आयोग चुनाव प्रक्रिया में सहायता के लिए हमारों अधिकारियों की नियुक्ति करता है। ये अधिकारी आमतौर पर सरकारी कर्मचारी होते हैं, इनमें जिलाधीशों, उप–जिलाधीशों से लेकर पुलिस अधिकारी, स्कूलों के शिक्षक, क्लर्क, टाईपिस्ट, ड्राइवर एवं चपरासी तक शामिल होते हैं जिन्हें विभिन्न प्रकार के कार्यों में नियुक्त किया जाता है।

जबकि चुनावों के दौरान कुछ मुख्य अधिकारी भी होते हैं। कुछ मुख्य अधिकारियों का निम्नवत परिचय दिया जा रहा है:

(क) चुनाव अधिकारी: आमतौर पर वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों को ही चुनाव अधिकारी के रूप में नियुक्त किया जाता है। वह जिलाधिकारी अथवा उपजिलाधिकारी के श्रेणी का प्रशासनिक अधिकारी होता है। इसे चुनाव अधिकारी इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह उस क्षेत्र से चुने जाने वाले प्रतिनिधि के नाम की घोषणा करता है और इसके साथ–साथ वह अपने निर्वाचन क्षेत्र में सुचारू ढंग से चुनावों को संपन्न कराता है।

(ख) पीठासीन अधिकारी: प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र को बहुत सारे उपसंभागों में बांट दिया जाता है, जहां पर लगभग 800 से 1,000 तक मतदाता होते हैं। इन प्रत्येक उपसंभागों के लिए मतदान केन्द्र स्थापित किए जाते हैं जो पीठासीन अधिकारी की देखरेख में होते हैं। वह आमतौर पर मध्य श्रेणी का अधिकारी अथवा वरिष्ठ अध्यापक होता है।

पीठासीन अधिकारी अपने मतदान केंद्र की संपूर्ण मतदान प्रक्रिया का निरीक्षण करता है और साथ ही यह व्यवस्था भी सुनिश्चित करता है कि सभी मतदाता अपनी इच्छानुसार स्वतंत्रतापूर्णक अपने मतों का प्रयोग कर सकेंगे।

(ग) मतदान अधिकारी: मुख्य मतदान अधिकारी की सहायता के लिए चार सहायक मतदान अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं, इनकी बहुत निर्णायक भूमिका होती है, क्योंकि वास्तव में यही लोग चुनाव का संचालन करते हैं। ये ही मतदाता सूची में से मतदाता के नाम की जांच करते हैं, उसे मतपत्र देते हैं तथा उसकी उंगली पर अमिट स्याही लगाते हैं और साथ ही इस बात की व्यवस्था करतें हैं कि मतदाता गुप्त रूप से वोट डाले।

> **अमिट स्याही:** इसे आसानी से नहीं हटाया जा सकता। यह मतदाता की उंगली पर लगाई जाती है ताकि मतदाता दुबारा अथवा किसी और के नाम से वोट न डाल सके।

मतगणना: मतदान के उपरोक्त मुहर लगे मतपत्रों से भरी मतपेटियों को प्रत्याशियों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति में सील कर दिया जाता है। ये प्रतिनिधि मतदान के शुरू से अंतक मतदान केंद्र पर उपस्थित रहते हैं ताकि कोई भी मतदाता दुबारा, धोखे से अथवा दूसरे के नाम से वोट न डाल सके और हर मतदाता अपनी इच्छानुसार स्वतंत्रतापूर्वक अपना वोट डाल सके। उसके बाद उन मतपेटियों को चौकस सुरक्षा व्यवस्था के साथ मतगणना केन्द्रों तक पहुंचा दिया जाता है । मतगणना के लिए सुनिश्चित तिथि को प्रत्याशी तथा उनके प्रतिनिधि मतगणना केन्द्रों पर उपस्थित होते हैं तथा उनकी उपस्थिति में मतपेटियां खोली जाती हैं एवं चुनाव अधिकारी की उपस्थिति में मतदान अधिकारियों द्वारा मतों की गिन्ती की जाती है। बहुमत प्राप्त प्रत्याशी को चुनाव अधिकारी विजयी घोषित करता है। साथ ही वह उसे एक प्रमाण-पत्र भी जारी करता है जिसे शपथ ग्रहण के समय प्रस्तुत करना पड़ता है।

17.9 चुनावों के प्रकार

चुनावों के कई प्रकार होते हैं ।

1. सामान्य चुनाव : विधान पालिका (लोकसभा तथा विधान सभा) के नए सदनों के गठन हेतु सामान्य चुनाव कराए जाते हैं। सामान्य रूप से ये चुनाव सदन द्वारा अपने पांच वर्ष का कार्यकाल पूरा कर चुकने के बाद कराए जाते हैं।

2. मध्यावधि चुनाव : यदि पांच वर्ष पूरे करने से पहले ही विधान पालिका (लोक सभा एवं विधान सभा) भंग हो जाती है और पुन: नयी विधान पालिका के गठन के लिए चुनाव कराए जाते हैं तो उसे मध्यावधि चुनाव कहते हैं। हालांकि चुनाव संबंधी कानून में इस प्रक्रिया का कहीं भी कोई जिक्र नहीं है किंतु आमतौर पर इसका प्रयोग किया जाता है।

3. उपचुनाव : यदि कोई सदस्य अपने पद से स्तीफा दे देता है अथवा उसका देहांत हो जाता है और उसकी खाली सीट पर चुनाव कराए जाते हैं तो उस चुनाव को उपचुनाव कहते हैं। उपचुनाव के द्वारा चुने गए प्रतिनिधि सदन की अवधि तक ही सदस्य बने रहते हैं, न कि पांच वर्षों तक।

4. चुनावों का गणक प्रत्यादेशन : यदि कोई प्रत्याशी नामांकन पत्र-भर चुका हो किंतु चुनाव शुरू होने से पहले ही उसकी मृत्यु हो जाए तो चुनाव आयोग उस निर्वाचन क्षेत्र की संपूर्ण चुनाव प्रक्रिया को बंद करने का आदेश जारी कर देता है। यह चुनावों का गणक प्रत्यादेशन कहलाता है।

इस स्थिति में उस निर्वाचन क्षेत्र में एक परवर्ती तिथि पर सदस्यों के नामांकन की नई प्रक्रिया शुरू की जाती है।

पाठगत प्रश्न 17.4

1. स्वतंत्रता के बाद भारत में पहली बार चुनाव सन्..... में हुए थे। (क) 1950 (ख) 1952 (ग) 1954
2. भारत में 1996 तक ..... सामान्य चुनाव संपन्न हो चुके हैं। (क) छह (ख) नौ (ग) ग्यारह
3. भारत में निम्नलिखित में से किसके बाद चुनाव प्रक्रिया शुरू मानी जाती है? (क) नामांकनों के बाद (ख) अधिसूचनाधिकारी के बाद (ग) चुनाव प्रचार से (घ)मतदान केंद्र स्थापित होने के बाद।
4. निम्नलिखित में से नामांकन पत्रों की जांच कौन करता है?
   (क) चुनाव अधिकारी (ख) मुख्य मतदान अधिकारी (ग) मतदान अधिकारी (घ) चुनाव आयुक्त
5. निम्नलिखित से आप क्या समझते हैं?
   (क) चुनावों का गणक प्रत्यादेशन (ख) उपचुनाव

17.9 चुनाव आयोग

भारत के संविधान निर्माताओं ने देश में चुनाव कराए जाने के लिए एक स्वतंत्र संवैधानिक प्राधिकरण की व्यवस्था की है जिसे चुनाव आयोग के नाम से जाना जाता है। संविधान के अनुच्छेद 324 में संसद, विधान मंडलों, राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के कार्यालयों में होने वाले चुनावों को नियंत्रित करने, उनका निरीक्षण करने तथा उन्हें निर्देश जारी

करने के लिए एक एक सदस्यीय आयोग का प्रावधान किया गया है। इस अनुच्छेद में आगे यह भी प्रावधान है कि चुनाव आयोग में एक मुख्य चुनाव आयुक्त होगा तथा कई दूसरे सहायक चुनाव आयुक्त भी होंगे जिन्हें राष्ट्रपति नियुक्त करेगा।

अक्तूबर 1993 में दो चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति की गई थी तथा दोनों को चुनाव आयुक्त का पद प्रदान किया गया था तथा आयोग से यह उम्मीद की गई थी कि वह सर्वसम्मति से अपना बहुमत के आधार पर निर्णय लेगा। यह दूसरी बार था जब तीन सदस्यीय चुनाव आयोग का गठन किया गया था। अन्यथा इसकी अध्यक्षता भारत के मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा ही की जाती। तत्कालीन मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी.एन.शेषन ने अन्य दो चुनाव आयुक्तों को समान अधिकार देने से इंकार कर दिया। और फिर वे दोनों चुनाव आयुक्त तब तक बिना किसी काम के बैठे रहे जब तक कि 1995 में सर्वोच्च न्यायालय ने यह आदेश जारी नहीं कर दिया कि तीनों चुनाव आयुक्त समान हैं और उन्हें एक टीम के रूप में कार्य करना होगा।

17.9.1 नियुक्ति

मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति 6 वर्ष के लिए राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उनका कार्यकाल तथा सेवा शर्तें संसद द्वारा निर्धारित की जाती हैं। उनके कार्यकाल के दौरान उन्हें अपने पद से हटाया नहीं जा सकता।

17.9.2 पदच्युति

हालांकि चुनाव आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है किंतु वह उसे अपने मन से अपदस्थ नहीं कर सकता। वह चाहे तो इस्तीफा दे सकता है अथवा उसकी अयोग्यता, अक्षमता अथवा अभद्र व्यवहारों को सिद्ध करते हुए संसद के दो तिहाई सदस्यों द्वारा अपदस्थता प्रस्ताव पारित कर राष्ट्रपति को सौंप दिया जाता है तो राष्ट्रपति उसे हटा सकता है। अपदस्थता की यह प्रक्रिया सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाये जाने से संबंधित प्रक्रिया की तरह ही एक जटिल प्रक्रिया है। अत: कार्यपालिका तथा तत्कालीन सत्ताहीन पार्टी के दबावों से मुक्त रहती है।

अभी तक किसी भी चुनाव आयुक्त को इस प्रकार अपदस्थ नहीं किया गया है।

कार्य एवं शक्तियां: चुनाव आयोग को भारत में होने वाले चुनावों से संबंधित निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य एवं शक्तियां प्रदान की गई हैं:

(क) लोक सभा, विधान सभा, राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के होने वाले चुनावों के लिए मतदाता सूचियां तैयार करना, उनमें फेरबदल करना, संशोधन करना तथा नए नामों को सम्मिलित करना।

(ख) संपूर्ण भारत में होने वाले चुनावों की प्रक्रिया तथा उससे संबंधित मशीनरी का निरीक्षण करना।

(ग) चुनावों की घोषणा तथा नामांकन पत्रों के भरे जाने से संबंधित कार्यक्रम निर्धारित करना।

(घ) चुनावों से पूर्व विभिन्न राज्यों में चुनाव अधिकारियों तथा निर्वाचन कार्यालयों की नियुक्ति करना।

(च) चुनावों से संबंधित विवादों को निबटाने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति करना।

(छ) भारत के राष्ट्रपति अथवा राज्यों के राज्यपालों से वहां के कर्मचारियों को चुनाव प्रक्रिया में सहायतार्थ नियुक्त किए जाने के लिए प्रार्थना करना।

(ज) मतदान केन्द्रों पर सामूहिक रूप से मतपेटियों के लूटे जाने अथवा दूसरी गड़बड़ियों के होने पर वहां पर चुनाव रद्द करने की घोषणा करना।

(झ) राजनीतिक पार्टियों को चुनाव चिह्न वितरित करने अथवा उससे संबंधित विवादों को निबटाने के लिए अदालत का कार्य करना।

(ञ) किसी विशेष स्थिति में राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल को चुनाव के लिए प्रत्याशियों की योग्यता से संबंधित सलाह देना।

इसके अलावा चुनाव आयोग चुनावों के दौरान राजनीतिक पार्टियों के लिए एक आचार संहिता भी जारी कर सकता है।

पाठगत प्रश्न 17.5

निम्नलिखित में से सही विकल्प चुनकर वाक्यों को पूरा कीजिए –

1. भारत में चुनाव आयोग का गठन..... द्वारा किया जाता है।
   (क) संविधान (ख) सर्वोच्च न्यायालय (ग) संसद
2. भारत के मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति ..... करता है।
   (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधान मंत्री (ग) मुख्य चुनाव आयुक्त
3. मुख्य चुनाव आयुक्त अथवा दूसरे चुनाव आयुक्त ..... वर्ष अथवा 65 वर्ष की उम्र तक के लिए नियुक्त किए जाते हैं। (क) 5 (ख) 6 (ग) 7
4. 1993 में ..... सदस्यीय चुनाव आयोग का गठन हुआ था। (क) दो (ख) एक (ग) तीन

आपने क्या सीखा

इस पाठ में आपने पढ़ा कि वयस्क मताधिकार प्रणाली प्रातिनिधिक जनतंत्र पर आधारित होती है। इसका अर्थ होता है कि देश का हर नागरिक जो कि एक निर्धारित आयु (18 वर्ष) पूरी कर चुका होता है, चाहे वह पुरुष हो या महिला, बिना किसी जाति, वर्ग, धर्म, समुदाय अथवा भाषा के भेद के वोट डालने का अधिकारी होता है। चुनावों के द्वारा प्रत्येक नागरिक को अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता है। नागरिकों के स्वतंत्र तथा समान वोटों के द्वारा एक संप्रभु जनतंत्र की स्थापना होती है।

आपने यह भी पढ़ा कि क्षेत्रीय तथा व्यावसायिक दो प्रकार के प्रतिनिधित्व होते हैं। क्षेत्रीय प्रक्रिया के तहत देश को विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है तथा वहां के मतदाता अपना प्रतिनिधि चुनते हैं। क्षेत्रीय चुनाव प्रक्रिया भारत में बहुत प्रचलित है और यहां पर लोक सभा तथा विधान सभाओं के चुनाव इसी प्रक्रिया के तहत कराए जाते हैं। व्यावसायिक चुनाव प्रक्रिया में विभिन्न व्यवसायों से संबंधित व्यक्ति व्यावसायिक आधार पर अपना प्रतिनिधि चुनते हैं।

प्राय: एकल प्रतिनिधित्व वाले निर्वाचन क्षेत्रों में सामान्य बहुमत द्वारा प्रत्याशियों को विजयी घोषित किया जाता है, इसके तहत सर्वाधिक मत प्राप्त प्रत्याशी को विजयी घोषित किया गया है। किंतु इससे इस बात की पुष्टि नहीं होती कि इसके द्वारा सभी वर्गों से प्रतिनिधि चुन लिए गए हैं। इसके लिए बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यकों को उनके वोटों के प्रतिशत के आधार पर विभाजित कर आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का उपयोग किया जाता है। अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व नामक एक दूसरी प्रणाली भी है जिसका अर्थ होता है अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों का चुना जाना न कि उनके वोटों के प्रतिशत के अनुपात में प्रतिनिधियों का चुना जाना।

भारत में चुनाव की प्रक्रिया राष्ट्रपति द्वारा नए लोक सभा के गठन हेतु जनता को सूचना जारी करने से शुरू होता है। इसके बाद चुनाव आयोग चुनाव कार्यक्रमों की घोषणा करता है। प्रत्येक पार्टी अपने प्रत्याशियों का चुनाव करती है तथा ये प्रत्याशी (राजनीतिक दलों से संबंधित तथा निर्दलीय दोनों) अपना नामांकन पत्र भरने के बाद इस चुनाव में हिस्सा लेते हैं। चुनावों के दौरान राजनीतिक पार्टियां अपने घोषणापत्रों, आगामी नीतियों तथा कार्यक्रमों की घोषणा करती हैं। चुनाव प्रचारों के लिए विभिन्न जनसभाओं, घर-घर जाकर जनसंपर्कों तथा रेडियो-टीवी की सहायता ली जाती है। चुनाव वाले दिन चुनाव आयोग लोगों को स्वतंत्रतापूर्वक एवं बिना किसी भय के वोट डालने की व्यवस्था सुनिश्चित करता है। सबसे अधिक वोट पाने वाले सदस्य को विजयी घोषित किया जाता है।

संविधान में चुनाव संपन्न कराए जाने के लिए एक निष्पक्ष चुनाव आयोग की व्यवस्था है। इसमें एक मुख्य चुनाव आयुक्त तथा एक अथवा एक से अधिक चुनाव आयुक्त होते हैं।

पाठांत प्रश्न

1. वयस्क मताधिकार का अर्थ तथा उसके लक्षणों का विश्लेषण कीजिए।

.....

.....

2. जनतंत्र में चुनावों का क्या महत्व है?

.....

.....

3. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए आनुपातिक प्रतिनिधित्व दो मुख्य की प्रक्रियाओं का विश्लेषण कीजिए।

.....

.....

4. भारत में चुनाव आयोग के क्या कार्य होते हैं? चुनाव आयुक्तों को किस तरह हटाया जा सकता है?

.....

.....

5. भारत में चुनाव प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

17.1 1. वोट डालने का अधिकार 2. यह सुनिश्चित करना कि उनके प्रतिनिधि संतोषजनक कार्य किया है अथवा नहीं।

17.2 1. क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के तहत पूरे क्षेत्र को विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है तथा उस निर्वाचन क्षेत्र के मतदाता सामूहिक रूप से अपना प्रतिनिधि चुनते हैं।

2. इसमें मतदाताओं को उनके व्यवसायों के आधार पर विभाजित किया जाता है जो व्यवसाय के आधार पर अपना प्रतिनिधि चुनते हैं।

3. एकल 4. सामान्य बहुमत प्रणाली 5. सामान्य टिकट प्रणाली 6. क्षेत्रीय

17.3 1. एकल हस्तांतरणीय मत प्रणाली 2. दो विधियां – एकल हस्तांतरणीय मत प्रणाली तथा सूची प्रणाली

3. प्लंपिंग 4. घ

17.4 1. 1952 2. ग्यारह 3. ख 4. क 5. देखें उपखंड 17.9

17.5 1. संविधान 2. राष्ट्रपति 3. पांच 4. तीन

पाठांत प्रश्नों के संकेत:

1. देखें उपखंड 17.4
2. देखें उपखंड 17.3
3. देखें उपखंड 17.6
4. देखें उपखंड 17.8
5. देखें उपखंड 17.8

18

राजनीतिक दल और दबाव समूह

18.1 भूमिका

पिछले पाठ में आपने चुनाव प्रक्रिया तथा प्रतिनिधित्व की प्रणालियों के बारे में पढ़ा। राजनीतिक प्रणाली में राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों का बहुत बड़ा योगदान होता है। जनतांत्रिक प्रणाली में इनका विशेष महत्व होता है, क्योंकि इन्हीं के कारण जनता देश की राजनीतिक प्रक्रिया में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा पाती है।

इस पाठ में हम राजनीतिक दलों की प्रकृति तथा उनके कार्यों की व्याख्या और विश्लेषण करेंगे। इसके साथ ही दबाव समूह का भी अर्थ समझ सकेंगे और जान सकेंगे कि राजनीतिक दल तथा दबाव समूहों में क्या अंतर होता है और देश की राजनीतिक प्रक्रिया में वे क्या भूमिका निभाते हैं।

18.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- जनतंत्र में राजनीतिक दलों के अर्थ की व्याख्या कर सकेंगे;
- राजनीतिक दलों का महत्व बता सकेंगे;
- राजनीतिक दलों के स्वरूप का पुनः स्मरण कर सकेंगे;
- राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय दलों के बीच भेद कर सकेंगे;
- विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यक्रम तथा नीतियों की तुलना कर सकेंगे;
- भारत में दबाव समूहों के महत्व की प्रशंसा कर सकेंगे और;
- राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों के बीच अंतर स्पष्ट कर सकेंगे।

18.3 राजनीतिक दल का अर्थ

देश की राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित किसी निश्चित सामान्य सिद्धांत तथा उद्देश्य में विश्वास रखने वाले कुछ व्यक्तियों द्वारा बनाए गए संगठन को राजनीतिक दल कहते हैं। राजनीतिक दलों का मुख्य उद्देश्य होता है राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना। जो राजनीतिक दल सरकार चलाता है उसे सत्ता पक्ष कहते हैं तथा जो दल विपक्ष में बैठते हैं, सत्ता पक्ष की आलोचना करते हैं तथा सरकार में हिस्सा नहीं लेते उन्हें विपक्षी दल कहते हैं। किसी भी संगठन को निम्नलिखित लक्षणों के आधार पर राजनीतिक दल का दर्जा दिया जाता है।

(क) यह जनता का संगठन हो।

(ख) इसकी नीतियां एवं कार्यक्रम स्पष्टत: घोषित किए जा चुके हों।

(ग) इसके सदस्य इसकी नीतियों, विचारधारा तथा कार्यक्रमों से सहमत हों।

(घ) जनतांत्रिक ढंग से चुनावों द्वारा सत्ता प्राप्त करना इसका लक्ष्य हो ।

(ङ) जिसमें स्पष्ट तथा स्वीकार्य नेतृत्व क्षमता हो तथा

(ज) जिसके सदस्य पार्टी के नियमों द्वारा नियंत्रित एवं संचालित होते हों।

देश की राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित किसी निश्चित सामान्य सिद्धांत तथा उद्देश्यों में विश्वास रखने वाले कुछ व्यक्तियों द्वारा बनाए गए संगठन को राजनीतिक दल कहते हैं। इसका उद्धेश्य सत्ता प्राप्त करना होता है।

18.4 दलीय प्रणाली के प्रकार

मुख्यत: तीन प्रकार की दलीय प्रणालियां होती हैं :

18.4.1 एक दलीय प्रणाली

जहां सिर्फ एक ही दल होता है उसे एक दलीय प्रणाली कहते हैं। वहां दूसरे दलों को या तो अवैध घोषित कर दिया जाता है अथवा उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। कम्युनिस्ट देशों में एक दलीय प्रणाली है। सोवियत संघ तथा युगोस्लाविया जब कम्युनिस्ट देश हुआ करते थे तब वहां एकदलीय प्रणाली हुआ करती थी। चीन में एकदलीय प्रणाली है। पहले जर्मनी में भी सिर्फ नाजीपार्टी को ही सरकार चलाने की मान्यता प्राप्त थी, यहां तक कि इटली में भी 1922 से 43 तक केवल फासीपार्टी ही अस्तित्व में थी।

18.4.2 द्विदलीय प्रणाली

द्विदलीय प्रणाली में दो दल प्रमुख होते हैं तथा इनके अलावा बाकी पार्टियों का कोई अस्तित्व नहीं होता। यदि उनका अस्तित्व होता भी है तो उनकी भूमिका नगण्य होती है। इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड में द्विदलीय प्रणाली है। वहां पर राजनीतिक सत्ता बारी-बारी से दो ही राजनीतिक दलों के बीच घूमती रहती है। ब्रिटेन में दो मुख्य पार्टियां हैं- कंजरवेटिव पार्टी तथा लेबर पार्टी। कंजरवेटिव पार्टी को प्रतिक्रियावादी दल के रूप में भी जाना जाता है। हालांकि वहां पर और भी कई छोटे-छोटे दल है, किंतु सामान्यत: वे सरकार में हिस्सेदारी नहीं निभा पाते। अमेरिका में रिपब्लिकन पार्टी तथा डेमोक्रेटिक पार्टी दो मुख्य पार्टियां हैं।

18.4.3 बहुदलीय प्रणाली

इस प्रणाली में दो से अधिक दल महत्वपूर्ण होते हैं। बहुदलीय प्रणाली में यदि कोई एक दल सरकार नहीं बना पता तो कई सारे दल मिलकर संयुक्त सरकार का गठन करते हैं। इस प्रणाली में कई सारे दलों को अपनी सरकार बनाने का अवसर प्राप्त हो जाता है। किंतु इससे अस्थिरता का भी संकट लगातार बना रहता है। भारत, जापान, स्विलरलैंड, फ्रांस, जर्मनी तथा नीदरलैंड में बहुदलीय प्रणाली है।

इस प्रकार कुल तीन प्रकार की दलीय प्रणालियां हैं - एक दलीय में एक राजनीतिक दल प्रमुख होता है, द्विदलीय में दो दल तथा बहुदलीय में बहुत सारे दलों को प्रमुखता प्राप्त होती है।

पाठगत प्रश्न 18.1

कोष्ठक में दिए विकल्पों में से सही उत्तर पर सही का निशान (√) लगाइए।

(क) कम्युनिस्ट देशों में ..... दलीय प्रणाली है। (एक, द्वि, बहु)

(ख) जर्मनी में ..... दलीय प्रणाली है। (एक, द्वि, बहु)

(ग) ब्रिटेन में ..... दो पार्टियां हैं । (कंजरवेटिव तथा लेबर, डेमोक्रेटिक तथा लिबरल)

18.5 भारत में दलीय प्रणाली का मूल्यांकन

भारत में दलीय प्रणाली की शुरूआत 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से मानी जा सकती है। कांग्रेस की स्थापना से लेकर 1947 तक इसका उद्देश्य अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन से मुक्ति दिलाना था। किंतु स्वंतत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उेश्य बदलकर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना हो गया। वास्तव में यहाँ बहुदलीय प्रणाली हैं किंतु उसमें कांग्रेस सबसे बड़ा और प्रभुत्वशाली राजनीतिक दल है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में दलीय व्यवस्था को कई स्तरों से होकर गुजरना पड़ा। इसमें से पहला चरण 1952 से लेकर 1967 का एक लंबा कालखण्ड है जिसमें केवल एक ही दल का प्रभुत्व था। दूसरा चरण है 1967 से 1975 तक का जिसमें एक प्रकार से राजनीतिक अस्थिरता थी तथा कई दलों का उदय हुआ। 1875 से 1977 तक आपात काल का काल था । 1977–1980 तक जनता पार्टी का काल है। पांचवां 1980–1989 तक का काल कांग्रेस का पुनरुत्थान का काल है तथा छठवां 1989–97 का समय संयुक्त राजनीति का काल है।

प्रथम चरण (1952–67) को एकदलीय प्रभुत्व का काल कहा जाता है, क्योंकि इस काल में केरल को छोड़कर 1956–59 तक केंद्र तथा राज्यों में कांग्रेस की ही सरकार थी। 1967–75 के कालखण्ड में बहुदलीय प्रणाली का उदय होना शुरू हो गया था। 1967 में बिहार, उ.प्र., पंजाब, हरियाणा, उड़ीसा तथा तमिलनाडु के विधान सभा चुनावों में हार जाने के बाद कांग्रेस के साथ-साथ एकदलीय प्रणाली का भी अस्तित्व समाप्त हो गया था। यह पहली बार ऐसा हुआ था जब इन राज्यों में गैरकांग्रेसी दलों ने सरकारें गठित की थी: यहां तक कि कांग्रेस में भी उस समय विभाजन होकर कांग्रेस (ओ) तथा कांग्रेस (एन) का गठन हो चुका था। हालांकि 1971 में कांग्रेस ने केंद्र में मध्यावधि चुनाव जीतने के बाद एक बार फिर से अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था । आपात काल के समय (1975–77) में केवल कांग्रेस ही एकमात्र पार्टी रह गई थी। बाकी दलों का अस्तित्व समाप्त कर दिया गया था। जनता के जनतांत्रिक अधिकार प्रतिबंधित कर दिए गए थे। इस कालखण्ड को भारतीय जनतंत्र के निरंकुशतावादी कालखंड के नाम से जाना जाता है। तब सीपीआई ने कांग्रेस तथा इंदिरा गांधी का समर्थन किया था।

आपात काल की समाप्ति के बाद, 1977 के पश्चात, कांग्रेस का प्रभुत्व समाप्त हो गया था। 1977 मे आम लोक सभा चुनावों में जनता पार्टी की विजय हुई थी। जनता पार्टी का उदय मोरारजी देसाई की कांग्रेस (ओ), चौधरी चरण सिंह के लोकदल, जगजीवन राम तथा हेमवंती नंदन बहुगुणा कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी तथा लालकृष्ण आडवानी के जनसंघ के आपसी विलय के बाद हुआ था। किंतु कुछ ही दिनों बाद जनता पार्टी में दरार पड़ी और वह टूट गई, जिसका परिणाम हुआ कि 1979 में केंद्र में जनतापार्टी की सरकार गिर गई।

1980–89 में कांग्रेस का पुन: प्रभुत्व स्थापित हो गया। 1980 के बाद कांग्रेस का नाम बदलकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आई) कर दिया गया।

1989–97 का काल एक प्रकार से संयुक्त राजनीति के उदय तथा कांग्रेस पार्टी के पतन का काल है। इस कालखण्ड में अब तक 4 संयुक्त सरकारें बन चुकी हैं – राष्ट्रीय मोर्चा सरकार (1989–1990), चंद्रशेखर सरकार (1990) तथा संयुक्त मोर्चा की दो सरकारें, जोकि 13 दलों के सहयोग से बनी थी – देवगौड़ा सरकार तथा इंद्रकुमार गुजराल सरकार।

भारत में 1989 के बाद की दलीय प्रणाली का मूल्यांकन बहुत महत्वपूर्ण है। कांग्रेस के साम्राज्य की समाप्ति तथा संयुक्त राजनीति के उदय के साथ-साथ बहुत सारे क्षेत्रीय दलों का भी उदय हुआ। केंद्र में 1996 में कांग्रेस के साम्राज्य पतन के बाद भारतीय जनता पार्टी केंद्र में उसके स्थान पर प्रबल रूप में उभर कर आई, जिसे बहुत सारे क्षेत्रीय दलों तथा 15 राजनीतिक दलों ने रोकने का प्रयास किया।

पाठगत प्रश्न 18.3

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) 1952–1967 तक की भारतीय दलीय प्रणाली को जिस नाम से जाना जाता है वह है.....।

(ख) आपात काल (1975–1977) को :..... कालखंण्ड के नाम से जाना जाता है।

(ग) 1989 से अब तक के कालखण्ड को ..... के नाम से जाना जाता है।

18.6 भारत में दलीय प्रणाली

भारतका चुनाव आयोग पार्टियों का स्वरूप निर्धारित करता है। भारत में दो प्रकार की पार्टियां हैं – राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय। 1952 में चुनाव आयोग ने एक नियम बनाया जिसके तहत यह तय किया जाता है कि पार्टी क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय। किसी भी पार्टी को राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा तभी प्राप्त हो सकता है जब उसने पिछले चुनावों में कुल वैध मतों का 4% मत प्राप्त किया हो। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उस पार्टी को कम से कम चार राज्यों में राष्ट्रीय पार्टी के रूप में पहचान प्राप्त हो।

यदि कोई पार्टी 4 अथवा उससे अधिक प्रतिशत वोट किसी राज्य में पाती है तो उसे क्षेत्रीय पार्टी का दर्जा प्राप्त हो सकेगा। 1996 के चुनावों में निम्नलिखित पार्टियों ने भाग लिया था:

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 2. भारतीय जनता पार्टी 3. जनता दल 4. कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (सीपीआई) 5. कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी) 6. बहुजन समाज पार्टी (बीएसपी)

इनके अलावा निम्नलिखित क्षेत्रीय पार्टियों ने भी भाग लिया था:

1. अकाली दल (पंजाब) 2. नेशनल कांफ्रेंस (जम्मू तथा कश्मीर) 3. द्रविड मुनेत्र कषगम (तामिलनाडु) 4. आल इंडिया अन्नाद्रविड मुनेत्र कषगम (तमिलनाडु तथा पांडिचेरी) 5. तेलुगू देशम् पार्टी (आंध्र प्रदेश) 6. शिवसेना (महाराष्ट्र)

इसके अलावा चुनाव आयोग ने केंद्र में कम से कम चार से अधिक सीटों पर अपने उम्मीदवार जिताने वाली पार्टी को ही राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा देने की शर्त निर्धारित की है।

18.6.1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आई)

मूलत: कांग्रेस की स्थापना 1885 में डब्ल्यू.सी. बनर्जी की अध्यक्षता में मुंबई में हुई थी। बाद में इंदिरा गांधी ने 1978 में इसका नाम बदलकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आई) कर दिया, जो बाद में कांग्रेस (आई) के नाम से जानी जाने लगी।

इसके बाद 1984 तक इंदिरा गांधी इसकी अध्यक्ष रहीं। उनकी हत्या के बाद उनके पुत्र राजीव गांधी अध्यक्ष हुए तथा राजीव गांधी की हत्या के बाद पी.वी. नरसिम्हाराव कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। नरसिम्हाराव के हटने बाद 1996 की सीताराम केसरी और अब सोनिया गाँधी कांग्रेस के अध्यक्ष हैं।

1990 तक जिन सामाजिक, जातीय अथवा वर्गीय संगठनों का समर्थन प्राप्त था अब कांग्रेस (आई) उन संगठनों का समर्थन खो चुकी है। अब कांग्रेस की हालत बहुत खराब है।

कांग्रेस (आई) के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

1. देश की एकता तथा अखंडता को बनाए रखना।

2. अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा।

3. अन्न की पैदावार बढ़ाना।

4. गरीबी हटाना तथा कृषि एवं उद्योग–धंधों को बढ़ावा देना।

5. बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना तथा ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों की स्थापना करना।

6. अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लोगों को सामाजिक, शैक्षणिक तथा धार्मिक सुविधाएं उपलब्ध कराना।

पाठगत प्रश्न 18.4

कोष्ठक में दिए विकल्पों में से सही शब्द चुनकर प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

(क) कांग्रेस (आई) की स्थापना ..... में हुई थी। (1978, 1985, 1984)

(ख) कांग्रेस (आई) ..... लोगों का समर्थन प्राप्त करना चाहती है। (केवल धनी वर्ग, सभी वर्गों)

18.6.2 भारतीय जनता पार्टी (भाजपा)

भारतीय जनता पार्टी की स्थापना 1980 में गांधीवादी समाजवाद की स्थापनाओं के विरोध में हुई थी। गांधीवादी समाजवाद महात्मा गांधी, जयप्रकाश नारायण तथा दीनदयाल उपाध्याय की विचारधाराओं पर आधारित है। इसका उद्देश्य है लघु तथा बड़े उद्योग-धंधों को बढ़ावा देना। यह व्यक्ति की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रतिबद्ध है। किंतु भाजपा ने 1985 के अपने पूना अधिवेशन में गांधीवादी समाजवाद के स्थान पर अपनी पार्टी का उद्देश्य 'हिन्दुत्व' को बनाया तथा यह घोषणा की कि हिंदुत्व के द्वारा ही एक धर्मनिरपेक्ष भारत का निर्माण संभव है।

इसके पीछे यह भी तर्क दिया गया कि अब तक सरकारें अपनी तुष्टीकरण की नीति के चलते हिंदुओं के हितों को नजरअंदाज करती रही हैं। भाजपा ने अयोध्या में राम मंदिर की स्थापना के लिए आंदोलन चलाया था।

इस आंदोलन के चलते भाजपा को बहुत लाभ मिला और यही कारण है कि जिस भाजपा को 1984 में हुए आम लोक सभा चुनावों में केवल दो सीटें मिली थीं उसे 1989 में 88 सीटें प्राप्त हुईं। 1991 में इसे 119 तथा 1996 में 161 सीटें प्राप्त हुईं।

जब 1996 के लोक सभा चुनावों में भाजपा सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभर कर आयी थी तब राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा ने उसके नेता अटल बिहारी बाजपेयी को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित किया था। किंतु संसद में अपना बहुमत सिद्ध न कर पाने के कारण उन्होंने 13 दिनों में ही अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था और भाजपा की सरकार गिर गई थी। 1998 के लोकसभा चुनाव में पुन: भाजपा सब से बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा तथा उसके अनेक सहयोगी दलों ने मिलकर केन्द्र सरकार का गठन किया।

भाजपा की नीतियां तथा कार्यक्रम निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित हैं :

1. भाषा, तथा जातिगत भिन्नताओं के बावजूद भारत एक राष्ट्र है और राष्ट्र से बड़ा कुछ भी नहीं होता ।
2. प्रत्येक भारतीय का लक्ष्य राष्ट्रीय अखंडता को बनाए रखना होना चाहिए तथा यह तभी संभव है जब कि हर नागरिक भारतीय संस्कृति का अनुसरण करें।
3. जनतंत्र के प्रति प्रतिबद्धता।
4. सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता: सभी धर्मों का समान आदर हो तथा किसी भी धर्म अथवा समुदाय के प्रति तुष्टीकरण की नीति न अपनाई जाए।
5. मूल्यों पर आधारित राजनीति।
6. विदेश नीति के मामलों में पार्टी एक उचित गुटनिरपेक्षता में विश्वास करती है तथा वह चीन, पाकिस्तान समेत अपने सभी पड़ोसियों से अच्छे संबंध बनाने का प्रयास करना चाहती है।

भारतीय जनता पार्टी एक अखंड मानवतावाद की स्थापना करना चाहती है। यह मूल्यों पर आधारित राजनीति की पक्षधर है।

18.6.3 कम्युनिस्ट पार्टियां

भारत में मुख्यतया दो प्रकार की कम्युनिस्ट पार्टियां हैं– कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (सीपीआई) तथा कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी)। बाद में सोशलिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (एसपीआई) का उदय हुआ। कम्युनिस्ट

पार्टियां मार्क्सवादी सिद्धांतों में विश्वास रखती हैं। कांग्रेस के बाद सीपीआई सबसे पुरानी पार्टी है, जिसका गठन 17 अक्तूबर 1920 में ताशकंद में हुआ था किंतु भारत में इसका गठन 1925 में हुआ था। सीपीआई ने किसानों तथा समाज के दूसरे अल्पसंख्यक तथा शोषित वर्ग के लोगों को संगठित कर अपने सिद्धांतों को प्रचार करना शुरू किया था। इसने स्वतंत्रता संग्राम में भी भाग लिया था, किंतु यह 1947 में प्राप्त आजादी को सही मायने में आजादी नहीं मानती।

नेहरू के समय में कम्युनिस्ट पार्टियां ही मुख्य विपक्षी दल के रूप में संसद में बैठती थीं। कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया ही दुनिया की एक मात्र पार्टी थी, जिसने संसदीय जनतंत्र के माध्यम से केरल विधान सभा में बहुमत प्राप्त कर अपनी सरकार बनाई थी । ..... इसके प्रथम मुख्यमंत्री थे।

पूर्व सोवियत संघ तथा चीन की नीतियों के आधार पर ही भारत में भी नीतियां बनाने को लेकर सीपीआई तथा सीपीआई (एम) में मतभेद है। इनकी कुछ प्रमुख नीतियां हैं – भारत में राज्यों की प्रकृति निर्धारित करना, राष्ट्रीय मध्यवर्ग की भूमिका स्पष्ट करना, जनतांत्रिक मूल्यों में आई गिरावट के लिए कांग्रेस पार्टी की भूमिका का मूल्यांकन करना, भारत की सामाजिक, आर्थिक नीतियों के आधार पर दूसरी पार्टियों की आलोचना करना तथा समाजवाद को लक्ष्य बनाकर गतिविधियां चलाना।

सीपीआई (एम) का मानना है कि भारत में राज्यों का बंटवारा जमींदारों तथा मध्यवर्ग की देन है, जोकि विदेशी प्रभुत्व का समर्थन तथा देश की आम जनता का शोषण करते रहे। इनका विश्वास है कि जब तक देश में जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना नहीं होगी तब तक इनका शोषण समाप्त नहीं हो सकता। इस समय भारत में मध्यवर्गीय लोकतंत्र है।

सीपीआई जनतंत्र में विश्वास नहीं करती। यह राष्ट्रीय लोकतंत्र में विश्वास करती है, जिसमें मध्यवर्ग तथा मजदूर वर्ग दोनों का नेतृत्व हो।

कम्युनिस्ट पार्टियों को मुख्यत: मजदूर वर्ग का ही समर्थन प्राप्त हैं। पश्चिम बंगाल, केरल, त्रिपुरा तथा आंध्र प्रदेश में ये पार्टियां मजबूत हैं। इन पार्टियों के विद्यार्थियों, मजदूरों तथा महिलाओं में भी सहयोगी संगठन है, जिनके माध्यम से ये पार्टियां अपनी गतिविधियां चलाती रहती हैं।

सीपीआई तथा सीपीआई (एम) मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांतों में विश्वास करनेवाली राजनीतिक पार्टियां हैं तथा ये मुख्यत: मजदूर, किसान तथा भारत की गरीब जनता का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करती है। इनका मानना है कि अभी भी देश सही मायने में आजाद नहीं हुआ है। इनका मानना है कि लोगों की दशा में सुधार सिर्फ मार्क्सवादी लेनिनवादी-सिद्धांतों के आधार पर ही संभव है।

पाठगत प्रश्न 18.4

उचित विकल्प चुनकर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

1. सीपीआई(एम) ..... की स्थापना में विश्वास करती है। (जनतंत्र, मध्यवर्ग, राष्ट्रीय लोकतंत्र)
2. सीपीआई की स्थापना ..... में हुई थी। (1925, 1964, 1977)

18.6.4 बहुजन समाज पार्टी (बसपा)

बहुजन समाज पार्टी को 1986 में राष्ट्रीय दल का दर्जा प्राप्त हुआ। इसका गठन 1984 में कांशीराम ने किया था। बसपा का मूल उद्देश्य समाज के निचले वर्ग के लोगों की सरकार का गठन है, जो समाज में बहुसंख्यक रूप में हैं। इसमें समाज के अल्पसंख्यक वर्ग तथा नीची जातियों के लोग आते है। बसपा का मानना हैं कि ब्राह्मण, राजपूत, तथा कायस्थ जैसी ऊंची जातियों के लोग इन जाति के लोगों का सदियों से शोषण करते आ रहे हैं। आगे उनका यह भी मानना है कि इन जातियों का शोषण तभी समाप्त हो पाएगा जब उनकी ही अपनी सरकार का गठन हो सकेगा। बसपा को मुख्यत: उ.प्र. , पंजाब तथा म.प्र. में जनाधार प्राप्त है।

इस पार्टी ने उत्तर प्रदेश में मायावती के मुख्यमंत्रित्व में 1995 तथा 1997 में दो बार सरकारों का गठन किया है।

बसपा बनने से पूर्व इसका अस्तित्व बामसेफ (BAMSEF) तथा डीए4 के रूप में मौजूद था। बामसेफ का अर्थ है बैकवर्ड मुस्लिम एंड सिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन जिसका बाद में नाम बदलकर डीएस4 कर दिया गया था। डीएस4 का अर्थ है – दलित शोषित समाज संघर्ष समिति।

बसपा का मुख्य उद्देश्य है, समाज की नीची जातियों, कुछ मध्यवर्गीय जातियों तथा गैर हिंदू जातियों, जोकि समाज में बहुसंख्यक रूप में हैं, की सरकार गठित करना।

18.6.5 जनता दल

जनता दल की स्थापना 1989 में हुई थी। यह लोकदल, जनता पार्टी, जन मोर्चा तथा राष्ट्रीय शांति मंच के विलय के बाद अस्तित्व में आई थी। राष्ट्रीय मोर्चा में शामिल तेलगू देशम पार्टी, असम गण परिषद तथा डी. एम. के. आदि राजनीतिक पार्टियों में जनता दल प्रमुख पार्टी थी। राष्ट्रीय मोर्चा का उद्देश्य था गैरकांग्रेसी सरकार का गठन। 1990 के लोक सभा चुनावों में राष्ट्रीय मोर्चा ने वी पी सिंह के नेतृत्व में सरकार बनाई थी। इसमें भाजपा तथा वामपंथी पार्टियों ने बाहर से अपना समर्थन दिया था। किंतु राष्ट्रीय मोर्चा के गठन के दो साल बाद ही उसमें शामिल पार्टियों ने अपना समर्थन वापस ले लिया था। भाजपा ने नवम्बर 1990 में अयोध्या मामले में अपना समर्थन वापस ले लिया था तथा मोर्चा के घटक दलों में भी मंडल आयोग की सिफारिशों को लेकर मतभेद हो गया था अत: सरकार गिर गई।

कर्नाटक, बिहार तथा उड़ीसा में जनता दल मजबूत स्थिति में है। 1996 में एक बार पुन: जनता दल एक मजबूत दल के रूप में लोकसभा में उभर कर आया था और एच डी देवगौड़ा के नेतत्व में सरकार बनाई थी। किंतु कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस के लिए जाने के बाद देवगौड़ा सरकार गिर गई थी किंतु इंद्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में पुन: जनता दल ने सरकार गठित कर ली।

जनता दल गांधीवादी दर्शन में विश्वास करता है। जनता दल का दावा है कि वह सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षता तथा आर्थिक और राजनीतिक नीतियों का विकेंद्रीकरण स्थापित कर सकेगा।

18.7 क्षेत्रीय पार्टियां

1996 के आम लोक सभा चुनावों के बाद से केंद्र में सरकार चलाने में क्षेत्रीय पार्टियों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। राष्ट्रीय मोर्चा द्वारा इन क्षेत्रीय पार्टियों के सहयोग से केंद्र में सरकार का गठन करना क्षेत्रीय पार्टियों के महत्व को उजागर करता है।

भारत में कुछ प्रमुख क्षेत्रीय पार्टियों का परिचय निम्नलिखित है:

18.7.1 शिरोमणि अकाली दल

अकाली दल की स्थापना 1921 में पंजाब में हुई थी। इसके गठन के पीछे मुख्य उद्देश्य था गुरूद्वारों को कुछ भ्रष्ट धार्मिक नेताओं के चंगुल से मुक्त करना। जाट तथा सिख किसान समुदाय में इस पार्टी की बहुत मजबूत पकड़ है। पंजाब सूबे की मांग में इस पार्टी ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी आपातकाल के विरोध में भी अकाली दल ने सक्रिय भूमिका निभाई थी। यह राज्यों की स्वायत्तता का समर्थन करती है। अखंड तथा मजबूत भारत बनाने के लिए इसने आनंदपुर साहिब प्रस्ताव का समर्थन किया था। पंजाब में कई बार इस पार्टी की सरकारें गठित हो चुकी हैं तथा 1977 में मोरारजी देसाई सरकार को अपना समर्थन देकर केंद्र में भी अपनी भूमिका निभाई थी।

18.7.2 तेलुगू देशम पार्टी:

तेलुगू देशम पार्टी की स्थापना एन.टी. रामाराव ने 1982 में की थी।एन.टी. रामाराव राजनीति में आने से पूर्व फिल्म अभिनेता थे। इस पार्टी ने पहली बार 1984 के विधान सभा चुनावों में भाग लिया तथा बहुमत प्राप्त कर एन.टी. रामाराव के नेतृत्व में सरकार बनाई। तेलुगू देशम पार्टी आंध्र प्रदेश में पहली ऐसी गैर कांग्रेसी पार्टी थी जिसने प्रदेश से कांग्रेस को जड़ से समाप्त कर दिया। तेलुगू देशम पार्टी की स्थापना से पूर्व कांग्रेस पार्टी ही तेलुगू जनता के अधिकारों को बचाने के लिए संकल्पबद्ध हुआ करती थी।

एन.टी. रामाराव ने तेलुगू देशम पार्टी का नाम बदलकर भारत देशम पार्टी रखा तथा इसे राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा दिलवाने के कोशिश की, किंतु वे इसमें असफल रहे। तेलुगू देशम पार्टी ने गरीबों को सस्ते दर पर चावल तथा साड़ी उपलब्ध कराकर राज्य में अपनी स्थिति और भी मजबूत बना ली।

1995 में रामाराव के दामाद चंद्रबाबू नायडू ने तेलुगू देशम पार्टी को हथिया लिया तथा आंध्र प्रदेश के मुख्य मंत्री बने थे। बाद में तेलुगू देशम पार्टी (नायडू) ने संयुक्त मोर्चा सरकार को समर्थन प्रदान कर केंद्र सरकार में भी अपनी हिस्सेदारी निभाई थी।

पाठगत प्रश्न 18.5

(क) एन.टी. रामाराव भारत देशम पार्टी की स्थापना में ..... रहे। (असफल, सफल)?

(ख) ..... के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा की सरकार को तेलुगू देशम पार्टी ने अपना समर्थन प्रदान किया था। (एन.टी. रामाराव, लक्ष्मी पार्वती, चंद्रबाबू नायडू)

18.7.3 नेशनल कांफ्रेंस

नेशनल कांफ्रेंस की स्थापना 1930 में हुई थी। 1932 में इसका विकास जम्मू तथा कश्मीर कांफ्रेंस नाम से हुआ। 1938 में इसका नाम बदलकर ऑल जम्मू एण्ड कश्मीर नेशनल कांफ्रेंस हो गया। इसका गठन शेख अब्दुल्ला ने किया था। इसने कश्मीर को भारत में मिलाए जाने का समर्थन किया था। नेशनल कांफ्रेंस ने कश्मीर में भूमि सुधार अधिनियम लागू किया। यह क्षेत्रीय स्वयत्तता का समर्थन करती है। राज्य में अधिकांश समय इसी पार्टी की सरकार रही है। शेख अब्दुल्ला की मृत्यु के बाद उनके पुत्र डॉ.फारूक अब्दुल्ला ने नेतृत्व संभाला था तथा मुख्यमंत्री बने थे। राज्य में आतंकवादी गतिविधियों के बढ़ जाने के कारण 1989 से 1995 तक यहां केन्द्र का शासन रहा। डॉ. अबदुल्ला पुन: 1994 में शासन में आ गए। नेशनल कांफ्रेंस ने 1997 में संयुक्त मोर्चा सरकार को समर्थन प्रदान किया था।

18.7.4 असम गण परिषद

असम गण परिषद की स्थापना 1970 के दशक में शुरू हुए आसाम आंदोलन तथा 1980 के दशक में आसाम के छात्रों द्वारा ऑल असम स्टूडेन्टस यूनियन (आसू) का गठन कर चलाये जा रहे आंदोलनों की तह में तलाशी जा सकती है। आसाम के आंदोलनों कहना था कि आसाम में अकूत प्राकृतिक संपदा विद्यमान है किंतु उसे विदेशी व्यापारियों द्वारा शोषण किया जा रहा है। आसू ने इसके खिलाफ मोर्चा गठित किया था।

1985 में होने वाले विधान सभा चुनावों में भाग लेने के लिए आसाम गण संग्राम परिषद की स्थापना की गई। इन चुनावों में इस पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ तथा उसने अपनी सरकार बनाई। इसने वीपी सिंह सरकार का समर्थन कर राष्ट्रीय मोर्चा में अपनी हिस्सेदारी व्यक्त कर केंद्र में अपना अस्तित्व सिद्ध किया था। बाद में एच.डी. देवगोड़ा सरकार का भी समर्थन किया था।

18.7.5 द्रविड मुनेत्र कड्गम – डी.एम.के

द्रविण मुनेत्र कड्गम की स्थापना सी.एन. अन्नादुरै द्वारा 1949 में की गई थी। इस पार्टी की जड़ें बीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल में शुरू हुए द्रविण आंदोलन तथा गैरब्राह्मण आंदोलनों की जड़ में है। इस गैर ब्राह्मणवादी आंदोलन की शुरूआत इ.वी.रामास्वामी नायकर, जिन्हें पेरियार के नाम से जाना जाता है, द्वारा की गई थी। उन्होंने ब्राह्मण बहुल कांग्रेस पार्टी को समाप्त करने के लिए 'जस्टिस पार्टी' की स्थापना की थी। वे स्थानीय निकायों तथा विधान सभाओं से भी ब्राह्मणवादी ताकतों को समाप्त करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने 1925 में 'आत्मसम्मान' आंदोलन चलाया। यह एक प्रकार का सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलन था। द्रविण मुनेत्र कषगम ने 15 अगस्त 1947 को शोक दिवस के रूप में मनाया था।

किंतु कुछ ही दिनों बाद पेरियार तथा अन्नादुरै के बीच मतभेद उत्पन्न हो गए और इसका नतीजा हुआ कि 'द्रविण कषगम' भंग करके 1949 में 'द्रविण मुनेत्र कड्गम' की स्थापना की गई।

इस पार्टी ने तमिलों के अस्तित्व की रक्षा का वचन दोहराया, क्षेत्रीय स्वायत्तता का समर्थन किया तथा हिंदी भाषा को लागू किये जाने का प्रबल विरोध किया। शुरू में इसने तमिल लोगों के लिए अलग राज्य की मांग उठाई थी किंतु बाद में इस मांग को बदलकर तमिल लोगों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने की मांग उठाई। 1969 में अन्नादुरै के निधन के बाद करूणानीधि डी.एम.के के अध्यक्ष नियुक्त हुए। वी.पी. सिंह द्वारा बनाए गए राष्ट्रीय मोर्चे में डी.एम.के भी शामिल था।

पाठगत प्रश्न 18.6

उचित विकल्प चुनकर प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

(क) डी.एम.के की स्थापना ..... ने की थी। (सी.एम. अन्नादुरै, एम.के. करूणानीधि)

(ख) गैर ब्राह्मणवादी आंदोलनों की शुरूआत ..... ने की थी (पेरियार, एम.जी. रामचंद्रन)

18.7.6 ऑल इंडिया द्रविण मुनेत्र कड्गम (एआईडीएमके)

ऑल इंडिया द्रविड मुनेत्र कड्गम का उदय द्रमुक के विरोध में हुआ था। 1969 में अन्नादुरै के देहांत के बाद करूणानीधि तथा एम.जी. रामचंद्रन के बीच मतभेद उत्पन्न हो गए थे, तब एम.जी. रामचंद्रन ने एआईडीएमके की स्थापना की थी। वे तमिल फिल्म के अभिनेता थे। डीएमके तथा एआईडीएमके दोनों ही द्रविण लोगों के हितों की रक्षा, राज्य की स्वायत्ता तथा उनके अस्तित्व की रक्षा के लिए वचनबद्ध हैं। एम.जी. रामचंद्रन की मृत्यु के बाद 1987 में जयललिता एआईडीएमके की नेता बनीं।

18.7.7 शिवसेना

शिवसेना की स्थापना 1969 में महाराष्ट्र में बाल ठाकरे द्वारा की गई थी। इन्होंने महाराष्ट्रियों के हितों की रक्षा के लिए प्रतिबद्धता व्यक्त की। वे शिवाजी के शौर्य में विश्वास करते हैं। इसके साथ ही इन्हें हिंदुत्व में विश्वास है। शुरू में शिवसेना ने मुंबई में दक्षिण भारत से आकर बस रहे शरणार्थियों को हटाए जाने के लिए आंदोलन खड़ा किया था। बाद में यह कारखानों में कम्यूनिस्टों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए संघर्ष शुरू किया। शुरू में शिवसेना ने दबाव समूह की तरह कार्य करना शुरू किया था किंतु बाद में उसने चुनाव भी लड़ा और 1995 में भाजपा के साथ मिलकर मनोहर जोशी के नेतृत्व में अपनी सरकार बनाई।

18.8 दबाव समूह

दबाव समूह स्वयंसेवी संस्थाएं हैं जो समाज के किसी विशेष वर्ग अथवा वर्गों के हितों को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। ये राजनीति दलों की तरह चुनाव नहीं लड़ती। इन्हें इसलिए भी दबाव समूह कहा जाता है क्योंकि ये सरकार पर दबाव डालकर अपनी मांगें मनवाने की कोशिश करती हैं। ये सरकार पर विभिन्न तरीकों से दबाव डालती हैं। कई बार जनतांत्रिक तरीके से अपनी बातें रखती हैं और कई बार धरनों के द्वारा उन्हें मनवाने की कोशिश करती हैं। भारत में बहुत सारे दबाव समूह हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख हैं :

1. किसान संगठन
2. मज़दूर संघ
3. व्यापार मंडल

18.8.1 किसान आन्दोलन

1970 के आखिरी तथा 1980 के शुरू में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में किसानों द्वारा अपने उत्पादनों के सही मूल्य निर्धारण एवं सिंचाई आदि जैसे संसाधनों की बेहतर सुविधाएँ उपलब्ध कराए जाने संबंधी मांगों को लेकर बहुत सारे किसान आंदोलन खड़े हुए। इन किसान आन्दोलनों में महेन्द्र सिंह टिकैत द्वारा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन नामक संगठन बनाकर खड़ा किया गया आन्दोलन महत्वपूर्ण था, जिसको पंजाब तथा कर्नाटक में भूपिन्दर सिंह मान ने आगे बढ़ाया। प्रो. नन्जु गोस्वामी द्वारा कर्नाटक में राज्य रैयत संघ आन्दोलन, महाराष्ट्र में शरद

जोशी द्वारा चलाया गया शेतकरी संगठन आन्दोलन भी कुछ महत्वपूर्ण व शक्तिशाली किसान आन्दोलनों में से थे जोकि भारत के कुछ सशक्त दबाव समूहों में अपना स्थान रखते हैं।

इन आन्दोलनों के कुछ मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं – ये कुछ विकसित क्षेत्रों में शुरू हुए थे। क्षेत्र हरित–क्रांति के द्वारा हमारे देश में कृषि विकास के साक्षी हैं। इन आंदोलनों ने ग्रामीण क्षेत्र के प्रभुत्वशाली वर्ग को अपनी विचारधारा से प्रभावित किया। इन्होंने बाज़ार से सीधे जुड़े किसानों की मांगों को उठाया। उनके उत्पादनों के मूल्य–निर्धारण, बिजली की उपलब्धता बढ़ाने तथा उसकी कीमतें घटाने और सरकारी ऋणों की उपलब्धता बढ़ाने संबंधी मांगों को भी उठाया। इनका आरोप था कि शहरी क्षेत्रों ने ग्रामीण क्षेत्रों का बहुत शोषण किया है। कुछ किसान संगठनों ने ज़मीन हदबंदी कानून को खत्म करने तथा खेतिहर मज़दूरों की न्यूनतम मजदूरी राशि निर्धारित करने के लिए भी मांगें उठाई, ये आंदोलन राजनीतिक नहीं थे और न इन आंदोलन का किसी राजनीतिक दल से ही संबंध था।

1980 के दशक तक आते–आते आंदोलन कमजोर पड़ गए, क्योंकि इन आंदोलनों के नेताओं के राजनीतिक स्वार्थों तथा अहंकारों के टकराव के कारण इन आंदोलनों में बिखराव आ गया। इस प्रकार कोई भी किसान आंदोलन दबाव समूह के रूप में उभर कर सामने न आ सका।

ये किसान आंदोलन खेतिहर आंदोलनों से भिन्न था क्योंकि ये किसान आंदोलन ग्रामीण क्षेत्रों के शक्तिशाली किसानों द्वारा चलाये गए थे जबकि खेतिहर आंदोलन गरीब किसानों द्वारा।

पाठगत प्रश्न 18.9

(क) पंजाब में भारतीय किसान यूनियन का नेतृत्व ..... ने किया था। (महेंद्र सिंह टिकैत, भूपिंदर सिंह मान)

(ख) किसान आंदोलनों की शुरूआत ..... क्षेत्रों में हुई थी (विकसित, पिछड़े)

18.8.2 व्यावसायिक समूह

भारत में व्यवसायिक समूह बहुत प्रभावशाली दशा में हैं। ये समूह सरकार पर व्यापार, वाणिज्य, यातायात, सीमाशुल्क, आयात कर, लाइसेंस तथा निवेश आदि से संबंधी नीतियां निर्धारित करने के लिए दबाव डालते हैं। भारत में मुख्य व्यावसायिक संगठन हैं फेडरेशन ऑफ इंडिया चैम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इंडस्ट्री (फिक्की), एसोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कामर्स (एसो कोम) तथा कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्रीज (सी.आई.आई)।

भारत में प्रारंभिक व्यावसायिक समूहों को चैम्बर्स ऑफ कामर्स के नाम से पहचाना आता है जिसकी स्थापना 1930 के दशक में कलकत्ता, मुंबई तथा मद्रास में हुई थी। किंतु 1980 के दशक में कुछ भारत के व्यवसायियों ने आधुनिक वाणिज्य तथा उद्योगों में प्रवेश किया और उन्होंने इंडियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स को आधुनिक सूचनाएं उपलब्ध कराने में सहायता की। लेकिन वे इतने प्रभावी नहीं हो पाए।

फिक्की भारत का सबसे बड़ा व्यावसायिक समूह है। फिक्की की स्थापना 1927 में हुई थी। इसकी स्थापना के पीछे भारतीय उद्योगों के हितों की रक्षा करना था। इन व्यवसाय समूहों ने संगठित रूप से प्रेस को अपने पक्ष में लेकर अपने अस्तित्व का विकास किया। ये व्यावसायिक समूह अपने हितों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक दलों को चंदा देते हैं तथा बजट पेश होने से पूर्व भरसक यह दबाव डालने का प्रयास करते हैं कि उन्हे राजस्व कर में कुछ छूट मिल जाए। कई बार तो इन व्यावसायिक समूहों का कोई व्यक्ति राज्य सभा का सदस्य मनोनीत कर दिया जाता है। 1990 के दशक में जब से उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई तब से इन व्यावसायिक समूहों का महत्व और बढ़ गया है।

ये व्यवसायिक समूह चंदा देने वाले व्यवसायियों को संगठित कर तथा उनसे संपर्क स्थापित कर सरकार के ऊपर वाणिज्य, यातायात, कर तथा निवेश संबंधी मामलों में दबाव डालने का प्रयास करते हैं।

18.8.3 मजदूर संघ

मजदूर वर्ग द्वारा बनाए गए संगठनों को मजदूर संघ के नाम से जाना जाता है। भारत में मजदूर संघों की स्थापना की जड़ें 1920 में स्थापित ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस में तलाशी जा सकती हैं। लाला लाजपत राय इसके पहले

अध्यक्ष थे। 1935 के बाद इस संगठन का नेतृत्व सीपीआई के हाथों में आ गया। इन वर्षों में लगभग सभी राजनीति दलों ने मज़दूर संघों की स्थापना की। कांग्रेस पार्टी ने 'इंडियन नेशनल ट्रैड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना 1944 में की। सोशलिस्ट पार्टी ने 'हिंद मजदूर सभा'; सीपीआई ने 'सेन्टर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन' तथा भाजपा ने 'हिंद मजदूर परिषद' की स्थापना की।

मजदूर संघों का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इनका संबंध राजनीतिक दलों से होता है। इन्हें राजनीतिक दलों की मजदूर शाखा के रूप में भी जाना जाता है। ये मजदूर संगठन मजदूरों की स्थिति बेहतर बनाने, उनका सामाजिक स्तर बढ़ाने, नौकरियों में संख्या बढ़ाने, चिकित्सा तथा आवास व्यवस्था बढ़ाने, कम्प्यूटरीकरण, किसी मजदूर की मृत्यु हो जाने पर उसके अधिकारों के लिए मांगें करने तथा बोनस के लिए आंदोलन खड़े करने जैसे आंदोलन खड़े करते हैं।

आपने क्या सीखा

इस पाठ में आपने भारत की राजनीतिक पार्टियों तथा दबाव समूहों के बारे में पढ़ा। राजनीतिक दल उन कुछ व्यक्तियों द्वारा बनाए संगठन को कहते हैं जो किसी सामान्य सिद्धांत तथा विचारधारा में विश्वास रखते हैं। राजनीतिक पार्टियों का मुख्य उद्देश्य होता है सत्ता प्राप्त करना। तीन प्रकार की राष्ट्रीय पार्टियां होती हैं – एक दलीय द्विदलीय तथा बहुदलीय। जो पार्टी कुल वैध मतों का चार प्रतिशत मत और केंद्र में चार सीटें जीतती हैं उसे ही राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा दिया जाता है। आपने कांग्रेस पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी), भारतीय जनता पार्टी, जनता दल, बहुजन समाज पार्टी के बारे में पढ़ा तथा कुछ क्षेत्रीय दलों जैसे अकाली दल, नेशनल कांफ्रेस, डीएमके, एआईडीएमके, तेलगू देशम पार्टी, शिवसेना आदि के बारे में पढ़ा। आपने दबाव समूहों के बारे में भी पढ़ा। ये राजनीतिक दलों से अलग होते हैं तथा ये चुनावों में हिस्सा नहीं लेते। ये सरकार पर दबाव डालकर अपनी मांगें मनवाने का प्रयास करते हैं। ये अलोकतांत्रिक तथा लोकतांत्रिक दोनों तरीकों से अपनी मांगें मनवाने का प्रयास करते हैं। भारतीय किसान यूनियन, व्यावसायिक संगठनों तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे सामाजिक–सांस्कृतिक संगठनों जैसे दबाव समूहों के बारे में भी आपने जाना।

पाठांत प्रश्न

1. गांधीवाद समाजवाद की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

2. 1996 में संयुक्त मोर्चे में शामिल दलों के नाम बताइए।

.....

.....

3. जनता दल की नीतियों की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

4. बहुजन समाज पार्टी के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

5. आल इंडिया द्रविण मुनेत्र कषगम के उद्देश्य बताइए।

.....

.....

6. शिवसेना के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

पाठांत प्रश्नों के उत्तर

18.1 (क) सत्ता प्राप्त करना (ख) हिस्सेदारी

18.2 (क) दलीय प्रणाली (ख) बहुदलीय प्रणाली (ग) वेंटिव तथा लेबर पार्टी

18.3 (क) एक दलीय प्रभुत्व का काल (ख) (ग) कांग्रेस का पतन

18.4 (क) 1978 (ख) समाज के सभी वर्गों

18.5 पीपुल्स डेमोक्रेसी (ख) 1925

18.6 (क) असफल (ख)चंद्रबाबू नायडू

18.7 (क) सी.एम. अन्नादुरै (ख) पेरियार

18.8 (क) भूपिंदर सिंह (ख) विकसित क्षेत्रों

19

सामाजिक – राजनीतिक आंदोलनों का महत्व

19.1 भूमिका

अपने पाठ्यक्रम के मॉड्यूल दो के अध्यायों का अध्ययन करते समय आप यह पढ़ चुके हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन तथा संविधान निर्माण प्रक्रिया के दौरान जनतंत्र को सिर्फ चुनाव प्रणाली को नियंत्रित करने के माध्यम के रूप में ही कल्पित नहीं किया गया था और न ही राष्ट्रीय नेताओं ने राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ केवल अपने पक्ष में ही सीमित कर लिया था। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ जनता के दलित राजनीतिक अधिकारों को अधिक से अधिक उदार बनाना था और साथ ही जनता को सामाजिक तथा आर्थिक शोषण से मुक्ति दिलाना था। किंतु इसके लिए देश की जनता की भी हिस्सेदारी की बहुत आवश्यकता थी इसलिए जनतांत्रिक प्रणाली में जनता द्वारा अपनी उचित एवं महत्वपूर्ण भागों की अभिव्यक्ति को महत्व प्रदान किया गया।

कई बार तो ऐसा भी देखने में आया है कि सरकार द्वारा उठाए गए कई विकासात्मक अथवा कल्याण कार्यक्रम उचित नहीं थे। कई बार जनता के किसी एक खास वर्ग ने ऐसा महसूस किया कि सरकार द्वारा उठाए जा रहे विकास कार्यक्रम पक्षपातपूर्ण तथा कुछ विशेष लोगों के हितों का ध्यान रखते हुए ही बनाए गए हैं। वह न तो उनके हित में कोई नीति बनाती है और न उसे लागू करती है । ऐसी स्थिति में जनता ने महसूस किया कि संसद अथवा चुनाव संबंधी व्यवस्था उनकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने तथा उनकी शिकायतों का समाधान करने में सक्षम है। जनता की इसी प्रकार की भावनाओं तथा असंतोषों के चलते सामाजिक राजनीतिक आंदोलनों का जन्म हुआ। 1970 के दशक में इन आंदालेनों ने ज्यादा जोर पकड़ा, और अब देश की राजनीति में इन आंदोलनों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। ये आंदोलन जनता को संगठित करने तथा उनका प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस पाठ में आप इन्हीं आन्दोलनों की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति तथा भूमिका के बारे में अध्ययन करेंगे और जान सकेंगे कि किस प्रकार हमारे राजनीतिक एवं विकासात्मक प्रक्रिया में ये आंदोलन अपनी सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

19.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- राजनीतिक तथा सामाजिक आंदोलनों के अर्थ की व्याख्या कर सकेंगे;
- देश के विभिन्न भागों में खड़े हुए विभिन्न आंदोलनों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे तथा उनका विश्लेषण कर सकेंगे;
- भारत में चलाए जा रहे कुछ महत्वपूर्ण आंदोलनों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे;

- कुछ व्यापक तथा सामान्य स्तर पर चलाए जाने वाले मानवाधिकार, पर्यावरण, तथा महिला अधिकारों से संबंधित आंदोलनों का विश्लेषण कर सकेंगे और;
- भारतीय जनतंत्र में सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों की भूमिका का निर्धारण कर सकेंगे।

19.3 अर्थ एवं विशेषताएं

सामाजिक अथवा राजनीतिक आंदोलनों को हम परिवर्तन के लिए सामूहिक प्रयासों अथवा सामूहिक प्रतिरोधी परिवर्तनों के आधार पर ही परिभाषित कर सकते हैं। ये सामूहिक प्रयास सरकार की चालू नीतियों में परिवर्तन लाने अथवा कोई नई व्यवस्था स्थापित करने की दृष्टि से किए जाते हैं। कुछ विद्वान किसी आम समस्या को लेकर एक बड़े जन समुदाय द्वारा सामूहिक रूप से किए जाने वाले आंदोलनों को ही सामाजिक आंदोलन मानते हैं। लेकिन हर सामूहिक गतिविधि को इसलिए आंदोलन नहीं कहा जा सकता कि उसमें बड़ी संख्या में जनता शामिल होती है। किसी भी सामूहिक गतिविधि को तभी आंदोलन कहा जा सकता है जबकि वह सांगठनिक रूप से तथा अपने विचारों पर दृढ़तापूर्वक चलाई जाए।

उपरोक्त विश्लेषणों के आधार पर सामाजिक आंदोलनों की चार प्रमुख विशेषताएं बताई जा सकती हैं :

1. सामाजिक आंदोलन में सामूहिक गतिविधियां चलाई जाती हैं। किसी व्यक्ति अथवा छोटे समुदाय द्वारा चलाई गई गतिविधियों को सामाजिक आंदोलन नहीं कहा जा सकता।
2. सामूहिक गतिविधियों में परिवर्तन का उद्देश्य निहित होता है अथवा परिवर्तन के प्रति प्रतिबद्धता होती है।
3. इन आंदोलनों की गतिविधियां पूर्णतः सांगठनिक होती हैं। इन आंदोलनों के पीछे किसी नेतृत्व तथा स्पष्ट नीतियों का होना आवश्यक होता है तथा इन गतिविधियों के लिए कुछ निश्चित कार्यक्रम होते हैं।
4. इन गतिविधियों के पीछे प्रतिबद्धता होती है। ये आंदोलन अपने लक्ष्य की प्राप्ति अथवा लक्ष्य प्राप्ति की निश्चित संभावनाओं तक चलते रहते हैं।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि सामाजिक आंदोलनों का स्वरूप दबाव समूहों अथवा सांस्थानिक आंदोलनों से भिन्न होता है। सांस्थानिक आंदोलनों का प्राथमिक उद्देश्य व्यवसाय से संबंधित भागों पर आधारित होता है तथा ये उच्च स्तरीय संगठनों द्वारा संभालित होते हैं। हालांकि इन आंदोलनों में भी एक व्यापक संभावना होती है। उदाहरण के लिए, मजदूर संघों अथवा सहकारी संगठनों द्वारा चलाए गए आंदोलनों को सामाजिक आंदोलनों का दर्जा नहीं दिया जा सकता। सामाजिक आंदोलन अचानक उत्पन्न हुए किसी खास मुद्दे पर स्वतः खड़े हो जाते हैं।

19.4 सामाजिक आंदोलनों के प्रकार

सामाजिक आंदोलन सामान्यतया अचानक खड़े हो जाते हैं तथा इसके नेताओं द्वारा किसी खास मुद्दे पर संगठन बनाया जाता है। ऐसे हर आंदोलन के उद्देश्य अलग-अलग होते हैं, उनकी नीतियां तथा संगठनात्मक ढांचे अलग-अलग किस्म के होते हैं।

उपरोक्त लक्षणों के आधार पर हम विभिन्न आंदोलनों का निम्नवत विभाजन कर सकते हैं :

(क) सुधार आंदोलन

(ख) जनतांत्रिक राजनीतिक आंदोलन

(ग) क्रांतिकारी आंदोलन

(घ) प्रतिरोधक आंदोलन

(ङ) प्रतिक्रियावादी आंदोलन।

19.4.1 सुधार आंदोलन

सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से चलाए जाने वाले आंदोलनों को सामाजिक आंदोलन कहते हैं। इन आंदोलनों के पीछे पूर्णतः व्यवस्था परिवर्तन अथवा पुनर्रचना का उद्देश्य नहीं होता। भारत में उपनिवेश काल

के दौरान ऐसे आंदोलन अधिक मात्रा में खड़े हुए थे। उदाहरण के लिए छुआछूत के विरुद्ध आंदोलन पर्सनल लॉ में संशोधन के लिए चलाए जाने वाले आंदोलन, बाल विवाह के खिलाफ आंदोलन तथा सती प्रथा के विरोध में चलाए जाने वाले कुछ ऐसे ही आंदोलन हैं जिन्हें सुधार आंदोलनों की श्रेणी में रखा जा सकता है। सुधार आंदोलन मूलतः शांतिपूर्वक चलाए जाते हैं। ये आंदोलन सरकार से सहायता की मांग करते हैं। ये आंदोलन शिक्षा, जनसंचार द्वारा तथा जनता को अपनी बातें समझाकर सामाजिक सुधार करने का प्रयास करते हैं। हमारी जनतांत्रिक प्रणाली में इस प्रकार के आंदोलन तथा संगठनों को सरकार द्वारा भी सहायता प्रदान करने का प्रावधान है।

19.4.2 जनतांत्रिक राजनीतिक आंदोलन

आप तो जानते ही हैं कि आज जनतंत्र का जमाना है। आज पूरी दुनिया के लोग अपने अधिकार, समानता तथा नीति निर्धारण में हिस्सेदारी के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं। किंतु जनतांत्रिक प्रणाली का अर्थ यह नहीं है कि हर जनतांत्रिक संस्था हमेशा संतोषजनक रूप से कार्य करती ही है। प्रायः इन संस्थानों द्वारा जनतांत्रिक मूल्यों तथा नागरिकों के जनतांत्रिक अधिकारों का हनन किया जाता रहा है। इसलिए समय-समय पर जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना तथा संस्थाओं द्वारा जनतांत्रिक मूल्यों के हनन को रोकने का प्रयास किया जाता रहा है। चुनावों के समय मानवाधिकारों के हनन होने पर चुनाव प्रणाली में परिवर्तन के लिए कई बार आवाजें उठाई जाती रही हैं। ये कुछ ऐसे आंदोलन हैं, जिन्हें राजनीतिक आंदोलन कहा जाता है।

> चुनाव सुधार का अर्थ है, चुनाव प्रक्रिया में सुधार अथवा परिवर्तन। उदाहरण के लिए, मतदाता की उम्र 21 से घटाकर 18 वर्ष कर देना, चुनावों में खर्च होने वाली राशि को घटाना अथवा बढ़ाया जाना तथा प्राप्त मतों के प्रतिशत के आधार पर दलों के प्रतिनिधित्व को मान्यता प्रदान करने की मांग आदि।

19.4.3 क्रांतिकारी आंदोलन

सामाजिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन के उद्देश्य से हमारे समाज में कई आंदोलन चलाए जा रहे हैं। इन आंदोलनकारियों का मानना है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को पूर्णतः ध्वस्त कर दिया जाना चाहिए। ये आंदोलनकारी अपने लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए कई प्रकार की हिंसात्मक तथा असंवैधानिक गतिविधियों का भी सहारा लेते हैं। इनकी इस प्रकार की गतिविधियों को प्रायः सरकार दमन करने की कोशिश करती है। ये आंदोलन प्रायः भूमिगत संगठनों द्वारा चलाए जाते हैं। स्तर के दशक में देश में पैदा हुआ नक्सलवादी आंदोलन इसी प्रकार का एक क्रांतिकारी आंदोलन है। इस प्रकार आंध्र प्रदेश में पीपुल्स वार आंदोलन तथा बिहार में माओवादी आंदोलन भी कुछ इसी प्रकार के आंदोलन है।

19.4.4 प्रतिरोधक आंदोलन

कई बार सरकार द्वारा चलाए जा रहे कुछ विकास कार्यक्रमों द्वारा समाज के किसी खास वर्ग के लोगों के हित प्रभावित होते हैं। इन कार्यक्रमों से प्रायः सामाजिक रीतिरिवाज प्रभावित होते हैं। ऐसी स्थिति में समाज के लोगों द्वारा संगठित होकर ऐसे कार्यक्रमों का विरोध किया जाता है तथा उसे रोकने अथवा उसमें परिवर्तन करने की मांग उठाई जाती है। उदाहरण के लिए बड़े-बड़े बांधों के निर्माण के लिए जब वहां के लोगों को विस्थापित किया जाता है, हरे-भरे पेड़ों की कटाई शुरू की जाती है तथा अभद्र ढंग से हिंसात्मक कार्यवाहियों की जाती हैं तो ऐसी स्थिति में जनसंचार माध्यमों द्वारा जो विरोध किया जाता है उसे प्रतिरोधात्मक आंदोलन कहा जाता है।

> **जनसंचार माध्यम:** अखबार, पत्रिकाएं, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा आदि माध्यमों को जनसंचार माध्यम कहा जाता है।

19.4.5 प्रतिक्रियावादी आंदोलन

प्रतिक्रियावादी आंदोलनों का स्वरूप भी लगभग प्रतिरोधात्मक आंदोलनों की तरह का ही होता है। जब सरकार द्वारा किसी व्यवस्था में सुधार अथवा परिवर्तन किया जाता है तो उसपर जनता की जो प्रतिक्रिया होती है, उसे प्रतिक्रियावादी आंदोलन कहते हैं। इन आंदोलनों के पीछे सरकार के ऊपर दबाव डालकर पुराने सामाजिक

रीतिरिवाजों की रक्षा करने तथा उन्हें जसका तस बना रहने देने का उद्देश्य होता है। विभिन्न धार्मिक कट्टरपंथियों द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों को प्रतिक्रियावादी आंदोलनों की श्रेणी में रखा जा सकता है। ऐसे आंदोलनों के पीछे कानूनी तथा गैरकानूनी दोनों प्रकार के उद्देश्य दिये होते हैं।

19.5 आंदोलनों का विकास

आप आंदोलनों के प्रकार के विषय में पढ़ते हुए यह जान चुके हैं कि समाज में एक बार में कई प्रकार के समान्य एवं विशिष्ट आंदोलन एक साथ पैदा हो सकते हैं। हालांकि प्राय: सभी सामाजिक आंदोलन समाज में उत्पन्न होने वाले एक अथवा एक से अधिक सामाजिक असंतोषों के कारण किसी विशिष्ट वर्ग द्वारा चलाए जाते हैं। इनमें से कुछ तो बहुत लंबे समय तक चलाए जाते रहते हैं। जैसे महिला अधिकारों, मानवाधिकारों अथवा पर्यावरण संबंधी मुद्दों को लेकर चलाए जाने वाले आंदोलन। कुछ आंदोलन तो एक निश्चित समस्या को एक निश्चित समय तक ही चलाते हैं जैसे बधुआ मजदूरी, नदी जल प्रदूषण अथवा किसी नए राज्य के निर्माण की मांग जैसे आंदोलन।

पाठगत प्रश्न 18.1

सही विकल्प छांटकर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

1. निम्नलिखित में से कौन सा सामाजिक आंदोलन नहीं है?

   (क) वेतन वृद्धि की मांग को लेकर मजदूरों द्वारा चलाए जाने वाले आंदोलन।

   (ख) छुआछूत निवारण संबंधी आंदोलन।

   (ग) जनता की भूमिका जबरदस्ती दिए गए अधिग्रहण के विरोध में आंदोलन।

   (घ) चुनाव में सरकारी धन के उपयोग के सीमा निर्धारण को लेकर चलाए जाने वाले आंदोलन।

2. निम्नलिखित में से कौन सा प्रतिक्रियावादी आंदोलन है :

   (क) महिलाओं के लिए समान अधिकार संबंधी आंदोलन।

   (ख) अछूतों को मंदिर में प्रवेश दिलाने हेतु चलाए जा रहे आंदोलन।

   (ग) सती प्रथा को महिमामंडित किए जाने के खिलाफ आंदोलन।

   (घ) प्रौढ़ शिक्षा आंदोलन।

19.6 आंदोलनों की उत्पत्ति एवं प्रकृति

भारत जैसे देश में, जहां कई प्रकार की भिन्नताएं और असमानताएं हैं और जो अभी विकास एवं रूपांतरण की प्रक्रिया में है, वहां बहुत सारे ऐसे मुद्दे पैदा हो जाते हैं जिससे द्वंद्व–असंतोष तथा विवाद खड़े हो जाते हैं। इतिहास गवाह है कि भारत के लोगों में हमेशा से ही राजनीतिक जागरूकता रही है। अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत में खड़ा हुआ राष्ट्रीय आंदोलन ऐसा ही एक आंदोलन था। इसके अलावा उसी समय में हुई प्रकार के दूसरे सामाजिक आंदोलन भी चलाए गए थे। यहां तक कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी कई सत्तालोलुप नेताओं तथा सरकारी तंत्र में लिप्त अधिकारियों ने भी जनतांत्रिक मूल्यों तथा अधिकारों के हनन का प्रयास किया था तब भी ऐसे ही कई आंदोलन 30 खड़े हुए थे। देश के आर्थिक सुधार को दृष्टि में रखते हुए जब नीजिकरण की नीति बनी थी तब भी समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा इसका विरोध किया गया था। इसी प्रकार यदि कभी सरकार द्वारा चलाए जा रहे किसी विकास कार्यक्रम से समाज के किस खास वर्ग के हित प्रभावित होते हैं, उसकी जीवन शैली तथा जीविका प्रभावित होती है तब भी ऐसे आंदोलन खड़े हो जाते हैं।

भारतीय संविधान में नागरिकों को यह अधिकार प्रदान किए गए हैं कि वे अपना संगठन बना सकते हैं तथा सामूहिक रूप से एक होकर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। विभिन्न राजनीतिक दलों तथा गैर राजनीतिक संगठनों को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वे जनता को विभिन्न मुद्दों पर अपने पक्ष में तैयार कर सकते हैं। शिक्षा

के बढ़ते स्तर तथा प्रेस की सक्रियता के चलते लोगों में अपने अधिकारों के प्रति सक्रियता बढ़ी है तथा सरकार द्वारा दिए जाने वाले सामाजिक अथवा जनतांत्रिक मूल्यों के हनन के विरोध में वे सामूहिक आंदोलन चला सकने में सक्षम हुए हैं।

उपरोक्त सभी प्रक्रिया तथा विकास गतिविधियों के चलते विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के आंदोलनों की संख्या बढ़ी है। इनमें से कुछ आंदोलन तो भारतीय स्तर पर चलाए जाते हैं। उदाहरण के लिए अखिल बंधुआ मजदूरी तथा बाल मजदूरी के खिलाफ चलाए जाने वाले कुछ ऐसे ही आंदोलन हैं जो देश के संपूर्ण भाग में चलाए जा रहे हैं। बांध बनाए जाने के खिलाफ नर्मदा बचाओ आंदोलन तथा पेड़ों की कटाई के विरोध में चिपको आंदोलन कुछ ऐसे विशेष आंदोलन हैं जो एक विशेष मुद्दे पर किसी खास हिस्से में चलाए जाते हैं किंतु उनका असर देशव्यापी होता है। झारखंड, गोरखालैंड तथा उत्तराखण्ड जैसे नए राज्यों की मांग को लेकर चलाए जाने वाले कुछ ऐसे आंदोलन हैं जो उस राज्य विशेष की जनता द्वारा प्रांतीय स्तर पर चलाए जाते हैं। सन सत्तर के बाद सामान्य, विशिष्ट तथा विशिष्ट समुदाय के आंदोलन, अधिकारों के हनन संबंधी आंदोलन, शोषण के विरुद्ध आंदोलन, विकास कार्यक्रम तथा सामाजिक परिवर्तन आदि के लिए विभिन्न प्रकार के आंदोलन खड़े किए गए। आपकी जानकारी के लिए कुछ महत्वपूर्ण आंदोलनों की सामान्य प्रवृत्ति की जानकारी हम निम्नवत दे रहे हैं।

19.6.1 मानवाधिकार आंदोलन

पाठ 6 में आप पढ चुके हैं कि हमारे संविधान में नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार दिए गए हैं। आप उन अधिकारों के संबंध में भी पढ़ चुके हैं। इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय संगठन में भी मानवाधिकार संबंधी आदर्श प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें व्यक्ति के जीवन संबंधी अधिकार, समानता का अधिकार, जीवन की न्यूनतम शर्तें तथा जाति वर्ग भाषा आदि के आधार पर दिए जाने वाले विभाजन का निषेध आदि से संबंधी कानून वर्णित हैं। इन सभी अधिकारों को मानवाधिकार के नाम से जाना जाता है। जबकि कई बार ऐसा भी देखने को मिला है कि कई राज्यों की सरकारें इन मानवाधिकारों की उपेक्षा तथा विभिन्न स्तरों पर इनका हनन भी करती हैं। जैसे उदाहरण के लिए मनमाने ढंग से लोगों को बंदी बनाया जाना, बच्चों को शिक्षा से वंचित रखते हुए उन्हें जोखिम भरे कार्यों में संलग्न किया जाना। लेकिन लोगों में बढ़ती हुई जागरूकता के कारण इस प्रकार के मानवाधिकारों के हनन से रोकने के लिए विभिन्न प्रकार के आंदोलन चलाए जाते हैं। धीरे-धीरे ये आंदोलन संगठित रूप में चलाए जाने लगे तथा विस्तृत रूप से मानवाधिकार आंदोलन के नाम से जाने जाने लगे।

19.6.2 मानवाधिकार आंदोलनों की शुरूआत

भारत में मानवाधिकार आंदोलन का सूत्रपात औपनिवेशिक काल में ही हो गया था। इस समय अंग्रेजी प्रशासन द्वारा स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाए जाने के खिलाफ कुछ क्रांतिकारी संगठनों ने इसे मानवाधिकार का मामला बताते हुए इसके खिलाफ आंदोलन शुरू किया था। इन सक्रिय आंदोलनकारियों में मानवाधिकार के सबसे बड़े नेता जवाहरलाल नेहरू थे। स्वतंत्रता के बाद धरनों द्वारा तथा अदालतों में मुकदमें दायर करके प्रतीकात्मक तथा प्रतिनिधिक रूप में मानवाधिकार आंदोलन चलाए जाने लगे।

19.6.3 मानवाधिकार आंदोलनों का महत्व

भारत में बहुत जल्दी ही मानवाधिकार आंदोलनों की शुरूआत प्रतीकात्मक रूप में हो गई थी तथा इससे विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका तीनों प्रभावित हुए थे। आप पाठ 6 में जनहित पालिकाओं के बारे में पढ़ चुके हैं। यह मानवाधिकार संगठनों के प्रयासों के द्वारा ही अस्तित्व में आया था। संविधान में किसी भी प्रकार से व्यक्ति की स्वतंत्रता के हनन का निषेध है। संसद में विभिन्न समुदायों के लोगों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए कानून भी बनाए जाते रहे हैं। अपंगों के अधिकारों की सुरक्षा, बाल मजदूरी निषेध तथा गरीब तबके के लोगों को मुफ्त कानूनी सलाह जैसे कुछ ऐसे कानून हैं जो इन संगठनों के प्रयासों द्वारा बनाए गए थे। प्राय: कार्यपालिका के ऊपर इन संगठनों द्वारा इन कानूनों के द्वारा दबाव बनाए रखने की कोशिश की जाती है, ताकि यह सुचारू रूप से कार्य कर सके। किसी प्रकार की मनमानी न करे। उदाहरण के लिए, सरकार द्वारा अब पीड़ित अथवा उस व्यक्ति को जिसके अधिकारों का हनन हुआ है, मुआवजा देने का भी प्रावधान किया गया है।

लोगों में मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता बनाए रखने के लिए भारत सरकार ने 1993 में मानवाधिकार आयोग

का गठन किया। इसके गठन के पीछे भी मानवाधिकार आंदोलनों का ही हाथ है। मानवाधिकार आंदोलन की दूसरी उपलब्धि है स्कूलों के पाठ्यक्रम में मानवाधिकार संबंधी पाठ को सम्मिलत किया जाना।

ये मानवाधिकार संबंधी आंदोलन भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके द्वारा संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों के अलावा भी कई अधिकार प्रकाश में आए हैं तथा उनकी संभावना बढ़ी है। इसके द्वारा लोगों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आई है एवं पुलिस तथा उच्च प्रशासनिक इकाइयों पर निगरानी रखने का भी कार्य किया जाने लगा है।

पाठगत प्रश्न 19.2

उचित विकल्प चुनकर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

1. निम्नलिखित में से कौन सा मानवाधिकार आंदोलन कहलाएगा?

   (क) सरकारी कर्मचारियों द्वारा अधिक वेतन के लिए धरना देना

   (ख) भोपाल गैस पीड़ितों को मुआवजा दिए जाने के लिए चलाए जाने वाला आंदोलन

   (ग) छात्रों द्वारा परीक्षा के विरोध में चलाया जाने वाला आंदोलन

   (घ) किसानों द्वारा सस्ते दर पर बिजली उपलब्ध कराए जाने के लिए धरना देना

2. निम्नलिखित में से किसे मानवाधिकार का हनन कहेंगे?

   (क) दोस्त की शादी में जाने के लिए अपने कर्मचारियों को छुट्टी देने से मना कर देना

   (ख) सरकारी स्कूल में किसी बच्चे का प्रवेश देने से मना कर देना

   (ग) छात्रों के बस पास की कीमत में बढ़ोत्तरी

   (घ) गरीब लोगों को मुफ्त बिजली न उपलब्ध कराया जाना

19.8 पर्यावरण आंदोलन

मानवाधिकारों के तहत सम्मानपूर्ण मानवीय जीवन व्यतीत करने के लिए स्वस्थ एवं संतोषप्रद जीवन शैली की अनिवार्यता निर्धारित की गई है। पर्यावरण, जिसमें नदियां, झील, समुद्र, पहाड़, वातावरण, वन, पेड़-पौधे, मरुस्थल, मैदान आदि सम्मिलित हैं, आधुनिक युग में तेजी से बढ़ते औद्योगीकीकरण, तेजी से विकसित हो रहे शहर, बढ़ती हुई जनसंख्या तथा ऐशोआराम की जिंदगी जीने की चाह द्वारा इनका दोहन हो रहा है। एक तरफ तो प्राकृतिक संपदा का दोहन हो रहा है तथा दूसरी तरफ वातावरण तथा जल का प्रदूषण बढ़ता जा रहा है ।

पिछले कुछ सालों में लोगों में पर्यावरण प्रदूषण के प्रति सजगता बढ़ी है तथा इसके विरोध एवं बुरे प्रभावों से बचने की कोशिश में निरंतर प्रयास किए जाने लगे हैं। जनता में पर्यावरण के प्रति जो सजगता बढ़ी है उसका सारा श्रेय इस क्षेत्र में कार्य कर रही कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं को जाता है, जिन्होंने इसके लिए आंदोलन चलाए तथा धरने दिए। ये स्वयंसेवी संस्थाएं प्रदूषण नियंत्रित करने तथा प्राकृतिक संपदा की रक्षा के लिए प्रयास करती हैं। उदाहरण के लिए पेड़ों की कटाई रोकने तथा पौधों की रोपाई द्वारा इसके नियंत्रण का प्रयास।

आप ने सुंदरलाल बहुगुणा तथा मेधा पाटेकर का नाम सुना होगा। ये दोनों व्यक्ति दो प्रसिद्ध पर्यावरण आंदोलनों, चिपको तथा नर्मदा बचाओ से जुड़े हुए हैं। चिपको आंदोलन पेड़ों की कटाई रोकने से संबंधित है। यदि कहीं भी हरे पेड़ों को काटने की कोशिश की जाती है तो इस आंदोलन से जुड़े लोग वहां प्रत्यक्षत: उपस्थित होकर उसे रोकने का प्रयास करते हैं। नर्मदा बचाओ आंदोलन एक बड़े बांध के निर्माण के विरोध में खड़ा किया गया आंदोलन है। जिसके कारण वहां के आसपास के लोगों की भूसंपत्ति अधिग्रहीत तो की ही गई है लोगों को विस्थापित भी किया गया है तथा उस इलाके में पेड़ों की कटाई से पर्यावरण संतुलन गड़बड़ाने लगा है।

मानवाधिकार आंदोलन की तरह पर्यावरण आंदोलन भी लोगों को शिक्षित करने, सरकारी संस्थाओं के ऊपर दबाव बनाए रखने तथा पर्यावरण प्रदूषण रोकने के लिए कानूनी कार्यवाही भी करता है।

महिला आंदोलन

बलात्कार, पत्नी-उत्पीड़न, दहेज, पारिवारिक हिंसा, कामकाजी महिलाओं की समस्या, महिलाओं का व्यापार, पर्सनल लॉ में महिलाओं के साथ धर्म के नाम पर भेदभाव तथा महिलाओं के स्वास्थ्य से संबंधित अनेक समस्याओं को लेकर महिला संगठनों द्वारा आंदोलन तो चलाए ही जाते रहे हैं, किंतु कुछ महिला संगठनों द्वारा पर्यावरण से संबंधित कुछ मुद्दे पर भी आंदोलन चलाए जाते रहे हैं। महिलाओं की समस्याओं से संबंधित कुछ मुद्दों पर अपने संघर्ष को मजबूत बनाने के लिए तथा जनता तक अपने विचारों को पहुंचाने के लिए ये नारीवादी संगठन पर्चे प्रकाशित करते हैं, हस्ताक्षर अभियान चलाते हैं, अखबारों में लेख तथा संपादकीय लिखते हैं, नुक्कड़ नाटक खेलते हैं, गाने गाते हैं तथा पोस्टर आदि लगाते हैं।

इस शताब्दी के पिछले दो दशकों में भारत में नारीवादी आंदोलनों ने बहुत मजबूती से अपना अस्तित्व स्थापित किया है। अब यह अंतरराष्ट्रीय महिला संगठन का एक हिस्सा बन गया है। इन आंदोलनों ने महिलाओं के कुछ महत्वपूर्ण अधिकारों की रक्षा की है, जैसे बराबर काम के लिए बराबर वेतन तथा पैतृक संपत्ति में बराबर की हिस्सेदारी आदि। आज महिलाओं में शिक्षा तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता के प्रति जागरूकता बढ़ी है।

नारीवादी आंदोलनों की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि इसके द्वारा महिलाओं में राजनीतिक शक्तियों के उपभोग तथा नीति निर्धारण संबंधी शक्तियों के प्रति सक्रियता बढ़ी है। पंचायत तथा नगरपालिका चुनावों में महिलाओं के लिए एक तिहाई सीटों का आरक्षण कर दिया गया है तथा संसद एवं विधान सभा में महिलाओं के लिए सीटों के आरक्षण संबंधित बिल के जल्दी ही पास हो जाने की संभावना है। किंतु इसमें कोई शक की गुंजाइश नहीं है कि आप भी महिलाओं से संबंधित समस्याएं गंभीर बनी हुई हैं। इसके लिए कई महिला आंदोलन चलाए जा रहे हैं - स्वतंत्र रूप से भी और दूसरे सामाजिक परिवर्तन चाहने वाले आंदोलनों के साथ मिलकर भी।

पाठगत प्रश्न 19.3

उचित विकल्प द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. पर्याप्त दहेज न मिल पाने के कारण एक महिला की हत्या का मामला ..... से संबंधित है।
   (पारिवारिक मुद्दे, उत्पीड़न, एक अपराध)
2. महिला आंदोलन सामान्य रूप से ..... से संबंधित होते हैं।
   (महिलाओं के लिए अधिक नौकरी, परदा प्रथा के विरोध, महिला के समानता एवं गौरव)

19.9 सामाजिक आंदोलनों का महत्व और उनकी भूमिका

आप पढ़ चुके हैं कि आज सामाजिक आंदोलनों का महत्व बहुत बढ़ गया है। इन आंदोलन के कारण लोगों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ी है। सामाजिक कल्याण तथा पर्यावरण संबंधी मामलों पर लोगों की सक्रियता बढ़ी है। किसान तथा आदिवासी आंदोलन भी अस्तित्व में आए हैं। इन आंदोलनों ने सामाजिक परिवर्तन तथा राजनीतिक ढांचें में परिवर्तन एवं नीतियों के निर्धारण एवं विकास कार्यक्रमों के प्रति लोगों में जागरूकता बढ़ी है तथा सक्रियता बढ़ाने के प्रयास किए गए हैं । ये आंदोलन तीन तरह से अपनी भूमिका निभाते हैं:

1. सामाजिक आंदोलनों ने व्यक्ति की एक विशाल समाज से तुलना करने की कोशिश की है। ये आंदोलन व्यक्ति को सामाजिक मुद्दों पर जागरूक करने का प्रयास करते हैं। इन आंदोलनों के द्वारा हर नागरिक को सामाजिक परिवर्तन का अवसर प्राप्त होता है।
2. ये सामाजिक आंदोलन आम आदमी की आवश्यकताओं तथा सामान्य से लेकर विशिष्ट समस्याओं तक को सरकार तक पहुंचाने का कार्य करते हैं। इसके साथ ही ये आंदोलन सरकार पर उन समस्याओं पर नीतियां बनाने के लिए दबाव भी डालते हैं।

3. सामाजिक आंदोलनों ने लोगों को जागरूक बनाने तथा शिक्षित करने में अपनी बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। ये सरकार द्वारा चलाए जा रहे विकास कार्यक्रमों, उनके महत्व, तथा उसके अर्थ, प्रभाव आदि के बारे में लोगों को जानकारी प्रदान करते हैं। ये विकास की नीतियों को सुधारने तथा अपने नए विचार देने में भी अहम भूमिका निभाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि लोग सरकार तथा राजनीतिक नीतियों का मूल्यांकन करने के प्रति सक्षम हुए हैं।

भारत में चलाए जा रहे सामाजिक आंदोलन उपरोक्त तीनों गतिविधियों में बखूबी अपनी सक्रिय भूमिका निभाते हैं। सामाजिक सुधार के कार्यों में भी इन आंदोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इन्होंने सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के द्वारा लोगों में जागरूकता पैदा की है। ये विभिन्न नीति निर्धारक इकाइयों पर भी प्रभावी होते हैं। इन आंदोलनों द्वारा अधिकारों का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ है। इन्होंने अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लोगों के लिए सामाजिक न्याय का वातावरण पैदा किया है।

इन सामाजिक आंदोलनों का परिणाम यह हुआ है कि सरकार जनतंत्र के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझने लगी है, जैसे समय से चुनाव कराना तथा ऐसे वातावरण पैदा करना कि दलित तथा पिछड़े लोग अपने मताधिकार का स्वतंत्र प्रयोग कर सकते हैं। इन सामाजिक आंदोलनों के दबाव में आकर सरकार ने कई सामाजिक कल्याण के कार्यक्रम चलाए हैं। इस प्रकार इन सामाजिक राजनीतिक आंदोलनों की भारतीय राजनीतिक प्रणाली में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। इस प्रकार अब यह स्पष्ट है कि जनतांत्रिक ढांचे में इन आंदोलनों की प्रतीकात्मक भूमिका है।

आपने क्या सीखा

भारत में लगभग 50 वर्ष के जनतंत्र के इतिहास में लोगों में अपने अधिकारों तथा स्तर के प्रति जागरूकता आयी है। उनमें सरकार की नीतियों तथा योजनाओं का मूल्यांकन करने की क्षमता पैदा हुई है। चुनावी प्रक्रिया में हिस्सेदारी के कारण जनता में सरकार पर अपने हितों तथा अधिकारों के लिए दबाव डालने तथा संगठित होकर आंदोलन खड़े करने की प्रवृत्ति भी पैदा हुई है । ये आंदोलन सामूहिक रूप से संगठित होकर सामाजिक परिवर्तनों के लिए चलाए जाते हैं।

ये आंदोलन विभिन्न प्रकार से विभिन्न मुद्दों पर चलाए जाते हैं। इनमें से कुछ का उद्देश्य तो सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन लाना होता है जबकि कुछ केवल प्रतिक्रिया स्वरूप पैदा हो जाते हैं। कुछ आंदोलन शांतिपूर्ण ढंग से संवैधानिक ढंग से चलाए जाते हैं लेकिन कुछ हिंसात्मक रूप से ।

सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन सामाजिक हितों तथा कुछ वर्गीय एवं प्रांतीय हितों – दोनों को ध्यान में रखते हुए चलाए जाते हैं। मानवाधिकार , पर्यावरण, महिला हितों, चुनावी सुधार तथा सांप्रदायिक शक्तियों के विरोध में चलाए जाने वाले कुछ सामान्य आंदोलन हैं। किसानों तथा मजदूरों द्वारा चलाये जाने वाले आंदोलन वर्गीयहितों को ध्यान में रखते हुए चलाए जाने वाले आंदोलनों की श्रेणी में आते हैं। नए राज्यों की स्थापना, किसी राज्य को ज्यादा पानी देने की मांग तथा बांध निर्माण के विरोध से संबंधित आंदोलन प्रांतीय हितों को ध्यान में रखकर चलाए जाने वाले आंदोलन होते हैं।

सामाजिक आंदोलन लोगो में जागरूकता पैदा करने तथा उन्हें शिक्षित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये सांगठनिक रूप से एकत्रित होकर सरकार के ऊपर परिवर्तन के लिए दबाव डालते हैं। ये आंदोलन अधिकारों की रक्षा, जनतांत्रिक मूल्यों तथा सामाजिक न्याय की रक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन आंदोलनों के द्वारा हुई उपेक्षित तथा दलित वर्गों को अपने अधिकार के लिए आवाज मिली है। इन आंदोलनों ने जनतंत्र को आवश्यक शक्ति प्रदान की है।

पाठांत प्रश्न 19.4

1. सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों के लक्षण बताइए।
2. भारत में सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों की प्रवृत्ति का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. मानवाधिकारों में क्या चीजें महत्वपूर्ण होती हैं ?

4. भारत में पर्यावरण आंदोलन की प्रकृति की व्याख्या कीजिए।

5. भारतमें महिला आंदोलनों की क्या भूमिका है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

19.1 1. (ख) 2. (ग)

19.2 1. (ख) 2. (ख)

19.3 1. एक अपराध 2. महिला की समानता 3. नदी तट पर रहने वाले व्यक्तियों से संबंधित

4. समाज के सभी वर्गों से संबंधित

20

केंद्र, राज्य तथा जिला स्तर पर प्रशासन प्रणाली

20.1 भूमिका

भारत में क्रमशः केन्द्र, राज्य, जिला तथा स्थानीय स्तरों पर प्रशासन प्रणाली को विभिन्न चरणों में विभाजित किया गया है। इस पाठ में केंद्रीय शासन प्रणाली, राज्य शासन प्रणाली तथा जिला शासन प्रणाली के ढांचे के बारे में हम अध्ययन करेंगे। इसके अलावा इस पाठ में विकासात्मक प्रक्रिया में नौकरशाही की भूमिका के बारे में भी अध्ययन करेंगे। केंद्र स्तर पर केंद्र सरकार रक्षा, विदेश मामले, संचार, मुद्रा छपाई तथा ढलाई जैसे राष्ट्रीय मामले तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि तथा उद्योग जैसे राष्ट्रीय विकास के मामले देखती है। अगले चरण में राज्य सरकारें (जैसे महाराष्ट्र, पंजाब, आसाम, उत्तर प्रदेश) राज्य में रहने वाले लोगों के आर्थिक, सामाजिक तथा दूसरे कल्याणकारी से संबंधित विकास के मुद्दों पर शासनात्मक कार्यवाहियां नियंत्रित करती हैं। इसके अंतर्गत शांति एवं व्यवस्था, न्याय व्यवस्था तथा कारागार प्रशासन जैसे महत्वपूर्ण मामले आते हैं। राज्य प्रशासन को राज्य के मुख्यालयों तथा संभागीय विभाजन के आधार पर नियंत्रित किया जाता है। जिला प्रशासन राज्य प्रशासन के संभागीय प्रशासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई होता है। सरकार शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्र के लोगों से स्थानीय प्रशासन के द्वारा ही निकट से जुड़ पाती है। स्थानीय सरकारें शहरों में नगर पालिकाओं तथा ग्रामीण क्षत्रों में पंचायती राज व्यवस्था से बहुत निकट से जुड़ी होती हैं। आपको केंद्र तथा राज्य सरकारों के विभिन्न अवयवों तथा घटकों के गठन के बारे में भी विस्तार से बनया जाएगा। इस पाठ में आप विभिन्न स्तरों पर प्रशासन के स्वरूपों का अध्ययन करेंगे।

20.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- केंद्रीय प्रशासन के ढांचे की रूपरेखा समझ सकेंगे;
- राज्य प्रशासन के ढांचे की रूपरेखा समझ सकेंगे;
- जिला प्रशासन के ढांचे की रूपरेखा समझ सकेंगे;
- त्रिस्तरीय प्रशासन के कार्यों का पुन:स्मरण कर सकेंगे;
- केंद्र, राज्य तथा जिला प्रशासन के विभिन्न घटकों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- नौकरशाही की व्याख्या कर सकेंगे;
- विकासात्मक प्रक्रिया में नौकरशाही की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

20.3 केन्द्रीय प्रशासन

भारतीय संविधान में भारतीय सरकार के केंद्रीय प्रशासन के दो महत्वपूर्ण लक्षण बताए गए हैं :

(क) संघवाद, अर्थात संवैधानिक रूप से केंद्र एवं राज्य सरकार की शक्तियों का विभाजन।

(ख) केंद्र तथा राज्य, दोनों स्तरों पर संसदीय जनतंत्र की स्थापना, जिसके अंतर्गत कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

केंद्रीय प्रशासन एक विस्तृत संगठन है, जिसके अंतर्गत सचिवालय, मंत्रालय तथा उनके विभाग, उनके अन्य कार्यपालिकीय संगठन, चुनाव आयोग तथा योजना आयोग जैसे दूसरे संवैधानिक तंत्र आते हैं।

20.3.1 कार्यपालिका अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति की भूमिका

केंद्रीय प्रशासन का वास्तविक अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है तथा प्रशासन तंत्र का संपूर्ण कार्य उसी के नाम से होता है। राष्ट्रपति भारत संघ का अध्यक्ष होता है। सर्वोच्च कार्यपालकीय शक्तियां उसी में निहित होती हैं। आप पाठ 10 में पढ़ चुके हैं कि केंद्र सरकार उसी के नाम से चलाई जाती है। वह 5 वर्ष की अवधि के लिए संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों तथा विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्वाचित किया जाता है। संघ का अध्यक्ष होने के नाते उसे अनेक संवैधानिक शक्तियां प्राप्त होती हैं। वह देश की सशस्त्र सेना का सर्वोच्च कमांडर होता है। वह राजदूतों तथा राजनीतिक प्रतिनिधियों को भेजता तथा स्वागत करता है। न्यायिक क्षेत्र में वह सजायाफ्ता व्यक्तियों को दंडमुक्त कर सकता है। हालांकि राष्ट्रपति संसद का सदस्य नहीं होता किंतु वह संसद को सूचना भेजकर सत्रावसान की आज्ञा दे सकता है तथा वह लोकसभा भंग कर सकता है। संविधान में राज्य में न्यायिक अस्थिरता उत्पन्न हो जाने अथवा देश में युद्ध छिड़ जाने के समय राष्ट्रपति को आपात काल लागू करने का अधिकार प्रदान किया गया है। आपात काल लागू हो जाने की अवस्था में राज्य प्रशासन अपनी स्वायत्तता खो देता है तथा संपूर्ण प्रशासन केंद्र के अधीन हो जाता है।

राष्ट्रपति की शक्तियों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति ही देश का वास्तविक शासक होता है। किन्तु संसदीय प्रणाली में जनतंत्र का अर्थ होता है जबकि वास्तविक शक्तियां निर्वाचित संसद में निहित होती हैं। प्रधान मंत्री द्वारा गठित मंत्रिमंडल की वास्तविक कार्यपालिका होती है जोकि राष्ट्रपति में निष्ठा व्यक्त करती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि भारत का राष्ट्रपति देश का अध्यक्ष होता है तथा मंत्रिमंडल का अध्यक्ष प्रधान मंत्री सरकार का अध्यक्ष होता है संसद में बहुमत प्राप्त दल के नेता को राष्ट्रपति प्रधान मंत्री नियुक्त करता है। मंत्रिमंडल के सदस्यों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति करता है। प्रधान मंत्री केंद्रीय मंत्रिमंडल में लिए गए सभी निर्णयों की सूचना राष्ट्रपति को भेजता है तथा उसकी सभी सूचनाएं मंत्रिमंडल को देता है। राष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री के बीच के संबंध आपसी आत्मसम्मान, आपसी समझदारी पर निर्भर करता है। संवैधानिक रूप से राष्ट्रपति प्रधान मंत्री की सलाह मानने के लिए बाध्य होता है। किन्तु वास्तव में प्रायः ये दोनों कार्यसमितियां दोनों की आपसी समझदारी तथा सम्मान एवं संवैधानिक सह-अस्तित्व पर निर्भर करती है।

20.3.2 प्रधान मंत्री

आप अध्याय 11 में पढ़ चुके हैं कि केंद्र सरकार प्रधानमंत्रित्व सरकार की ही एक रूप है। सामान्य रूप से जब प्रधान मंत्री की पार्टी संसद में बहुमत प्राप्त पार्टी होती है तथा प्रधान मंत्री के अंदर अच्छे गुण होते हैं तो सरकार स्वतः ठीक सुचारू ढंग से संचालित होती है। प्रधान मंत्री के लिए गढ़ी गई ''मेहराब की धुरी, ''सितारों के बीच चंद्रमा'' तथा ऐसा सूर्य जिसके चारों ओर नक्षत्र घूमते हैं'' आदि उक्तियों के आधार पर प्रधान मंत्री की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है।

विभिन्न मंत्रियों को विभागों का बंटवारा प्रधान मंत्री ही करता है। केंद्रीय मंत्रिमंडल की बैठकों में वही अध्यक्ष होता है। समस्त सरकारी गतिविधियां उसी के द्वारा तथा उसके कार्यालय के द्वारा संचालित होती हैं। उसकी सलाह को सभी सहयोगी मंत्री अपने-अपने विभागों में लागू करते हैं।

प्रधान मंत्री लोक सभा का नेता होता है। प्रमुख नीतियों को तय करने तथा विवादों को हल करने में प्रधान मंत्री

हस्तक्षेप करता है। सदन में शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए सदन का अध्यक्ष प्रधान मंत्री की ही इच्छा पर संचालन करता है। लोक सभा के एक वरिष्ठ सदस्य का कहना है कि "व्यावसायिक मामलों में प्रधान मंत्री सीधे हस्तक्षेप करता है। सरकार की समस्त नीतियां तथा संचालन के पैमाने उसके द्वारा नियुक्त व्यक्तियों द्वारा ही तय किए जाते हैं।

सभी घरेलू तथा विदेशी मामलों से संबंधित नीतियों पर प्रधान मंत्री ही प्रवक्ता का कार्य करता है। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा विश्व बैंक जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों अथवा समुदायों से संबंधित मामलों में वह मुख्य भूमिका अदा करता है। बाकी मंत्री अंतराष्ट्रीय मामलों में प्रधान मंत्री निर्देश पर ही हस्तक्षेप करते हैं।

प्रधान मंत्री राष्ट्रपति के सीधे संपर्क में होता है। वह राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार होता है। वह सरकार द्वारा तय की गई साथ नीतियों तथा निर्णयों की राष्ट्रपति को नियमित सूचना देता है। एक तरह से वह केंद्रीय मंत्रिमंडल तथा राष्ट्रपति के बीच संवाद का कार्य करता है।

संसदीय जनतंत्र के अंतर्गत प्रधान मंत्री को कई प्रकार की भूमिकाएं निभानी पड़ती हैं।, संसद के भीतर तथा संसद के बाहर के अपने राजनीतिक सहयोगियों से संबंध मधुर बनाए रखने, मंत्रिमंडल के सहयोगियों तथा सरकारी प्रबंधन के साथ संबंध बनाए रखने तथा दूसरी राजनीतिक पार्टियों तथा विकास में सहयोग प्रदान करने वाले संगठनों के लोगों के साथ तालमेल बिठाए रखने का कार्य भी उसे करना पड़ता है। प्रधान मंत्री ही एक ऐसा अगुवा होता है जो देश की छवि को अपने बलपर देश में तथा देश के बाहर प्रसारित करता है और ऐसा उसके नैतिक तथा शारीरिक ऊर्जा पर निर्भर करता है। बिना पर्याप्त राजनीतिक मजबूती, ऊर्जा तथा नैतिकता के कोई भी प्रधान मंत्री राष्ट्र को सच्चा नेतृत्व नहीं प्रदान कर सकता। अंततः किसी भी राष्ट्र की महानता वहां के प्रधान मंत्री की महानता पर निर्भर करती है। आप इस संबंध में पाठ 11 में पहले ही पढ़ चुके हैं।

20.3.3 प्रधान मंत्री कार्यालय

इस पाठ में आप प्रधान मंत्री कार्यालय के बारे में पढ़ेंगे। कार्यालय क्योंकि 1964 में लालबहादुर शास्त्री के प्रधान मंत्री बनने के बाद प्रधान मंत्री की बहुआयामी व्यवस्थाओं को देखते हुए प्रधान मंत्री सचिवालय अस्तित्व में आया। सरकार का अध्यक्ष होने के नाते प्रधान मंत्री की सार्वजनिक गतिविधियों में सचिवालय सहायता प्रदान करता है। नेहरू के बाद जब लालबहादुर शास्त्री एक सचिव की अध्यक्षता में सचिवालय एक नियमित इकाई के रूप में करता है। यह सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों को तय करने में अपनी अहम भूमिका निभाता है। इंदिरा गांधी के प्रधान मंत्री बनने के बाद प्रधान मंत्री के सचिव को अधिक से अधिक शक्तियां प्राप्त हो गईं तथा सरकार द्वारा तय की जाने वाली लगभग हर नीति के केंद्र में वह हो गया। आपातकाल लागू होने के बाद तो प्रधान मंत्री सचिवालय ही वास्तविक सरकार बन बैठा तथा और सरकार के बाकी मंत्रालयों को काटछांटकर उनकी शक्तियों को कम कर दिया। किंतु 1977 में जब जनतापार्टी शासन में आई तो इसने प्रधानमंत्री सचिवालय की शक्तियों को नियंत्रित किया तथा उसका विकेंद्रीकरण किया। 1977 में प्रधान मंत्री सचिवालय का नाम बदलकर प्रधान मंत्री कार्यालय रख दिया गया। इसके कार्यों तथा शक्तियों में कमी कर दी गई तथा प्रधान मंत्री को सार्वजनिक गतिविधियों से संबंधित सलाह देना समाप्त कर दिया गया।

किंतु जब 1984 में राजीव गांधी प्रधान मंत्री बने तो प्रधान मंत्री कार्यालय ने अपनी शक्तियों में पुनः विस्तार कर लिया। प्रधान मंत्री की बहुआयामी गतिविधियों को ध्यान में रखते हुए उनकी सहायता तथा सलाह हेतु कई सलाहकार तथा अन्य पदाधिकारी नियुक्त किए गए। इस प्रकार एक बार फिर से प्रधान मंत्री कार्यालय शक्तिशाली होकर उभरा तथा उसकी तुलना में सरकार के दूसरे मंत्रालयों की शक्तियों में ह्रास हो गया। तब से प्रधान मंत्री कार्यालय एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में बना हुआ है। प्रधान मंत्री कार्यालय अपने पक्ष में यह तक देता है कि आज के कठिन वैश्विक प्रशासन में प्रधान मंत्री को बहुत सारे तकनीकी परामर्शों की आवश्यकता होती है। आज परमाणु ऊर्जा, इलेक्ट्रानिकी तथा विदेश मामलों से संबंधित विभाग प्रधान मंत्री कार्यालय के ही अधीन हैं। इस प्रकार प्रधान मंत्री कार्यालय के तर्कों को इन आधुनिक स्रोतों पर अधिकार होने से मजबूती प्राप्त होती है। किंतु सरकार के दूसरे मंत्रालयों की कमजोर अवस्था में प्रधान मंत्री कार्यालय असहाय सा हो जाएगा। प्रधान मंत्री को कब कैसे परामर्शों की आवश्यकता है और उसे किस ढंग से दिया जाना चाहिए, यह प्रधान मंत्री कार्यालय के

अस्तित्व से जुड़ा विषय होता है। प्रधान मंत्री कार्यालय में बहुत सारे वरिष्ठ अधिकारी नियुक्त होते हैं। वे प्रधान मंत्री की संस्तुति के लिए विभिन्न विभागों द्वारा भेजी गई फाइलों की जांच करते हैं। प्रधान मंत्री कार्यालय इन फाइलों पर प्रधान मंत्री को दिए जाने वाले निर्देशों के परामर्श देता है।

20.3.4 मन्त्रिमण्डल सचिवालय

कैबिनेट अनेक समितियों के माध्यम से अपने कार्यों का निष्पादन करता है। ये समितियां विभिन्न मंत्रालयों में नीतियों के निर्धारण तथा कार्यान्वयन में पैदा हुई गड़बड़ियों की जांच करती हैं तथा इनमें उनकी सहायता करती हैं। इन समितियों में अर्थ समिति, राजनीतिक मामलों से संबंधित समिति तथा नियुक्ति समिति प्रमुख हैं।

इन सबको देखते हुए कोई भी व्यक्ति मन्त्रिमण्डल सचिवालय की भूमिका की प्रशंसा कर सकता है। कैबिनेट के कार्यों का सुचारू रूप से निष्पादन कैबिनेट सचिवालय के ऊपर निर्भर करता है। यह कैबिनेट की आवश्यकतानुसार उपयुक्त सूचनाएं तथा आंकड़े उपलब्ध करवाता है तथा मन्त्रिमण्डल की बैठकों में प्रस्ताव रखता है। कैबिनेट की सलाहों तथा निर्णयों को सचिवालय रिकार्ड के रूप में अपने पास रखता है। कैबिनेट सचिवालय का मुख्य कार्य होता है कैबिनेट का मिनट तैयार करना, निर्णयों की मिन्यूट तैयार करना, उससे संबंधित रिकार्ड को व्यवस्थित करना तथा विभिन्न मंत्रालयों द्वारा लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करना। सचिवों की एक समिति होती है जो एक निश्चित अवधि में मन्त्रिमण्डल सचिव की अध्यक्षता में हुई बैठकों में हिस्सा लेते हैं। यह समिति अंतर्मंत्रालयीय समस्याओं को सुलझाने का कार्य करती है। कैबिनेट सचिवालय हमेशा कैबिनेट समिति के पक्ष में ही कार्य करता है। कैबिनेट सचिवालय राष्ट्रपति की संस्तुति पर प्रधान मंत्री के निर्देश पारित सरकारी कानूनों को क्रियान्वित करता है।

मन्त्रिमण्डल सचिवालय का अध्यक्ष कैबिनेट सचिव होता है। यह प्राय: एक विस्तृत प्रशासनिक अनुभव वाला आई.ए. एस. अधिकारी होता है। उसे केंद्र सरकार के उच्च अधिकारी का दर्जा प्राप्त होता है, जो कैबिनेट सचिवालय के उच्च स्तरीय प्रबंधन की देखभाल करता है।

20.3.5 सचिवालय संगठन

'एलोकेशन ऑफ बिजनेसरूल' के अंतर्गत सूचीबद्ध विभिन्न मंलालयों तथा विभागों के कार्यों को निष्पादित करने वाले विभाग को सचिवालय के नाम से जाना जाता है। सरकार को अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह में सचिवालय सहायता प्रदान करता है। यह सरकार की मुख्य तंत्रिका होता है। यह संपूर्ण मंत्रालयों में शीर्ष स्थान पर होता है। एक संस्था के रूप में सचिवालय पूरी तरह सरकार के ऊपर आश्रित होता है।

सचिवालय की कुछ महत्वपूर्ण भूमिकाओं को निम्नलिखित आधारों पर समझा जा सकता है:

(क) सचिवालय स्वास्थ्य, कृषि, शिक्षा तथा रक्षा संबंधी विभिन्न मामलों में नीतियां तय करने में मंत्रालयों की सहायता करता है। इसके लिए संबंधित नीतियों के निर्धारित में सचिवालय आवश्यक सूचनाएं तथा आंकड़े उपलब्ध करवाता है।

(ख) मंत्रियों की विधायिका संबंधी कार्यों में सहायता करता है। इसके लिए कैबिनेट सचिवालय विधायिका संबंधी लेख तैयार करता है। विभिन्न मंत्रियों से संसद में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर के लिए साक्ष्य जुटाता है तथा व्याख्यात्मक सूचनाएं तैयार करता है।

(ग) यह पूर्व साक्ष्यों के आधार पर मंत्रियों को वर्तमान गतिविधियों तथा नीति निर्धारण में सहायता करता है। इस प्रकार एक तरह से विभिन्न मंत्रालयों तथा विभागों की सत्ता एवं परंपराएं बनी रहती हैं।

(घ) संवैधानिक तथा वैधानिक प्रक्रियाओं एवं आर्थिक क्रियान्वयन में तथा ऐसे किसी भी मामले में जिसपर तत्काल सरकार को ध्यान देने की आवश्यकता है– उन मामलों की छानबीन करता है।

(ङ) राज्यों तथा योजना आयोग एवं वित्त आयोग के बीच एक प्रकार से संवादसेतु का कार्य करता है। एक प्रकार से उन्हें तो एक महत्वपूर्ण दलाल के रूप में यह सरकार के साथ संतुलन बनाए रखने का कार्य करता है।

(च) कई ऐसे मंत्रियों जिन्हें अपने विभाग के साथ-साथ कई दूसरे मामले भी देखने होते हैं-जैसे डाक एवं तार विभाग, जोकि संचार मंत्रालय तथा केंद्रीय लोक कार्य विभाग के अंतर्गत आता है– जैसे विभागों को

सचिवालय ही निर्देश देता है तथा उनके कार्यों को सुचारू रूप से चलाने में सहयोग करता है।

प्राय: एक मंत्रालय के अधीन एक ही विभाग आता है। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष प्राय: एक वरिष्ठ आई.ए.एस. अधिकारी होता है, जिसे सचिव कहते हैं। सचिव अपने मंत्रालय के संबंधित मंत्री का मुख्य सलाहकार होता है। इसके साथ-साथ कई अन्य सचिव भी होते हैं जैसे संयुक्त सचिव, उप सचिव, निदेशक तथा अपर सचिव आदि, जिन्हें विभाग के भिन्न-भिन्न कार्य सौंपे जाते हैं। ये सभी एक या दो मामलों को देखते हैं।

20.3.6 संबद्ध कार्यालय

सचिवालय तो उच्चस्तरीय नीतिनिर्धारण से संबंधी मामलों को ही देखता है। इसके अलावा इन निर्धारित नीतियों के क्रियान्वयन हेतु कई प्रकारों की कार्यकारी समितियों की स्थापना की गई है। इन समितियों में दो प्रकार की समितियां प्रमुख हैं : संबद्ध कार्यालय तथा सहयोगी कार्यालय।

संबंद्ध कार्यालय वे होते हैं, जिनपर मंत्रालय तकनीकी रूप से निर्भर करते हैं। ये कार्यालय मंत्रालयों के साथ सीधे संबद्ध होते हैं। वित्त मंत्रालय निरीक्षण निदेशालय (आयकर) तथा प्रशिक्षण निदेशालय प्रवर्तन तथा केंद्रीय उत्पाद जैसे संबद्ध कार्यालयों की सहायता से कार्य करता है। इंटेलीजेंस ब्यूरो गृहमंत्रालय से संबंद्ध कार्यालय होता है। अधिकांश मंत्रालयों के पास संबद्ध कार्यालय होते हैं।

सहयोगी कार्यालय एक प्रकार से सरकार की क्षेत्रीय समितियों को कहते हैं। ये सामान्य रूप से संबद्ध कार्यालयों के अधीन होते हैं। सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादेमी, हैदराबाद गृहमंत्रालय के अधीन एक सहयोगी कार्यालय है।

पाठगत प्रश्न 20.1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

(1) भारत के संसदीय जनतंत्र में वास्तविक कार्यपालिका केंद्र में निहित होती है, सिद्ध कीजिए।

.....

.....

(2) प्रधानमंत्री सचिवालय कब और किसने स्थापित किया था?

.....

.....

(3) मन्त्रिमण्डल सचिवालय का अध्यक्ष कौन होता है?

.....

.....

(4) गृह मंत्रालय से संबद्ध किसी एक कार्यालय का नाम बताइए।

.....

.....

(5) सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादेमी, हैदराबाद की क्या भूमिका है?

.....

.....

(6) केंद्रीय मन्त्रिमण्डल की बैठकों का एजेंडा कौन तैयार करता है?

.....

.....

20.4 राज्य प्रशासन की संरचना

हमारे संविधान में केंद्र तथा राज्य की शक्तियों का विभाजन किया गया है। केंद्र प्रशासन की ही तरह राज्य प्रशासन भी संसदीय जनतंत्र के सिद्धांतों को पालन करते हुए प्रशासन चलाता है।

20.4.1 राज्यपाल

आप पाठ 10 में पढ़ चुके हैं कि राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष होता है तथा राज्य प्रशासन संबंधी सभी कार्य उसी के नाम से निष्पादित होते हैं। हालांकि रूप से राज्यपाल ही राज्य का अध्यक्ष होता है किंतु वास्तविक शक्तियां मुख्य मंत्री तथा मंत्रिपरिषद में निहित होती हैं। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा पांच वर्षों के लिए होती है। एक राज्यपाल को एक या दो राज्यों का प्रशासन भार सौंपा जा सकता है। हालांकि सामान्यतया एक राज्य में एक राज्यपाल का ही प्रावधान है।

राज्यपाल को विस्तृत शक्तियां प्राप्त हैं किंतु वह मुख्यमंत्री तथा मंत्रिप रिषद की सलाहों को मानने के लिए विवश होता है। राज्यपाल को कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त हैं, जिनके अधीन वह मुख्य मंत्री अथवा मंत्रिप रिषद से सलाह लिए बिना अपने विवेक के आधार पर निर्णय ले सकता है। इन्हें विशेषाधिकार कहा जाता है।

विधायी स्तर पर राज्यपाल को शक्ति प्राप्त है कि वह विधायिका (विधान सभा) का सत्र बुला सकता है, उसका सत्रावसान कर सकता है तथा विधान सभा को भंग कर सकता है। हर वर्ष की पहली सत्रीय बैठक को राज्यपाल संबोधित करता है। विधान सभा में पारित विधेयकों को राज्यपाल की संस्तुति के लिए भेजा जाता है। यदि कभी विधान सभा का सत्र न चल रहा हो तो वह विशेष बैठक के लिए सूचना भी जारी कर सकता है। वह विधान सभा को संदेश भेज सकता है इन अधिकारों के चलते ही विधान सभा का सदस्य न होते हुए भी राज्यपाल विधान सभा से बहुत निकट से जुड़ा होता है।

आपको पहले भी बताया जा चुका है कि राज्य प्रशासन राज्यपाल के नाम से ही क्रियान्वित होता है। वह मुख्य मंत्री की नियुक्ति करता है तथा उसकी सलाह से बाकी मंत्रियों की भी नियुक्ति करता है। सामान्यतया बहुमत प्राप्त दल के नेता को ही सरकार बनाने के लिए निमंत्रित किया जाता है। लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि सदन में किसी भी एक पार्टी को बहुमत नहीं प्राप्त होता। ऐसी स्थिति में राज्यपाल अपने विवेक से किसी ऐसी पार्टी के नेता को सरकार बनाने के लिए बुलाता है, जो सुचारू रूप से अन्य दलों के सहयोग से सरकार चला सके। यदि सत्तापक्ष की पार्टी के कुछ सदस्य पार्टी छोड़कर किसी दूसरी पार्टी में चले जाते हैं तो इस अवस्था में सरकार का बहुमत समाप्त हो जाता है। तब एक नए मंत्रिमंडल के गठन की आवश्यकता होती है। राज्य स्तर पर ऐसी स्थिति बहुत तेजी से नहीं उपस्थित होती। ऐसी स्थितियों में राज्यपाल को एक अच्छे राजनीतिक न्यायाधीश की भूमिका निभानी पड़ती है तथा राज्य में उत्पन्न विसंगतियों तथा अस्थिरता को नियंत्रित करने के लिए राज्य प्रशासन का संचालन करता है।

इसके अलावा राज्यपाल के मंत्रियों को विभागों के बंटवारे तथा राज्य प्रशासन को सही रास्ते पर लाने के लिए नियमित हस्तक्षेप संबंधी परोक्ष शक्तियां भी प्राप्त हैं। मुख्य मंत्री प्रशासन संबंधी समस्त सूचनाएं राज्यपाल को उपलब्ध कराने पर बाध्य होता है। राज्य के महाधिवक्ता तथा लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति राज्यपाल करता है। राज्यपाल को राज्य के विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति का सम्माननीय पद भी प्राप्त होता है।

न्यायिक सम्मान की दृष्टि से राज्य के न्यायाधीशों तथा अन्य न्यायिक कर्मचारियों की नियुक्ति पदोन्नति तथा स्थानांतरण संबंधी मामलों, जिला न्यायाधीशों उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी राज्यपाल ही करता है। वह उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति को परामर्श देता है। उसे न्यायालयों द्वारा सजायाफ्ता व्यक्ति को क्षमादान का भी अधिकार प्राप्त है।

राज्यपाल को मंत्रियों से परामर्श किस बिना भी कुछ निर्णय लेने संबंधी विशेषाधिकार प्राप्त हैं। आसाम के राज्यपाल को जनजातीय इलाका होने के नाते वहां की सरकार ने 35 प्रशासन संबंधी विशेष अधिकार प्रदान किए हैं। नागालैंड के राज्यपाल को भी इसी से मिलते-जुलते विशेषाधिकार प्रदान किए गए हैं, जो वह राज्य में हिंसा एवं

कानूनी अस्थिरता उत्पन्न हो जाने की स्थिति में प्रयोग कर सकता है।

सामान्य स्थितियों में राज्यपाल किसी पारित विधेयक को राष्ट्रपति से परामर्श अथवा विचार हेतु नहीं रोक सकता। यदि किसी स्थिति में लगता है कि राज्य सरकार उसके अनुसार कार्य नहीं कर पा रही है तो ऐसी स्थिति में वह राज्य की स्थिति पर एक रिपोर्ट तैयार करके राष्ट्रपति को भेज सकता है तथा उससे राज्य में राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर सकता है।

राज्यपाल राज्य-प्रशासन बड़ी सावधानी, तत्परता तथा कुशलता पूर्वक चलाते हैं। उसके पास बहुत से क्षेत्रीय विवाद हल के लिए आते हैं। राजनीतिक पार्टियां राज्यपाल का ध्यान इन विवादों की तरफ आकर्षित करती हैं। उसके ऊपर राज्य की राजनीतिक गतिविधियों तथा केंद्र के दबावों के चलते बहुत कार्यभार होता है। राज्यपाल शांतिपूर्वक इन सारे दबावों तथा विवादों को सुलझाता है तथा यह सिद्ध करता है कि वह केंद्र का एजेंट मात्र नहीं है।

20.4.2 मुख्य मंत्री

राज्य स्तर पर मुख्य मंत्री ही राज्य सरकार का मुख्य कार्यकारी अध्यक्ष होता है। उसे राज्यपाल नियुक्त करता है। मंत्रि परिषद के बाकी सदस्यों की नियुक्ति भी राज्यपाल मुख्य मंत्री की सलाह पर करता है। अपने बहुमत प्राप्त दल का नेता होने के कारण मुख्य मंत्री ही राज्य प्रशासन का वास्तविक शासक होता है। वह अपनी कैबिनेट तथा कार्यकारी टीम का गठन करता है जो उसके कार्यकाल तक परामर्श प्रदान करती है तथा उसके निर्देशों का पालन करती है। वह राज्य कैबिनेट का प्रमुख होने के नाते अपने मंत्रिमंडल के सभी सदस्यों को विभागों का बंटवारा करता है। सभी मंत्री विभिन्न मंत्रालयों से संबंधित विवादों के लिए मुख्य मंत्री पर ही आश्रित होते हैं तथा उसके सुझावों तथा निर्णयों को ही अपने विभागों में लागू करते हैं।

राज्यपाल तथा मंत्रि परिषद के बीच मुख्य मंत्री संवाद सेतु का कार्य करता है। मुख्य मंत्री राज्य प्रशासन से संबंधित सभी महत्वपूर्ण सूचनाएं राज्यपाल को उपलब्ध करवाता है।

मुख्य मंत्री राज्यविधान पालिका का नेता तथा राज्य प्रशासन का मार्गदर्शक होता है। वह अपनी पार्टी का नेता तो होता ही है, पार्टी की नीतियां तय करता है तथा लोगों से संपर्क बनाए रखता है। आज के अधिकांश राज्यों में मुख्य मंत्री को राजनीतिक तथा प्रशासनिक दोनों मोर्चों पर डटे रहना पड़ता है।

20.4.3 मुख्य सचिव

केंद्र प्रशासन की तरह राज्य में भी एक सचिवालय होता है। सचिवालय एक प्रकार से राज्य प्रशासन के लिए आधार का काम करता है। सचिवालय में विभिन्न मंत्रालयों तथा विभागों के अलग-अलग मुख्यालय होते हैं जिनका अध्यक्ष सचिव होते हैं। सचिव के बाद क्रम से कई अधिकारी कार्यकारी कार्यरत होते हैं। प्रशासनिक स्तर पर सचिव सचिवालय का मुखिया तो होता ही है, अलग-अलग विभागों के सचिवों का अध्यक्ष भी होता है। वह लोक सेवा का अध्यक्ष होता है तथा सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति तथा स्थानांतरण संबंधी मामले भी वही तय करता है। सभी सरकारी कर्मचारी अपने सेवा काल तक उसके ही अधीन कार्य करते हैं। मुख्य मंत्री राज्य की राजनीतिक गतिविधियों का नेता होता है तो मुख्य सचिव प्रशासनिक गतिविधियों का। वह कार्यालयी तंत्र की धुरी तथा मंत्रिपरिषद का मुख्य सलाहकार होता है।

मुख्य सचिव मुख्य मंत्री का मुख्य सलाहकार होता है। कैबिनेट सचिव होने के नाते वही सचिवालय की तरफ से होने वाली बैठकों का एजेंडा तय करता है।

मुख्य सचिव केंद्रीय दस्तावेज शाखा के निरीक्षण से लेकर सचिवालय की संपूर्ण गतिविधियों के लिए जिम्मेदार होता है। वह अंतर्विभागीय गोपनीयता को बनाए रखते हुए मुख्य मंत्री की प्रशासन संबंधी गतिविधियों में सहायता प्रदान करता है। वह सचिवालय में होने वाली बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा अपनी सलाह देता है। राज्य में आपात काल, बाढ़ अथवा सूखे के दौरान मुख्य सचिव आकस्मिक प्रशासन को अपने हाथों में ले लेता है। उपरोक्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मुख्य सचिव प्रशासन के लिए धुरी का कार्य

करता है।

20.4.4 राज्य सचिवालय

आपको पहले ही बताया जा चुका है कि सचिवालय अपने अलग-अलग मुख्यालय निर्मित करता है। इसी के तहत राज्यों में भी यह अपने मुख्यालय स्थापित करता है। प्रत्येक सरकारी विभाग एक सचिव के अधीन होते हैं, जो सामान्यतया आई.ए.एस. अधिकारी होते हैं। गृह, वित्त, कृषि, सिचाई, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण, शिक्षा आदि कुछ मुख्य सचिवालय विभाग हैं। सचिव से नीचे उप सचिव, संयुक्त सचिव तथा अवर सचिव जैसे कई पद होते हैं। सचिव मुख्यत: सरकार की नीति निर्धारण संबंधी कार्यों में सहायता प्रदान करता है। विभिन्न विभागों के सचिव अपने विभाग के बाकी सहयोगियों के साथ संबंधित मंत्री को नीति निर्धारित करने में सहायता प्रदान करता है। प्रत्येक विभाग समस्त प्रशासनिक दस्तावेज, आंकड़े तथा सूचनाएं संग्रह करके सुरक्षित रखता है। किस नीति को कैसे लागू किया जाना चाहिए इसके लिए भी सचिवालय सरकार के प्रशासनिक मस्तिष्क के रूप में कार्य करता है। सचिवालय सरकारी व्यवस्थापना संबंधी खर्चों का लेखा-जोखा भी देखता है। कार्यालयों की स्थापना घरेलू उपादानों के रखरखाव तथा विभागीय बजट को निर्धारित करने में भी सचिवालय अपनी भूमिका निभाता है। सभी पारित कानून सचिवालय द्वारा रिकार्ड के रूप में रखे जाते हैं तथा विधि मंत्री द्वारा सक्रिय रूप से विधाई विवादों को निपटाया जाता है। यह सब सचिवालय की जिम्मेदारी के अंतर्गत ही आता है।

20.4.5 निदेशालय

यह सर्वविदित है कि सचिवालय एक नीति निर्धारक संस्था है, जबकि निदेशालय इसकी एक कार्यकारी इकाई होता है। निदेशालय किसी भी संबद्ध विभाग के निदेशक की अध्यक्षता में कार्य करता है उदाहरण के लिए, जैसे नगरपालिका अथवा ग्राम विकास मामले एक आई ए एस अधिकारी स्तर के सचिव की अध्यक्षता में संबंधित मंत्रियों को राजनीतिक तथा प्रशासनिक नीतियां निर्धारित करने में सहायता प्रदान करता है। किंतु इन विभागों के निदेशालय निदेशक, उपनिदेशक तथा संयुक्त निदेशकों की सहायता से क्षेत्रीय स्तर पर प्रशासनिक नियंत्रण रखने का कार्य करते हैं। निदेशालय यह देखने का कार्य करता है कि नगर पालिकाओं की क्या गतिविधियां हैं। निदेशालयों द्वारा एकत्र की गई सूचनाएं सचिवालय के लिए बहुत उपयोगी होती हैं। उदाहरण के लिए, शिक्षा विभाग में तय की जाने वाली नीतियां इसके अंतर्गत गठित विभिन्न मंत्रालयों की सहायता से निर्धारित की जाती हैं। लोक सूचना निदेशालय राज्य में शिक्षा विभाग का एक महत्वपूर्ण निदेशालय होता है।

सचिवालय तथा निदेशालय अलग-अलग संस्थान होते हैं, किंतु दोनों एक दूसरे के साथ अंतरंग रूप से जुड़े होते हैं। किंतु वास्तविक प्रशासन में इन दोनों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती।

पाठगत प्रश्न 20.2

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(1) राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सता है यदि ..... का सत्र नहीं चल रहा हो।

(2) राष्ट्रपति ..... की नियुक्ति के मामलों में राज्यपाल से सलाह लेता है।

(3) राज्य में लोक सेवा का अध्यक्ष ..... होता है।

(4) ..... के नीचे उप सचिव का पद होता है।

(5) नगर पालिका की क्षेत्रीय स्तर की समस्याओं को ..... निदेशालय देखता है।

(6) लोक सूचना निदेशालय ..... के कार्यों को देखता है।

20.5 जिला प्रशासन की संरचना

प्रत्येक राज्य विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में विभक्त होता है इन्हें जिला कहा जाता है। जिला प्रशासन एक प्रकार से राज्य का विकेंद्रीकृत प्रशासनिक इकाई होता है। जिला प्रशासन का उद्देश्य मुख्यत: राज्य के सभी लोगों के

लिए समुचित प्रबंध मुहैया कराना होता है। इस प्रकार सिंचाई, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि जैसे राज्य के लोक कार्य से संबंधित अनेक विभाग ऐसे हैं जो जिला स्तर पर नियंत्रित किए जाते हैं। जिला प्रशासन में आज भी मुगल तथा अंग्रेजी शासन की बहुत सारी पद्धतियां मिली जुली हैं। औपनिवेशक शासन प्रणाली के तहत ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने प्रशासन को मजबूत बनाने के लिए विभिन्न जिलों में विभाजित किया था, जो आज भी चला आ रहा है। जिला प्रशासन का मुख्य अधिकारी जिलाधीश कहलाता है। वह मुख्य रूप से राजस्व वसूली, भूमि व्यवस्था, तथा भूमि रिकार्डों के रखरखाव आदि संबंधी सार्वजनिक व्यवस्था की देखरेख करता है। ऐतिहासिक रूप से संवैधानिक आधार पर तो जिलाधीश की स्थिति में कुछ सुधार किए गए हैं। उदाहरण के लिए, स्थानीय सरकारें नगर पालिकाओं तथा दूसरे निर्वाचित संगठनों की सहायता से प्रशासन संभालती हैं। कई नए विभागों ने भी जिलास्तर पर अपने कार्यालयों की स्थापना करनी शुरू कर दी है। इन विभागों का अपने जिला कार्यालयों से सीधा संबंध बना रहता है। पहले जिलाधीश जिला प्रशासन का मुख्य अधिकारी होता था, किंतु धीरे-धीरे यह परंपरा विकसित होती चली गई कि ये विभाग प्राय: सीधे राज्य मुख्यालयों से संपर्क बना लेते हैं। ये सब जिलाधीश की स्थितियों में आए परिवर्तन हैं। वह एक तरह से सरकार की आंख और कान के रूप में कार्य करता है वह जिले का संपूर्ण प्रशासन अकेले नहीं समायोजित कर सकता।

आजादी के बाद सरकार ने बहुत तेजी से सामाजिक, आर्थिक विकास के कार्यों को लागू कर दिया था। उसी समय जिला प्रशासन के बाहरी ढांचे में कुछ परिवर्तन भी दिखाई दिए। इसको केवल कानून एवं व्यवस्था तक ही सीमित न रखकर जन कल्याण तथा विकासात्मक कार्यों में भी लगाया गया। कृषि, औद्योगिक उत्पादनों, गरीबी उन्मूलन, स्वास्थ सुधार आदि कार्यों की तरफ भी ध्यान दिया गया। आजादी के बाद सरकार ने सड़क निर्माण, बिजली उत्पाद, सिचाई संसाधनों का विकास, नई रेलवे लाइनों का निर्माण आदि ढांचागत विकास की तरफ भी ध्यान आकर्षित किया। इन सब कार्यों के निस्पादन के लिए जिला तथा उसके निचले स्तरों में कार्यालयों की स्थापना की आवश्यकता पड़ी। जिलाधिकारी को जिले का उच्च अधिकारी होने के नाते इन सारे विभागों के निरीक्षण की जिम्मेदारी सौंपी गई।

20.5.1 जिलाधीश

जिलाधीश की भूमिका का मूल्यांकन जिला प्रशासन के संदर्भ में ही किया जा सकता है एक आम आदमी नागरिक की भांति ही वह सरकार का प्रतिनिधित्व करता है। उसके पहले वाली कानून एवं व्यवस्था संबंधी शक्तियां भी अस्तित्व में बनी हुई हैं। वह अपनी भूमिका का निर्वाह जिला पुलिस के मुख्य अधिकारी सुपरिटेंडेंट ऑफ पुलिस (एस.पी.) की सहायता से करता है। किंतु वर्तमान में उसका मुख्य ध्यान आम नागरिक उपभोक्ता सामग्रियों- जैसे मिट्टी तेल अथवा दूसरी राशन सामग्री। को उपलब्ध कराने की तरफ ही विशेष तौर पर होता है। इसके अलावा विकास कार्यों के क्रियान्वयन, शिशु-स्वास्थ्य, कृषि, गरीबी उन्मूलन कार्य, तथा दूसरे अन्य विभागों द्वारा मुहैया सुविधा कार्यक्रमों को सुनिश्चित कारना भी जिलाधीश के कार्यक्षेत्र में आता है। जैसे भूमि हदबंदी, सड़क निर्माण अथवा सिंचाई के लिए बांधों का निर्माण आदि।

जिलाधीश की प्राथमिक भूमिका होती है निरीक्षण, एकीकरण तथा सहभागिता की। बहुत सारे बिना किसी सहयोगी विभागों के स्वतंत्र रूप से अपनी गतिविधियां चलाते हैं। ये विभाग जिलाधीश की सहभागिता द्वारा अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं। स्थानीय सरकारी निकाय भी जिला स्तर पर कार्य करते हैं, जैसे शहरी स्तर पर नगर पालिका तथा ग्राम स्तर पर पंचायती राज जैसे संगठन विकासात्मक योजनाओं का निर्धारण करते हैं। इन स्थानीय निकायों का नियंत्रण, संचालन जिलाधीश करता है।

जिलाधीश लोगों की शिकायतें सुनता तथा उनके निबटारे करता है। नई सड़क के निर्माण, यातायात की व्यवस्था, जल आपूर्ति जैसी अनेक स्थानीय मांगें जिलाधीश के पास लोग रखते हैं फिर जिलाधीश इन सब मांगों की तरफ से राज्य सरकार के समक्ष हल के लिए अपनी सिफारिशें रखता है।

राज्य सरकारें अपनी विकास योजनाएं तथा नीतियों के क्रियान्वयन के लिए जिलाधीश पर आश्रित होती हैं। राज्य मुख्यालयों से इसके लिए जिलाधीशों को लगातार संपर्क में बनाए रखा जाता है। यह राज्य प्रशासन की सार्वजनिक योजनाओं में सहायता प्रदान करता है। उसे शांति व्यवस्था, आम शिकायतें सुनना तथा उनके निबटारे, सरकारी

योजनाओं को क्रियान्वित करना तथा राज्य मुख्यालयों से संवाद स्थापित करना जैसे बहुआयामी भूमिका निभानी पड़ती हैं। बाढ़, भूकंप, सूखा आदि अनेक आपातकालीन परिस्थितियों में राज्य प्रशासन की क्षेत्रीय इकाई का प्रधान होने के नाते संपूर्ण प्रशासन की जिम्मेदारी जिलाधीश के ऊपर आ जाती है।

20.5.2 उप - संभाग अधिकारी (एस डी ओ) अथवा तहसीलदार

प्राय: सभी जिलों को कुछ छोटे संभागों में बांटा गया है, जिसे सबडिवीजन अथवा तहसील कहते हैं। तहसील का अधिकारी तहसीलदार कहलाता है। उसका कार्य भी तहसील स्तर पर जिलाधीश की भांति ही होता है। तहसीलदार जिला प्रशासन का ही एक अभिन्न अंग होता है। वह जिलाधीश के निकट संपर्क में होता है तथा उसके आदेशों का अपने बड़े अधिकारी के रूप में पालन करता है। वह पुलिस गतिविधियों की देखरेख, राजस्व वसूली, नक्शे तथा भूमि संबंधी दस्तावेजों के रखरखाव में सहायता करता है। तहसील स्तर के भूमि संबंधी विवाद उसी के समक्ष आते हैं। बंदूक के लिए लाइसेंस तथा दूसरे प्रकार के लाइसेंसों के लिए उसकी संस्तुति आवश्यक होती है। वह सरकारी विकास कार्यों को तहसील स्तर पर क्रियान्वित करने में सहायता करता है। वह जनता से मधुर संबंध बनाए रखता है तथा तहसील स्तर पर होने वाले तमाम विकास कार्यों की रिपोर्ट जिलाधीश को प्रस्तुत करता है। वह तहसील स्तर पर कुछ- कुछ जिलाधीश के तरह की जिम्मेदारियों का ही निर्वाह करता है। और वह ये सारे कार्य जिलाधीश के एक एजेंट की भांति निष्पादित करता है।

20.5.3 खंड विकास अधिकारी (बीडीओ)

खंड तहसील की एक उप प्रशासनिक इकाई होती है, जिसका गठन लोगों के एकदम नजदीक तक और त्वरित गति से विकास मुहैया कराए जाने के उद्देश्य से हुआ था। इसका गठन 1952 में हुआ था। खंड स्तर पर विकास कार्यों को क्रियान्वित करने के लिए बीडीओ संयोजक की भूमिका निभाता है। वह राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा चुना गया राज्य सरकार का कर्मचारी होता है। वह तहसीलदार के अधीन राज्य सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करता है। वह अपने स्तर पर राजस्व कार्यों, चुनाव प्रक्रिया क्रियान्वित करने तथा सामान्य राज्य सरकार निरीक्षण कार्यों में सहयोग करता है। बीडीओ पंचायती राज व्यवस्था के साथ बहुत नजदीक से जुड़ा होता है। आप पाठ 25 में संपूर्ण पंचायती राज व्यवस्था के बारे में विस्तार से पढ़ेंगे। वह एक तरह से पंचायती राज समिति का सचिव भी होता है, जो बैठकें आयोजित करता है, उनके रिकार्ड तैयार करवाता है, ब्लाक स्तर के बजट तैयार करता है, विकास कार्यों से संबंधित प्रारूप तैयार करता है तथा उनके क्रियान्वयन में सहयोग प्रदान करता है। उसके अधीन विभिन्न विभागों जैसे कृषि, मछलीपालन, पशुपालन कम्रचारी कार्य करते हैं। ये सभी कर्मचारी अपने-अपने विभागों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। बीडीओ इन कर्मचारियों की टीम का कप्तान होता है। समय-समय पर बीडीओ इनके संपूर्ण कार्यों का निरीक्षण करता रहता है। किंतु इनसे संबंधित सभी न्यायिक मामले जिला न्यायालय के अधीन देखे जाते हैं। इस व्यवस्था के चलते इनमें प्राय: तनाव पैदा हो जाया करते हैं किंतु बीडीओ इन्हें नियंत्रित नहीं कर पाता। अब तो लगभग एक परंपरा सी बन गई है कि ये कर्मचारी बीडीओ के नियंत्रण से बाहर होते हैं।

बीडीओ के दो प्रमुख कार्य होते हैं :

(क) विकास प्रबंधन, तथा (ब) पंचायत समिति प्रबंधम। विकास प्रबंधन से संबंधित कार्यों के अंतर्गत बीडीओ विभिन्न परियोजनाओं तथा कार्यक्रमों को अपने ब्लाक में संपन्न करवाता है तथा उन सबकी प्रगति आख्या जिला स्तर पर अपने उच्च अधिकारियों जिला परिषद तथा जिलाधीश को भेजता है। यह विशेष तौर पर जनजातीय, अनुसूचित जाति के लोगों के विकास से जुड़ी परियोजनाओं को संचालित, नियंत्रित करने का कार्य करता है। उसके जिम्मे सड़क-निर्माण तथा सिचाई जैसे बहुत सारे ढांचागत विकास परियोजनाएं भी होती हैं। इन परियोजनाओं को समय से पूरा करवाने की जिम्मेदारी बीडीओ की ही होती है।

पंचायत समिति का सचिव होने के नाते बीडीओ को ब्लाक प्रमुख तथा उससे नीचे के अन्य राजनीतिक नेताओं से भी मधुर संबंध स्थापित करने पड़ते हैं। बीडीओ को विभिन्न स्थानीय राजनीतिक गुटबंदियों के चलते आने वाली शिकायतों तथा विवादों का भी निपटारा करना पड़ता है। बीडीओ तथा स्थानीय नेताओं के बीच विवाद उत्पन्न हो जाना तो आम बात है, खासकर तब जब बीडीओ धांधली तथा झूठे बजट के द्वारा सभी लोगों को संतुष्ट करने से इंकार कर देता है। ब्लाक स्तर का अधिकारी होने के नाते उसकी मुख्य जिम्मेदारी होती है कि वह ब्लाक में चलाए

जा रहे विकास कार्यों के समुचित क्रियान्वयन की देखरेख करें।

20.6 नौकरशाही की विकास कार्यों में भूमिका

हम पहले ही इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि आजादी के बाद प्रशासन का रुख शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने से बदलकर विकास कार्यों की तरफ कर दिया गया। आजाद भारत में सामाजिक-आर्थिक विकास, सामाजिक तथा आर्थिक असमानता को खत्म करना तथा लोक प्रशासन को मजबूत करना इसके पीछे तुख्य लक्ष्य था। इसी पृष्ठभूमि में नौकरशाही पर भी चर्चा करना आवश्यक हो जाता है।

20.6.1 नौकरशाही की परिकल्पना

'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग पहली बार जर्मन सामाजिक दार्शनिक मैक्स वेबर ने की थी। उसके अनुसार नौकरशाही कुछ विशिष्ट लोगों द्वारा निर्मित एक विशेष प्रकार का संगठन होता है। इसके मुख्य लक्ष्य होते हैं: (क) कार्यों का विभाजन (ख) औपचारिक कानूनों द्वारा कार्यों का निर्धारण (ग) कार्य एवं शक्ति का श्रेणीगत विभाजन (घ) कानूनों के अनुसार तथा मेधा के आधार पर सेवाशर्तें तथा नियुक्ति निर्धारित करना। वेबर के अनुसार एक आधुनिक संगठन में व्यक्तिवाद तथा श्रेणीवादी को खत्म करने के लिए ये सब खाशियतें होनी आवश्यक होती हैं। इसमें सेवा तथा कार्य की शर्तें स्पष्ट रुप से वर्णित होनी चाहिए। एक अफसरशाही संगठन के अंतर्गत निर्वैयक्तिकता निष्पक्षता तथा वस्तुनिष्ठता होना परम आवश्यक है। 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग उन सभी प्रशासनिक अधिकारियों के लिए किया जाता है जो मेधा के आधार पर एक प्रतियोगात्मक परीक्षा के माध्यम से चुने जाते हैं। वे अवकाश प्राप्ति तक अपने पद पर बने रहते हैं। ये मंत्रियों के बदलने से नहीं बदल जाते।

20.6.2 भारत में नौकरशाही का बदलता रूप

आजादी के बाद भारत सरकार ने जब अपना सारा ध्यान विकास कार्यों की तरफ लगाया तो उसे एक चौकस नौकरशाही की आवश्यकता पड़ी। भारत में नौकरशाही पहले अंग्रेजी हुकूमत के अधीन एक प्रकार से शोषण को गरिमामंडित करने के तंत्र के रूप में कार्य करती थी। प्रशासक मालिक थे किंतु जनता को अपनी बात तक कहने का हक नहीं था। आजादी की लड़ाई का मुख्य मुद्दा भी यही था कि लोगों को अपनी समस्याएं रखने का अधिकार दिया जाए तथा अंग्रेजी अफसरशाही भंग करके प्रशासन को जनता के हाथों में नियंत्रण के लिए सौंप दिया जाए। इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि अफसरशाही को विकास कार्यों में अक्षम घोषित कर दिया गया। तमाम तर्कों के बाद यह पाया गया कि अंग्रेजी अफसरशाही व्यवस्था को इतनी आसानी से खत्म नहीं किया जा सकता। प्रशासकों का जनता के साथ कोई संपर्क ही नहीं हो पाता। प्रशासक स्थानीय लोगों की समस्याओं से परिचित ही नहीं हो पाते और न उनके मन में उनके प्रति कोई सहानुभूति होती है। जनतंत्र का अर्थ होता है जनता का शासन। इस अर्थ में राजनेता एक अच्छे न्यायाधीश होते हैं, जो लोगों की समस्याओं को सुनते हैं। लेकिन प्रशासक शक्ति स्रोत का हिस्सा ही नहीं बनना चाहते । समस्याओं को सुनते हैं। वे राजनीतिज्ञों को अपने प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखते हैं। विकास का अर्थ होता है नई-नई गतिविधियों का चलाया जाना। कृषि, उद्योग, मछलीपालन, पशुपालन तथा वन विकास आदि विभिन्न क्षेत्रों में उत्पाद वृद्धि की आवश्यकता है। इसके लिए प्रशासन को अधिक से अधिक स्थानीय संपर्क में आने की आवश्यकता है, बजाय सचिवालयों से चिपके रहने के। शक्ति तथा अधिकारों का विकेंद्रीकरण होना चाहिए। जबकि अफसरशाही शक्ति तथा अधिकारों के केंद्रीकरण के पक्ष में रही है और लगातार इसके विकेंद्रीकरण को टालती रही है। प्रशासकों को कठोर प्रशासनिक तथा नियमकायदों की लीक पीटने वाला नहीं होना चाहिए। आज जरूरत है एक समयबद्ध परियोजना कार्यक्रम चालाए जाने की। स्थानीय लोगों की क्षमता तथा हुनर को स्थानीय विकास के कार्यों में उपयोग किए जाने की। प्रशासकों की सेवा स्थानांतरणीय होने के कारण ये स्थानीय लोगों के संपर्क में नहीं रहना चाहते। दूसरी आलोचनाओं में कहा जाता है कि गरीबी उन्मूलन, स्वास्थ्य तथा सामाजिक असमानता आदि मुद्दों को सिर्फ अभियान चलाकर ही हल किया जा सकता है। किंतु अफसरशाही के पास तो आवश्यक मनोवैज्ञानिक क्षमता भी नहीं होती, जो सामाजिक विसंगतियों को दूर करने में प्रयोग कर सके।

इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद प्रशासकों को प्रशासन चलाने का हुनर तो होता ही है। कानून एवं व्यवस्था तथा अनुशासन को भंग नहीं होने देते। कोई भी विकास कार्य कानूनों को तोड़कर तथा अवैध रूप से नहीं चलाए जा

सकते। राजनेता स्थानीय समस्याओं से वाकिफ जरूर होते हैं किंतु छोटे-छोटे निर्वाचन क्षेत्र संबंधी निजी स्वार्थों के चलते ये प्रायः कानून एवं व्यवस्था को भंग करने से नहीं चूकते। राजनेता अच्छे प्रशासक तभी बन पाते हैं जब उन्हें प्रशासक कानून एवं व्यवस्था संबंधी नियमों तथा बजट संबंधी रिकार्डों के प्रबंधन संबंधी जानकारियां उपलब्ध कराते रहते हैं। राजनेताओं को एक अच्छा प्रशासक बनने के लिए अफसरशाहों के साथ एक टीम की तरह कार्य करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार दोनों को एक दूसरे की भूमिका का महत्त्व समझना आवश्यक हो जाता है। प्रशासकों को मूलतः विकास मूलक होना चाहिए। उन्हें राजनेताओं के मन तथा उनकी आवश्यकताओं को समझना चाहिए। जनता के साथ कार्य करने के लिए प्रशासकों में एक विशेष मानसिक बनावट की आवश्यकता है। राजनेताओं को भी इसी प्रकार प्रशासकों के मन तथा सामान्य प्रशासनिक नियमों की जानकारी होनी चाहिए।

कार्य संबंधी परिवर्तन के लिए प्रशासनिक विकास की आवश्यकता है ताकि एक नए रूप में लोक प्रशासन का उदय हो सके। आजादी के पचास वर्षों में प्रशासनिक विकास के नाम पर राजनेता तथा प्रशासकों के बीच मतभेद ही गहरे हुए हैं। आज प्रशासक स्थानीय समस्याओं से ज्यादा जुड़ गए हैं तथा उनका जनसंपर्क गहरा हुआ है। आज प्रशासन के कई ऐसे क्षेत्र हैं, जो सीधे विकास कार्यों से जुड़े हैं। भारतीय अफसरशाही पुराने अंग्रेजी हुकूमत की तरह जनता से दूर रहने वाली तथा राजनेताओं से पीड़ित नहीं है। जनता का प्रशासन के साथ एक मित्रवत संबंध स्थापित हुआ है। आज तेजी से विकास के लिए आवश्यक है कि जनता-प्रशासन-राजनेता संबंधों को और मजबूत और पारदर्शी बनाया जाए।

20.6.3 विकास कार्यों में नौकरशाही की भूमिका

उपरोक्त विवेचन के आधार पर एक बात स्पष्ट हो चुकी है कि अंग्रेजी हुकूमत में भारतीय प्रशासन का चरित्र संदेहास्पद था। इसलिए यह सुझाव रखा गया है कि विकास के लिए जरूरी है कि प्रशासन को जनता के मित्र, गतिविधि मूलक तथा परिणामकारी बनाना आवश्यक है। इस प्रकार पचास के दशक के शुरू में अफसरशाही की भूमिका एक प्रकार से विकास कार्यों में नकारात्मक रूप में उभरनी शुरू हुई।

विकास कार्यों में तेजी लाने के लिए नए-नए विभागों की स्थापना की गई तथा नए-नए अधिकारियों की नियुक्ति की गई। जनजातीय विकास तथा कृषि संबंधी विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। आज प्रशासनिक समता के बढ़ जाने से नए परिवर्तन आने शुरु हो गए हैं। आज प्रशासक विज्ञान एवं तकनीकी से संपन्न हो गया है। राजनीतिक दबावों के चलते गरीबी उन्मूलन, सामाजिक न्याय तथा उत्पादन क्षमता में बढ़ोत्तरी हुई है। इसमें प्रशासनिक मस्तिष्क का बहुत बड़ा योगदान है। नई विकासात्मक स्थितियों के चलते नए प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्तियां भी बढ़ी हैं। राजनेताओं तथा प्रशासकों के बीच इन परिस्थितियों के चलते मतभेद तथा तनाव भी बढ़ हैं। किंतु फिर भी अफसरशाही के अंदर एक नई विकासात्मक संस्कृति का उदय हुआ है तथा अफसरशाह जनता के बहुत करीब आए हैं।

भारतीय अफसरशाही में सहभागिता तथा प्रशिक्षण मूलक कार्यों की प्रवृत्ति बढ़ी है। आज समस्या यह नहीं है कि इसके साथ कैसे जुड़ा जाय बल्कि यह है कि इसे किस तरह और अधिक विकास कार्यों में लगाया जाए विकासात्मक प्रशासन के लिए समुचित प्रबंधन की आवश्यकता है। विकासात्मक प्रशासन के लिए मूलतः परियोजनाओं का गठन, उनके क्रियान्वयन, देखरेख तथा उनके मूल्यांकन की आवश्यकता है। भ्रष्टाचार तथा फिजूलखर्ची रोकने के लिए आर्थिक प्रबंधन तथा एकाउंट संबंधी व्यवस्था को भी दुरुस्त करना उतना ही आवश्यक है। जनतांत्रिक मूल्यों की गरिमा को समझते हुए जनता की बात को सुनने, समझने तथा विकास कार्यों में उनकी भागीदारी की आवश्यकता है। इन तमाम मुद्दों पर भारतीय अफसरशाही में बहुत धीमी गति से परिवर्तन आ रहे हैं, किंतु यह विश्वास है कि ये परिवर्तन अवश्य आएंगे। समाज में भी विकास कार्यों के प्रबंधन संबंधी क्षमता का विकास तथा परिवर्तन हुए हैं। अफसरशाही की सक्रियता के चलते प्रशासनिक संगठनों के प्रति जनता में लोकप्रियता बढ़ी है। हमारी स्थानीय स्वायत्तशासी सरकारी संगठनों को विकास कार्यों में तेजी लाने के लिए और अधिक शक्ति तथा अधिकार प्रदान किए जाने की आवश्यकता है तथा हमारे समुदायों पर आधारित संगठनों को और अधिक शक्ति संपन्न बनाने की आवश्यकता है, ताकि स्थानीय विकास में तेजी आ सके। विकासात्मक कार्यों

के लिए अफसरशाही को सरकारों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है, जबकि तेजी से सामाजिक विकास के लिए स्थानीय प्रशासन को स्वायत्त तथा अधिक शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता है।

पाठगत प्रश्न 20.3

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

1. जिला प्रशासन का सबसे बड़ा अधिकारी कौन होता है?

   .....

   .....

2. स्वतंत्रता के पश्चात, जिला प्रशासन ने कानून एवं व्यवस्था के अलावा अन्य कौन-सी गतिविधियों की जिम्मेदारी ग्रहण की?

   .....

   .....

3. राज्य सरकार जिलाधीश पर किसलिए निर्भर रहती है?

   .....

   .....

4. राजस्व निर्धारित करने और उसकी वसूली करने में जिलाधीश की सहायता कौन करता है?

   .....

   .....

5. पंचायत समिति का सचिव कौन होता है?

   .....

   .....

आपने क्या सीखा

इस पाठ के अंतर्गत, आपने जाना कि लोक प्रशासन कैसे संगठित किया जाता है यह केन्द्रीय, स्तर पर, राज्य स्तर पर तथा जिला स्तर पर किस तरह काम करता है। केन्द्रीय स्तर पर, भारत के राष्ट्रपति, भारत के प्रधान मंत्री और उनके कार्यालय (जिन्हें प्रधान मंत्री कार्यालय कहा जाता है), केबिनेट सचिवालय, केन्द्रीय सचिवालय संगठन और इससे जुड़े कार्यालय की भूमिका और उनकी कार्य प्रणाली के बारे में चर्चा की गई है।

इसके बाद राज्य प्रशासन के स्तर पर उपराज्यपाल, राज्य के मुख्य मंत्री, मुख्य सचिव-मुख्य मंत्री के मुख्य सलाहकार के रूप में तथा केबिनेट और राज्य प्रशासन की भूमिका के बारे में बताया गया। राज्य-मुख्यालय में, राज्य सचिवालय और निदेशालय की स्थिति तथा कार्यप्रणाली असंतोषजनक है। क्षेत्रीय स्तर पर राज्य प्रशासन जिलाधीश और जिला स्तर के अन्य अधिकारियों की सहायता से कार्य करता है। इस पाठ में तहसीलदार और बीडीओ की भूमिका और उनके कर्त्तव्यों का वर्गीकरण किया गया है। कई प्रशासक जैसे कि विभाग का सचिव और जिला स्तर का अधिकारी विकासात्मक प्रशासन में एक अहम और महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अफसरशाही विकास कार्यों में भूमिका कैसे निभाती है और विकास कार्यों में अफसरशाही की संलग्नता से किस तरह की समस्याएं पैदा होती हैं, इन सबका ब्यौरा इस पाठ के अंतिम भाग में दिया गया है।

इस पाठ को पढ़ने के पश्चात, आप जान पाएंगे कि विभिन्न स्तरों पर लोक प्रशासन किस तरह संगठित किया जाता है और विकास कार्यों में अफसरशाही क्या भूमिका निभाती है?

पाठांत प्रश्न

1. प्रधान मंत्री कार्यालय के क्या कार्य हैं?
2. कैबिनेट सचिवालय का ढाँचा और कार्यप्रणायली की चर्चा कीजिए?
3. केन्द्रीय सचिवालय के संगठन के बारे में विस्तार से बताइए
4. उपराज्यपाल की शक्तियां और कार्य के बारे में बताइए
5. राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव द्वारा क्या भूमिका निभाई जाती है?
6. राज्य सचिवालय को किस तरह संगठित किया जाता है?
7. निदेशालय में राज्य प्रशासन की भूमिका और कार्यप्रणाली विषय पर चर्चा कीजिए।
8. जिला प्रशासन में जिलाधीश के महत्व के बारे में विस्तार से लिखिए।
9. निम्नलिखित अधिकारी क्षेत्रीय प्रशासन में क्या भूमिका निभाते हैं?

   क) तहसीलदार

   ख) बीडीओ
10. 'अफसरशाही' से क्या अभिप्राय है?
11. विकासात्मक प्रशासन में अफसरशाही की भूमिका और महत्व को विस्तार से समझाइए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

20.1 1) प्रधानमंत्री

2) 1964, लालबहादुर शास्त्री

3) कैबिनेट सचिव

4) इन्टेलिजेन्स ब्यूरो

5) गृह मंत्रालय के अधीनस्थ कार्यालय

6) कैबिनेट सचिवालय

20.2 1) विधायिका

2) उच्चन्यायालय के न्यायाधीश

3) मुख्य सचिव

4) संयुक्त सचिव

5) नगर पालिका प्रशासन

6) शिक्षा

20.3 1) जिलाधीश

2) जन कल्याण और विकासात्मक गतिविधियां

3) लोक व्यवस्था एवं नीतियों और योजनाओं का सफल क्रियान्वयन

4) तहसीलदार

5) बी डी ओ

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1) कृपया उपखंड 20.3.3 देखें

2) कृपया उपखंड 20.3.4 देखें

3) कृपया उपखंड 20.3.5 देखें

4) कृपया उपखंड 20.4.1 देखें

5) कृपया उपखंड 20.4.3 देखें

6) कृपया उपखंड 20.4.4 देखें

7) कृपया उपखंड 20.4.5 देखें

8) कृपया उपखंड 20.5.1 देखें

9) कृपया उपखंड 20.5.2 तथा 20.5.3 देखें

10) कृपया उपखंड 20.6.2 देखें

11) कृपया उपखंड 20.6.4 देखें

21

संसदीय नियंत्रण : संसदीय समितियां

21.1 भूमिका

केंद्रीय मंत्रिमंडल के ऊपर भारतीय संसद द्वारा नियंत्रण रखने संबंध शक्ति की अवधारणा ब्रिटिश परंपरा से ली गई है। हमारे संविधान में निर्देश वर्णित है कि मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से संसद के निचले सदन अर्थात लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी। मंत्रि परिषद तभी तक अस्तित्व में बनी रह सकती है जब तक कि उसे लोक सभा का बहुमत प्राप्त हो। सदन द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दिए जाने के बाद मंत्रि परिषद स्वत: भंग हो जाती है। लोक सभा के सदस्य मत्रियों की कार्यप्रणाली की आलोचना कर सकते हैं तथा उस पर प्रतिबंध लगा सकते हैं। संसद का ऊपरी सदन अर्थात राज्यसभा के सदस्य भी मंत्रिमंडल के सदस्य हो सकते हैं तथा इसकी गतिविधियों में अपनी हिस्सेदारी निभा सकते हैं। किंतु ये सदस्य मंत्रि परिषद को भंग करने के लिए होने वाले अविश्वास प्रस्ताव के मतदान में हिस्सा नहीं ले सकते । संसदीय कार्यों पर नियंत्रण रखने के लिए कई प्रकार की प्रथाओं का सहारा लिया जाता है तथा कई प्रकार की समितियों का गठन भी किया जाता है।

21.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- सरकार की मन्त्रिमण्डल प्रणाली पर संसदीय नियंत्रण के महत्व को स्पष्ट कर सकेंगे;
- संसदीय नियंत्रण की विविध विधियों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- दलीय अनुशासनों तथा कैबिनेट को भंग किए जाने संबंधी शक्तियों के आलोक में संसदीय नियंत्रण के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे;
- प्राक्कलन समिति, लोक लेखा समिति, अधीनस्थ विधान समिति, विशेषाधिकार समिति, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों संबंधी समिति तथा मंत्रणा समिति जैसी समितियों के कार्य एवं उनकी भूमिका पर टिप्पणी कर सकेंगे;
- संयुक्त संसदीय समिति की भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे; और
- वित्त संबंधी कानूनों में विषयगत समिति की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

21.3 मन्त्रिमण्डल प्रणाली में ससंदीय नियंत्रण का महत्व

इसमें मंत्रि परिषदीय उत्तरदायित्व का सिद्धांत लागू होता है। इसका अर्थ होता है कि मंत्रि परिषद तभी तक अपने अस्तित्व में बनी रह सकती है, जब तक कि उसे लोक सभा का बहुमत प्राप्त हो। किंतु वर्तमान समय में विधायिका तथा कार्यपालिका दोनों की नीतियां कैबिनेट ही निर्धारित करती है तथा दोनों में संतुलन बनाए रखने का प्रयास

करती है। कैबिनेट द्वारा पारित प्रस्तावों को संसद प्रायः स्वीकार ही कर लेती है, किंतु संसद में आलोचनात्मक गतिविधियों को अधिक महत्व प्राप्त होता है।

हालांकि कैबिनेट नीतियां तय करने के लिए स्वतंत्र होता है किंतु उसके द्वारा बनाई गई नीतियों पर तत्काल संसद में ही आलोचनात्मक टिप्पणियां भी की जाती हैं। इस प्रकार कैबिनेट को प्रतिपक्षी दल द्वारा सलाह भी प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। इस तरह एक प्रकार से पूरा राष्ट्र ही दूसरे विकल्पों के विभिन्न बिंदुओं पर विचार-विमर्श कर लेता है। कैबिनेट पर संसदीय नियंत्रण के विभिन्न पक्ष हैं :

(क) प्रश्नकाल : संविधान में वर्णित है कि केंद्रीय मंत्रिमंडल लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होता है किंतु मंत्रिमंडल के सदस्यों को राज्यसभा तथा लोकसभा दोनों सदनों के सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देना होता है। जब संसद का सत्र चल रहा है तब संसद के सदस्य मंत्रि परिषद के सदस्यों से उनके संबंधित मंत्रालयों से संबंधित समस्याओं पर प्रश्न पूछते हैं। सदन की कार्यवाही शुरू होने के बाद शुरू का एक घंटा प्रश्न पूछने तथा उनके उत्तर देने के लिए निश्चित किया जाता है। इसे प्रश्नकाल कहा जाता है। प्रश्न करने वाला सदस्य छः दिन पूर्व सम्बद्ध मन्त्री को अपना प्रश्न भेजता है।

यदि कोई सदस्य अपने पूछे गए प्रश्न के उत्तर से संतुष्ट नहीं होता है तो वह उस प्रश्न से संबंधित पूरक प्रश्न भी पूछ सकता है। इन प्रश्नों के माध्यम से मुख्य समस्या के विभिन्न पहलुओं पर सदन में प्रकाश डाला जाता है। यही एक ऐसा अवसर होता है जिसे 'चुस्ती और मुस्तैदी का काल' कहा जाता है। जब कोई सदस्य किसी समस्या से संबंधित कोई प्रश्न किसी मंत्री से पूछता है तो उसकी भरपूर कोशिश होती है कि वह उस प्रश्न का महत्व जनता के हित में सिद्ध करते हुए उस पर तत्काल कार्यवाही किए जाने से संबंधित अपना दबाव बनाए रखने का प्रयास भी करता है। संसद ही वह महत्वपूर्ण स्थान है जहां से जनता के हितों तथा समस्याओं को रखकर देखा जा सकता है। तर्कों तथा बहसों के द्वारा जनहित के मुद्दों को उठाया जाता है तथा जनता की चिंताओं की तरफ संसद का ध्यान आकर्षित किया जाता है। साथ ही इन मुद्दों पर सरकार के उत्तरदायित्वों को रेखांकित करते हुए उसको सचेत किया जाता है।

(ख) ध्यानाकर्षण प्रस्ताव : सरकार के ऊपर नियंत्रण बनाए रखने के लिए संसद के पास एक दूसरा भी हथकंडा होता है, जिसे 'ध्यानाकर्षण प्रस्ताव' कहा जाता है। ध्यानाकर्षण प्रस्ताव के माध्यम से संसद का कोई भी सदस्य संबंधित मंत्री को सदन में बहस के लिए सूचना दे सकता है। इसके अंतर्गत जनहित से संबंधित अति संवेदनशील मुद्दों पर तत्काल बहस की जाने संबंधी सूचनाएं दी जाती हैं। जैसे पुलिस की उच्चस्तरीय लापरवाहियों अथवा जनता के बीच खाद्यान्न अथवा राशन की उपलब्धता के कारण उत्पन्न हुए संकट की सूचना देना। इस प्रकार की बहसों को सदन में महत्व प्रदान किया जाता है तथा सरकार इसमें उठाई गई समस्याओं के समाधान हेतु तुरंत कड़े कदम उठाती है।

(ग) स्थगन प्रस्ताव : स्थगन प्रस्ताव का अर्थ होता है किसी अचानक 30 खड़ी हुई समस्या की तरफ सरकार का ध्यान आकर्षित करना। ऐसी समस्याओं पर समाधान हेतु सरकार की तुरंत कार्यवाही की आवश्यकता होती है। यदि अध्यक्ष इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो वह सदन में इस समस्या पर बहस के लिए समय निर्धारित करता है तथा उस समय होने वाली सदन की बाकी कार्यवाहियों को स्थगित कर देता है। उदाहरण के लिए, यदि सत्र के समय ही कहीं कोई भीषण दंगा भड़क उठता है अथवा कोई रेल दुर्घटना हो सकती है और इसपर कोई लाया गया स्थगन प्रस्ताव लोक सभा अध्यक्ष द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो वह सदन में बाकी कार्यवाहियों की अपेक्षा इसे वरीयता प्रदान करता है।

(घ) कटौती प्रस्ताव : यह एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा किसी मन्त्री या विभाग के प्रभावी न होने की ओर सदन का ध्यान दिलाने के लिए सम्बद्ध मन्त्रालय को ही जाने वाली धन राशि को कम करने का प्रस्ताव किया जाता है यदि कटौती प्रस्ताव पास हो जाता है तो इसका अर्थ है कि सदन का सरकार पर से विश्वास उठ गया है, तथा सरकार को त्यागपत्र दे देना पड़ता है। सामान्यतया कटौती प्रस्ताव को चर्चा के बाद या तो वापस ले लिया जाता है, या वह रद्द हो जाता है।

(च) अविश्वास प्रस्ताव : यह सदन द्वारा सरकार से असहमति के क्षणों में सरकार को नियंत्रित करने का अंतिम हथकंडा होता है। संसद में अविश्वास प्रस्ताव रखा जा सकता है। इस मामले में सदन के अध्यक्ष द्वारा प्रस्ताव

स्वीकार कर लिए जाने के बाद सदन के पटल पर उसे मतदान के लिए रखा जाता है। यदि सदन के सदस्य मंत्रि परिषद के विरुद्ध बहुमत द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दिया जाता है तो उसके समक्ष त्यागपत्र के अलावा कोई चारा नहीं रह जाता। मंत्रि परिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव रखे जाने के बाद बजट तथा सरकारी विधेयकों को लोक सभा रद्द कर देती है तथा इस दौरान सरकार द्वारा बनाई गई नीतियां एवं कार्यक्रम भी अप्रभावी सिद्ध होते हैं। प्राय: अविश्वास प्रस्ताव विपक्ष द्वारा ही रखे जाते हैं। हालांकि ऐसे प्रस्ताव सदन में किसी भी सदस्य द्वारा रखे जा सकते हैं, किंतु प्राय: विपक्ष द्वारा ही रखे जाने की सदन में एक परंपरा सी बन गई है। ऐसे प्रस्तावों द्वारा विपक्ष सरकार को कमजोर बनाने तथा अपना असंतोष प्रकट करने का प्रयास करता है।

पाठगत प्रश्न 21.1

उचित विकल्पों द्वारा खाली स्थानों की पूर्ति कीजिए

(क) मंत्रिपरिषद ..... के प्रति उत्तरदायी होती है (लोक सभा / राज्य सभा)।

(ख) मंत्रि परिषद के सदस्यों को दोनों सदनों के सदस्यों के प्रश्नों का ..... देना होता है। (उत्तर / नकार)।

(ग) ध्यानाकर्षण प्रस्ताव का उद्देश्य सरकार को ..... करना होता है। (नियंत्रित / मजबूत)।

(घ) ..... प्रस्ताव का उद्देश्य अचानक 30 खड़े हुए जनहित के किसी मुद्दे की तरफ सरकार का ध्यान आकर्षित करना तथा उस पर तुरंत कार्यवाही किए जाने से संबंधित होता है। (कटौती / स्थगन)।

(च) सदन द्वारा सरकार गिराए जाने के लिए ..... प्रस्ताव लाया जाता है। (विश्वास / अविश्वास)।

21.4 संसदीय नियंत्रण की प्रभावशीलता

संसद के मुख्य कार्यों में कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण बनाए रखना एक महत्वपूर्ण कार्य होता है। इसका अर्थ यह होता है कि मंत्रि परिषद के सदस्य संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। किसी भी कार्य अथवा निर्णय के लिए मंत्रिपरिषद संसद के दोनों सदनों के प्रति जवाबदेह होती है। हालांकि मंत्रि परिषद का गठन एक निश्चित अवधि के लिए ही होता है, किंतु यह लोक सभा द्वारा प्राप्त बहुमत तक ही अस्तित्व में बनी रह सकती है। सदन में अविश्वास प्रस्ताव पारित कर इसे समय से पूर्व भंग किया जा सकता है। ऐसा नियम मंत्रि परिषद को अजनतांत्रिक तथा निरंकुश होने से रोकने के लिए बनाया गया है। इस प्रकार सरकार अथवा मंत्रि परिषद को नियंत्रित रखने में संसद की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

संसद एक ऐसा स्थान है जहां सरकार द्वारा बनाई नीतियों की व्याख्या की जाती है, छानबीन की जाती है, उनमें सुधार किया जाता है तथा उन्हें अस्वीकृत भी किया जाता है। नि:संदेह इस मामले में लोक सभा की अपेक्षा राज्य सभा को कम शक्तियाँ प्राप्त हैं।

संसद द्वारा नियंत्रण प्रणाली को और भी प्रभावशाली बनाने में दूसरी सबसे महत्वपूर्ण भूमिका विपक्षी दलों द्वारा संगठित होकर निभाई जाती है। यदि किसी मुद्दे पर सभी विपक्षी पर एकमत हैं तो संसद की नियंत्रण शक्ति और प्रभावी हो जाती है। संगठित विपक्षी दलों द्वारा की जाने वाली आलोचनात्मक टिप्पणियों के भय से सरकार कोई भी मनमाना कदम उठाने में संकोच करती है।

तीसरा, संसद विभिन्न समितियों के गठन द्वारा सरकार की विभिन्न गतिविधियों पर निगरानी रखती है। इन समितियों में संसद सदस्यों को अधिक से अधिक सरकारी प्रबंधन में अपनी भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त होता है। इन समितियों में पक्ष तथा विपक्ष दोनों तरफ के सदस्य सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार समिति प्रणाली में विभिन्न दलों के सदस्यों को एकसाथ मिलकर काम करने का अवसर भी प्राप्त होता है। इस प्रकार इन समितियों के सहयोग से सरकार ज्यादा सुरक्षित बनती है।

दलीय अनुशासनों के चलते किसी भी दल का अकेला व्यक्ति सभी मुद्दों पर अपने विचार रखने के लिए स्वतंत्र नहीं होता। यह दलीय अनुशासन की कठोरता होती है। किंतु संसदीय मामलों में उसे अपने विचारों के अदान-

प्रदान की स्वतंत्रता होती है। –

21.5 संसदीय समितियां

संसदीय नियंत्रण विधायी तथा वित्तीय दो मुद्दों पर प्रभावी होता है। विधायी नियंत्रण के तहत नीति संबंधी विधेयकों अथवा साधारण विधेयकों पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है। वित्तीय नियंत्रण के संबंध में संविधान में उपबंध है कि कानून से अलग कोई भी कर नहीं लगाया जा सकता, जिसका परिणाम यह होता है कि कार्यपालिका विधानपालिका द्वारा निर्धारित करों के अतिरिक्त अपने मन से कोई कर थोप नहीं सकता। यह संसदीय नियंत्रण की प्रणाली संसदीय समितियों का गठन करके चलायी जाती है। विभिन्न विषयों से संबंधित विभिन्न समितियों का प्रावधान है। इन समितियों में से कुछ महत्वपूर्ण का परिचय निम्नलिखित है –

(क) प्राक्कलन समिति : सरकार का मुख्य कार्य नीतियां तय करना तथा उन्हें लागू करवाने संबंधी प्रस्ताव पारित करना होता है। संसद सरकार की मांगों तथा उसके उत्तरदायित्वों की गंभीरता का आकलन किए बिना बहुत कठिनाई से या तो लौटा पाती है अथवा उसमें आमूलचूल परिवर्तन के आदेश दे पाती है। इसके अलावा न ही द्वारा प्रस्तावित अर्थव्यय के विभिन्न मदों के लेखा–जोखा में किसी प्रकार का सुझाव ही दे सकती है। जब सरकार संसद के समक्ष इस प्रकार के प्रस्ताव रखे जाते हैं तो समय की कमी को ध्यान में रखते हुए उसे तत्काल पारित किया जाता है। किंतु सरकार द्वारा प्रस्तावित अर्थव्यय के ठीक खर्च की जांच के लिए संसद द्वारा एक अनौपचारिक समिति का गठन किया जाता है, जिसे प्राक्कलन समिति कहा जाता है।

इस समिति में 30 सदस्य होते हैं। इन सदस्यों का कार्यक्रम सिर्फ एक साल का होता है। सुचारू रूप से कार्य करने के लिए इस समिति को कई प्रकार की उपसमितियों में विभाजित भी किया जाता है। सरकार द्वारा प्रस्तावित अर्थव्यय की जांच करने के बाद यह समिति अपनी रिपोर्ट संसद के समक्ष रखती है। इस समिति के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(क) संगठन की आर्थिक प्रगति, प्रशासनिक तथा कार्यदक्षता संबंधी सुधार, तथा प्रस्तावित अर्थव्यवस्था की न्यूनतम आर्थिक सीमारेखा निर्धारित कर संसद के समक्ष प्रस्तुत करना।

(ख) प्रशासनिक कुशलता तथा अर्थव्यय संबंधी वैकल्पिक नीतियों का सुझाव प्रस्तुत करना।

(ग) निर्धारित नीति के आधार पर अर्थव्यय के समुचित उपभोग की जांच करना।

(घ) संसद के समक्ष प्रस्तावित अर्थव्यय के प्रस्तुत किए जाने संबंधी रूपरेखा को प्रस्तुत करना।

हालांकि प्राक्कलन समिति द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट पर सदन में कोई बहस नहीं होती, क्योंकि एक तरह से सदन के सभी सदस्यों की ओर से यह रिपोर्ट पेश की गई होती है और इस रिपोर्ट के आधार पर सरकार की आगामी वर्ष में फिजूलखर्ची पर रोक लगाने का प्रयास किया जाता है। समिति का अध्यक्ष संबंधित विभाग के मंत्री से पूछताछ कर सकता है।

यदि प्राक्कलन समिति सरकार द्वारा प्रस्तावित अर्थव्यय संबंधी कोई प्रश्न उठाती है तो वह बहस का मुद्दा बन जाता है। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार विभिन्न मंत्रालयों को अपने खर्चों में कटौती करने के आदेश दे सकती है। समिति की कार्यक्षमता को ध्यान में रखते हुए उसका विस्तार किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, चौथी लोक सभा में इस समिति की 273 बैठकें हुई थीं तथा इन बैठकों के दौरान 132 रिपोर्टें पेश की गई थी तथा समिति के सहयोग के लिए 33 उपसमितियों में बांटा गया था।

(ख) लोक लेखा समिति : यह बहुत ही महत्वपूर्ण समिति होती है। इसका मुख्य कार्य सरकार द्वारा अर्थव्यय के लेखाजोखा की जांच करना होता है। लोक लेखा समिति के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) सरकार द्वारा उसके खाते में दिखाई गई राशि की जांच करना कि वह धनराशि वैध रूप से वितरित की गई है अथवा नहीं। अथवा जिस मद में वह खर्च दिखाया गया है वास्तव में उसी मद में हुआ है या नहीं।

(2) सरकार द्वारा खर्च की गई राशि का संबंधित प्राधिकरण के समक्ष लेखाजोखा प्रस्तुत करना।

यह समिति अपनी रिपोर्ट महालेखा परीक्षक को सौंपती है। यदि समिति सरकार की नीतियों में कोई अनियमितता

पाती है तो उसे सदन के पटल पर रखती है तथा उसकी कमियों पर सदन में बहस की जाती है एवं उस पर उचित कदम उठाए जाते हैं।

इस समिति में 15 लोक सभा के तथा 7 राज्य सभा के सदस्य होते हैं। इस समिति का कार्यकाल भी एक साल का होता है। इस समिति का अध्यक्ष लोक सभा में विपक्षी दल का नेता होता है।

यह समिति सरकार के अर्थ व्यय की जांच करती है। यदि किसी सरकारी विभाग द्वारा धन का दुरुपयोग किया जाता है तो उसे रोकने में यह समिति अपनी कोई भूमिका नहीं निभा सकती। यदि किसी स्थिति में अर्थव्यय की सीमा रेखा पहले से ही नीचे आ गई हो तो उसे बढ़ाने के लिए समिति में मतदान की प्रक्रिया शुरू होती है।

यह समिति किसी भी व्यक्ति को अर्थव्यय की समीक्षा के लिए बुलाकर उसकी राय जान सकती है वह किसी भी विभाग को लोक लेखा से संबंधित दस्तावजों एवं कागजातों को प्रस्तुत कराने के आदेश दे सकती हैं। अर्थव्यय से संबंधित कोई भी प्रश्न उठा सकती है तथा संबंधित विभाग उसका उत्तर देने के लिए बाध्य होता है।

इस मिति द्वारा चलाए गए अभियानों के दौरान सभी विभाग अर्थव्यय से संबंधित सभी आवश्यकता व्यवस्था उपलब्ध कराने के लिए सतर्क रहते हैं।

(ग) अधीनस्थ विधायन समिति : इस समिति में 15 सदस्य होते हैं, जो लोक सभा अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। संसद द्वारा बनाए गए कानूनों को सरकार ठीक से लागू किया जा पा रहा है अथवा नहीं, इस बात की जांच करना ही मुख्यरूप से इस समिति का कार्य होता है। वह यह देखती है कि संसद कार्यपालिका को जो कानूनी शक्तियां प्रदान की गई हैं वह उनका दुरुपयोग तो नहीं कर रही? यह समिति अपनी रिपोर्ट लोक सभा के समक्ष रखती है।

(घ) विशेषाधिकार समिति : जनतांत्रिक ढांचे में विधानपालिका को कुछ विशेषाधिकार प्रदान किए गए हैं ताकि वह अपने उत्तरदायित्वों का ठीं ढंग से निर्वाह कर सके। उसकी शक्तियों तथा प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए कुछ सुरक्षात्मक कवच बनाए गए हैं। यह समिति इस बात की निगरानी रखती है कि लोक सभा के विशेषाधिकार प्राप्त सदस्यों के अधिकारों का कहीं हनन तो नहीं हो रहा? इस समिति में लोक सभा द्वारा नियुक्त 15 सदस्य होते हैं।

(च) सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों संबंधी समिति : इस समिति के निम्नलिखित कार्य होते हैं :

(क) सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों जैसे दामोदर घाटी प्राधिकर, इंडियन एयरलाइंस, लाइफ इंश्योरेंस कारपोरेशन, तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग तथा सभी सरकारी कंपनियों के अर्थव्यय का हिसाब रखना तथा रिपोर्ट पेश करना।

(ख) नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के संबंध में प्रस्तुत की गई रिपोर्ट की जांच करना।

(ग) यदि कोई सार्वजनिक क्षेत्र का उपक्रम किसी प्रकार के व्यावसायिक प्रबंधन द्वारा नियंत्रित है तो उसकी भी जांच करना।

(घ) लोकलेखा समिति तथा प्राक्कलन समिति के सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों से संबंधित उन सभी मुद्दों की जांच करना जो लोक सभा अध्यक्ष द्वारा समय समय पर सौंपे जाते हैं। इस प्रकार यह समिति एक व्यापक धरातल पर कार्य करने के लिए स्वतंत्र होती है।

इस समिति का गठन उन्हीं स्थितियों में किया जाता है जब प्राक्कलन समिति तथा लोक लेखा समिति के ऊपर कार्यों का बोझ बढ़ जाता है। इस समिति में फिलहाल 22 सदस्य हैं– 15 लोक सभा के तथा 7 राज्य सभा के। इस समिति के सदस्यों का कार्यकाल भी 1 वर्ष का होता है। यह समिति मूलतः निर्दलीय आधार पर कार्य करती है।

21.6 संयुक्त संसदीय समिति

संयुक्त संसदीय समिति का गठन राज्य तथा लोक सभा के सदस्यों से संबंधित संयुक्त रूप से उठ खड़े हुए विवादों की जांच करने के लिए होता है। लोक सभा तथा राज्य सभा में रखे जाने वाले धन विधेयकों को छोड़कर सभी

विधयकों को पास होने से पूर्व व्यवस्था उपलब्ध कराने हेतु इस समिति का गठन किया जाता है। ये समितियां क्रमशः संसद सदस्यों के वेतन एवं भत्ते, अनुसूचित जाति एवं जनजाति के कल्याणकारी मामलों तथा लाभकारी कार्यालयों की निगरानी के लिए बनाई जाती हैं।

विशेष मामलों की निगरानी के लिए कई अस्थाई समितियों का भी गठन किया जाता है। संयुक्त समितियों का मुख्य कार्य होता है संसद के दोनों सदनों की बैठकों में उत्पन्न विवादों की जांच करना तथा सुलझाना इसके अलावा सदस्यों के अपने व्यक्तिगत मामलों का निपटारा भी ये समितियां करती हैं।

21.7 विषय समितियाँ

जनता के लिए राष्ट्रीय इकाई के रूप में कार्य करते हुए संसद को कई प्रकार की महत्वपूर्ण वित्तीय नीतियां भी तय करनी पड़ती हैं, खासकर वित्त विधेयकों के संदर्भ में इन विषयगत समितियों का अत्यंत महत्व होता है। इन समितियों की स्थापना 1995 में की गई थी। इन का मुख्य उद्देश्य विभिन्न मन्त्रालयों तथा विभागों की अनुदान मांगों पर विस्तार से विचार करना है। प्रत्येक वर्ष बजट पर सामान्य बहस के बाद, लोक सभा तीन सप्ताह के लगभग अवकाश ले लेती है। उन दिनों में विषय समितियाँ अपने विभाग अथवा मन्त्रालय की धनराशि की माँगों के औचित्य की समीक्षा करती हैं और लोकसभी के समक्ष, अधिवेशन पुनः शुरू होने पर, अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती हैं। इस से लोकसभा के समय की बचत होती है। प्रायः लोक सभा समितियों की सिफारिशों के अनुसार ही अनुदान माँगे स्वीकार करती है।

पाठगत प्रश्न 21.2

हां या नहीं में उत्तर दीजिए।

(क) संसद के महत्वपूर्ण कार्यों में कार्यपालिका पर भी नियंत्रण स्थापित करना एक मुख्य कार्य होता है।

(ख) प्राक्कलन समिति में 40 सदस्य होते हैं।

(ग) लोक लेखा समिति सरकार के अर्थव्यय की जांच करती है।

(घ) अधीनस्थ विधायन समिति राज्य सभा की समिति होती है।

(ङ) विशेषाधिकार समिति में 20 सदस्य होते हैं।

(च) सार्वजनिक उपक्रमों के क्षेत्र संबंधी समिति में केवल लोक सभा के सदस्य होते है।

(छ) संयुक्त समिति संसद के दोनों सदनों – राज्य सभा तथा लोक सभा के सदस्यों के बीच उत्पन्न विवादों की जांच करती है।

आपने क्या सीखा

भारतीय संसद को मंत्रिमंडल के ऊपर नियंत्रण करने का अधिकार प्राप्त होता है। मंत्रि परिषद लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। यह लोक सभा द्वारा प्राप्त विश्वासमत तक ही अपने अस्तित्व में बनी रह सकती है। सदन में अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाने के बाद यह अपने पद से त्यागपत्र दे देती है। संसद के सदस्य मंत्रियों की कार्यप्रणाली की आलोचना कर सकते हैं तथा उसके ऊपर प्रतिबंध लगा सकते हैं। इस प्रकार इससे न केवल विपक्षी दल के सदस्यों का दृष्टिकोण पता चलता है बल्कि समूचे देश की जनता की समस्याओं तथा दृष्टिकोणों का पता चलता है, तथा प्रतिनिधि मूलक जनतंत्र के सिद्धांतों को मजबूती प्राप्त होती है।

संसद कैबिनेट तथा कार्यपालिका के ऊपर कई साधनों द्वारा नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास करती है। मंत्रि परिषद के सदस्यों को दोनों सदनों के सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देना होता है। दूसरी विधि में संसद में ध्यानाकर्षण प्रस्ताव रखा जाता है। ध्यानाकर्षण प्रस्ताव के द्वारा कोई भी सदस्य जनहित से जुड़े अतिसंवेदनशील मुद्दों को सदन में उठा सकता है। स्थगन प्रस्ताव के द्वारा अति आवश्यक तथा एकदम से 30 खड़े हुए जनहित के मुद्दे को उठाया जाता है, जिसमें सरकार को तुरंत ध्यान देने तथा कार्यवाही की आवश्यकता होती है। प्रश्नकाल तथा स्थगन प्रस्ताव के

अलावा लोक सभा का कोई भी सदस्य लोक सभा अध्यक्ष की अनुमति से किसी भी महत्वपूर्ण मुद्दे पर आधे घंटे बहस कर सकता है। अवश्विास प्रस्ताव कैबिनेट को नियंत्रित करने का अंतिम हथकंडा होता है। सदन में अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाने पर मंत्रि परिषद के पास त्यागपत्र के अलावा कोई चारा नहीं बचता।

संसदीय नियंत्रण वित्तीय तथा विधायी दो विंदुओं पर दिए जाते हैं। वित्तीय नियंत्रण के अंतर्गत राजस्व तथा अर्थव्यय के मामले आते हैं। संसदीय नियंत्रण के मामले विभिन्न समितियों के माध्यम से संचालित होते हैं। प्राक्कलन समिति सरकार द्वारा प्रस्तावित अर्थव्यय की जांच करती है। लोक लेखा समिति एक प्रकार से प्राक्कलन समिति की जुड़वा बहन होती है। यह सरकार के अर्थव्यय को नियंत्रित करती है। अधीनस्थ विधान समिति संसद द्वारा बनाए गए कानूनों का ठीक उसे लागू किए जाने संबंधी जांच करती हैं। विशेषाधिकार समिति का गठन लोक सभा के विशेषाधिकार प्राप्त स[illegible] के हितों की रक्षा के लिए दिया गया होता है। सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रम संबंधी समिति सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के अर्थव्यय के लेखा-जोखा की जांच करती है। संयुक्त समिति संसद के दोनों सदनों के विवादों को सुलझाने का प्रयास करती है।

पाठांत प्रश्न

1) भारतीय सरकार की मंत्रिमंडलीय प्रणाली में संसदीय नियंत्रण के महत्व की चर्चा कीजिए।

2) भारत में संसदीय नियंत्रण के विभिन्न उपायों या तरीकों पर संक्षिप्त लेख लिखिए।

3) प्राक्कलन समिति की भूमिका पर टिप्पणी कीजिए।

4) वित्तीय विधान के संदर्भ में लोक लेखा समिति की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

5) सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों संबंधी समिति और संयुक्त संसदीय समिति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

पाठगत प्रश्न 21.1

क) लोक सभा, ख) उत्तर, ग) नियंत्रण, घ)स्थगन, ङ) अविश्वास।

पाठगत प्रश्न 21.2

1. क) हाँ, ख) नहीं, ग) हाँ, घ) नहीं, ङ) नहीं, च) नहीं, छ) हाँ।

पाठांत अभ्यास

1. कृपया देखें उपखंड 21.3
2. कृपया देखें उपखंड 21.3
3. कृपया देखें उपखंड 21.5
4. कृपया देखें उपखंड 21.5
5. कृपया देखें उपखंड 21.5 और 21.6

22

नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक

22.1 भूमिका

इस तथ्य से आप परिचित हैं कि पहले भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था। ब्रिटिश शासन के कुछ महत्वपूर्ण योगदानों में एक महत्वपूर्ण योगदान सरकारों को समान लेखा का वितरण तथा उन्हें स्वतंत्र लेखा परीक्षण का अधिकार प्रदान करना भी है। भारत में सबसे पहले लेखा विभाग की स्थापना 1753 ई. में हुई थी, किंतु यह विभाग लार्ड केनिंग की पहल पर पहली बार 1857 में अपने पूर्ण प्रभाव में आया। मांटफोर्ड सुधारों के परिणामस्वरूप 1920–21 में 'स्वतंत्र लेखा' प्रभाव में आया तथा 1919 अधिनियम के अनुसार भारत के महालेखा परीक्षकको स्वतंत्र शक्तियां प्रदान की गईं। फिर बाद में 1935 अधिनियम के अनुसार उसे और भी शक्तियां प्रदान की गईं।

जब 1950 में भारत का नया संविधान लागू हुआ तब लेखा विभाग के अध्किारी पदनाम बदल कर महालेखा परीक्षक कर दिया गया, क्योंकि पहले यह पद नियंत्रक की पुष्टि करता था जिसका अर्थ होता था आय–व्यय को नियंत्रण करने वाला। इसीलिए इस पद की गरिमा बढ़ाने के लिए नियंत्रक से बदलकर 'परीक्षक' कर दिया गया, जिसका अर्थ होता है आय–व्यय का परीक्षण काउंटर के माध्यम से न करके कार्यालय के माध्यम से करना।

22.2 उद्देश्य

इस पाठ पढ़ने के बाद आप:

- जनतांत्रिक प्रणाली में लोक लेखा को नियंत्रित करने में महालेखा परीक्षक की भूमिका को समझ सकेंगे,
- यह जान सकेंगे कि महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है;
- व्याख्या कर सकेंगे कि महालेखा परीक्षक विधायिका तथा कार्यपालिका से स्वतंत्र होता है;
- महालेखा परीक्षक के कार्यों का विश्लेषण कर सकेंगे; और
- विश्लेषण कर सकेंगे कि महालेखा परीक्षक किस प्रकार लोकलेखा पर अपनी निगरानी रखता है।

22.3 लोकलेखा को संचालित करने के लिए प्राधिकरण की आवश्यकता

विधानपालिका बजट का निर्धारण करती है तथा उस निर्धारित बजट को कार्यपालिका द्वारा खर्च किया जाता है। महालेखा परीक्षक केंद्र तथा राज्य सरकारों की तरफ से उस खर्च होने वाली राशि का निरीक्षण किया जाता है। वह संसद तथा विधानमंडलों द्वारा अधीन एवं उनके खर्च होने वाली संपूर्ण धनराशि के आय–व्यय का लेखा–जोखा तैयार करता है। भारत जैसे विशाल जनतांत्रिक देश के आय–व्यय को सुरक्षित बनाए रखने के लिए उसका परीक्षण

निरीक्षण अत्यंत आवश्यक हो जाता है। महालेखा परीक्षक लोक लेखा के संरक्षक तथा उसके व्यय के नियंत्रण के रूप में कार्य करता है।

22.4 महालेखा परीक्षक की नियुक्ति

संविधान की धारा 148 में महालेखा परीक्षक की नियुक्ति तथा उसकी सेवाशर्तें निर्धारित की गई हैं। महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा 6 वर्ष अथवा 65 वर्ष की उम्र तक के लिए की जाती है। उसे अपने सेवाकाल के पूर्ण होने से पूर्व भी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की भांति हटाया जा सकता है। अपनी नियुक्ति के पश्चात कार्यभार ग्रहण करने से पूर्व उसे राष्ट्रपति के समक्ष राज्य ग्रहण करना पड़ता है।

महालेखा परीक्षक का वेतन तथा दूसरी सेवा शर्तें संसद द्वारा निर्धारित की जाती है, जो महालेखा परीक्षक अधिनियम 1953 तथा 1971 में वर्णित हैं। चूंकि उसका पद सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समतुल्य होता है। इसलिए वह 9000 रुपए प्रतिमाह की दर से वेतन पाने का अधिकारी होता है। उसे सेवानिवृत्ति के उपरांत पेंशन भी प्राप्त होती है। दूसरे मामलों में उसकी सेवाशर्तें भारत सरकार के सचिव के समान होती हैं। संविधान में यह भी निर्देश है कि सेवानिवृत्ति के बाद महालेखा परीक्षक भारत सरकार के किसी दूसरे विभाग में किसी और पद पर कार्य नहीं कर सकता। महालेखा परीक्षक के कार्यालय के ऊपर खर्च होनेवाले वेतन तथा करों समेत सम्पूर्ण धनराशि का भुगतान भारत सरकार के बजट से ही किया जाता है।

पाठगत प्रश्न 22.1

कोष्ठक में दिए विकल्पों में से उचित विकल्प छांटकर प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

क) महालेखा परीक्षक ..... लेखा का संरक्षक होता है। (लोक / निजी)

ख) महालेखा परीक्षक की नियुक्ति तथा सेवाशर्तों संबंधी प्रावधान संविधान की धारा ..... में वर्णित है। (248 / 148)

ग) महा लेखा परीक्षक का वेतन भारत सरकार के ..... से दिया जाता है। (संपूर्ण बजट / निजी)

घ) महालेखा की नियुक्ति भारत के ..... द्वारा की जाती है। (राष्ट्रपति / प्रधान मंत्री)।

22.5 महालेखा परीक्षक की स्वतंत्रता

हालांकि संविधान में महालेखा परीक्षक को कुछ विशेष सुविधाएं तथा सुरक्षा व्यवस्था प्रदान की गई है। किंतु वह पूर्णतः स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने का अधिकारी नहीं हैं। संविधान में महालेखा परीक्षक को निम्नलिखित स्वतंत्रताएं प्रदान की गई हैं :

1. महालेखा परीक्षक का कार्यकाल 6 वर्ष अथवा वह 65 वर्ष की आयु तक पद पर बना रहा सकता है। संसद के दोनों सदनों द्वारा दो-तिहाई बहुमत से उसकी अयोग्यता संबंधी प्रस्ताव पारित करने के बाद ही उसे राष्ट्रपति द्वारा अपने कार्यकाल से पूर्व हटाया जा सकता है।
2. उसकी नियुक्ति के बाद उसके वेतन तथा सेवाशर्तों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।
3. महालेखा परीक्षक अपने पद से मुक्त होने के बाद भारत सरकार अथवा राज्यसरकार के किसी विभाग में किसी पद पर कार्य नहीं कर सकता।

भारतीय संविधान में विधान पालिका तथा कार्यपालिका के सम्मान को ध्यान में रखते हुए महालेखा परीक्षक को स्वतंत्रताएं प्रदान की गई हैं।

22.6 महालेखा परीक्षक के कार्य

महालेखा परीक्षक के निम्नलिखित मुख्य कार्य होते हैं :

1. राष्ट्रपति की संस्तुति पर केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा खर्च की जाने वाली धनराशि की रूपरेखा निर्धारित करना।

2. संसद द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार केंद्र एवं राज्य सरकारों तथा दूसरे प्राधिकरणों द्वारा खर्च की जाने वाली धनराशि के लेखा परीक्षक संबंधी शक्तियों तथा कर्त्तव्यों का निर्वाह करना।

3. केंद्र तथा राज्य सरकारों से संबंधित लेखा रिपोर्टों को राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करना। संविधान के अध्ययन 1 के खंड 12 में यह भी उपबंध है कि किसी भी टैक्स को वैध तथा उचित ठहराने संबंधी परीक्षण भी महालेखा परीक्षक ही करेगा। 1971 में हुए संविधान संशोधन के बाद 1976 से पहले तक महालेखा परीक्षक का कार्य बहीखातों की जांच तथा आय-व्यय का ब्यौरा प्रस्तुत करना दोनों था। किंतु 1976 में इन दोनों कार्यों में विभाजन कर दिए जाने के बाद अब महालेखा परीक्षक का मुख्य कार्य आय-व्यय के खातों का परीक्षण करना होता है।

22.7 महालेखा परीक्षक की शक्तियां

लेखा का प्रमुख उद्देश्य होता है इस बात की निगरानी रखना कि संसद द्वारा निर्धारित धनराशि संबंधित प्राधिकरण द्वारा उचित मद में खर्च की गई अथवा नहीं। इस प्रकार लेखापरीक्षक लोक आय-व्यय को नियंत्रित तथा संचालित करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह एक प्रकार से दोहरी भूमिका भी निभाता है। पहला तो यह कि सरकारी कर्मचारियों के आय-व्यय के विस्तार पर निगरानी रखता है, इस प्रकार यह विधान पालिका द्वारा निर्धारित कानूनों के अनुरूप जरूरत पड़ने पर वह उनके विरुद्ध कार्यवाही भी करता है।

यह लेखा के माध्यम से सरकारी आय-व्यय को नियंत्रित करके देश की आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने में प्रत्यक्ष भूमिका तो नहीं निभाता किंतु अपनी वार्षिक लेखा रिपोर्टों के माध्यम से इसपर पड़ने वाले प्रभावों पर बहस तथा आलोचनाओं के द्वारा सार्वजनिक धन की फिजूलखर्ची पर रोक लगाई जाती है। लेखा विभाग आय-व्यय में आई असमानता अथवा गड़बड़ियों की सावधानी पूर्वक जांच करता है।

लेखा का उद्देश्य होता है 'आर्थिक आलोचना' प्रस्तुत करना, जिसके द्वारा लेनदेन में हुई गड़बड़ियों को उजागर किया जाता है तथा उसको सुधारा जाता है। इस तरह एक प्रकार से लेखा संबंधी गड़बड़ियों की पुनरावृत्ति पर रोक लगाने का भी कार्य करता है। हालांकि इन आधारों पर लेखा परीक्षा को पोस्टमार्टम की संज्ञा दी जा सकती है। किंतु अर्थ संबंधी प्रशासन में लेखा विभाग बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। क्योंकि वह किसी बदमाश घोड़े को अपंग करने की बजाय उसे एक कटघरे में बंद करके सुधारने का प्रयास करता है।

भारत के महालेखा परीक्षक को संविधान संशोधन अधिनियम 1971 के तहत शक्तियां प्रदान की गई हैं। इन शक्तियों के तहत महालेखा परीक्षक निम्नलिखित आय-व्यय की लेखा परीक्षा कर सकता है।

1. भारत के केंद्र तथा राज्यों के कुछ बजट के विभिन्न खर्चों का लेखा-जोखा रखना।

2. सभी नियमित व्यय संबंधी धनराशि तथा लोकलेखा के लेनदेन का परीक्षण करना।

3. सभी व्यापारिक संगठनों, निर्माता कंपनियों, लाभकारी संस्थाओं के आय-व्यय संबंधी बहीखाते का परीक्षण।

4. सभी सरकारी स्टोरों तथा विभागों के लेखा का परीक्षण।

5. भारतीय कंपनी अधिनियम की धारा 1956 के अन्तर्गत स्थापित सभी सरकारी कंपनियों का लेखा परीक्षण।

6. केंद्र सरकार के सभी निगमों के लेखा का परीक्षण।

7. उन सभी प्राधिकरणों के लेखा का परीक्षण जिन्हें भारत की संपूर्ण बजट में से अनुदान प्रदान किया जाता है।

8. उन सभी प्राधिकरणों के लेखा संबंधी परीक्षण करना जिन्हें पर्याप्त धनराशि न मिल पाने के कारण राज्यपाल, राष्ट्रपति अथवा महालेखा परीक्षक की संस्तुति पर धन प्रदान किया गया होता है।

महालेखा परीक्षक को लेखा संबंधी अपने कर्त्तव्यों का सुचारू रूप से निर्वाह करने के लिए कई सहूलियतें तथा

शक्तियां प्रदान की गई हैं। महालेखा परीक्षक अथवा उसके कार्यालय का कोई भी अधिकारी, जिसे उसने नियुक्त किया हो वह किसी भी प्राधिकरण के लेनदेन संबंधी लेखा का परीक्षण कर सकता है। महालेखा परीक्षक अथवा उसके कार्यालय के अधिकारी किसी भी सरकारी लेनदेन के बारे में प्रशासन से छानबीन तथा पूछताछ कर सकते हैं और उनसे बातचीत के बाद यदि उसे संबंधित मामले में कोई गंभीरता नजर आती है तो वह उससे संबंधित अपनी रिपोर्ट संसद के समक्ष रखता है। महालेखा परीक्षक लेखा संबंधी अपनी गतिविधियों को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए वह आर्थिक आय-व्यय संबंधित उन सभी तथ्यों, जो किताबों, अखबारों तथा आकड़ों से प्राप्त होते हैं, को उपस्थित कर सकता है। इसके अलावा महालेखा परीक्षक और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए किसी भी संबंधित व्यक्ति से सूचनाएं इकट्टी कर सकता है। महालेखा परीक्षक को सूचनाएं एकत्र करने से संबंधित यह अधिकार 1936 में भारत सरकार द्वारा अधिनियम पारित कर प्रदान किया गया था। फिर बाद में 1954 में इसमें सुधार करके और प्रभावी बनाया गया था तथा यह निर्देश जोड़ा गया था कि लेखा से संबंधित सभी गुप्त दस्तावेज खासतौर पर महालेखा परीक्षक के नाम से भेजा जाएगा तथा कार्य संपन्न हो जाने के बाद जितनी जल्दी हो सके उसे वापस भेज दिया जाएगा।

22.8 महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट

भारतीय संविधान की धारा 151 के अनुसार महालेखा परीक्षक केंद्र की लेखा संबंधी अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को तथा राज्य की राज्यपाल को सौंपता है, जो कि संसद तथा विधानमंडल के पटल पर रखते हैं। महालेखा परीक्षक को यह रिपोर्ट तैयार करने संबंधी अधिकार विधान 1971 के अधिनियम के अनुसार प्रदान दिया गया है। कुछ विश्लेषकों का मत है कि महालेखा परीक्षक तो संसद के एजेंट के रूप में कार्य करता है, क्योंकि वह वही कार्य करता है जो संसद उसे सौंपती है। 'वह स्वयं में संसद है। संसद केवल उसी के माध्यम से कार्य करती है।'

जब लेखा का निर्धारण होता है तथा विभिन्न संगठनों से छानबीन तथा पूछताछ के बाद उसकी रिपोर्ट तैयार की जाती है तो उसकी प्रतियां संसद के सामने ही प्रस्तुत होती हैं। एक साल में लगभग 72,000 जांच रिपोर्टें भेजी जाती हैं। ये सभी रिपोर्टें लेखा संबंधी प्रश्नों के पूछे जाने तथा उसमें सुधार से संबंधित निगरानियों के तरहत तैयार की गई होती हैं। इन सभी रिपोर्टों में सबसे महत्वपूर्ण होती है, वार्षिक लेखा रिपोर्ट।

ये रिपोर्टें संसद के पटल पर राष्ट्रपति द्वारा तथा विधानमंडल के समक्ष राज्यपाल द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। ये रिपोर्टें दो भागों में विभाजित होती हैं (क) निर्धारित आय-व्यय संबंधी लेखा रिपोर्ट तथा (ख) वित्तीय लेखा संबंधी रिपोर्ट। निर्धारित आय-व्यय संबंधी लेखा रिपोर्ट यह दर्शाती है कि विधान पालिका द्वारा निर्धारित विभिन्न मदों में खर्च होने वाली राशि का उचित ढंग से प्रयोग हुआ है अथवा नहीं। वित्तीय लेखा रिपोर्टों में पूरे साल के वित्तीय आंकड़े तथा लेनदेन का ब्यौरा होता है।

इन लेखा रिपोर्टों में संक्षेप में वित्तीय अनियमितताओं, गड़बडियों, घाटे, धोखाधड़ी, फिजूलखर्ची तथा बजट के निश्चित लेनदेन पर भी टिप्पणियां की जाती हैं। लेखा रिपोर्टों में समीक्षा के दौरान उसके स्वरूप में परिवर्तन भी होते हैं। इन रिपोर्टों का मुख्य उद्देश्य होता है लेनदेन तथा वित्तीय देनदारी में बरती गई लापरवाहियों को रेखांकित करना। इन रिपोर्टों का एक उद्देश्य विभिन्न विभागों द्वारा की जाने वाली वित्तीय अवहेलनाओं को उजागर करना तथा खतरनाक एवं अवांछित प्रचारों से उन्हें सावधान करना भी होता है।

इन रिपोर्टों को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने से पूर्व महालेखा परीक्षक को इनकी उत्कृष्ट गुणवत्ता का आश्वासन सुनिश्चित करते हुए हस्ताक्षर करने होते हैं। इसके बाद इन रिपोर्टों को विधान पालिका के पटल पर रखा जाता है तथा विधान पालिका इनकी जांच हेतु संबंधित संसदीय समितियों के पास भेज देती है। रेल विभाग, डाक एवं तार विभाग तथा दूसरे सार्वजनिक विभागों की लेखा रिपोर्टों को लोक लेखा समिति को जांच के लिए सौंप दिया जाता है। विभिन्न प्राधिकरणों, कंपनियों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों से संबंधित लेखा रिपोर्टें सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम समिति को सौंप दी जाती हैं। इन सभी विभागों जैसे रेलवे, डाक एवं तार, तथा सार्वजनिक विभागों, की लेखा रिपोर्टों की जांच करते समय महालेखा परीक्षक भी लोक लेखा समिति की सहायता करता है। महालेखा परीक्षक कंपनियों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की लेखा रिपोर्टों की जांच के समय भी सहयोग करता है। ये समितियां मामलों के अनुसार सभी संबंधित विभागों तथा सार्वजनिक उपक्रमों से पूछताछ करने का विस्तृत

अधिकार रखती हैं। इन रिपोर्टों की जांच करने के बाद ये समितियां महालेखा परीक्षक की सिफारिशों पर उचित कार्यवाही किए जाने से संबंधित संस्तुति पत्र जारी करती हैं।

22.9 नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक तथा लोक लेखा समिति

महालेखा परीक्षक अपनी लेखा रिपोर्टें राज्य तथा केंद्र में लोक लेखा समिति को सौंपता है। केंद्र में लोकलेखा समिति को महालेखा परीक्षक सहयोग प्रदान करता है तथा राज्य में महालेखाकार सहयोग प्रदान करता है। ये लोक लेखा समिति को सहयोग देने के लिए अति महत्वपूर्ण विषयों की सूची तैयार करते हैं। इस समिति की बैठकों के दौरान महालेखा परीक्षक अथवा महालेखाकार भी व्यक्तिगत रूप से मौजूद हात हैं क्योंकि वहां प्रत्यक्षरूप से उन्हीं से प्रश्न पूछे जाते हैं। इन जांच बैठकों में उसकी भूमिका विलक्षण होते है क्योंकि यही गवाहों की तरफ से समिति की कार्यवाहियों में जवाब देता है तथा सरकार को उचित तथा स्पष्ट कार्यवाही करने में सहयोग प्रदान करता है। कई बार तो उसे व्याख्याकार अथवा अनुवादक की भूमिका भी निभानी पड़ती है क्योंकि उसे विभागों तथा नेताओं का दृष्टिकोण भी स्पष्ट करना पड़ता है। इस प्रकार वह दोहरी भूमिका निभाता है। इस प्रकार लेखा परीक्षकों के दौरान लेखा की उपयोगिता तथा उसके उचित संचरण से संबंधित कार्यवाही किए जाने के लिए महालेखाकार तथा महालेखा परीक्षक की भूमिका जांच समितियों के लिए पूरक होती है।

महालेखा परीक्षक के परीक्षणों के पश्चात लोकलेखा समिति इसकी एक रिपोर्ट तैयार करके संसद अथवा विधान मंडल के पटल पर देती है। इस प्रकार महालेखा परीक्षक की भूमिका केवल यहीं समाप्त नहीं हो जाती। इसके बाद भी वह देखता है कि उसके द्वारा सुझाए गए उचित विकल्पों को लागू किए जाने से संबंधित निर्णय दिए गए हैं या नहीं। यदि नहीं लिए गए हैं तो वह पुन: अपनी सिफारिश लोकलेखा समिति के समक्ष रखकर उस मामले में उचित कार्यवाही की मांग करता है।

पाठगत प्रश्न 22.2

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. महालेखा परीक्षक ..... वर्षों के लिए नियुक्त किया जाता है।
2. महालेखा परीक्षक अपने पद से मुक्त होने के बाद किसी दूसरे विभाग में कार्य ..... सकता है।
3. लेखा तथा बहीखाता संबंधी हिसाब-किताब को ..... में विभाजित किया गया है।
4. एक वर्ष में लगभग ..... जांच रिपोर्टें प्रस्तुत की जाती हैं।
5. महालेखा परीक्षक अपनी लेखा रिपोर्टें ..... को सौंपता है।

22.10 सार्वजनिक धन के संरक्षक के रूप में महालेखा परीक्षक का मूल्यांकन:

महालेखा परीक्षक के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है कि वह विधान पालिका के सेवक तथा राजस्व के संरक्षक के रूप में कार्य करता है। वह विधान पालिका द्वारा प्रस्तावित बजट में निहित निर्णयों तथा उद्देश्यों की पूर्ति का निरीक्षण करता है तथा विधान पालिका को इससे संबंधित सहयोग प्रदान करता है। इस प्रकार महालेखा परीक्षक संसद की लंबी भुजा की भूमिका अदा करता है, जो सार्वजनिक धन के व्यय को नियंत्रित करती है। कुछ विद्वान महालेखा परीक्षक की भूमिका की आलोचना करते हैं। इस संबंध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं:

1. यह एक बहुत व्यापक उत्तरदायित्वपूर्ण प्रणाली है, जो औपनिवेशिक काल से चली आ रही है।
2. संसद तथा जनता दोनों ने ही लेखा कानून को बेवजह इतना महत्व दे रखा है।
3. लेखा बहुत कम महत्व की चीज है।
4. लेखा एक निहायत नकारात्मक चीज है। यह किसी भी तरह एक कल्याणकारी प्रशासन का अंग नहीं साबित होती।

किंतु उपरोक्त सभी आलोचनाएं पूर्णतः सही नहीं हैं। ब्रिटिश शासन में लेखा संबंधी कानून बिल्कुल यही नहीं था। आजादी के बाद इसे स्वायत्तता प्रदान की गई, जिसके कारण प्रशासन की सार्वजनिक धन संबंधी अनिश्चितता को सुरक्षात्मक कवच प्रदान किया गया।

हां इस बात को अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि हमारी सरकार के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए इसे कुछ संशोधित करने की आवश्यकता है। लेखा विभाग तथा प्रशासन के आपसी संबंधों को और मजबूत बनाने की आवश्यकता है। इन दोनों को सरकारी मशीनरी का एक अंग बनाए जाने की जरूरत है। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि देश की अर्थव्यवस्था मजबूत बनाने के लिए सार्वजनिक खर्च को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। वित्त मंत्री एक संतुलित बजट तैयार करने तथा सरकार की योजनाओं में सहअस्तित्व स्थापित करने में एक मुख्य तंत्र का कार्य करता है। संसदीय समितियां सरकारी फिजूलखर्ची कम करने में हथकंडे का कार्य करती हैं। महालेखा परीक्षक विधान पालिका द्वारा विभिन्न मदों में खर्च की जाने वाली धनराशि के ब्यौरे के आधार पर परीक्षण करता है कि लेखा का उचित प्रयोग हो पाया है या नहीं।

पाठगत प्रश्न 22.3

सही कथन पर सही (✓) तथा गलत पर (✗) का निशान लगाइए।

1. महालेखा परीक्षक राजस्व का संरक्षक होता है।

   .....

   .....

2. लेखा एक बहुत कम महत्व की चीज है।

   .....

   .....

3. सरकार की जनतांत्रिक प्रणाली में महालेखा परीक्षक कार्यालय एक आवश्यक तत्व है।

   .....

   .....

4. महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।

   .....

   .....

आपने क्या सीखा

महालेखा परीक्षक की नियुक्ति लोक संपत्ति के व्यय को विधान पालिका की तरफ से नियंत्रित करने के लिए की जाती है महालेखा परीक्षक सार्वजनिक धन का संरक्षक तथा सार्वजनिक धन के व्यय का नियंत्रक होता है। महालेखा परीक्षक की नियुक्ति तथा सेवाशर्तें संविधान की धारा 148 में वर्णित हैं। विधान पालिका तथा कार्यपालिका के सम्मान को दृष्टि में रखते हुए संविधान में महालेखा परीक्षक को स्वायत्तता प्रदान की गई है। महालेखा परीक्षक का प्राथमिक कार्य केंद्र तथा राज्य सरकारों का लेखा तैयार करना होता है। इस प्राथमिक कार्य का अर्थ होता है कि संसद द्वारा जो धनराशि जिस मद में खर्च के लिए निर्धारित की गई थी वह उसी मद में और उचित ढंग से संबंधित विभाग द्वारा व्यय की गई है अथवा नहीं – इस बात की निगरानी रखना। महालेखा परीक्षक को लेखा संबंधी शक्तियां संविधान की महालेखा परीक्षक (कार्य, शक्तियां एवं सेवाशर्तें) अधिनियम 1971 के तहत प्रदान की गई हैं। महालेखा परीक्षक को सुचारू रूप से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर पाने के लिए कुछ सहूलियतें तथा शक्तियां प्रदान की गई हैं, जिसके द्वारा वह लेखा संबंधी कार्यवाहियाँ कर सकता है।

भारतीय संविधान की धारा 151 के अनुसार महालेखा परीक्षक केंद्र में राष्ट्रपति को तथा राज्य में राज्यपाल को लेखा रिपोर्ट सौंपता है। लेखा रिपोर्ट तैयार करने संबंधी शक्तियां उसे 1971 के अधिनियम के अनुसार प्रदान की गई हैं। लेखारिपोर्टें लोकलेखा समिति को सौंपी जाती हैं। फिर इसकी जांच करने के बाद लोक लेखा समिति उस पर एक रिपोर्ट तैयार कर संसद अथवा विधानमंडल के समक्ष रखता है। महालेखा परीक्षक उसके बाद यह देखता है कि उसके द्वारा सुझाए गए सुझावों पर अमल किया जा रहा है अथवा नहीं। यदि ऐसा नहीं होता है तो वह पुनः लोकलेखा समिति को इस मामले में सुझाव भेजता है।

इन आलोचनाओं के बाद संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि महालेखा परीक्षक संसद की वह लंबी भुजा है, जो लोक संपत्ति के व्यय को नियंत्रित करने का कार्य करती है।

पाठांत प्रश्न

1. महालेखा परीक्षक के कार्य एवं शक्तियों के बारे में 50 शब्दों में लिखिए।
2. महालेखा परीक्षक की नियुक्ति एवं सेवा शर्तों का वर्णन कीजिए।
3. महालेखा परीक्षक तथा लोकलेखा समिति के आपसी संबंधी पर टिप्पणी लिखिए।
4. किन-किन विंदुओं पर महालेखा परीक्षक की आलोचना की जाती है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

22.1 (क) लोक (ख) 148 (ग) संपूर्ण (घ) राष्ट्रपति

22.2 (क) 6 (ख) नहीं.(ग) 1976 (घ) 72,000 (ङ) लोक लेखा समिति

22.3 (क) सही (ख) गलत (ग) सही (घ) सही।

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें उपखंड 22.6
2. कृपया देखें उपखंड 22.4
3. कृपया देखें उपखंड 22.7
4. कृपया देखें उपखंड 22.10

23
लोकशिकायत तथा निवारण तंत्र

23.1 भूमिका

जनतंत्र में जनता ही सरकारों का गठन करती है तथा उसे उसके उत्तरदायित्वों का बोध कराती है। सरकार का संचालन वेतनभोगी अधिकारियों के द्वारा किया जाता है। प्राय: सरकारी कर्मचारी लोगों की सहायता करने की अपेक्षा कायदे-कानून को ज्यादा तूल देने लगते हैं। यहां तक कि अफसरशाह भी तत्वों को गुप्त रखते हुए अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हैं। प्राय: जनता को सरकार से जल तथा बिजली आपूर्ती एवं आवास आवंटन में हुई गड़बड़ियों से संबंधित अनेक शिकायतें होती है। जनता की इन शिकायतों का निवारण सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है। नहीं तो ऐसा न होने पर जनता सरकार के प्रति अपने उत्तरदायित्वों से मुंह मोड़ लेगी। इसलिए जनतांत्रिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए लोक शिकायतों के निवारण हेतु एक निवारण तंत्र की स्थापना की गई है।

23.2 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने के बाद आप:

- जनतंत्र में लोक शिकायतों के निवारण के महत्व का विश्लेषण कर सकेंगे;
- लोक शिकायतों के निवारण में काम आने वाले विविध उपकरणों की व्याख्या कर सकेंगे;
- लोकपाल तथा लोकायुक्त की भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे; और
- केंद्रीय सतर्कता आयोग के कार्य एवं भूमिका पर प्रकाश डाल सकेंगे।

23.3 जनतंत्र में लोक शिकायतों के निवारण का महत्व

भारत जैसे विकासशील देश की सरकार को बहुत सारे कार्यों का निष्पादन करना होता है। देश के नागरिक सरकार द्वारा उपलब्ध कराई गई बैंक, पोस्ट आफिस, रेलवे, अस्पताल आदि सुविधाओं के ऊपर निर्भर होते हैं। जनता को सरकारी दुकानों से चावल, गेहूं, चीनी आदि जैसी खाद्य सामग्री खरीदने के लिए सरकार द्वारा निर्धारित राशनकार्ड बनवाना होता है। राशनकार्ड बनवाना इतना आसान नहीं होता। उसे बनवाने के लिए एक समुचित प्रक्रिया निर्धारित है। इसी प्रकार की अन्य कई दूसरी सुविधाएं भी हैं। इनमें से अधिकांश सुविधाओं की कार्य-प्रणाली असंतोषजनक होती है, एक ही समय में आदमी को जीवन की अनेक आवश्यकताओं के लिए सरकार के विविध विभागों पर निर्भर रहना पड़ता है।

सरकारी विभागों में जनता के लिए कठिनाइयों का सामना करना आम बात है। कायदे-कानून तो बहुत सारे निर्धारित हैं किंतु उनका पालन बहुत कम ही हो पाता है। रेलगाड़ियां अथवा बसें कभी भी अपने निर्धारित समय

पर नहीं चलतीं। बैंक, अस्पताल तथा पुलिस जनता के लिए सहायक सिद्ध होने के बदले भ्रष्ट हो चुके हैं। सरकारी विभागों द्वारा कार्यों को लंबित करने अथवा जनता को तंग करने की प्रवृत्तियों के चलते सरकार स्वयं ही बदनाम होती है।

हालांकि सरकार जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए ही विविध सुविधाओं का प्रावधान करती है। किंतु दिक्कत यह है कि जनता की सेवा करने वाले कर्मचारियों के चलते जनता सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पाती। इनमें सबसे अधिक गरीब लोग पीड़ित होते हैं। क्योंकि सबसे अधिक सरकारी सहायता तथा सेवाओं की आवश्यक गरीब लोगों को ही होती है किंतु इन तक ये सुविधाएं पहुंच नहीं पाती और इन्हें तरह-तरह से तंग किया जाता है। यह जनतंत्र के लिए बहुत बुरी बात है। अधिकांश नागरिकों की मंशा यही होती है कि उन्हें सहयोगी तथा संवेदनशील लोक प्रशासन उपलब्ध हो। आज सरकारी विभागों के खिलाफ इतनी लोक शिकायतें दर्ज हैं कि उनके निवारण के लिए एक निश्चित पैमाना तय करना पड़ेगा।

लोकशिकायतों के महत्व को ध्यान में रखते हुए 1966 में 'लोक शिकायतों के निवारण की समस्या' पर एक रिपोर्ट तैयार की गई तथा सरकार ने इस आधार पर 'प्रशासनिक सुधार आयोग' का गठन किया। आयोग ने निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया।

''यदि कोई नागरिक अपनी समस्या दर्ज कराता है तो आयोग उसकी समस्या के संबंध में सरकार की कमियों की जांच करेगा तथा उसकी अध्ययनों के पश्चात शिकायत निवारण संगठन के रूप में यह सरकार के जनतांत्रिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए उसका निवारण करेगा। यह एक ऐसे संगठन के रूप में कार्य करेगा, जिससे अधिकांश जनता के मन में सरकार के प्रति आस्था पैदा हो सके तथा उन्हें जल्दी और समुचित न्याय मिल सके''।

23.4 लोक शिकायत निवारण के उपकरण

प्रशासनिक भ्रष्टाचार को रोकने तथा लोक शिकायतों के निवारण हेतु बहुत सारे कानून तथा प्रक्रियाओं का निमार्ण किया गया है, तथा इन्हें लागू करने का प्रावधान भी बनाया गया है। इसके लिए देश के विभिन्न हिस्सों में कई नए संगठनों का गठन किया गया है।

लोक शिकायतों के निवारण हेतु सबसे पहले किसी संगठन का प्रमाण स्कैंडेनेविया में मिलता है, जिसे 'ओम्बुड्समैन' के नाम से जाना जाता है। ओम्बुड्समैन का कार्यालय स्वीडेन में 1809, फीनलैंड में 1919 से, डेनमार्क में 1955 से, नार्वे तथा न्यूजीलैंड में 1962 से कार्य कर रहा है तथा यूनाइटेड किंगडम में संसदीय प्रशासनिक आयोग का गठन 1967 में किया गया। ओम्बुड्समैन के गठन के बाद दुनिया के अधिकांश देशों में इस प्रकार के संगठनों का गठन किया गया।

ओम्बुड्समैन एक स्वीडिश शब्द है जिसका अर्थ होता है, एक ऐसा अधिकारी जो विधायिका द्वारा नियुक्त किया गया हो और प्रशासन तथा न्याय संबंधी शिकायतों का निबटारा करता है। ओम्बुड्समैन एक अन्वेषक होने के नाते दर्ज शिकायतों से संबंधित जांच करता है तथा फिर उसकी रिपोर्ट विधायिका को भेजता है। शिकायतें प्रशासनिक निर्णयों के खिलाफ सीधे ओम्बुड्समैन के नाम भेजी जाती है। अपनी सहज तथा त्वरित प्रकृति के चलते ही ओम्बुड्समैन प्रसिद्ध हुआ। यह प्रशासनिक निर्णयों के खिलाफ अपील करने का बहुत सस्ता साधन होता है।

23.4.5 भारतीय उपकरण

भारत में प्रशासन से संबंधित शिकायतों के निबटारे के लिए कुछ विशेष प्रकार की समितियों तथा संगठनों का गठन किया गया है। विभिन्न प्रकार की संस्थाएं भी लोक शिकायतों के निबटारे में लगी हुई हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई सरकारी कर्मचारी अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता है तथा उससे किसी नागरिक को परेशानी उठानी पड़ती है तो वह किसी भी अदालत के सामने उसके खिलाफ शिकायत दर्ज करा सकता है। यह न्यायिक निवारण कहलाता है। इस प्रकार की शिकायतों के सस्ते तथा त्वरित निवारण के लिए कई प्रकार की प्रशासनिक इकाइयों का भी गठन किया गया है। इनमें से आयकर ट्रिब्यूनल, मजदूर ट्रिब्यूनल प्रमुख हैं।

दूसरा, संसद में कोई भी संसद सदस्य अपने निर्वाचन क्षेत्र से संबंधित ऐसे मामलों को उठा सकता है। इसके अलावा एक संसदीय समिति का भी गठन किया गया है जो इस तरह की शिकायतों के निबटारे करती है। इस समिति को याचिका समिति कहते हैं। कोई भी नागरिक इसमें न्याय के लिए शिकायत दर्ज करा सकता है। इस प्रकार संसद अथवा विधान परिषद इस प्रकार की दर्ज शिकायतों पर कार्यवाही का विचार कर सकती है।

तीसरा, लोक सेवक (निरीक्षण) अधिनियम के तरह विभागीय तथा सार्वजनिक पूछताछ के अनुसार किसी भी सरकारी कर्मचारी को उसके दुर्व्यवहार पर दण्डित करने का प्रावधान है।

चौथा, लोक शिकायतों के निबटारे के लिए विभिन्न स्तरों पर शिकायत फोरमों का गठन किया गया है। उदाहरण के लिए, रेलवे स्टेशनों तथा बस-स्टैंडों पर लोक शिकायतें दर्ज करने के लिए शिकायत पेटियां रखी होती हैं। आजकल तो किसी दुकानदार द्वारा गलत सामान बेचे जाने के खिलाफ शिकायतें सुनने के लिए उपभोक्ता केंद्रों की स्थापना की गई है। जहां लिखित अथवा टेलीफोन द्वारा शिकायतें दर्ज कराई जा सकती हैं। रेलवे, टेलीफोन आदि जैसे विभागों में तो उनसे संबंधित अलग से एक शिकायत केंद्र बनाए गए होते हैं।

पाठगत प्रश्न 23.1

कोष्ठक में दिए विकल्पों में से विकल्प छांटकर वाक्यों की पूर्ति कीजिए।

(क) नागरिकों द्वारा सरकारी तंत्र के खिलाफ दर्ज शिकायतों को सुना तथा उसका ..... किया जाता है। (निवारण / परीक्षण)

(ख) हर ..... में लोक शिकायतों को सुनने तथा उनके निवारण के लिए एक उपयुक्त तंत्र का गठन किया जाता है। (तानाशाही / लोक तंत्र)

(ग) ..... संगठन स्कैंडेनेविया ने स्थापित किया था। (लोकपाल/अबुद्समैन)

(घ) भारत का कोई भी नागरिक किसी सरकारी कर्मचारी द्वारा किए गए दुर्व्यवहार के खिलाफ अपनी शिकायत ..... में दर्ज करा सकता है। (राष्ट्रपति / अदालत)

(ङ) अपने निर्वाचन क्षेत्र से संबंधित किसी शिकायत को कोई भी सांसद ..... में उठा सकता है। (अदालत / संसद)

(च) लोक शिकायतों के निबटारे के लिए शिकायत ..... की व्यवस्था भी की गई है। (सेल / बूथ)।

23.5 लोकपाल तथा लोकायुक्त

लोक शिकायतों के निबटारे के लिए जिन उपरोक्त संगठनों के गठन की बात कही गई है, वे बहुत ही खर्चीली तथा विलंब से निर्णय देने वाली साबित हो चुकी हैं। ये समितियां किसी नागरिक द्वारा सरकार अथवा राजनेता के खिलाफ दर्ज कराई गई शिकायतों का तेजी से निबटारा करने में असफल रही हैं। इससे संबंधित प्रशासनिक सुधार आयोग (एआरसी-1966) ने अपनी निम्नलिखित टिप्पणियां दी थीं :

"..... विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपने देश की जनता द्वारा दायर शिकायतों की उचित सुनवाई के लिए हमने दो विशेष संगठनों का गठन किया है। एक संगठन केंद्र तथा राज्य स्तर के मंत्री तथा सरकार के सचिवों के खिलाफ जनता द्वारा दायर प्रशासनिक शिकायतों की सुनवाई करेगा। तथा दूसरा संगठन केंद्र तथा राज्य स्तर के बाकी प्रशासनिक अधिकारियों से संबंधित लोक शिकायतों का निबटारा करेगा। ये संगठन कार्यपालिका, न्याय पालिका तथा विधान पालिका के दबावों से मुक्त होंगे।" प्रशासनिक सुधार सेल की पहली शाखा को लोकपाल तथा दूसरी को लोकायुक्त नाम दिया गया है।

संसद में लोकपाल विधेयक कई बार गिराया जा चुका है। लोकपाल विधेयक पारित हो जाने के बाद की लोकपाल की कार्यशैली आलोचना का विषय बनी हुई है। अब सवाल यह है कि क्या लोकपाल केवल भ्रष्टाचार से संबंधित मामलों की ही जांच करेगा अथवा जनता की सरकारी कर्मचारियों द्वारा की गई अन्यायपूर्ण हरकतों अथवा

कुप्रशासन संबंधी शिकायतों का भी निवारण करेगा। लोकपाल विधेयक सभी राजनीतिक दलों की निर्विरोध सहमति के द्वारा ही पास हो सकता है। अब यह उम्मीद बनी हुई है कि जल्दी ही सरकार संसद में इस पर कोई सार्थक निर्णय ले सकेगी।

23.5.1 लोकायुक्त

सबसे पहले लोकायुक्त का गठन, 1970 में उड़ीसा में हुआ था। इसके बाद 1972 में महाराष्ट्र में, 1973 में राजस्थान में, 1974 में बिहार में, 1975 में उ.प्र.में, 1979 में कर्नाटक में, 1981 में मध्य प्रदेश में, 1983 में आंध्र प्रदेश में 1986 में गुजरात में तथा 1995 में पंजाब में लोकायुक्त का गठन किया गया। महाराष्ट्र तथा राजस्थान जैसे कुछ राज्यों में उप लोक आयुक्त का भी पद निर्मित किया गया है। हालांकि यह पद अभी भी रिक्त बने हुए हैं। बाकी राज्यों में भी लोक आयुक्त का गठन होने की प्रक्रिया लगभग चल ही रही है।

प्रचलित प्रावधान के अनुसार लोक आयुक्त की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा पांच वर्ष की अवधि के लिए की जाती है। इसके लिए राज्यपाल राज्य के मुख्य मंत्री, संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, तथा विधान परिषद में विपक्षी दल के नेता से परामर्श लेना आवश्यक होता है। हर राज्य में लोकआयुक्त की न्यायिक प्रकृति भिन्न होती है। राजस्थान, बिहार, महाराष्ट्र तथा उड़ीसा में मुख्य मंत्री लोक आयुक्त के न्यायक्षेत्र से बाहर होता है। अधिकांश राज्यों में लोक आयुक्त के न्याय क्षेत्र में मंत्री तथा उच्च स्तरीय प्रशासनिक अधिकारी आते हैं।

लोक आयुक्त विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी होता है। लोक आयुक्त अपनी वार्षिक रिपोर्ट विधान परिषद के समक्ष पेश करता है तथा प्राय: उसके परामर्शों को स्वीकार कर लिया जाता है। लोक आयुक्त की रिपोर्ट स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण, सिंचाई तथा जल आपूर्ति आदि विभागों से संबंधित बहुतसी शिकायतों पर आधारित होती हैं। इनमें नगरपालिका तथा सहकारी समितियों से संबंधित शिकायतों का भी उल्लेख होता है।

हर राज्य में लोक आयुक्त की सक्रियता समान नहीं होती। आंध्र प्रदेश तथा कर्नाटक में राजनीतिक नेतृत्व को सहयोग प्रदान करने तथा अपनी स्वयं की सक्रियता बढ़ाने की दृष्टि से भी लोक आयुक्त ने इसे एक संस्थान का रूप प्रदान किया है। लोक आयुक्त को सक्रिय तथा प्रभावशाली ढंग से अपने कार्य के निष्पादन हेतु एक प्रशासनिक ढांचे की आवश्यकता भी होती है। इसके लिए उसे खोजबीन के लिए राज्य की जांच समितियों पर निर्भर रहना पड़ता है। उसे जब फाइलें तथा दस्तावेजों की जरूरत पड़ती है तो उसके लिए राज्य के विभिन्न विभागों के कार्यालयों से सहायता प्राप्त करनी पड़ती है। लोक आयुक्त सरकारी विभागों से प्राप्त सूचनाओं तथा जनता द्वारा दर्ज शिकायतों का सावधानी पूर्वक जांच पड़ताल करता है।

इस प्रकार उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर राज्य स्तर पर अभी भी लोक आयुक्त को अपनी जड़े जमानी बाकी हैं। कई राज्यों में तो अभी लोक आयुक्त का गठन ही नहीं हुआ है। केंद्र स्तर पर लोकपाल के गठन में बार-बार की जाने वाली देरी के चलते लोगों में यही धारणा पनपती जा रही है कि इस विधेयक को पारित न किए जाने के लिए प्रशासक तथा राजनीतिज्ञों की मिलीभगत है।

23.6 केंद्रीय सतर्कता आयोग

देश में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार को देखते हुए भारत सरकार ने 1962 में के० संथानम की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय आयोग का गठन किया था। संथानम आयोग ने केंद्र तथा विभिन्न राज्यों में एक सतर्कता आयोग के गठन हेतु सिफारिशें पेश की थी। किंतु आज तक सिर्फ केंद्र स्तर पर ही एक उच्चस्तरीय सतर्कता आयोग का गठन हो पाया है, विभिन्न सरकारी विभागों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में सतर्कता सेल का गठन आज भी होना बाकी है।

केंद्रीय सर्तकता आयोग का अध्यक्ष सतर्कता आयुक्त होता है। इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा 6 वर्षों के लिए की जाती है। वह अपने पद पर अपने कार्यकाल अथवा 65 वर्ष की उम्र तक बना रहता है। सतर्कता आयोग गृह मंत्रालय के अंतर्गत एक स्वायत्तशासी संगठन है। सतर्कता आयुक्त के सहयोग के लिए उसके अधीन एक सचिव, एक विशेष अधिकारी, एक मुख्य तकनीकी आयुक्त, तीन विभागीय जांच आयुक्त तथा 6 तकनीकी आयुक्त होते हैं। केंद्र सकार की कार्यपालिकीय शक्तियों के कमज़ोर पड़ने की अवस्था में सतर्कता आयुक्त अपने अधिकारियों को केंद्र सरकार,

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों तथा दूसरे संगठनों के सहयोगी विभागों में जहां भ्रष्टाचार संबंधी शिकायतें मिली हैं, अपने अधिकारियों को नियुक्त कर सकता है। हालांकि सतर्कता आयोग मंत्रियों तथा संसद के खिलाफ दर्ज शिकायतों पर कोई कार्यवाही नहीं कर सकता।

कोई भी व्यक्ति अपनी शिकायतें सीधे सतर्कता आयुक्त को भेज सकता है। हालांकि आयोग प्रेस द्वारा, संसदीय बहसों से प्राप्त सूचनाओं, लेखा संबंधी आपत्तियों तथा दूसरे कई संगठनों के माध्यम से भी विभिन्न विभागों में हो रहे भ्रष्टाचार, कुप्रशासन अथवा कुरीतियों संबंधी सूचनाएं इकट्ठी करता है। यदि केंद्र सरकार के कर्मचारियों से संबंधित कोई शिकायत राज्य सतर्कता आयुक्त को प्राप्त होती है तो वह उसको निवारण हेतु केंद्रीय सतर्कता आयोग के पास भेज देता है। इस प्रकार की शिकायतें प्राप्त होने के बाद आयोग निम्नलिखित कार्यवाहियां करता है :

(क) संबंधी मंत्रालय अथवा विभाग से पूछताछ करता है।

(ख) सी.बी.आई. को इस पर जांच हेतु नियुक्त करता है।

(ग) सी.बी.आई. इससे संबंधित एक शिकायत दर्ज करती है तथा जांच करना शुरू कर देती है। इसके बाद उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं।

सतर्कता आयोग को शिकायत दर्ज हुए विभागों अथवा मंत्रालयों की प्रक्रिया का भी पालन करना पड़ता है। दर्ज शिकायतों पर चल रही कार्यवाहियों में संबंधित मंत्रालयों अथवा विभागों को सहायता प्रदान करनी होती है। सतर्कता आयोग संबंधित मंत्रालय अथवा विभाग को संपूर्ण रूप से मामलों संबंधित सुझाव अथवा हिदायतें भी दे सकता है। आयोग जांच के पश्चात संबंधित मंत्रालय अथवा विभाग को अपनी रिपोर्ट देने को कह सकता है अथवा इस बीच में पाई गई लापरवाहियों अथवा भ्रष्टाचार के लिए माफी मांगने अथवा अपने कथन को वापस लेने के लिए कह सकता है। यह किसी अग्रिम कार्यवाही के लिए पूरे विभाग का प्रशासन अपनी देखरेख में ले सकता है।

इसके अलावा केंद्रीय सतर्कता आयोग प्रत्येक मंत्रालयों तथा विभागों में मुख्य सतर्कता अधिकारी की नियुक्ति भी करता है। इसके लिए नियुक्तियों से पूर्व सतर्कता आयुक्त को परामर्श लेना पड़ता है। मुख्य सतर्कता अधिकारी के कार्यों को निर्धारण भी केंद्रीय सतर्कता आयुक्त ही करता है। सतर्कता संगठन को और अधिक मजबूत बनाने संबंधी सतर्कता संगठनों द्वारा उपलब्ध कराए गए सभी सुझावों को सतर्कता अधिकारी विचार हेतु केंद्रीय सतर्कता आयुक्त के पास भेजता है।

केंद्रीय सतर्कता आयोग की शक्तियां सीमित होती हैं, क्योंकि यह कोई वैधानिक संगठन नहीं है, यह सिर्फ एक सलाहकार की भूमिका निभाता है। इसके जांच-पड़ताल करने की प्रक्रिया इतनी जटिल और लंबी है कि लोग इसकी प्रतीक्षा में निराश हो जाते हैं। इसके बारे में सही कहा जाता है कि केंद्रीय सतर्कता आयोग कभी भी अंबुद्समैन का विकल्प नहीं हो सकता। यह आयोग एक प्रकार से केंद्रीय प्रशासन, मंत्रालयों, विभागों, राजनीतिक शक्तियों तथा केंद्र सरकार के दबावों के चलते इसकी जांच प्रक्रिया दिनों-दिन इतनी धुंधली होती जा रही है कि यह भी एक प्रकार से केंद्रीय प्रशासन का ही एक उपकरण बन कर रह गया है।

पाठगत प्रश्न 23.2

कोष्ठक में दिए विकल्पों में से सही विकल्प चुनकर वाक्यों की पूर्ति कीजिए :

(क) मंत्रियों तथा सचिवों के खिलाफ दर्ज शिकायतों के निबटारे के लिए प्रशासनिक आयोग ने प्रशासनिक अधिनियम के तहत ..... तथा ..... के गठन की सिफारिश की थी। (लोकपाल / अंबुद्समैन / लोकआयुक्त / संसदीय समितियां)

(ख) ..... में लोक आयुक्त का गठन किया जा चुका है। (महाराष्ट्र / तमिलनाडु)

(ग) ..... की अध्यक्षता में केंद्रीय सतर्कता आयोग का गठन किया गया था। (संथानम / राधाकृष्णन)

(घ) केंद्रीय सतर्कता आयोग की शक्तियां ..... हैं। (विस्तृत / सीमित)

आपने क्या सीखा

सरकारी तंत्र के खिलाफ नागरिकों द्वारा दर्ज कराई गई शिकायतों को सुना जाता है तथा उनका निवारण किया जाता है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो जनता सरकार के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह नहीं करेगी। प्रत्येक जनतांत्रिक देश में लोक शिकायतों के निवारण हेतु एक तंत्र की व्यवस्था की जाती है। भारत में यदि कोई सरकारी कर्मचारी अथवा विभाग अपने कर्त्तव्यों के पालन में लापरवाही करता है अथवा कोई गलत कार्य करता है तो उसके खिलाफ जनता अदालत में शिकायत दर्ज करा सकती है। इस प्रक्रिया को न्यायिक निवारण कहा जाता है। इसके अलावा लोक शिकायतों से संबंधित प्रश्नों को संसद के सदन में भी उठाए जाने का प्रावधान है तथा इसके लिए एक अलग से याचिका समिति नामक एक संसदीय समिति का भी गठन किया गया है। लगभग हर विभाग में सरकारी कर्मचारियों द्वारा की जा रही विविध गड़बड़ियों के खिलाफ शिकायतों के निबटारे के लिए विभागीय सतर्कता सेलों का भी गठन किया गया है। लोक शिकायतों के निवारण हेतु विभिन्न प्रकार के शिकायत फोरमों का भी गठन किया गया है। 1966 में प्रशासनिक सुधार समिति ने लोकपाल तथा लोक आयुक्त के गठन की सिफारिश की थी। किंतु अभी तक केंद्र अथवा राज्य स्तर पर मंत्रियों अथवा सचिवों के खिलाफ दर्ज शिकायतों के निवारण हेतु लोकपाल का गठन संभव नहीं हो सका है। कुछ राज्यों में लोक आयुक्त का गठन किया गया है। केंद्र सरकार के विभागों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में व्याप्त भ्रष्टाचारों से संबंधित शिकायतों के निवारण हेतु केंद्रीय सतर्कता आयोग का गठन किया गया है। इनके अलावा लोक शिकायतों के निवारण हेतु अन्य कई प्रकार के दूसरे संगठन भी गठित किए गए हैं।

पाठांत प्रश्न

1. जनतंत्र में लोक शिकायतों का निवारण क्यों महत्वपूर्ण है?
2. लोक शिकायत के कौन कौन से विविध निवारक उपकरण हैं?
3. लोकपाल तथा लोक आयुक्त की क्या भूमिका होती है?
4. केंद्रीय सतर्कता आयोग की क्या भूमिका होती है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

23.1 (क) निवारण (ख) जनतंत्र (ग) लोकपाल (घ) अदालत (ङ) संसद (च) फोरम।

23.2 (क) लोकपाल तथा लोक आयुक्त (ख) महाराष्ट्र (ग) संथानम (घ) सीमित

पाठगत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें उपखंड 23.3
2. कृपया देखें उपखंड 23.4
3. कृपया देखें उपखंड 23.5
4. कृपया देखें उपखंड 23.6

24

स्थानीय शहरी निकाय

24.1 भूमिका

इस पाठ में आप स्थानीय शहरी निकायों के बारे में पढ़ेंगे। हमारे कस्बों तथा शहरों में स्थानीय सरकारी संस्थाएं होती हैं, उन्हें हम नगर पालिका तथा नगर निगम के नाम से जानते हैं। शहर प्राय: तंग और सघन जनसंख्या वाले क्षेत्र होते हैं। नगर प्रशासन इन शहरी क्षेत्रों की जलआपूर्ति, स्वास्थ्य, नाली, कूड़ा तथा सफाई जैसी समस्याओं का समाधान करता है। जनतांत्रिक सरकार होने के नाते इन स्थानीय नगर निकायों के सदस्य स्थानीय जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। ये निकाय करों का निर्धारण, लोगों पर दंड शुल्क तथा अन्य शुल्कों का निर्धारण भी करते हैं। ये निकाय शहरी क्षेत्रों में आवास, सड़कें, मलव्ययन के सम्बन्ध में नियमावली जैसी अनेक सुविधाएं उपलब्ध कराकर शहरी जन-जीवन को सुव्यवस्थित करने का प्रयास करते हैं। इसके अलावा महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम तथा झुग्गी-झोपड़ी पुनर्वास योजना आदि जैसे विकासात्मक कार्यक्रम भी चलाते हैं। इन स्थानीय निकायों द्वारा स्थानीय जनता शहरी विकास तथा जन सुविधाओं के प्रबन्ध में भागीदार बन जाती है।

24.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- विभिन्न प्रकार के स्थानीय शहरी निकायों की पहचान कर सकेंगे।
- शहरी सरकार के रूप में महानगर व बड़े शहरों में नगर निगम तथा छोटे शहरों अथवा कस्बों में नगर बोर्ड व समितियों के मध्य अंतर स्पष्ट कर सकेंगे।

- स्थानीय शहरी सरकार के जनतांत्रिक स्वरूप को स्पष्ट कर सकेंगे।
- स्थानीय शहरी निकायों के कार्यों को समझ सकेंगे जैसे –

  (क) विचारात्मक : नीति-निर्धारण, बजट पास करना तथा कार्यपालिका को नियंत्रित करना।

  (ख) कार्यपालिका संबंधी : नीतियों को लागू करने संबंधी कार्य, सफाई, जनस्वास्थ्य, शिक्षा, जल तथा बिजली जैसी लोक सुविधाओं का प्रबन्ध।
- स्थानीय शहरी निकायों के वित्तीय संसाधनों की परिगणना कर सकेंगे।
- संविधान के 74 वें संशोधन अधिनियम की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- स्थानीय शहरी सरकारी संस्थाओं का मूल्यांकन कर सकेंगे।

24.3 स्थानीय शहरी निकायों के प्रकार

शहरी स्थानीय सरकारी निकायों को नगरपालिका तथा नगर निगम कहते हैं। नगर निगम केवल दिल्ली, मुंबई, चेन्नई, कलकत्ता तथा अन्य बड़े नगरों में ही होते हैं। अन्य छोटे व मध्यम आकार के शहरों तथा कस्बों में नगरपालिका होती है। कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं, जो धीरे-धीरे शहर का रूप ले रहे होते हैं क्योंकि वहाँ नई बस्ती का निर्माण हो रहा होता है या उद्योग धंधे तथा व्यापार अपनी पहुंच बना रहे होते हैं। एक तरह से ये शहर और गांव का मिलाजुला रूप होते हैं। 74वें संविधान संशोधन अधिनियम में ऐसे नगर निकायों को 'नगर पंचायत' की संज्ञा दी गई है। 'नगर पंचायत' स्थानीय शहरी निकायों के तीसरे रूप में अर्द्धशहरी क्षेत्रों में कार्य करेगी। भारत में कई ऐसे भी नगर हैं जहां फौजी स्टेशन है, जैसे आगरा छावनी, सिकंदराबाद छावनी आदि। ऐसे छावनी नगरों में अलग प्रकार के नगर निकायों की व्यवस्था है, जिन्हें छावनी बोर्ड के नाम से जाना जाता है। इन बोर्डों में फौजी अफसरों तथा स्थानीय जनता सदस्य होते हैं।

24.4 संक्षिप्त इतिहास

नगर सरकार अर्थात् नगर पालिका तथा नगर निगमों की स्थापना ब्रिटिश काल में सफाई तथा स्वास्थ्य संबंधी कार्यों के लिए की गई थी। मद्रास निगम की स्थापना सबसे पहले 1687 में हुई थी। 1720 में रॉयल चार्टर ने भारत के तीन प्रेसीडेंसी नगरों मद्रास, बंबई तथा कलकत्ता में मेयर कोर्ट की स्थापना की थी। 1870 में लार्ड मेयो के स्थानीय नगर निकायों की स्थापना के प्रस्ताव में स्थानीय नगर निकायों के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि ये स्थानीय संसाधनों की रक्षा करेंगी, स्थानीय लोक कार्य तथा जनस्वास्थ्य संबंधी

देख-रेख भी करेंगी। 18 मई 1882 में हार्ड रिपन के प्रस्ताव में स्थानीय लोकतांत्रिक सरकार की सिफारिश की गई थी जो स्थानीय स्तर पर स्वशासन के अवसर प्रदान करे। रिपन के प्रस्ताव को स्थानीय सरकार का 'मैग्ना कार्टा' माना जाता है। इस प्रस्ताव के कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदु थे : निर्वाचित सदस्यों की संख्या का विस्तार, अफसरों की संख्या में कमी तथा स्थानीय निकायों के ऊपर सरकार का न्यूनतम नियंत्रण। बाद में भारत सरकार अधिनियम 1919 तथा भारत सरकार अधिनियम 1935 के अंतर्गत इस स्थानीय सरकार जिसमें शहरी सरकार शामिल थी, को और अधिक पुष्ट बनाया गया।

24.5 नगर पालिका तथा नगर निगमों में भेद

नगर निगमों की स्थापना प्राय: हमारे बड़े शहरों में की जाती है। बड़ी आबादी, शहरी सघनता, जटिल नागरिक समस्याएँ तथा विशेष प्रबन्ध की आवश्यकता के लिए नगर निगमों की स्थापना की जाती है। प्राय: हर राज्य में नगर निगमों के सम्बन्ध में अलग कानून होते हैं तथा इनके ऊपर राज्य सरकारों का सीधा नियंत्रण होता है, उन्हें नियंत्रित करने का अधिकार न तो जिलाधीश के पास होता है और न तो किसी क्षेत्रीय अधिकारी को। नगर पालिका को म्यूनिसिपल बोर्ड, म्यूनिसिपल कमेटी आदि विभिन्न रूपों में जाना जाता है। ये लगभग हर छोटे बड़े शहरों तथा कस्बों में होती हैं।

पिछली जनगणना (1991) के समय भारत की शहरी जनसंख्या भारत की कुल जनसंख्या की 25.7 प्रतिशत थी। यह कुल संख्या 21.71 करोड़ थी जो कि दुनिया के कई देशों की कुल आबादी से भी अधिक है। इस प्रकार इतनी बड़ी शहरी आबादी, जोकि तीन हजार से भी अधिक कस्बों तथा शहरों को घेरे हुई है, को मूलभूत नागरिक सुविधाएं जैसे जलआपूर्ति, निकास, सीवर तथा नाले, सड़कें तथा प्राथमिक शिक्षा आदि उपलब्ध कराने का कार्यभार नगर निगम तथा नगर निकायों के ऊपर ही होता है।

सभी नगर निकायों में जनता द्वारा चुने गए सदस्य होते हैं। चुनाव के उद्देश्य से नगर क्षेत्रों को विभिन्न वार्डों या चुनाव क्षेत्रों में बांटा जाता है। पश्चिम बंगाल को छोड़कर सभी राज्यों के नगर निगमों में एक निगम परिषद्, मेयर और कमिश्नर तथा कुछ स्थाई समितियाँ होती हैं। मेयर का चुनाव एक वर्ष के लिए होता है और वह परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता है। यहां की कार्यपालिका शक्ति 'कमिश्नर' के पास होती है, जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा का अफसर होता है। इन निकायों की स्थाई समितियाँ मूलत: अपनी जिम्मेदारियां निभाती हैं जैसे बजट और वित्त, जल आपूर्ति तथा सीवर एवं नाली इत्यादि की देखभाल करना।

पश्चिम बंगाल में एक अलग तरह के निगम प्रशासन की प्रणाली लागू की गई है जिसे 'मेयर इन काउंसिल' के नाम से जाना जाता है। वहां के मेयर को लगभग मुख्यमंत्री का

दर्जा प्राप्त होता है। चुनावों के बाद मेयर की सलाह पर ही मंत्रिमंडल की तरह की एक 'मेयर इन काउंसिल' का गठन किया जाता है। फिर इस काउंसिल के हर सदस्य को केंद्र व राज्य के मंत्रिमंडल के मंत्रियों की तरह अलग-अलग विभागों की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। वहां कमिश्नर, मेयर के अधीनस्थ होता है। तथा मेयर-इन काउंसिल के निर्णयों को लागू करना उसका कर्त्तव्य होता है।

छोटे तथा मध्यम शहरों में नगरपालिकाएं अपने स्थानीय नागरिक कार्य म्यूनिसिपल बोर्ड या समितियों के माध्यम से करती हैं। विशेष विषयों जैसे जल-आपूर्ति, सड़कें, लोक निर्माण आदि की व्यवस्था के लिए उप समितियां बनाई जाती हैं। नगरपालिका के सभापति का चुनाव सिर्फ 1 वर्ष के लिए किया जाता है तथा वह निगम बोर्डों की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह संस्था का कार्यकारी अध्यक्ष होता है किंतु वास्तव में प्रशासनिक कार्य सभापति की निगरानी में एक कार्यकारी अधिकारी करता है। इसके अलावा वित्तीय अधिकारी, स्वास्थ्य अधिकारी तथा इंजीनियर जैसे कई दूसरे निगम अधिकारी भी होते हैं। कुछ राज्यों, जैसे उत्तर प्रदेश, में निगम अधिकारियों की नियुक्ति विभिन्न राज्य सेवा के कैडर द्वारा होती है। इनका एक जगह से दूसरी जगह स्थानांतरण होता रहता है। कुछ राज्यों, जैसे केरल तथा तमिलनाडु, में इन अधिकारियों की नियुक्ति एकीकृत कैडर से की जाती है अर्थात् ये अधिकारी निगम तथा राज्य प्रशासन दोनों में सेवारत हो सकते हैं। इन निगम के निचले स्तर के बाकी कर्मचारियों जैसे क्लर्क, चपरासी तथा संदेशवाहक आदि की नियुक्ति स्थानीय आधार पर ही की जाती है।

पाठगत प्रश्न - 24.1

संक्षेप में उत्तर दीजिए

1. नगर प्रशासन की क्यों आवश्यकता पड़ती है?
2. ब्रिटिश काल में नगर पालिका तथा नगर निगम की स्थापना क्यों की गई थी?
3. आज़ादी से पहले कौन-कौन से अधिनियम थे, जिनके तहत नगर सरकार की शक्ति को मजबूत करने के लिए नियम बनाए गए थे?
4. नगर निगमों की स्थापना कहाँ की जाती है?
5. नगर निगमों की संरचना कैसी होती है?
6. पश्चिम बंगाल का स्थानीय शहरी निकाय बाकी राज्यों के निकायों से किस तरह भिन्न है?

24.6 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के प्रावधान

संविधान के 74 वें संशोधन अधिनियम के द्वारा पहली बार 1992 में स्थानीय शहरी निकायों को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई। इस संशोधन अधिनियम के तहत संविधान में निम्नलिखित तीन प्रकार के शहरी निकायों का उल्लेख किया गया है :

(क) **नगर पंचायतें :** ये उन क्षेत्रों में स्थापित की जाती हैं जो क्षेत्र अभी शहर ओर गांव के संक्रमण के दौर से गुजर रहे हैं। ये पंचायते इस क्षेत्र के विकास को सुनियोजित करने का प्रयास करती हैं।

(ख) **नगर पालिका :** ये छोटे तथा मझोले शहरी क्षेत्रों में स्थापित की जाती हैं।

(ग) **नगर निगम :** ये बड़े शहरी क्षेत्रों में गठित किए जाते हैं।

कौन से क्षेत्र संक्रमणकालीन, छोटे तथा बड़े शहरी राज्य प्रशासन के विवेक पर छोड़ दिया गया है। शहर में तीन लाख से अधिक आबादी वाले वार्ड या चुनाव क्षेत्रों में वार्ड काऊन्सलर या पार्षद की अध्यक्षता में वार्ड समितियां स्थापित कर नगर प्रशासन में विकेंद्रीकरण लाने का प्रयास किया गया है।

24.7 संरचना

नगर निकायों की संरचना निम्नलिखित है :-

(क) विभिन्न वार्डों की जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य।

(ख) लोकसभा तथा विधान सभा के निर्वाचित सदस्य जो शहरी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(ग) राज्य सभा तथा विधान परिषद के वे सदस्य जो निगम क्षेत्र में निर्वाचक के रूप में दर्ज हों।

(घ) निगम निकायों की समितियों के सभापति।

(च) नगर निगमों के प्रशासन में अनुभवी तथा विशेष ज्ञान वाले व्यक्ति।

इस संविधान संशोधन में समाज के कमजोर वर्गों तथा महिलाओं को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया। किसी भी नगर निकाय की कुल आबादी की इन वर्गों की आबादी के अनुपात के आधार पर आरक्षण देने का प्रावधान किया गया है। इसमें से कुल सीटों की एक तिहाई सीट महिलाओं के लिए आरक्षित होती है। कमजोर वर्गों के लिए आरक्षित सीटों में से एक तिहाई सीटें उस वर्ग की महिलाओं के लिए आरक्षित होती हैं। महिला आरक्षण में अनुसूचित तथा अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के लिए आरक्षण भी

शामिल है। यह आरक्षण इन निगमों के सभापति के पद के लिए भी होता है। अर्थात् सभापति पद अनुसूचित जाति, जनजाति की महिलाओं के लिए सुरक्षित है।

इस संशोधन की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात नगर निगमों को अस्तित्व में रहने का अधिकार है। इस संशोधन के अनुसार इन निगमों का कार्यकाल 5 वर्ष कर दिया गया। इसके अलावा किन्हीं अनियमितताओं की स्थिति में इन्हें कार्यकाल से पूर्व भी भंग किया जा सकता है तथा अनिवार्यतः छः महीने के अंदर ही नए चुनाव करा लिए जाने चाहिए।

24.8 नगर निगमों की वित्त व्यवस्था

नगर निगमों द्वारा आरोपित टैक्स, चुंगी, शुल्क आदि का निर्धारण, उन्हें राज्य सरकार से प्राप्त होने वाली धनराशि तथा अनुदान राज्य सरकार के निर्णय पर छोड़ दिया गया है। संविधान संशोधन अधिनियम की एक अन्य विशेषता कानूनतः वित्त आयोग का गठन है। वित्त आयोग का गठन राज्य द्वारा पांच वर्ष के लिए होता है। वित्त आयोग राज्य द्वारा निर्धारित शुल्कों, चुंगियों, तथा टैक्सों के राज्य सरकार तथा नगर निकायों के बीच बंटवारे के सिद्धान्तों के विषय में अपनी सिफारिश देता है। इसके राज्य की संचित निधि में से नगर निगमों को दिये जाने वाले अनुदान तथा उनके लिए चुंगियों, करों, उत्पाद शुल्कों तथा शुल्कों का निर्णय भी वित्त आयोग करेगा। इसके अलावा नगर निगमों द्वारा अपनी वित्तीय स्थिति सुदृढ़ करने के बहुत सारे उपाय भी यही सुझाता है। राज्यपाल को अधिकार है कि वह वित्त आयोग की सिफारिशों को विधान पालिका के सम्मुख प्रस्तुत करवाए।

केंद्रीय वित्त आयोग राज्य सरकार की संचित निधि के संवर्धन के उपाय सुझाएगा ताकि राज्य वित्त आयोग की सिफारिशों के संदर्भ में नगरपालिकाओं के वित्तीय संसाधन पुष्ट हो सकें।

पाठगत प्रश्न 24.2

उचित विकल्पों द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

(क) _____ संविधान संशोधन अधिनियम में पहली बार स्थानीय शहरी निकायों को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई (74वें / 78वें)

(ख) संविधान संशोधन अधिनियम में _____ प्रकार के स्थानीय शहरी निकायों का प्रावधान किया गया। (चार/तीन)

(ग) नगर पंचायतों का गठन ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों में _____ होने वाले स्थानों पर किया जाता है। (संक्रमण/समानता)

(घ) नगर निकायों के सदस्यों का चुनाव निगमों के _____ की जनता द्वारा किया जाता है। (सीट/वार्ड)

(च) _____ तथा विधान परिषद् के वे निर्वाचित सदस्य जो नगर निगमों के क्षेत्रों में निर्वाचक के रूप में दर्ज हों निगमों के सदस्य होते हैं। (राज्यसभा/लोकसभा)

(छ) जिन व्यक्तियों के पास अनुभव तथा _____ योग्यता होती है उन्हें ही निगमों के अधिकारी के रूप में नियुक्त किया जाता है। (स्थानीय प्रशासन/केंद्रीय प्रशासन)

(ज) निगमों की कुल सीटों की _____ सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित होती हैं। (एक तिहाई / आधी)

(झ) नगर निगमों का कार्यकाल _____ साल का होता है। (चार/पाँच)

(ट) नगर निगमों को दिया जाने वाले अनुदान _____ सरकार के विवेक पर निर्भर करता है। (केंद्र/राज्य)

(ठ) संविधान संशोधन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि इसमें _____ आयोग के गठन का प्रावधान है। (योजना / वित्त)

(ड) वित्त आयोग द्वारा जारी सुझावों को _____ राज्य विधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत करवाता है। (राष्ट्रपति/राज्यपाल)

(ढ) राज्य की संचित निधि के विस्तार के उपाय _____ सुझाता है ताकि नगर पालिकाओं को दी जाने वाली धनराशि में संवृद्धि हो सके। (केंद्रीय वित्त आयोग/राज्य वित्त आयोग)

24.9 शहरी आयोजन

इस संविधान संशोधन में हर जिले में एक जिला योजना समिति के गठन का प्रावधान किया गया है, जो वहां के नगर निगमों तथा पंचायतीराज संस्थाओं की योजनाओं को समेकित करे। यह जिला योजना समिति संपूर्ण जिले के लिए योजनाओं का एक प्रारूप या ड्राफ्ट तैयार करता है। इस समिति में निगमों का प्रतिनिधित्व होता है। इसी में नगर निगमों की योजनाएं भी समाहित होती हैं। फिर एकीकृत योजना को जिला योजना समिति का सभापति राज्य सरकार के चेयरमैन संस्तुत करके राज्य के समक्ष भेज देता है। इसी प्रकार महानगरों में महानगर योजना समिति का गठन किया गया है जिसमें महानगर क्षेत्र में आने वाली नगर पालिकाएं भी प्रतिनिधित्व पाती हैं। फिर यह महानगर योजना समिति भी जिला योजना समिति की भाँति महानगर क्षेत्र के लिए आयोजन करती है।

24.10 स्थानीय शहरी निकायों के कार्य

आमतौर पर नगर पालिका तथा नगर निगमों के संगठन को दो भागों में विभाजित किया जाता है (क) विचारात्मक (विचार विमर्श) तथा (ख) कार्यकारी। निगमों, परिषदों या नगर बोर्डों के निर्वाचित सदस्य विचारात्मक पक्ष का गठन करते हैं। यह विधायिका की भाँति होती है। यह नगर की सामान्य नीतियों और उनके निष्पादन पर विचार-विमर्श करती है, स्थानीय निकाय का बजट पारित करती है तथा करारोपण, संसाधनों के विस्तार विभिन्न सेवाओं की कीमत तथा अन्य नगरीय प्रशासन के मुद्दों पर बहस करती है। ये नगर की प्रशासन की निगरानी करती है तथा विभिन्न कार्यों के लिए कार्यपालिका का उत्तरदायित्व सुनिश्चित करती है। उदाहरण के लिए यदि किसी क्षेत्र में जल-आपूर्ति ठीक ढंग से नहीं हो पा रही है या कहीं महामारी का प्रकोप हुआ है तो यह विचारात्मक पक्ष इस संबंध में प्रशासन की आलोचना करती है तथा उन्हें बेहतर ढंग से कार्य करने हेतु सुझाव भी प्रस्तुत करती है।

स्थानीय शहरी प्रशासन का कार्यकारी पक्ष नगर निकायों के अधिकारी तथा अन्य कर्मचारियों की सहायता से संचालित होता है। निगमों का कार्यकारी अध्यक्ष कमिश्नर होता है जिसकी निगरानी व नियंत्रण में अन्य विभागों के अधिकारी जैसे इंजीनियर, वित्त अधिकारी, स्वास्थ्य अधिकारी आदि कार्यरत होते हैं। बड़े नगर निगमों जैसे मुंबई नगर निगम का कमिश्नर प्रायः कोई भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है। बाकी नगर पालिकाओं के कार्यकारी अधिकारी इसी प्रकार उच्च पद पर आसीन होते हैं तथा नगर पालिका के प्रशासन की निगरानी करते हैं।

नगर निगमों के कार्यों को प्रायः दो भागों में विभाजित किया जाता है – अनिवार्य तथा एच्छिक।अनिवार्य कार्य उन्हें कहते हैं जिन्हें निगमों को पूर्ण करना आवश्यक होता है। इन कार्यों के अंतर्गत जल-आपूर्ति, सड़कों का निर्माण तथा उनकी देखभाल, लोक निर्माण, स्ट्रीट लाइट, नालियों तथा सीवर की व्यवस्था, कूड़ा संकलन तथा मलव्ययन तथा महामारियों की रोकथाम और नियंत्रण संबंधी कार्य आते हैं।

ऐच्छिक कार्यों के अधीन वे कार्य आते हैं जो नगर निगम जिनका सम्पादन धन की उपलब्धि पर निर्भर करता है। इन्हें नगर निगम दूसरे स्थान पर रखते हैं। ऐच्छिक कार्यों के अंतर्गत आवास निर्माण तथा रख रखाव, अनाथालयों तथा परित्यक्तों के आवास के निर्माण, निम्न आय वर्ग के लोगों के लिए आवास निर्माण तथा चिकित्सा सुविधाएं मुहैया कराना और सार्वजनिक सम्मान प्रदान करने सम्बन्धी कार्यक्रम आयोजित करना आदि कार्य आते हैं।

नगर निगमों को बाकी साधारण नगर पालिकाओं की अपेक्षा अधिक कार्य करने होते हैं। कुछ बड़े शहरों के नगर निगमों जैसे मुंबई, बड़ौदा, पूना, तथा अहमदाबाद आदि को

विभिन्न प्रकार की शहरी विकासात्मक गतिविधियों जैसे सार्वजनिक यातायात, पार्कों, तथा नगर निगम के चिड़ियाघरों आदि का निर्माण एवं बिजली और दुग्ध-आपूर्ति जैसे कार्यों के लिए प्रसिद्धि प्राप्त है।

पाठगत प्रश्न 24.3

हाँ अथवा नहीं में उत्तर दीजिए:

(क) 74वें संविधान संशोधन अधिनियम में एक जिला योजना समिति का प्रावधान है।

(ख) जिला योजना समिति तथा महानगर योजना समिति दोनों के आयोजन नितान्त भिन्न होते हैं।

(ग) नगर निगम, परिषद तथा बोर्ड के निर्वाचित सदस्य विचारात्मक पक्ष का गठन करते हैं।

(घ) विचारात्मक पक्ष प्रशासन की कमजोरियों की आलोचना करता है तथा सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत करता है।

(च) नगर निगमों के प्रशासन के कार्यकारी पक्ष की देखरेख नगर अधिकारी व अन्य कर्मचारी नहीं करते।

(छ) कार्यकारी अध्यक्ष नगर कमिश्नर होता है।

(ज) निगमों के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया गया है: अनिवार्य तथा ऐच्छिक।

(झ) अनिवार्य कार्य वे होते हैं जिन्हें निगम धन की उपलब्धि होने पर संपन्न करते हैं।

(ट) नगर निगमों को सामान्य नगर पालिकाओं की अपेक्षा अधिक कार्य करने होते हैं।

24.11 स्थानीय शहरी निकायों के वित्तीय संसाधन

नगर निगम तथा नगर पालिकाएं राज्य के नगर निगम कानूनों के अनुसार अपने वित्तीय संसाधनों की व्यवस्था विभिन्न माध्यमों से स्वयं करते हैं। इसके अपने राजस्व संसाधन हैं जैसे (क) टैक्स (ख) कर तथा फीस व दंड शुल्क तथा (ग) निगम संसाधनों जैसे भूमि, जलकुंड, बाजार तथा दुकानों द्वारा धन संकलन जिससे ये अपनी वित्तीय स्थिति को व्यवस्थित रखने का प्रयास करते हैं।

अधिकांश शहरी क्षेत्रों में जमीन तथा भवनों पर लगने वाले संपत्ति कर स्थानीय निकायों के सबसे महत्त्वपूर्ण आय के साधन होते हैं। इसके अलावा वे व्यवसाय कर, विज्ञापन

का तथा कुत्तों पर कर आदि भी आरोपित कर सकते हैं। पश्चिम भारत के शहरों में आक्ट्रॉय (Octroi) चुंगी को एक बहुत बड़ा वित्तीय संसाधन माना जाता था। अब यह लगभग समाप्तप्राय है क्योंकि इससे राजमार्गों पर यातायात में बाधा उत्पन्न होती है। कई नगर निगम आवास अथवा लाइसेंस के लिए आवेदन पत्रों की बिक्री से भी अपनी वित्तीय स्थिति को मजबूत करने का प्रयास करते हैं। नगर निगमों द्वारा बनाए गए नियमों के उल्लंघन पर दंड शुल्क भी वसूल करते हैं। स्थानीय बाजारों, विश्राम गृहों तथा दुकानों से भी निगमों को आमदनी होती है।

किंतु उपरोक्त संसाधन से नगर निगमों अथवा नगरपालिकाओं की जिम्मेदारियों को निभाने के लिए अपर्याप्त होते हैं। यही कारण है कि अधिकांश शहरों में सड़कें, जलआपूर्ति, कूड़ा संकलन, सफाई आदि बहुत बुरी हालत में हैं।

इसीलिए सामान्यतया इन निकायों की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ करने के लिए राज्यों द्वारा अनुदान दिए जाते हैं। राज्यों द्वारा अनुदान या तो अस्थाई रूप से अथवा कुछ सिद्धान्तों जैसे, आबादी, झुग्गी-झोपड़ियों का जमघट तथा कस्बों की स्थिति के आधार पर दिए जाते हैं। इसीलिए संविधान संशोधन में एक वित्त आयोग का भी प्रावधान किया गया जो नगर निकायों की वित्तीय स्थिति का परीक्षण करेगा तथा कुछ सिद्धान्तों के आधार पर उन्हें अनुदान की राशि तय करेगा। निकट भविष्य में यह उम्मीद की जा रही है कि राज्यों से स्थानीय निकायों को वित्तीय संसाधनों के हस्तान्तरण द्वारा इनकी आय के स्रोत सुनिश्चित किए जा सकेंगे।

पाठगत प्रश्न 24.4

हाँ अथवा नहीं में उत्तर दीजिए :

(क) नगर निकाय अपने राजस्व संसाधनों जैसे टैक्स, शुल्क, दंडशुल्क तथा अपनी निजी भूमि, जलकुंड, दुकान तथा बाजारों के माध्यम से वित्तीय संसाधन पैदा करते हैं।

(ख) अधिकांश शहरी क्षेत्रों में संपत्तिकर एक महत्त्वपूर्ण वित्तीय संसाधन होता है।

(ग) आक्ट्रय चुंगी लगभग समाप्तप्राय है।

(घ) भारत के नगर निकाय अपने वित्तीय संसाधनों से पर्याप्त राजस्व के रूप में जुटाती जुटा पाते हैं।

(च) नगर निकायों को राज्य अनुदान देता है।

(छ) अभी हाल ही में हुए संविधान संशोधन में एक वित्त आयोग का प्रावधान किया गया है।

आपने क्या सीखा

74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित हो जाने के बाद अब भारत में तीन प्रकार के स्थानीय शहरी निकायों की व्यवस्था हो गई है: नगर, निगम नगर पालिका तथा नगर पंचायत। नगर निगम बड़े शहरों में, नगर पालिका मध्यम एवं छोटे शहरों में तथा नगर पंचायत कस्बों तथा शहर का दर्जा प्राप्त कर रहे क्षेत्रों में होती है। नगर निगम बड़े संगठन होते हैं और अधिक कार्य करते हैं। ये महानगरों और बड़े शहरों में होते हैं और इनके वित्तीय संसाधन भी अधिक होते हैं। नगर बोर्ड तथा समितियां छोटी स्थानीय शहरी निकाय होती हैं तथा इनके कार्य और वित्तीय संसाधन भी कम होते हैं। नगर निगम प्रशासन तथा नगर पालिका प्रशासन में भिन्नता होती है। सभी नगर निकायों का गठन विभिन्न वार्डों की जनता द्वारा चुने प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। स्थानीय शहरी निकाय शहरों तथा कस्बों की व्यवस्था से संबंधित नीतियां निर्धारित करते है, बजट पारित करते हैं और अपनी आय के संसाधन जुटाते हैं। स्थानीय शहरी निकायों के कार्यकारी कार्यों में सफाई, जन स्वास्थ्य, जल-आपूर्ति तथा नाली एवं सीवरों के प्रबंध तथा नागरिक आवश्यकताओं की पूर्ति आदि से संबंधित कार्य शामिल हैं। भूमि तथा आवास के ऊपर लगाए जाने वाले संपत्तिकर नगर निकायों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वित्तीय संसाधन होता है। कुछ शहरों में अभी भी आक्ट्रॉक (चुंगी) वसूल की जाती है। राज्य सरकार से अनुदान भी नगर निकायों की आय का एक प्रमुख साधन हैं। 74वें संविधान संशोधन अधिनियम में स्थानीय शहरी निकायों को संवैधानिक मान्यता तो प्राप्त हुई है साथ ही इनके वित्तीय संसाधन और कार्यों को सुदृढ़ किया गया है। इस प्रकार स्थानीय शहरी निकाय नागरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला महत्वपूर्ण संगठन होता है तथा स्थानीय स्तर पर बुनियादी जनतंत्र को परिपक्व करता है।

पाठांत प्रश्न

(1) भारतीय स्थानीय शहरी शासन का संक्षिप्त इतिहास बताइए।

(2) नगर निगम तथा नगर पालिका के बीच भेद स्पष्ट कीजिए।

(3) 74वें संविधान संशोधन द्वारा कौन-कौन से महत्वपूर्ण किए गए?

(4) स्थानीय शहरी निकायों के गठन का विश्लेषण कीजिए।

(5) स्थानीय शहरी निकायों के महत्त्वपूर्ण कार्यों का विवेचन कीजिए।

(6) स्थानीय शहरी निकायों के महत्त्वपूर्ण वित्तीय संसाधनों का परिचय दीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

24.1 1. नगर की समस्याओं जैसे जलआपूर्ति, स्वास्थ्य, नाली, कूड़ा, बिजली तथा सफाई इत्यादि के समाधान हेतु नगर प्रशासन की आवश्यकता पड़ती है।

2. ब्रिटिश काल में सफाई तथा स्वास्थ्य संबंधी कार्यों के लिए नगर पालिका तथा नगर निगम की स्थापना की गई थी।

3. भारत सरकार अधिनियम 1919 तथा 1935 के तहत नगर सरकार को और अधिक मजबूत बनाया गया।

4. नगर निगमों की स्थापना प्राय: बड़े शहरों में की जाती है।

5. नगर निगमों में एक निगम परिषद मेयर और कमिश्नर तथा कुछ स्थाई समितियाँ होती हैं।

6. पश्चिम बंगाल के निगम प्रशासन को 'मेयर इन काउंसिल' कहते हैं जिसका गठन मेयर की सलाह पर मंत्रिमंडल की भाँति किया जाता है।

24.2 (क) 74वें (ख) तीन (ग) संक्रमण (घ) वार्ड (च) राज्यसभा (ठ) स्थानीय प्रशासन (ज) एक तिहाई (झ) पांच (ट) राज्य (ठ) वित्त (ड) राज्यपाल (ढ) केंद्रीय वित्त आयोग

24.3 (क) हाँ (ख) नहीं (ग) हाँ (घ) हाँ (च) नहीं (छ) हाँ (ज) हाँ (झ) नही (ट) हाँ

24.4 (क) हाँ (ख) हाँ (ग) हाँ (घ) नहीं (च) हाँ (छ) हाँ ,

पाठांत प्रश्नों के संकेत :

1. कृपया देखें, उपखंड – 24.4
2. कृपया देखें, उपखंड – 24.5
3. कृपया देखें, उपखंड – 24.6
4. कृपया देखें, उपखंड – 24.7
5. कृपया देखें, उपखंड – 24.10
6. कृपया देखें, उपखंड – 24.8, 24.11

25

पंचायती राज संस्थाएं

25.1 भूमिका

अब यह बात पूर्णत: सिद्ध हो चुकी है कि स्थानीय विकास तभी संभव है जब स्थानीय लोगों की विकास कार्यक्रमों में हिस्सेदारी हो। सत्ता का विकेंद्रीकरण होना चाहिए तथा स्थानीय जनता का सहयोग और नीति-निर्माण में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय सरकार होनी चाहिए। स्थानीय लोगों की मदद से तथा स्थानीय संसाधनों के उपयोग द्वारा ही स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आर्थिक विकास संभव हो पाएगा। यही कारण है कि जनतंत्र में सरकार के विकेन्द्रीकरण की नीति के चलते स्थानीय सरकारें अस्तित्व में आई हैं।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण अथवा संपूर्ण रूप से जनतांत्रिक सरकार का विकेंद्रीकरण स्थानीय सरकारों द्वारा ही संभव हो सकता है। आधारभूत स्तर पर जनतंत्र के एक विस्तार के रूप में स्थानीय सरकारों का गठन स्थानीय जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा ही किया जाता है। हमारे देश में ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय सरकार को 'पंचायती राज' कहा जाता है तथा शहरी क्षेत्रों में इन्हें 'नगरपालिका' तथा 'नगरनिगम' के नाम से जाना जाता है।

25.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- स्थानीय सरकार विशेषकर पंचायती राज के महत्त्व को स्पष्ट कर सकेंगे।
- बलवंत राय मेहता तथा अशोक मेहता समिति की सिफारिशों का पुन:स्मरण कर सकेंगे।

- 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के मुख्य संकेतों को संक्षेप में स्पष्ट कर सकेंगे।
- देश में पंचायती राज संस्थाओं के गठन तथा कार्यप्रणाली का वर्णन कर सकेंगे।
- पंचायती राज के आर्थिक संसाधनों का परिचय दे सकेंगे।
- देश में स्वायत्त शासी सरकार के रूप में पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकलापों का विश्लेषण कर सकेंगे।

25.3 पंचायती राज का महत्त्व

गांधी जी ने कहा था कि एक सच्चे जनतंत्र की स्थापना सबसे निचले स्तर से ही होती है जिसमें हर गांव का एक एक आदमी शरीक हो। यह तभी संभव हो पाएगा जब हर गांव में निर्वाचित लोकप्रिय पंचायत हो। पंचायतें स्थानीय मामलों के प्रबंध में स्थानीय भागीदारी संभव बनाती हैं। इसी से शक्ति का विकेंद्रीकरण भी संभव हो पाता है।

भारत में पंचायती राज कोई नई व्यवस्था नहीं है। अंग्रेजी हुकूमत के बहुत पहले से ही गांव की सामाजिक जिंदगी में पंचायतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। ये ग्रामीण जनता के छोटे-मोटे विवादों का निबटारा भी करती रही हैं। किंतु अंग्रेजी शासन के दौरान अदालतों के गठन तथा राजस्व वसूली के लिए कानूनों के बन जाने से इन पंचायतों की शक्ति में काफी कमी आई। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान गांधी जी का सपना था कि जमीनी स्तर पर स्थानीय सरकार और ग्रामीण लोगों के उत्थान के लिए पंचायतीराज व्यवस्था की स्थापना आवश्यक है। स्वतंत्रता के बाद हमारे संविधान के अनुच्छेद 40 में राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए पंचायती राज की विशेष व्यवस्था की गई है।

संविधान में केंद्र तथा राज्य सरकारों को निर्देश दिए गए हैं कि वे गांवों में पंचायतों का गठन कराएँ तथा इन पंचायतों को अधिक से अधिक शक्ति तथा अधिकार प्रदान करें ताकि वे स्थानीय स्वायत्त सरकार के रूप में स्थापित हो सकें। यह निर्देश राज्यों पर बाध्य नहीं थे इसलिए राज्य पंचायती व्यवस्था को गंभीरता से नहीं लेते थे। किंतु अब भारतीय संविधान के 73 वे संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 के द्वारा पंचायती राज को संवैधानिक मान्यता प्रदान हो गई है।

25.4 बलवंत राय मेहता तथा अशोक मेहता समितियों की सिफारिशें

भारत में पंचायती राज व्यवस्था को समझने के लिए हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि इससे संबंधित दो प्रमुख समितियों की सिफारिशों को जानें। पहली समिति है बलवंत राय मेहता समिति (1957) तथा अशोक मेहता सामिति (1978)।

25.4.1 बलवंत राय मेहता समिति

इस समिति का गठन 1957 में किया गया था। इस समिति ने पंचायती राज के त्रिस्तरीय गठन द्वारा जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सिफारिश की थी। इसका अर्थ यह हुआ कि पंचायतों का गठन तीन स्तरों पर किया जाना चाहिए। इनको पर्याप्त शक्ति तथा संसाधन उपलब्ध कराए जाने की बात कही गई थी। पंचायती राज व्यवस्था के तीन स्तर निम्नलिखित हैं:

- जिला स्तर पर जिला परिषद
- ब्लाक स्तर पर पंचायत समिति, तथा
- ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत

इन तीनों में से पंचायत समिति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बनाया गया था। गांवों में सिंचाई, कृषि तथा प्राथमिक शिक्षा आदि से संबंधित विकास कार्यों का संचालन इस समिति से अपेक्षित था। ग्राम पंचायत विकास कार्यों के संपादन में एक प्रकार से पंचायत समिति की सहयोगी संस्था होती। यह गांवो में जल-आपूर्ति, सफाई तथा सड़कों की व्यवस्था स्वास्थ्य, शिक्षा आदि इसी की जिम्मेदारी थे। पंचायत समिति के ऊपर जिला परिषद को पंचायत समितियों के कार्यों का समन्वय करना था। ये तीनों निकाय परस्पर सम्बन्धित थे क्योंकि सभापति के माध्यम से निचला स्तर ऊपर स्तर पर प्रतिनिधित्व पाता था।

बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों को 1959 में पहली बार राजस्थान में लागू किया गया। बाद में बाकी राज्यों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। शुरू में तो राज्य सरकार तथा जनता दोनों पंचायती राज को लेकर बहुत उत्साहित थे। जनता ने अनेक विकास कार्यों में बड़े उत्साह के साथ हिस्सा भी लिया। किंतु बहुत जल्दी ही पंचायती राज संस्थाओं का ह्रास होने लगा। लोगों का उत्साह ठंडा पड़ गया। बलवंत रायमेहता समिति द्वारा प्रस्तावित जनता द्वारा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के संचालन की बजाय केंद्र व राज्य सरकारों ने कई विशेष गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम चलाए। इनमें पंचायतों की कोई भूमिका नहीं होती थी। इनका संचालन सरकारी अधिकारी करते थे। गांवों के पुराने जमींदार तथा साहूकार पंचायती राज कार्यों में बाधा उपस्थिति करने लगे थे क्योंकि इसकी वजह से गरीबों के ऊपर से उनका नियंत्रण ढीला पड़ता जा रहा था। राज्य सरकारों ने भी कई वर्षों तक पंचायतों के चुनावों की तरफ ध्यान नहीं दिया।

25.4.2 अशोक मेहता समिति

इस समिति का गठन पंचायती राज व्यवस्था की समीक्षा करने के लिए किया गया था। इस समिति ने 1978 में अपनी सिफारिश प्रस्तुत कर दी थी। समिति ने पाया कि पंचायती राज के कारण ग्रामीण जनता में राजनीतिक चेतना का संचार हुआ है। किन्तु यह आर्थिक विकास लाने में सफल नहीं हुई है। इस समिति ने बुनियादी स्तर पर जनतंत्र के विस्तार के लिए पंचायतों के गठन को नितान्त आवश्यक माना।

बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों में बताई गई त्रि-स्तरीय पंचायतों के गठन के स्थान पर अशोक मेहता समिति ने अपनी सिफारिशों में द्विस्तरीय गठन का प्रावधान किया। यह दो स्तर निम्नलिखित हैं:

- जिला स्तर पर जिला परिषद तथा
- मण्डल पंचायत जो पंचायत समिति तथा ग्राम पंचायतों के मध्य प्रशासनिक इकाई थी।

इस द्विस्तरीय पंचायत व्यवस्था में पहली समिति की भांति पंचायत समिति पर विशेष जोर न देकर जिला परिषद जोर दिया गया था। सामान्यता राज्य सरकारें पंचायतों के गठन के पक्ष में नहीं थी और वे पंचायतों के हाथों में अधिकार सौंपने के पक्ष में भी नहीं थी।

बिहार, उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडु जेसे राज्यों ने एक लंबे समय तक पंचायत चुनाव ही नहीं कराए। इसी दौरान केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों सहयोग से चलाए जाने वाले कई प्रकार के विकास कार्यक्रमों के लिए विशिष्ट अभिकरणों जैसे जिला ग्रामीण विकास एजेन्सी की स्थापना की। इनमें कहीं भी पंचायतों की भूमिका वर्णित नहीं थी। स्वयं पंचायतों के पास इतना धन नहीं था कि वे गांवों में अपने बलबूते पर विकास कार्यक्रम चला सकें।

1980 के दशक में में कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में पंचायती राज व्यवस्था को पुन: स्थापित करने का प्रयास किया गया। यह भी माना जाने लगा कि पंचायती राज को संविधान में पक्के तौर पर शामिल किया जाए तथा समय-समय पर पंचायतों के चुनाव करवाना अनिवार्य किया जाए। केंद्र सरकार ने पंचायतीराज के मूल्यांकन के लिए कुछ समितियों का गठन किया। इन समितियों ने भी स्थानीय स्वायत्त-शासी सरकार को संवैधानिक मान्यता प्रदान करने की सिफारिश की।

पाठगत प्रश्न 25.1

निम्नलिखत प्रश्नों का उत्तर दीजिए

(1) स्थानीय स्वायत्त सरकार क्या होती है?

(2) स्थानीय सरकार क्यों आवश्यक है?

(3) पंचायत किसे कहते हैं?

(4) बलवंत राय मेहता तथा अशोक मेहता समिति की सिफारिशों में क्या मुख्य अंतर है?

25.5 73वें संशोधन अधिनियम के प्रमुख लक्षण

1992 में भारतीय संविधान के 73वें संशोधन अधिनियम में पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इस संशोधन के कुछ प्रावधान राज्यों पर बाध्यकारी हैं तथा कुछ सम्बन्धित राज्य विधान सभाओं के विचारार्थ छोड़ दिए गए हैं। इस संशोधन के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं:

पंचायतों की रचना : पंचायती राज व्यवस्था प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली पर आधारित है जिसकी त्रिस्तरीय व्यवस्था है। इसके तीन स्तर हैं - ग्राम पंचायत, मध्यवर्ती स्तर तथा जिला परिषद। जिन राज्यों की आबादी 20 लाख से कम है वहां पर मध्यवर्ती स्तर आवश्यक नहीं हैं। पंचायतों के सभी सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचित होते हैं। राज्य के निर्णय के विधान सभा तथा लोक सभा के सदस्यों को भी मध्य स्तर तथा जिला स्तर पर शामिल किया जा सकता है।

आरक्षण : पहले ग्रामीण क्षेत्रों के प्रभावशाली व्यक्ति पंचायतों मेंअपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते थे जिस कारण आर्थिक और सामाजिक तौर पर पिछड़े लोग उनमें भागीदारी से वंचित रह जाते थे। इस कारण 73वें संशोधन ने अनुसूचित जाति और जनजाति के लोगों को एक पंचायत क्षेत्र में अपनी जनसंख्या के अनुपात में पंचायत में आरक्षण प्रदान किया है। महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए पंचायतों में एक तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित कर दी गई हैं। इसी प्रकार सभापति के पद में भी इसी प्रकार आरक्षण का प्रावधान किया गया है। इन आरक्षित सीटों का क्रम से विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में समयानुसार बदलता रहता है। राज्य विधानपालिकाएं चाहें तो पंचायतों में अन्य पिछड़ी जाति के लोगों के लिए भी आरक्षण का प्रावधान लागू कर सकती हैं।

कार्यकाल : इस संशोधन में पंचायतों की निरन्तरता पर बल दिया गया है। सामान्यत: पंचायतों का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित किया गया है। यदि इस अवधि से पहले पंचायतें भंग हो जाती है तो छ: महीने से पहले दुबारा चुनाव करा लेना होता है। पंचायतों के चुनावों के संचालन, निरीक्षण, निर्देशन और मतदाता सूची निर्माण के लिए एक राज्य स्तरीय चुनाव आयोग का भी प्रावधान किया गया है।

वित्त आयोग : पंचायतें आर्थिक विकास लाने के अपने उत्तरदायित्व का ठीक ढंग से निर्वाह कर सकती है जब उन्हें पर्याप्त धन उपलब्ध हो। इसलिए हर राज्य में 5 वर्ष के लिए एक वित्त आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है जो राज्यपाल की जिम्मेदारी है। ये आयोग पंचायतों की आर्थिक स्थिति की समीक्षा करते हैं तथा राज्य सरकार द्वारा पंचायतों को दिए जाने वाले अनुदान का लेखा-जोखा तैयार करते हैं।

पंचायतों की शक्ति तथा उत्तरदायित्व : राज्य विधानपालिकाएं पंचायतों को कुछ ऐसी शक्तियाँ प्रदान कर सकती हैं ताकि वे स्वायत्तशासी संस्थाओं के रूप में स्थापित हो

सकें। इन्हें आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय जैसे कार्यों की योजना बनाने का उत्तरदायित्व सौंपा जा सकता है। कृषि, प्राथमिक तथा सेकेंडरी स्तर की शिक्षा व्यवस्था, स्वास्थ्य, सफाई, पीने के पानी, ग्रामीण आवास, कमजोर वर्गों के कल्याण, सामाजिक वानिकी आदि जैसे 29 महत्वपूर्ण आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय की योजनाएं यह बना सकती हैं।

ग्राम सभा : 73वें संशोधन की एक महत्त्वपूर्ण देन 'ग्राम सभा' मान्यता को पंचायती चुनावों के संपन्न हो जाने मात्र से ही जनता की भागीदारी वाला जनतंत्र स्थापित नहीं हो जाता। एक सफल पंचायत के लिए आवश्यक है कि उसे सभी ग्रामीणों का सहयोग, सहभागिता तथा पंचायत में उनकी निष्ठा तथा लगातार समर्थन प्राप्त होता रहे। यह ग्राम सभा के माध्यम से संभव होता है।

> **ग्राम सभा : ग्राम सभा में एक गांव या गांवों के समूह के सभी वयस्क नागरिक शामिल होते हैं।**

सामान्यतः साल में कम से कम दो बार ग्राम सभा की बैठक होनी चाहिए। इन बैठकों में पंचायतों के बजट, आडिट तथा वार्षिक प्रशासनिक गतिविधियों पर विचार विमर्श किया जाता है। ग्राम सभा पंचायतों द्वारा अपनाई जाने वाली नए विकास कार्यक्रमों संबंधी परियोजनाएं सुझाई जाती है। यह गांव के गरीब व्यक्तियों की पहचान कर उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करवाती है।

अधिकांश राज्यों में पंचायतीराज त्रिस्तरीय स्वरूप लागू किया गया है। आइए, अब हम इन तीनों स्वरूपों की जानकारी प्राप्त कर लें।

25.6 पंचायती राज व्यवस्था की त्रिस्तरीय स्वरूप

25.6.1 ग्राम पंचायत

देश में स्थापित पंचायती राज का व्यवस्था की सबसे निचली और गांव या ग्राम स्तर पंचायत को 'ग्राम पंचायत' कहते हैं। इसे अधिकांश राज्यों में ग्राम पंचायत के नाम से ही जाना जाता है। ग्राम पंचायत के सदस्य वहां की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। ग्राम पंचायतों के सदस्यों की संख्या गांव की आबादी के आधार पर तय की जाती है। अलग-अलग पंचायतों में यह संख्या अलग अलग होती है। केरल में ग्राम पंचायतों के सदस्यों की संख्या 8 से 15, हरियाणा में 6 से 20 तथा गुजरात में 9 से 15 तक हो सकती है। पहले पंचायतों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व न के बराबर था। किंतु 73वें संविधान संशोधन अधिनियम अन्तर्गत सभी पंचायतों में एक तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित कर दी गई हैं।

ग्राम पंचायत के अध्यक्ष को अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है - जैसे सरपंच, प्रधान, अथवा प्रैसीडेंट। इसके अलावा उपप्रधान का भी प्रावधान है। दोनों पंचायत के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं।

सामान्यता ग्राम पंचायतों की बैठक महीने में एक बार होती है। ग्राम पंचायतें अपने कार्यों के संपादन के लिए अलग अलग समितियों का गठन करती है। पंचायतों के पास विस्तृत कार्यक्रम होते हैं। और वृहद् संस्था होने के कारण न यह जल्दी-जल्दी बैठक कर पाती है न कार्य का कुशलतापूर्वक संचालन हो पाता है। इसलिए विभिन्न विषयों से सम्बन्धित यथा सामाजिक न्याय, आर्थिक विकास तथा कमजोर वर्गों के कल्याण हेतु अलग-अलग समितियां गठित की जाती हैं।

25.6.2 पंचायत समिति

पंचायती राज की मध्यम व्यवस्था को पंचायत समिति के नाम से जाना जाता है। इसे उत्तर प्रदेश में क्षेत्र पंचायत, मध्य प्रदेश में जनपद तथा आंध्र प्रदेश में मंडल पंचायत के नाम से भी जाना जाता है। समिति के सदस्यों की संख्या भी समिति क्षेत्र की आबादी पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए हरियाणा में 4,000 की आबादी वाले क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता है। इसी प्रकार पंजाब में 15,000 की आबादी पर एक तथा कर्नाटक में प्रति 10,000 पर भी एक सदस्य निर्वाचित होता है।

पंचायत समिति के कुछ सदस्यों का चुनाव सीधे किया जाता है। ग्राम पंचायतों के अध्यक्ष पंचायत समितियों के पदेन सदस्य होते हैं। किंतु सभी ग्राम पंचायतों के सरपंच पंचायत समिति के सदस्य नहीं होते। यह सदस्यता अलग-अलग राज्यों में हर साल चक्रीय क्रम में बदलती रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि पंचायत समिति क्षेत्र की किसी ग्राम सभा का सरपंच एक बार पंचायत समिति का सदस्य बनता है। अगले वर्ष किसी और ग्राम पंचायत के अध्यक्ष को सदस्यता प्राप्त होती है। कुछ पंचायतों में इस क्षेत्र के संसद सदस्य अथवा विधान सभा और विधान परिषद् के सदस्यों को भी पंचायत समिति का सदस्य बना दिया जाता है।

पंचायत समिति के सभापति को भी अलग अलग राज्यों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है। उत्तर प्रदेश में इसे प्रमुख, आंध्र प्रदेश में प्रेसीडेंट, तथा कर्नाटक में इसे अध्यक्ष के नाम से जाना जाता है। इसमें उपाध्यक्ष का पद भी होता है। प्रायः सभापति को प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों में चुना जाता है।

पंचायत समिति एक प्रकार से ग्राम पंचायत तथा जिला परिषद के बीच सेतु का काम करती है।

> **पदेन : अपने पद के आधार पर एक पदासीन व्यक्ति को सदस्यता प्राप्त होती है।**

25.6.3 जिला परिषद

जिला स्तर पर जिला परिषद् पंचायती राज व्यवस्था का उच्चतम स्तर होता है। इसके सदस्यों में कुछ जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं तथा इनकी संख्या अलग-अलग राज्यों में

आबादी के हिसाब से भिन्न-भिन्न होती है हरियाणा में 10 से 30 तक प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्य होते हैं तथा महाराष्ट्र में यह संख्या 50 से 75 तक होती हैं।

पंचायत समितियों के सभापति जिला परिषद् के पदेन सदस्य होते हैं। विधान सभा तथा विधान परिषद् और संसद के उस जिले के सदस्य भी जिला परिषद के सदस्य होते हैं। किंतु महाराष्ट्र जैसे कुछ राज्यों में इन्हें जिला स्तर पर भागीदारी से वंचित रखा जाता है। इनके बजाय इन सहकारी समितियों के सभापति जिला परिषद् के सहयोगी सदस्य होते हैं, हालांकि इन्हें मतदान का अधिकार नहीं होता। गुजरात में शिक्षाविदों को पंचायत समितियों में लेने की व्यवस्था है।

जिला परिषद के सभापति को अध्यक्ष अथवा प्रेसीडेंट कहा जाता है। इसका चुनाव भी प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों के बीच से किया जाता है। एक उपाध्यक्ष भी होता है।

महीने में जिलापरिषद की एक बैठक होती है। किन्हीं विशेष स्थितियों में विशेष बैठक भी बुलाई जाती है। इसमें लिए अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित समितियों का गठन भी किया जाता है।

25.7 पंचायती राज संस्थाओं के कार्य

सभी पंचायती राज संस्थाएं वे कार्य करती हैं जैसे सम्बन्धित राज्यों के पंचायती राज कानूनों में उनके लिए निर्धारित किए गए हैं। पंचायतों के बारे में सबसे उल्लेखनीय बात है कि कानूनतः इनके कार्यों की सूची लम्बी है पर वास्तव में वे बहुत कम कार्य कर पाती हैं। वास्तव में उनके कार्य उनके आर्थिक संसाधनों, उनकी रूचि तथा सरकारी तंत्र द्वारा उनके कार्य-संपादन में बाधा न पहुंचाने पर निर्भर करते हैं।

25.7.1 ग्राम पंचायतों के कार्य

कुछ राज्यों में ग्राम पंचायतों के कार्यों को आवश्यक तथा ऐच्छिक दो भागों में विभाजित कर दिया गया है जबकि कई राज्यों में इनमें कोई विभाजन नहीं किया गया है। नागरिक कार्य यथा सफाई, सड़क सफाई, नाले तथा तालाबों की सफाई व्यवस्था, जनसुविधाएं तथा शौचालय, जन स्वास्थ्य तथा टीकाकरण, पेय जल आपूर्ति, कुओं का निर्माण, स्ट्रीट लाइटों की व्यवस्था, सामाजिक स्वास्थ्य तथा प्रौढ़ शिक्षा आदि जैसे कार्य ग्राम पंचायतों के आवश्यक कार्यों की श्रेणी में आते हैं। इसके अलावा पंचायतें सड़कों के किनारे वृक्षारोपण, पशुओं के लिए गर्भाधान केन्द्रों की स्थापना, शिशु एवं मातृ-कल्याण केन्द्रों की स्थापना तथा कृषि विकास से संबंधित कार्य भी कर सकती हैं।

ग्राम पंचायतें पंचायत समितियों द्वारा चलाए जा रहे विकास कार्यक्रमों में एक एजेंसी के रूप में भी कार्य करती हैं। इसका अर्थ यह होता है कि ग्राम पंचायतें पंचायत समितियों को कार्य सौंपने के साथ-साथ उन कार्यों के संपादन के लिए धन भी उपलब्ध कराती है। इन कार्यों के अंतर्गत सड़क निर्माण, कुँओं की खुदाई, तालाब, पंचायत भवनों के

निर्माण, पुस्तकालय, रीडिंग रूम, लघु सिंचाई कार्य, सहकारी सामितियों को बढ़ावा देना, कुटीर उद्योग, परिवार कल्याण आदि कार्य आते हैं। इसके अलावा जिला परिषद तथा राज्य सरकारों द्वारा भी समय समय पर ग्राम पंचायतों को कार्य सौंपे जा सकते हैं।

73वें संविधान संशोधन के बाद ग्राम पंचायतों का कार्यक्षेत्र को विस्तृत हो गया है। महत्वपूर्ण कार्य जैसे पंचायत क्षेत्र के लिए वार्षिक विकास योजनाओं का निर्माण, वार्षिक बजट, प्राकृतिक आपदा राहत योजना, सार्वजनिक पर गैर-कानूनी कब्जा हटाना, गरीबी उन्मूलन से संबंधित सभी कार्यक्रमों के माध्यम से गरीब लाभार्थियों की पहचान, ग्राम सभाओं, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, गैर-पारंपरिक उर्जा स्रोत, उन्नत चूल्हे का विकास, बायोगैस उपक्रम आदि से संबंधित गतिविधियां सार्वजनिक पंचायतों को दी गई हैं।

25.7.2 पंचायत समिति के कार्य

पंचायत समिति एक प्रकार से विकास गतिविधियों के लिए धुरी का कार्य करती है। इन समितियों के जिम्मे कृषि, भूमि विकास, जल स्रोतों के विकास, सामाजिक वानिकी तथा तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा आदि से संबंधित आधुनिक सौंपे गए हैं। कुछ ऐसी योजनाओं या कार्यक्रमों का कार्यान्वयन भी इन्हें सौंपा जाता है जिन्हें कुछ विशेष परियोजनाओं के लिए धन आबंटित किया गया है।

पंचायत समितियां अपने क्षेत्रो से संबंधित विभिन्न विकासात्मक कार्यक्रम को बढ़ावा देने और उनका समन्वय करने के कार्य भी करती है। ये समिति क्षेत्र के लिए वार्षिक बजट तथा योजनाओं का निर्धारण भी करती है। ये ग्राम पंचायतों द्वारा निर्धारित योजनाओं को समग्र कर जिला योजना के साथ जोड़ने के लिए जिला परिषद् के समक्ष पेश कर देती है। यह ग्राम पंचायत तथा समिति की योजनाओं के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करती है उनके लक्ष्य और उपलब्धियों की समय-समय पर समीक्षा करती है। इन्हें समय समय पर जिला परिषद तथा राज्य सरकार द्वारा सौंपे गए कार्य भी संपन्न कराने होते हैं।

25.7.3 जिला परिषद की कार्यप्रणाली

जिला परिषद पंचायत समितियों को जिले से जोड़ने का कार्य करती है। यह समितियों की गतिविधियों का समन्वयन करती हैं और उनके कार्यों का निरीक्षण करती है। यह जिला योजनाएं तैयार करती है तथा समिति की योजनाओं को इनमें मिलाकर राज्य सरकार के समक्ष पेश करती है।

जिला परिषद संपूर्ण जिले के विकास कार्यों की निगरानी करती है। यह कृषि उत्पादन के विकास, भूगर्भ जल संसाधनों के विकास, ग्रामीण विद्युतीकरण, स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराने संबंधी गतिविधियां, सड़क-निर्माण तथा अन्य लोक-कार्यों की योजनाएं अपनाती हैं। यह अभाव या दैवी आपदा के दौरान राहत,अनाथों एवं गरीबों के लिए भवन-निर्माण, रात्रि विश्रामगृहों तथा महिला एवं बाल कल्याण जैसे कल्याणकारी कार्य करती है।

इसके अलावा जिला परिषद केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों को भी संपन्न करती है। जैसे जवाहर रोजगार योजना केन्द्र द्वारा ऐसा प्रायोजित कार्यक्रम है, जिसमें केन्द्र द्वारा धन सीधे जिला परिषदों को दिया जाता है ताकि वे रोजगार बढ़ाने हेतु योजनाएं चालू कर सकें।

पाठगत प्रश्न 25.2

निम्नलिखित रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. 73वें संविधान संशोधन _____ पंचायतों को _____ प्रदान किया गया है।
2. 73वें संविधान संशोधन में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन जातियों के लोगों के लिए पंचायतों में _____ स्थान आरक्षित किए गए हैं।
3. त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था के तीन स्तर हैं _____ _____ _____ ।
4. कुछ राज्यों में _____ तथा _____ श्रेणी में पंचायतों के कार्यों के बीच विभेद किया गया है।
5. पंचायत समिति _____ तथा _____ के बीच एक सेतु का कार्य करती है।
6. जिला परिषद _____ के कार्यों का निरीक्षण एवं समन्वय करती हैं।

25.8 पंचायतों के आर्थिक संसाधन

पंचायतें तभी ठीक ढंग से कार्य कर सकती हैं जब उन्हें समुचित आर्थिक स्रोत उपलब्ध हों। आर्थिक संसाधनों के लिए पंचायतें मुख्यतया सरकार के अनुदानों पर आश्रित होती हैं। उन्हें टैक्स लगाने तथा उन्हें अपनी या प्रदान की गई सम्पत्ति से भी आमदनी प्राप्त होती परन्तु यह बहुत मामूली होती है। आइए, अब हम चर्चा करें कि पंचायतों को अपनी आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए कौन से तथा किस प्रकार के आर्थिक संसाधन उपलब्ध हैं।

ग्राम पंचायत : अधिकांश राज्यों में कर लगाने की शक्ति ग्राम पंचायतों को होती है। कुछ करों जैसे आवास कर, गोधन पर कर, अचल संपत्ति कर, सफाई कर, घरों में जल आपूर्ति शुल्क, बिजली कर, व्यापारिक फसल कर, गांवों में विक्रय होने वाले उत्पाद पर कर आदि की उगाही पंचायतों द्वारा की जाती है।

पंचायतें चुंगी कर, गांव में अस्थाई मनोरंजन जैसे थियेटर आदि पर कर, पशुधन और किराए पर चलाए जाने वाले गैर मशीनी वाहनों पर भी कर लगा सकती हैं।

ग्राम पंचायतें गांव की सार्वजनिक भूमि बेचने पर, गोबर से आय पर, वनों, चरागाहों, मरे जानवरों की खाल हड्डी आदि पर भी राजस्व की वसूली करता है। राज्य द्वारा लिए जाने वाले भूराजस्व में से ग्राम पंचायतों का भी हिस्सा होता है। ग्राम पंचायतों को सरकार से भी अनुदान प्राप्त होते हैं जिनमें से कुछ विशेष परियोजनाओं के लिए नियत होते हैं और कुछ पंचायतें अपनी इच्छा से व्यय करती हैं। कुछ राज्यों में प्रावधान है कि ग्राम पंचायतें राज्य सरकार अथवा आर्थिक संस्थाओं से ऋण ले सकती हैं।

पंचायत समिति : पंचायत समितियों को भी कुछ करों की उगाही का अधिकार है। पंचायत समितियां अपने द्वारा उपलब्ध कराई गई सुविधाओं जैसे पीने के पानी तथा सिंचाई हेतु जल की व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था तथा अपने रखरखाव में आने वाले पुलों पर चुंगी आदि पर कर वसूल सकती है। पंचायत समितियों द्वारा स्थापित बाजारों में दलालों और कमीशन एजेंटों से लाइसेंस शुल्क, बाजारी इमारतों के प्रयोग तथा सामान बेचन पर शुल्क के रूप में भी आर्थिक संसाधनों की वसूली की जा सकती है। ये स्कूलों, पुस्तकालय प्रयोग, सरायों तथा विश्राम-गृहों पर भी शुल्क निर्धारण और वसूली कर सकती हैं। पंचायत समितियों के लिए सरकार द्वारा जमीनें की संपति में अपने धन से निर्मित सार्वजनिक भवन सार्वजनिक सड़क और इसके रख-रखाव में आने वाली संपति होती है और अन्य संपति भी इन्हें अपनी संपति से इन्हें आय प्राप्त होती हैं। मुहैया कराई जाती है। इन्हें राज्य सरकार द्वारा भी अनुदान प्राप्त होता है। राज्य सरकारों अथवा जिला परिषद द्वारा योजना विशेष के लिए भी पंचायत समितियों को धन मुहैया कराया जाता है।

जिला परिषद : कुछ राज्यों में जिला परिषदों को भी कर लगाने का अधिकार होता है। ये कर यह ग्रामीण क्षेत्रों में छः माह से अधिक व्यवसाय चलाने वाले लोगों, स्वयं द्वारा स्थापित बाज़ारों में दलालों तथा कमीशन एजेंटों के ऊपर टैक्स तथा इन बाज़ारों में माल की बिक्री पर शुल्क लगा सकती है। जब जिला परिषदों को कोई विकास संबंधी परियोजना सौंपी जाती है तो उनके लिए भी धन मुहैया कराया जाता है। इनके अलावा जिला परिषदों को राज्य सरकार द्वारा अनुदान प्राप्त होते हैं, धर्मार्थ संस्थाओं द्वारा भी इन्हें अनुदान प्राप्त होते हैं तथा ये ऋण भी ले सकती हैं।

25.9 पंचायती राज का मूल्यांकन

73वें संविधान संशोधन अधिनियम के पश्चात राज्यों ने पंचायती राज से संबंधित पुराने कानूनों को तोड़कर नए कानून स्थापित किए तथा पंचायती राज व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। किंतु कुछ राज्यों, बिहार में अभी तक पंचायतों के चुनाव नहीं हो सके हैं। यदि पूरे देश में पंचायतों के चुनाव पूर्ण हो जाएं तो देश में दो लाख पंचायतें, 8,500 पंचायत समितियां तथा 400 जिला परिषदों की स्थापना हो जाएगी। दूर-दराज के गांवों में रहने वाले लोग उन योजनाओं के निर्माण, निर्णय-प्रक्रिया और उनके कार्यान्वयन में भाग ले सकेंगे जो उनके जीवन को प्रभावित करें। पंचायती राज जमीनी स्तर पर आधारित ऐसी नई राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करता है जो सरकार

को जनता के द्वार तक ले जाएं। इससे विकास प्रक्रिया नीचे से आरंभ होगी तथा हमारी एक तिहाई से अधिक जनता का सामाजिक-आर्थिक, जीवन सुधर सकेगा जो आज तक विकास के लाभ से वंचित रहीं हैं।

पहले स्वायत्त पंचायतों को स्वायत्त रूप से कार्य करने का अधिकार नहीं प्राप्त था। आज भी बहुत सारी नियामक शक्तियां उन्हें प्राप्त नहीं अतः वे आंशिक रूप से स्वायत्त हैं। यदि कहीं विकासात्मक गतिविधियों के क्रियान्वयन का अधिकार पंचायतों को दिया भी है तो उन्हें उचित संसाधन प्राप्त नहीं हैं। हमेशा उन्हें आर्थिक संसाधनों की कमी रहती है। उन्हें कर लगाने संबंधी शक्तियां भी दी गई थी परन्तु जनता के अत्यंत निकट होने के कारण वे इन्हें लागू नहीं कर पाती। पंचायतें ग्रामीण जनता की निर्धनता के तथ्य से भली भांति परिचित हैं। अपने भाई बंधुओं-पड़ोसियों की नाराज़गी भी समझती हैं। संसाधनों की कमी के कारण पंचायतें स्वायत्तशासी संस्थाओं तथा आर्थिक विकास के अग्रदूत की भूमिका निभा नहीं पातीं।

पंचायतें वास्तव में राज्यों द्वारा चलाई जा रही योजनाओं के क्रियान्वयन में केवल एक प्रमुख एजेंट की भूमिका अदा करती हैं। कुछ समय से केंद्र व राज्य सरकारें पंचायत की उपेक्षा कर धन सीधे संसद सदस्यों को अपने निर्वाचन क्षेत्रों के विकास हेतु उपलब्ध करा रही हैं। पंचायतों के ऊपर राज्य सरकार विभिन्न तरीकों से नियंत्रण रखती है। राज्य सरकार पंचायतों द्वारा पारित प्रस्तावों को खारिज कर सकती है अथवा चाहे तो पंचायतों को भी भंग कर सकती है।

73वें संशोधन में यह उपबंध है कि पंचायतों के भंग होने के छः महीने की भीतर ही नई पंचायत के चुनाव हो जाने चाहिए। अतः राज्य सरकार किसी भी तरह अनिश्चित काल तक के लिए पंचायत चुनावों को नहीं रोक सकती।

यह आवश्यक है कि जनतांत्रिक रूप से निर्वाचित पंचायतों में जनता की सक्रिय भागीदारी हो। यह ग्राम सभा के माध्यम से संभव है। ग्राम सभा सुनिश्चित कर सकती है कि जनता से कोई भी लेन-देन छिपाकर नहीं हो ग्राम सभा के माध्यम से पंचायत का उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जा सकता है। ग्रामीण समाज में विभिन्न वर्ग के लोग होते हैं तथा उनमें आपसी हितों के मुद्दों पर मतभेद होते हैं। ग्राम सभी इन सभी वर्गों की आवश्यकताओं का समन्वय कर उन्हें वरीयता क्रम प्रदान कर ग्राम विकास कार्यक्रमों की रूपरेखा और दिशा तैयार कर सकती है। ग्राम सभाओं को समुचित अधिकार प्रदान कर जनतंत्र को मजबूत बनाया जा सकता है। अभी तक महाराष्ट्र, तथा अरुणाचल प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में ग्राम सभाओं को कानूनी दर्जा नहीं प्रदान किया गया है। अन्य कुछ राज्यों में ग्राम सभा द्वारा पारित प्रस्तावों को मानने के लिए पंचायतें बाध्य नहीं होतीं।

73वें संशोधन में पंचायतों में अनुसूचितजाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ी जाति के लोगों तथा महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण उपलब्ध करवाकर गांवों के सामाजिक ढांचे में आमूलभूत परिवर्तन करने का प्रयास किया गया है। पंचायत की गतिविधियों से

यह स्पष्ट है कि कानूनों की औपचारिकता निभाने के लिए उपरोक्त वर्गों को पंचायतों में स्थान अवश्य मिल गया है परन्तु अभी भी अशिक्षा, प्रशिक्षण के अभाव एवं आर्थिक पराधीनता के कारण इनकी भागीदारी प्रभावशाली नहीं। इनमें से अधिकांश को तो अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों की भी जानकारी नहीं होती।

कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र तथा गुजरात पंचायतों ने सामाजिक कल्याण संबंधी अनेक कार्यक्रम चलाकर लोगों को बहुत लाभ पहुंचाया है। निर्वाचित सदस्य योजनाओं की निर्माण-प्रक्रिया और विकास के क्रियान्वयन में प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेते हैं। किंतु अधिकतर राज्यों में पंचायतों की यह भूमिका अभी भी प्रतिबंधित सी बनी हुई है। सशक्त पंचायतों पर ही ग्रामीण क्षेत्रों का संपूर्ण सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास निर्भर है। जनतंत्र की आधारशिला के रूप में पंचायतों को तभी सुदृढ़ बनाया जा सकता है जब उनकी शक्ति में विश्वास किया जाए, उन्हें समुचित आर्थिक प्रशासनिक शक्तियां मिलें और उनमें जनता की सक्रिय भागीदारी हो और जनमत जागरूक हो।

पाठगत प्रश्न 25.3

निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर लिखिए

1. पंचायतों की आमदनी का मुख्य स्रोत क्या होता है?
2. किन्ही तीन ऐसे करों का उल्लेख कीजिए जिन्हें ग्राम पंचायत लगा सकती है।
3. प्रक्रिया पूर्ण होने पर पंचायत चुनाव कराए जाएं तो कितनी पंचायतें, पंचायत समितियां तथा जिला परिषदों का गठन हो सकेगा।?
4. पंचायतों की स्वायत्तता आंशिक क्यों है?
5. क्या पंचायती संसाधन उसकी जरूरतों को पूरा करने में सक्षम हैं?

आपने क्या सीखा

एक केन्द्रीकृत व्यवस्था में विकास के लाभ गरीब लोगों को स्वत: नहीं प्राप्त हो पाते। जनतांत्रिक विकेंद्रीकरण देश के समूचे विकास के लिए सीधे जनता को शक्तिवान बनाने में आस्था रखता है। शक्तियां तथा लाभ सीधे पहुंचाए जा सकते हैं। पंचायती राज व्यवस्था भी एक विकेंद्रीकरण व्यवस्था का ही अंग होने के नाते इस विचार को पुष्ट करता है व सुगम बनाता है।

पंचायती व्यवस्था ग्राम स्तर की सबसे प्राचीन संस्था है। महात्मा गांधी ने भी एक सच्चे जनतंत्र के लिए संस्थाओं के महत्त्व को स्वीकार किया था। पंचायतें बुनियादी आधार पर जनतंत्र की प्राथमिक संस्था होती हैं। स्थानीय समस्याओं के बारे में स्थानीय लोग बेहतर ढंग से समझते हैं तथा उन्हें कैसे हल किया जाना चाहिए, यह भी उन्हें बखूबी पता होता है। इसीलिए उन्हें

सामाजिक–आर्थिक विकास से संबंधित कार्यक्रमों की योजना व क्रियान्वयन से जुड़ी व्यापक शक्तियां प्रदान की जाती हैं। उन्हें विस्तृत शक्तियां व सम्बन्धित वित्तीय संसाधन प्राप्त हैं। केंद्र तथा राज्य सरकारें आज तक गरीबी तथा पिछड़ापन हटाने के लिए केंद्रीकृत आयोजन के अन्तर्गत विविध कार्यक्रम संचालित करती रही हैं। पूरा देश तरक्की के रास्ते पर आगे बढ़ा। किंतु आज भी अनेकों गांव पिछड़े हुए हैं। नई आर्थिक व राजनीतिक विचारधारा विकास को भागीदारी से जोड़ती है। 73 वें संविधान संशोधन ने ग्रामीण क्षेत्रों में नई आशा का संचार किया है। गांवों के विकास की जिम्मेदारी अब पंचायतों के कंधों पर है। ग्राम विकास कार्यक्रमों में अनुसूचित जाति, अनूसूचित जनजाति पिछड़ी जाति तथा महिलाओं की भागीदारी द्वारा बुनियादी लोकतंत्र के विकास में नई संभावनाएं पैदा हुई हैं।

हालांकि संपूर्ण देश में पंचायती राज व्यवस्था का स्वरूप एक सा नहीं है किंतु अधिकांश राज्यों में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था है। उच्च स्तर पर जिला परिषद, मध्य स्तर पर पंचायत समिति तथा निम्न अथवा ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत। संपूर्ण ग्रामीण विकास अब पंचायतों के ही जिम्मे है। इसके लिए पंचायतों को नियमित अनुदान मुहैया कराए जाते हैं। इन कार्यों की जिम्मेदारी के लिहाज से वित्तीय संसाधन कम हैं। पंचायतें स्वशासी संस्थाओं तथा आर्थिक विकास के अग्रदूत की भूमिका तभी निभा सकती है जब लोग जी–जान से पंचायतों से संलग्न हों। प्रशासनिक हस्तक्षेप की अपेक्षा प्रशासनिक सहयोग के द्वारा पंचायत ग्रामीण समाज में आमूल परिवर्तन ला सकती है। पंचायतें अपनी सक्रियता तथा प्रशासनिक सहयोग पर गांवों में तेजी से सामाजिक परिर्वतन ला सकती हैं। पंचायत के नेताओं में जागरण अथवा चेतना लाने के लिए प्रशिक्षण तथा शिक्षा की भी आवश्यकता है क्योंकि पंचायतों में भाग लेने वाले अधिकांश लोगों को अभी भी अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं है जिन्हें पहली बार शक्ति सम्पन्न बनाया गया है। इसके लिए स्वयंसेवी संगठनों की सहायता ली जा सकती है। पंचायतों की सफलता के लिए केन्द्र तथा राज्य सरकारों के नेताओं को भी गंभीरता पूर्वक इसमें रूचि लेने की आवश्यकता है जन तांत्रिक विकेंद्रीकरण को बरकरार रखने के लिए गांवों की समझदार जनता द्वारा सक्रिय भागीदारी तथा निगरानी रखने की भी आवश्यकता है।

पाठांत प्रश्न

1. विकेंद्रीकरण का क्या महत्व है?
2. बलवंत राय मेहता तथा अशोक मेहता की सिफारिशों में क्या अंतर हैं?
3. 73वें संशोधन के मुख्य तत्वों को संक्षेप में लिखिए।
4. प्रतिनिधि जनतंत्र में ग्राम सभा की क्या भूमिका है?
5. पंचायती राज व्यवस्था के त्रिस्तरीय स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
6. पंचायतों के कार्यों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
7. पंचायतों के आय के मुख्य स्रोत क्या हैं?
8. जनतंत्र की बुनियादी संस्था के रूप में पंचायती राज संस्थाओं का मूल्यांकन कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

25.1 1. स्थानीय स्वायत्त सरकार एक प्रकार से ग्राम स्तर पर जनतंत्र का विस्तार है। यह स्थानीय क्षेत्र में, स्थानीय जनता द्वारा निर्वाचित तथा स्वयं शासित सरकार होती है।

2. स्थानीय सरकारों का गठन इसलिए आवश्यक होता है क्योंकि इससे सरकार तथा जनता के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। इससे जनता की सरकार में भागीदारी, सरकार के संचालन की जानकारी, शक्ति का विकेंद्रीकरण, स्थानीय संसाधनों का बेहतर उपयोग तथा स्थानीय समस्याओं का हल आसानी से सुनिश्चि हो पाता है।

3. पंचायत ग्रामीण जनता द्वारा निर्वाचित संस्था होती है, जिसके माध्यम से वे शासन स्वयं सुनिश्चि करते हैं।

4. बलवंतराय मेहता समिति ने पंचायती राज संस्थाओं के त्रिस्तरीय संगठन द्वारा जनतंत्र के विकेंद्रीकरण को सुनिश्चित किया था, जिसमें ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, ब्लाक स्तर पर पंचायत समिति तथा जिला स्तर पर जिला परिषद की व्यवस्था की। इसमें मुख्य भूमिका पंचायत समिति की थी। अशोक मेहता समिति की सिफारिशों में द्वि-स्तरीय व्यवस्था तथा जिला स्तर पंचायत की मुख्य भूमिका पर ज़ोर था।

25.2 1. 1993, संवैधानिक दर्जा

2. उनकी आबादी के आधार पर

3. ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद

4. अनिवार्य तथा ऐच्छिक

5. ग्राम पंचायत तथा जिला पंचायत

6. पंचायत समितियों

25.3 1. सरकारी अनुदान

2. आवास कर, नाली कर, लाइटिंग कर

3. 2 लाख, 8,500 तथा 400

4. उन्हें नियामक शक्तियां प्रदान नहीं की गई हैं।

5. नहीं।

पाठांत प्रश्नों के संकेत:

1. कृपया देखें, उपखंड - 25.1
2. कृपया देखें, उपखंड - 25.3
3. कृपया देखें, उपखंड - 25.4
4. कृपया देखें, उपखंड - 25.5 एवं 25.6
5. कृपया देखें, उपखंड - 25.5
6. कृपया देखें, उपखंड - 25.6
7. कृपया देखें, उपखंड - 25.7
8. कृपया देखें, उपखंड - 25.8

26

गैर-सरकारी संगठन

26.1 भूमिका

गैर-सरकारी संस्थाएं आज समाज की विभिन्न विकासात्मक गतिविधियों में संलग्न हैं। यह समाज के उन लोगों द्वारा निर्मित संगठन होते हैं, जो समाज सेवा को अपना नैतिक कर्तव्य समझते हैं। मदर टेरेसा द्वारा स्थापित 'मिशनरीज़ ऑफ चैरिटी' एवं स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण मिशन' कुछ ऐसे ही गैर-सरकारी संगठन हैं, जो गरीब, बेसहारा तथा समाज द्वारा उपेक्षित लोगों के कल्याण हेतु कार्य करते हैं। इसके लिए ये संस्थाएं गरीब लोगों को संगठित करने के लिए अनेक प्रकार की गतिविधियां भी चलाती हैं। क्योंकि यह कार्य सरकारी कर्मचारी नहीं कर पाते। तीसरी दुनिया के देशों में महिला एवं बालविकास, झुग्गी-झोपड़ी उद्धार, गरीबी उन्मूलन, पर्यावरण संबंधी सुधार, शैक्षिक विकास तथा राजनीतिक आंदोलन आदि जैसे विभिन्न क्षेत्रों में गैर-सरकारी संगठनों ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

26.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- गैर-सरकारी संगठनों की प्रकृति स्पष्ट कर सकेंगे।
- भारतीय जनतंत्र में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे।
- सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक तथा पर्यावरण संबंधी क्षेत्रों में गैर-सरकारी संगठनों की स्वयंसेवी प्रवृत्ति का महत्त्व बता सकेंगे।
- मदर टेरेसा के 'मिशनरीज़ ऑफ चैरिटी' तथा 'रामकृष्ण मिशन' जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे।

26.3 गैर सरकारी संगठनों की प्रकृति

सरकार को बहुत से कार्य करने होते हैं, किंतु आवश्यक नहीं कि सरकार सारे कार्य करने में सक्षम हो। समाज अपने कार्य सरकार के जैसे एक जनजातीय संगठन अपने कार्यकलाप करता है। एक स्थानीय खेल क्लब अपने सदस्यों की सहायता से खेल सम्बन्धी गतिविधियों का आयोजन करता है। इस प्रकार से स्वयंसेवी संगठनों के प्रयास सरकार के में कार्यों के पूरक होते हैं।

आइए मदर टेरेसा के चैरिटी मिशन पर विचार करें। उनका यह संगठन गरीब लोगों की सहायता करता है, उन्हें आवास उपलब्ध कराता है तथा उन्हें चिकित्सा सुविधाएं मुहैया कराता है। इसी प्रकार रामकृष्ण मिशन भी एक गैर सरकारी संगठन है, जो गरीब एवं जरूरतमंद लोगों की सहायता के लिए विख्यात है। मिशन नेत्रहीन बच्चों के लिए स्कूल चलाता है तथा कई अन्य विद्यालय तथा महाविद्यालय भी चलाता है। मिशन ने गरीब ग्रामवासियों के लिए भी ग्राम सफाई जैसे अनेक ग्रामविकास संबंधी कार्य किए हैं। इसी प्रकार के अनेक गैर सरकारी संगठनों के उदाहरण उपलब्ध हैं, जो सामाजिक विकास संबंधी गतिविधियां चलाते हैं। ये संगठन स्वयंसेवी आधार पर समाज सेवा के कार्य करतें है, इसीलिए इन संगठनों को स्वयंसेवी संगठन भी कहा जाता है। स्वयं सेवी संगठन उन संगठनों को कहते हैं, जो इनके सदस्यों द्वारा सामूहिक हितों के मुद्दे पर गठित किए जाते हैं। स्वयं सेवा अथवा स्वयं सहायता करने की भावना ही इन संगठनों का प्रमुख तत्त्व होता है।

गैर सरकारी संगठनों को तीसरे क्षेत्र या सेक्टर के रूप में जाना जाता है क्योंकि पहला सेक्टर सरकारी सेक्टर होता है तथा दूसरा निजी। सरकारी सेक्टर कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखने, विवादों के निबटारे तथा देश को बाहरी ताकतों के भय से मुक्त रखने का प्रयास करता है। किंतु निजी सेक्टर व्यापारिक गतिविधियों, वाणिज्य एवं उद्योग तथा लाभकारी उत्पादनों के निर्माण में संलग्न होता है। जबकि गैर सरकारी संगठन या अपने संसाधन स्वयं जुटाकर समाज के विकास कार्य से संबंधित गतिविधियां संचालित करते हैं। इन संगठनों की गतिविधियां लाभ की भावना से नहीं वरन् सेवा-भाव से युक्त होती हैं।

पाठगत प्रश्न 26.1

उचित विकल्पों द्वारा खाली स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(क) गैर सरकारी संगठन _____ आधार पर समाज की सेवा करने वाले लोगों द्वारा निर्मित संगठन होते हैं। (स्वयंसेवी, अस्वयंसेवी)

(ख) तीसरी दुनिया के देशों में _____ गतिविधियों के चलते गैरसरकारी संगठनों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गई है। (विकासशील/विकास संबंधी)

(ग) मदर टेरेसा के संगठन का नाम है _____ । (रामकृष्णमिशन, मिशनरीज़ ऑफ चैरिटी)

(घ) गैर सरकारी संगठनों को _____ सेक्टर कहते हैं। (चौथा, तीसरा)

(च) ये बिना _____ के अपनी विकासात्मक गतिविधियों का संचालन करते हैं। (लाभ/सेवा)

26.4 भारत में गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

भारत में स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका एक लंबे समय से ग्राम विकास तथा गरीबों के उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण रही है। ग्राम विकास एवं गरीबों के उत्थान से संबंधी गांधीवादी दृष्टिकोण तथा स्वयं सेवा सिद्धांत आजादी से बहुत पहले ही भारत में अस्तित्व में आ गया था। आजादी के बाद स्वयं सेवी संगठनों के महत्त्व का मूल्यांकन गरीबी उन्मूलन तथा ग्राम विकास में सरकार तथा पंचायती राज की सहायक समितियों के रूप में किया जाने लगा। इन संगठनों के संबंध में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं:

(क) स्वयंसेवी संगठन वनों की रक्षा, कृषि उत्पादनों में वृद्धि तथा सिंचाई व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में लोगों का उत्साह-वर्द्धन करते हैं क्योंकि सामान्यतया सरकारी तंत्र तो इन क्षेत्रों में लोगों के साथ मिलकर कार्य करने में असफल रहा है।

(ख) सरकारी तंत्र तो कुछ कठोर नियम एवं कानूनों के आधार पर चलते हैं। किंतु गैर-सरकारी संगठन अधिक लचीले तथा विनम्र करते हैं और ये कार्यमूलक होते हैं, कानूनमूलक नहीं।

(ग) गैर-सरकारी संगठनों में गरीबों की सेवा की प्रतिबद्धता और प्रेरणा उन्होंने इस कार्य के उपयुक्त बनाती है। ये गरीब लोगों की ज़रूरतों और आकांक्षाओं को बखूबी समझते हैं। सरकारी तंत्र तो इनके विषय में अत्यंत गैर वैयक्तिक (या व्यक्तिगत स्तर पर) और स्वार्थी वृत्ति रखता है। सरकारी अफसरों के तबादले होते रहते हैं। इसलिए वे लोग स्थानीय लोगों के साथ घुल मिल नहीं पाते अथवा उनके इनसे ताल्लुकात अच्छे नहीं बन पाते हैं। न वे एक मुद्दे या एक स्थान से जुड़ पाते हैं।

(घ) स्वयंसेवी संगठन चूंकि नैतिक रूप से सेवा के लिए प्रतिबद्ध होते हैं इसलिए वे अपने सदस्यों तथा उन समूहों, जिनकी वे सेवा करते हैं, के साथ तालमेल रखने का प्रयास करते हैं। इन संगठनों की शक्ति सदस्यता के अनौपचारिक रूप में निहित होती है। स्वयंसेवा और सम्मानार्थ भत्ते पर काम करने की इनकी शैली वेतनभोगी, सरकारी कर्मचारियों की कठोर नियमों और पद-सोपान से बंधी शैली से भिन्न होती है।

(च) तीसरे सेक्टर के रूप में बुनियादी स्तर पर लोगों को संगठित करने की इनकी क्षमता और प्रेरक शक्ति सराहनीय होती है। ये संगठन ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के गरीब लोगों को विकास के लिए प्रोत्साहित करने तथा अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने और सरकार पर दबाव डालने में सफल रहे हैं।

(छ) इन संगठनों ने विकास कार्यों के लिए अपने संसाधनों का प्रबंध स्वयं कर लेने के कारण सरकार का बोझ बहुत कम किया है। इनकी सफलता का कारण स्रोतों को सही दिशा में लगाने की इनकी सामर्थ्य है जो न सरकार को न निजी क्षेत्र को उपलब्ध होती है।

(ज) सामान्यतया यह माना जाता है कि जनतंत्र का विकास संगठनों की बहुलता में निहित होता है। इस प्रकार से शक्ति का विकेंद्रीकरण संभव हो पाता है तथा सामाजिक समस्याओं को निपटाने में जनता अधिक से अधिक अपनी हिस्सेदारी निभा पाती है। इस आधार पर स्वयं सेवी संगठनों का गठन जनतंत्र के लिए लाभकारी होता है।

(झ) विकास गतिविधियों में संलग्न विभिन्न प्रकार के स्वयंसेवी संगठनों के उदय के कारण विकास कार्यों के विविध विकल्प उपलब्ध हुए हैं तथा विकासात्मक गतिविधियों की संभावनाएं बढ़ गई हैं। इन स्वयं सेवी संगठनों ने सामाजिक विकास कार्यों में नए प्रयोगों बहुत संभावनाओं को जन्म दिया है।

(ट) प्राय: स्थानीय आधार पर जनता की आवश्यकताओं की उपेक्षा करने के लिए नौकरशाही की आलोचना की जाती है। जैसे सिंचाई के संसाधनों को ही लें, इस बारे में स्थानीय किसानों से बिना बातचीत किए ही सिंचाई नहर का निर्माण किया जा सकता है जिससे शायद उन्हें कुछ लाभ भी न हो। किंतु जब कोई गैर-सरकारी संगठन स्थानीय लोगों के साथ मिलकर कार्य करते हैं तो लोगों की जरूरतें बेहतर ढंग से पूरी की जा सकती हैं।

पाठगत प्रश्न 26.2

उचित विकल्पों द्वारा खाली स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(क) क्षेत्रीय स्तर पर स्वयं सेवी गतिविधियों के संचालन तथा गरीबों के उत्थान संबंधी जो प्रयास भारत में आजादी से पहले ही शुरू हो गए थे उसे _____ दृष्टिकोण कहते हैं। (मार्क्सवादी/गांधीवादी)

(ख) स्वयंसेवी संस्थाएं अपनी _____ गतिविधियों के चलते महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। (हतोत्साहित करने वाली/प्रोत्साहित करने वाली)

(ग) सरकारी नौकरशाही _____ कानूनों के आधार पर कार्य करने को विवश होती है। (लचीले/कठोर)

(घ) गैर-सरकारी संगठन _____ लोगों के हितों के लिए उत्तरदायी होते हैं। (कम से कम/अधिक से अधिक)

(च) स्वयंसेवी संगठनों की शक्ति उनके अपने _____ सदस्यों में निहित होती है। (अनौपचारिक/औपचारिक)

(छ) गैर-सरकारी संगठनों का निर्माण जनतंत्र के लिए _____ है। (शुभ/अशुभ)

(द) स्वयंसेवी संगठनों ने समाज सेवा के क्षेत्र में कई _____ संभावनाओं की तलाश की हैं। (पुरानी/नई)

26.5 पंचवर्षीय योजनाओं में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

उपरोक्त सभी विशेषताओं और इनके लाभों को देखते हुए, अनेक सरकारी समितियों ने गैर-सरकारी संगठनों की सरकार तथा पंचायती राज संस्थाओं के सहयोगी संगठनों की भूमिका की सिफारिश हैं। छठें पंचवर्षीय योजना के बाद से हमारी विकास नीति की एक विशेषता स्वयंसेवी संगठनों को बढ़ावा देना तथा अनेक विकास परियाजनाओं का आयोजन और क्रियान्वयन एन स्वयंसेवी संगठनों को सोंपना है। कई राज्यों में इन संगठनों ने बुनियादी स्तर पर सामाजिक तथा आर्थिक विकास संबंधी अनेक कार्य किए हैं। ये संगठन समन्वित ग्राम विकास योजनाओं के अलावा कृषि विस्तार, प्रौढ़ शिक्षा, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण, विकलांगों का पुनर्वास, स्थानीय योजनाओं तथा गरीबी उन्मूलन योजनाओं में भी सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं।

रामकृष्ण मिशन, टैगोर ग्राम विकास समिति (बंगाल), मित्र निकेतन (केरल) बनवासी सेवा आश्रम उत्तर प्रदेश कुछ ऐसे ही महत्त्वपूर्ण स्वयं सेवी संगठन हैं जो गांवों के उत्थान में अपना सक्रिय योगदान देते हैं। ग्राम विकास से संबंधित कार्यों में संलग्न स्वयं सेवी संगठनों का एक अखिल भारतीय संगठन है एसोसिएशन आफ वालंटरी एजेंसीज फार रूरल डेवलपमेंट' जो इन संगठनों का मुख्य समन्वयकर्त्ता है।

छठी पंचवर्षीय योजना में (1980-85) स्थानीय स्तर पर विकासात्मक कार्यक्रम चलाने हेतु प्रोत्साहन प्रदान किया गया था। इस दौरान कई ऐसे नए क्षेत्रों की संभावनाएं भी तलाश की गईं जहां गैर-सरकारी संगठन लोगों को जागरूक बना कर उन्हें सक्रिय रूप से इन कार्यक्रमों में संलग्न कर सके।

कुछ प्रमुख विकासात्मक गतिविधियों का परिचय निम्नलिखित है।

(क) पुनर्नवीन होने वाले ऊर्जा स्त्रोतों का विकास जिनमें सामाजिक वानिकी शामिल है।

(ख) परिवार कल्याण, स्वास्थ्य एवं पोषण संबंधी शिक्षा का प्रचार-प्रसार।

(ग) जल-प्रबन्ध और भू-संरक्षण।

(घ) कमजोर वर्गों के लोगों के लिए कल्याण कार्यक्रम।

(ङ) न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम का कार्यान्वयन।

(च) बाढ़ तथा भूकंप जैसे प्राकृतिक प्रकोपों के लिए तैयार रहना और उससे निपटना।

(छ) परिस्थिति विज्ञान एवं जनजातीय विकास को बढ़ावा देना तथा

(ज) पर्यावरण संरक्षण और शिक्षण।

इन कार्यों के लिए गैर-सरकारी संगठनों में प्रमुख रूप से युवा तथा नारी संगठन, विशेष लाभार्थी जैसे स्वरोजगाररत स्त्रियां, सिंचाई परियोजनाओं के प्रमुख क्षेत्रों के किसान, गैर सिंचित क्षेत्र में जल संसाधन विकसित क्षेत्रों के किसान तथा इनके अलावा रोटरी तथा लायंस क्लब जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन तथा कुछ व्यावसायिक व शैक्षणिक संगठन शामिल हैं।

सातवीं योजना (1985-90) में इन स्वयंसेवी संगठनों के लए अधिक सक्रिय भूमिका अधिक सुविधाएं प्रदान स्पष्ट की गईं ताकि स्थानीय समुदायों में और अधिक आत्मनिर्भरता पैदा हो सके। इसके पीछे उद्देश्य था कि अधिक से अधिक ग्रामीण संसाधनों तथा जन शक्ति का उपयोग किया जा सके। भूमि, वन, तथा जल आदि जैसे स्थानीय संसाधनों द्वारा तथा ग्रामीण जनजागरण और नए कौशल द्वारा यह आशा की गई कि स्थानीय कार्यकर्त्ता स्वयं अपने विकास का उत्तरदायित्व निभा सकेंगे। इस प्रकार स्थानीय समुदायों द्वारा वहां के स्थानीय संसाधनों का उपभोग किया जा सकेगा, गरीब तथा अभावग्रस्त लोगों को इसके लिए संगठित किया जा सकेगा, तथा इस प्रक्रिया के दौरान विकास का विकेंद्रीकरण और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा मिलेगा। इससे जनता में बेहतर सेवा की मांग करने की क्षमता तो विकसित होगी स्थानीय जनता सरकार के कार्यकर्त्ताओं को जनता के प्रति जवाबदेह बना सकेगी।

आज भारत के विभिन्न भागों में गैर-सरकारी संगठनों ने जनजागरण तथा स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित विकास उपलब्ध कराने में अपनी अग्रणी भूमिका निभाई है। किंतु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि गैर-सरकारी संगठन हर जगह सफल ही रहें हैं। इनमें कई प्रकार की कमजोरियां भी हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि स्थानीय सामाजिक विकास के क्षेत्र में स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका स्थाई हो गई है। यही कारण है कि आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में गैरसरकारी संगठनों से संबंधित गतिविधियों में अधिक से अधिक जनता की भागीदारी तथा ग्रामीण स्तर पर विकास एवं कल्याण कार्यक्रमों को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया है।

भारत में जिस प्रकार का वातावरण है उसमें विभिन्न प्रकार के संगठनों के उदय की संभावनाएं हैं। यहां कुछ ऐसे भी संगठन हैं जो सरकार की आलोचना करते हैं तथा सरकार की जनता विरोधी नीतियों के खिलाफ जनता को संगठित करने का कार्य करते हैं, जैसे जंगल नीति, सिंचाई तथा बिजली की दरों से संबंधी नीतियां। हालांकि सामान्यतया यही माना जाता है कि गैर-सरकारी संगठनों का राजनीति से कोई संबंध नहीं होता, किंतु इन्हें इससे पूर्णतः मुक्त भी नहीं माना जा सकता। लोगों को राजनीतिक रूप

से संगठित करने वाले संगठन भारतीय जनतंत्र के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। रचनात्मक विपक्ष तथा उनका आलोचनात्मक नजरिया सरकार को नापसंद हो सकता है परन्तु एक स्वस्थ जनतंत्र के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण होता है।

पाठगत प्रश्न 26.3

उचित विकल्प चुनकर खाली स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(क) _____ पंचवर्षीय योजना में गैर-सरकारी संगठनों को प्रोत्साहित करने की महत्त्वपूर्ण कोशिश की गई थी। (पाचवीं/छठी)

(ख) रोटरी क्लब एक _____ स्वयंसेवी संगठन है। (सामाजिक/राजनीतिक)

(ग) सातवीं पंचवर्षीय योजना में स्वयंसेवी संगठनों की _____ सक्रिय भूमिका की सिफारिश की थी। (अधिक/कम)

(घ) गैर-सरकारी संगठन आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने तथा विकास के _____ में सहायता प्रदान करते हैं। (केंद्रीकरण/विकेंद्रीकरण)

(च) आठवीं पंचवर्षीय योजना में _____ को अधिक स्थानीय कार्यक्रम चलाए जाने हेतु उपबंध बनाए गए हैं। (गैर-सरकारी संगठनों, सरकार)

26.6 गैर-सरकारी संगठनों का महत्त्व

स्वयंसेवी संगठनों का मूल्यांकन हम सामाजिक विकास के संदर्भ में ही कर सकते हैं। दरअसल सामाजिक विकास जैसे विशाल कार्य को अकेले सुचारू रूप से कर पाना सरकार के बस की बात नहीं है। सरकार के लिए संभव नहीं है कि वह बाढ़ राहत कार्य, गरीबी उन्मूलन अथवा स्थानीय जन स्वास्थ्य एवं सफाई जैसे कार्यों को उनकी जड़ों तक पहुँचकर कर सके। ऐसे में गैर-सरकारी संगठन स्थानीय लोगों के साथ मिलकर वहां की स्थितियों का बेहतर ढंग से अध्ययन कर पाते हैं। ये संगठन प्रौढ़शिक्षा आंदोलन, वन संरक्षण, शिशु-स्वास्थ्य एवं पोषण आदि मुद्दों पर अपने कार्यक्रम चलाकर लोगों का विश्वास तथा सक्रिय सहयोग भी प्राप्त कर लेते हैं। लोग खुशी-खुशी इनकी सहायता भी करते हैं क्योंकि स्वयंसेवी प्रयास समान के अपने प्रयास होते हैं। इस प्रकार स्वयंसेवी संगठन बड़ी आसानी से सामाजिक ऊर्जा का प्रयोग कर लेते हैं। नई-नई सूचनाएं इकट्ठा करने तथा अपनी लचीली गतिविधियों के चलते गैर सरकारी संगठन विकास के कई नए रास्ते भी तलाश करते हैं जैसे ग्रामीण स्तर पर जल आपूर्ति, भू-संरक्षण तथा गरीब लोगों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने हेतु नए-नए प्रयोग आदि। इन गैर-सरकारी संगठनों के जनता के साथ मिलकर काम करने से इन संगठनों की गतिविधियां जनतांत्रिक रूप धारण कर लेती है। इनके सहयोग से विभिन्न स्थानीय विकास परियोजनाओं के आयोजन व नीति निर्धारण में जनता स्वतंत्रता

पूर्वक अपने विचार व्यक्त कर पाती है तथा इनमें अपनी हिस्सेदारी निभा पाती है। गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग से कार्यों की गुणवत्ता बढ़ जाती है। जनता की भागीदारी से विकास कार्यों में खर्चे भी कम आते हैं क्योंकि जनता अपने लिए संसाधन स्वयं इकट्ठा करती है तथा अपने कार्यों का क्रियान्वयन भी स्वयं देखती है।

गैर-सरकारी संगठन केवल विकास अथवा कल्याणकारी ही नहीं होता। कई ऐसे राजनीतिक स्वयंसेवी संगठन भी होते हैं जो सरकार की नीतियों तथा कार्यक्रमों के विरुद्ध जनमत तैयार करते हैं। यह विरोध वन संरक्षण की नीति के विरुद्ध, मूल्य वृद्धि अथवा बिजली, उर्वरक अथवा सिंचाई के लिए पानी आदि के सम्बन्ध में आर्थिक सहायता में कसौटी से सम्बन्धित होते हैं। इस तरह ये गैर-सरकारी संगठन लोगों को विभिन्न मुद्दों पर शिक्षित कर तथा सार्वजनिक नीतियों पर अपना दबाव बनाए रखते हैं। इस आधार पर स्वयंसेवी संस्थाएं एक दबाव समूह का भी कार्य करती हैं।

स्वयंसेवी संगठनों का कार्यक्षेत्र अत्यंत विशाल है। ये सामाजिक कार्यों (राहत एवं पुनर्वास), आर्थिक विकास (सिंचाई तथा जल संसाधनों के विकास), शैक्षणिक उत्थान (साक्षरता आंदोलन, प्राथमिक शिक्षा) राजनीतिक आंदोलन (सरकारी नीतियों को प्रभावित करने के लिए जनता को संगठित करना) तथा पर्यावरण विकास (वन संरक्षण, प्राकृतिक संसाधनों का प्रबन्ध) संबंधी अनेक क्षेत्रों में कार्य करते हैं। इस प्रकार भारत जैसे देशों, में, जहां सामाजिक-आर्थिक समस्याएं इतनी उग्र हैं कि उनका निदान अकेले सरकार के लिए संभव नहीं हैं, गैर-सरकारी संगठनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका सुस्पष्ट है।

26.7 कुछ विशेष स्वयंसेवी संगठनों की उपयोगिता

रामकृष्ण मिशन, मिशनरीज़ ऑफ चैरिटी, तथा दक्षिण एवं पश्चिमी भारत में कार्यरत अनेक शैक्षणिक संगठन एक लंबे समय से विभिन्न सामाजिक विकास गतिविधियों में लगे हुए हैं। इन संगठनों के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों की हम यहां संक्षेप में एक बार पुनः चर्चा कर रहे हैं। इन संस्थाओं द्वारा गरीब, बेसहारा तथा उपेक्षित लोगों के कल्याणार्थ जो कार्यक्रम चलाए जाते हैं वे राष्ट्रीय तथा अंतराष्ट्रीय स्तर पर विख्यात हैं। मदर टेरेसा को तो समाज के गरीब तथा उपेक्षित लोगों की आजीवन सेवा के लिए नोबल पुरस्कार भी प्रदान किया जा चुका है।

पाठगत प्रश्न 26.4

हाँ या ना में उत्तर दीजिए।

(क) गैर-सरकारी संगठन सरकार के कार्यों में सहायता प्रदान करते हैं।

(ख) स्थानीय समस्याओं की गहराई से जांच करने में सरकार पूर्णतः सक्षम होती है।

(ग) स्वयंसेवी संस्थाएं सामाजिक उर्जा आसानी से संचित कर लेती हैं।

(घ) भारत में कोई भी राजनीतिक स्वयं सेवी संगठन नहीं है।

(च) स्वयंसेवी संगठन शैक्षिक स्तर को ऊंचा उठाने में सहायता प्रदान करते हैं।

(छ) रामकृष्ण मिशन तथा चैरिटी मिशन राजनीतिक स्वयंसेवी संगठन हैं।

आपने क्या सीखा

गैर-सरकारी संगठन विभिन्न सामाजिक विकास संबंधी गतिविधियों में संलग्न होते हैं। ये संगठन समाज के उन व्यक्तियों द्वारा निर्मित किए जाते हैं, जो समाज सेवा को अपना नैतिक कर्तव्य समझते हैं। ये संगठन बिना किसी लाभ के समाज की सेवा करते हैं। भारत में स्वयंसेवी संस्थाओं की समाज के गरीब तथा उपेक्षित लोगों के कल्याण के लिए तथा ग्रामीण विकास संबंधी भूमिका को मान्यता प्राप्त हुई है। छठी पंचवर्षीय योजना में अधिकाधिक विकास परियोजनाओं को गैर सरकारी संगठनों के लिए सुरक्षित कर दिया गया था। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में स्वयंसेवी संस्थाओं को स्थानीय लोकशक्ति तथा स्थानीय संसाधनों के विकास हेतु अधिक से अधिक सक्रिय भूमिका निभाने हेतु प्रोत्साहित किया गया था। सरकार के लिए संपूर्ण रूप से सामाजिक विकास के दुरूह कार्य के संपन्न कर पाना संभव नहीं होता। गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग से सरकार के ऊपर आर्थिक तथा संगठनात्मक भार कम होता है तथा आत्मनिर्भरता पर आधारित विकास की स्थानीय क्षमता की संवृद्धि होती है।

पाठांत प्रश्न

1. गैर-सरकारी संगठनों की प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
2. गैर-सरकारी संगठनों के पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत कीजिए।
3. भारत के विभिन्न भागों में कार्य करने वाले कुछ गैरसरकारी संगठनों के बारे में बताइए।
4. छठी पंचवर्षीय योजना में गैर-सरकारी संगठनों के कार्य के कौन-कौन से क्षेत्र निश्चित किए गए थे?
5. सातवीं पंचवर्षीय योजना में गैर-सरकारी संगठनों को क्या निर्देश दिए गए थे?
6. स्वयंसेवी संगठनों के महत्त्व पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
7. 'मिशनरीज़ ऑफ चैरिटी' के योगदान पर चर्चा कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

26.1 (क) स्वयंसेवी (ख) विकास (ग) चैरिटी मिशन (घ) तीसरा (च) सेवा

26.2 (क) गांधीवादी (ख) प्रोत्साहित (ग) कठोर (घ) अधिक से अधिक (च) अनौपचारिक (छ) शुभ (ज) नई

26.3 (क) पांचवीं (ख) सामाजिक (ग) अधिक (घ) विकेंद्रीकरण (च) गैर-सरकारी संगठन

26.4 (क) हां (ख) नहीं (ग) हां (घ) नहीं (च) हाँ (छ) नहीं

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, उपखंड - 26.3
2. कृपया देखें, उपखंड - 26.3
3. कृपया देखें, उपखंड - 26.4
4. कृपया देखें, उपखंड - 26.5
5. कृपया देखें, उपखंड - 26.5
6. कृपया देखें, उपखंड - 26.6
7. कृपया देखें, उपखंड - 26.7

27

संप्रदायवाद एवं क्षेत्रवाद

27.1 भूमिका

समुदायों के बीच टकराव की राजनीति संप्रदायवाद का बोध कराती है। आप पहले पढ़ चुके हैं कि संप्रदायवाद राष्ट्रीय एकता में बाधक होता है। संप्रदायवादी अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धर्म का दुरोपयोग करते हैं। ये अपने धर्म को श्रेष्ठ साबित करते हैं तथा दूसरे धर्मों के प्रति बहुत ही असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करते हैं। आज राजनीति में संप्रदायवाद बहुत तेजी से अपनी जड़ें जमाने लगा है। संप्रदायवाद की जड़ें ब्रिटिश काल में तलाश की जा सकती हैं। इस काल में भारत के विभिन्न संप्रदायों के लोगों के बीच भेद पैदा करने के सुव्यवस्थित प्रयास किये गए थे ताकि भारत विभेदों से घिरा रहे और ब्रिटिश शासन को चुनौती न दे सके। किंतु आजादी के बाद भी संप्रदायवादी ताकतें देश में अभी भी विद्यमान हैं तथा सरकार एवं समाज के सम्मुख समस्याएं उपस्थित करती रहती हैं।

आज हमारी राजनीतिक प्रणाली में क्षेत्रवाद नामक एक दूसरा घातक तत्व भी मौजूद है। क्षेत्रवाद का उदय तब होता है जब किसी खास क्षेत्र के लोग राष्ट्र के हितों को ताक पर रखते हुए सिर्फ अपने क्षेत्र के प्रति समर्पित हो जाते हैं। क्षेत्रीय भावना का विकास कोई बुरी बात नहीं है किंतु जब यह भारतीय संघ से पृथक होने के विचार को जन्म देती है तो इससे राष्ट्रीय हितों को खतरा उत्पन्न हो जाता है। उपेक्षित होने की भावना पृथकतावाद को जन्म देती है। केंद्र सरकार को प्रत्येक राज्य की ओर समुचित ध्यान देना चाहिए और राज्य के मामलों में हस्तक्षेप से बचना चाहिए। केंद्र सरकार को प्रत्येक राज्य की पहचान का आदर करने के साथ-साथ सहयोग पर आधारित विकास को बढ़ावा देना चाहिए।

इस पाठ में आप संप्रदायवाद तथा क्षेत्रवाद की समस्याओं तथा इनमें निबटने के उपायों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

27.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप:

- संप्रदायवाद तथा क्षेत्रवाद के अर्थ बता सकेंगे।
- संप्रदायवाद का उद्भव जान सकेंगे।
- अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक संप्रदायवाद समझ सकेंगे।
- राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने वाले उपाय बता सकेंगे।
- क्षेत्रवाद के उदय के कारणों की पहचान कर सकेंगे।
- भारत में क्षेत्रवाद के अनेक रूपों को स्पष्ट कर सकेंगे।

27.3 संप्रदायवाद का अर्थ

भारत विभिन्न धर्मों तथा संस्कृतियों की भूमि रहा है। हमारे संविधान में यह वर्णित है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है, किंतु आज भी हमारे देश में एक धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना नहीं हो सकी है। हमारे देश में हिंदुओं (जो कि बहुसंख्यक हैं) तथा मुसलमानों (जो कि अल्पसंख्यक हैं) के बीच सामञ्जस्य स्थापित न हो पाने के कारण इनके बीच धार्मिक विद्वेष उत्पन्न हुए हैं तथा हिंसा व संप्रदायिक दंगे भड़के हैं। संप्रदायवादी धर्म को एक नैतिक विधान न मानकर इसे अपने राजनीतिक स्वार्थों को हल करने के एक साधन के रूप में प्रयोग करते हैं ये अपने धार्मिक समुदायों के हितों को इस प्रकार बढ़ावा देते हैं जिससे कि उस धर्म अथवा संप्रदाय को न मानने वालों के हितों को हानि होती है। इनके ये सिद्धांत एक धार्मिक संगठन को सांप्रदायिक संगठन के रूप में परिणत कर देते हैं तथा दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णुता का भाव पैदा कर देते हैं। संप्रदायवाद के दो प्रमुख लक्षण होते हैं :

(क) यह विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है। यह अपने धर्म को श्रेष्ठ तथा बाकी सब धर्मों को निकृष्ट मानता है।

(ख) यह दूसरे धर्मों के विरूद्ध प्रचार करता है।

राजनीति में संप्रदायवादी भावनाएं अल्पसंख्यक लोगों में बहुसंख्यक लोगों के भय की भावना को जन्म देती है। इस प्रकार सांप्रदायिक भावनाएं समुदायों के बीच दीवारें खड़ी करती हैं। फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न करती हैं।

27.4 संप्रदायवाद का जन्म और उसकी परिणाम

संप्रदायवाद की जड़ें ब्रिटिश शासन में तलाश की जा सकती हैं। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता

संग्राम ने जिस हिंदू-मुस्लिम एकता का परिचय दिया उससे अंग्रेजी शासन चिंतित हो उठा। इसलिए औपनिवेशिक शासकों ने 'फूट डालो और राज्य करो, की सुव्यवस्थित नीति अपनाई ताकि यह दोनों समुदाय पुन: एकजुट न हो सकें। अंग्रेजों का विचार था कि 1857 का सैनिक विद्रोह मुसलमानों की देन है अत: उन्होंने 1857 से मुस्लिम विरोधी दृष्टिकोण अपनाकर उन्हें सरकारी नौकरियों से वंचित किया। इसके अलावा कई दूसरी नीतियां भी अंग्रेजों ने अपनाई जिससे हिंदू-मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक मतभेद उत्पन्न हुए। इसके अलावा मुस्लिम हितों की उपेक्षा कर हिंदुओं को तुष्टीकरण की नीति द्वारा रिझाने के भी प्रयास किए। किंतु जैसे-जैसे हिंदुओं में शिक्षा तथा आधुनिकीकरण के चलते जागरूकता आई अंग्रेज इनसे भी डरने लगे। अब चालाकी से अंग्रेजों ने मुसलमानों के एक वर्ग से दोस्ती करके उन्हें अपने पक्ष में लिया। जब 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तो इसे एक हिंदू संगठन के रूप में प्रचारित किया गया तथा इसमें मुसलमानों को अलग रखने का प्रयास किया गया। मुसलमानों को तुष्ट करने के लिए तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड कर्जन ने 1905 में बंगाल का विभाजन कर दिया। अंग्रेजों के प्रति मुस्लिम स्वामिभक्ति को बढ़ावा देने के लिए 'आल इंडिया मुस्लिम लीग' की स्थापना की गई जिसे अंग्रेजों का समर्थन 1906 में प्राप्त था। 1909 में मारले मिन्टो सुधार के तहत विधानपालिकाओं में अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व का प्रावधान रखा गयज्ञ। इस प्रकार दा बहुसंख्यक समुदायों के बीच मुसलमानों का अधिक संख्या में प्रतिनिधित्व देने के कारण राजनीति में संप्रदायवाद का सूत्रपात हुआ। इस दौरान काँग्रेस पार्टी ने भी राष्ट्रीय आंदोलन में मुसलमानों की सहभागिता के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए, उनकी आबादी के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व की मांग की। इस स्थिति में अंग्रेज शासकों को हिन्दू और मुसलमानों के बीच भेदभाव पैदा करने का और मौका मिल गया। भारत सरकार अधिनियम, 1919 तथा 1935 में सांप्रदायिक विभाजन और विस्तार किया गया और अल्पसंख्यकों जैसे- पंजाब में सिक्ख तथा आंग्ल-भारतीय ईसाई तथा यूरोपीय आदि को अलग प्रतिनिधित्व दिया गया। इस प्रकार देश को विभाजित करने का अंग्रेजों का उद्देश्य स्पष्ट होने लगा।

आरंभ में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को सांप्रदायिक समस्या का हल माना गया। वास्तव में अंग्रेज शासक सांप्रदायिक चेतना को अपनी प्रशासनिक सहूलियत की दृष्टि से बढ़ावा दे रहे थे, ताकि समाज का विभाजन हो जाए। संप्रदायवाद के इसी बीज ने मुसलमानों को बाकी समाज के अलग-थलग कर सामाजिक एकता की भावना को भंग कर दिया। पृथक प्रतिनिधित्व स्वतंत्रता से पूर्व काल का सर्वाधिक घातक लक्षण सिद्ध हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि 1947 में देश का विभाजन हुआ और पाकिस्तान का एक अलग मुस्लिम राज्य के रूप में गठन हुआ।

पाठगत प्रश्न 27.1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए:-

(क) संप्रदायवाद क्या होता है?

(ख) कुछ ऐसे अधिनियमों के नाम बताइए जो अंग्रेजों ने हिन्दू तथा मुसलमानो के बीच भेदभाव पैदा करने के लिए पारित किए।

(ग) अंग्रेज़ों की 'फूट डालो और राज करो' नीति का अंततः क्या परिणाम निकला?

27.5 स्वतंत्र भारत में सांप्रदायिक हिंसा की समस्या

1947 से पूर्व जितने भी सांप्रदायिक दंगे हुए, कहीं न कहीं उनकी जड़ें अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन में थीं। लेकिन उपमहाद्वीप के बंटवारे के बाद संप्रदायवाद की समस्या के लिए भारत के दोनों समुदायों के एक ने एक संभ्रात वर्ग का भी बड़ा हाथ रहा है। आजाद भारत में सांप्रदायिक हिंसा कई कारणों से उत्पन्न हुई है। उनमें से कुछ सामान्य कारण निम्नलिखित हैं :

पहला कारण तो यह है कि समाज की वर्गीय प्रकृति तथा आर्थिक पिछड़ेपन के कारण अर्थव्यवस्था का असंतुलित विकास हुआ है। कम विकसित समुदायों में इन समुदायों का ऊपरी वर्ग सीमित विकास के लाभों पर कब्ज़ा जमा कर राजनीतिक शक्ति का भी उपयोग करते हैं। कालान्तर में इस वर्ग में अन्य समुदायों के अपने जैसे लोगों से प्रतिस्पर्द्धा की भावना उत्पन्न होती है। अतः वे अपने समुदाय की आम जनता की सांप्रदायिक भावना को भड़का कर राजनीतिक समर्थन जुटाते हैं और अपने हित साधते हैं। दूसरा कारण यह है कि प्रायः संप्रदायवाद शहरी क्षेत्रों में मौजूद होता है। क्योंकि सांप्रदायिक दल जनता के धार्मिक विश्वास का लाभ उठाकर किसी धार्मिक नेता की अध्यक्षता में अपना संगठन खड़ा करते हैं। भोले-भाले लोग इन दलों को ईश्वर के प्रतिनिधि समझकर स्वीकार कर लेते हैं। संभ्रात लोग समाज की इस परंपरागत प्रकृति का लाभ उठाते हैं। भारतीय लोग तो अपने धर्म के प्रति सामान्यतः भावुक होते हैं। जब कभी समाज में विपरीत परिवर्तनों के कारण विचलित होते हैं तो धर्म का ही सहारा लेते हैं। यही कारण उन्हें राजनीतिक चालबाजियों का शिकार बनाता है। नेता अपनी राजनीतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए सांप्रदायिकता को हवा देना शुरू कर देते हैं और कभी-कभी सांप्रदायिक दंगे तक करवाने से बाज नहीं आते। भारत जैसे गरीब देश में धार्मिक कट्टरता प्रायःनिहित स्वार्थों की आर्थिक शक्ति का परिणाम होती है। कुछ राजनीतिक सत्ता के

लोलुप नेता लोगों की गरीबी का लाभ उठाकर अपने स्वार्थ साधन के लिए एक धार्मिक समूह को दूसरे के खिलाफ भड़काते हैं इस कार्य में इनकी सहायता धार्मिक नेता, उपदेशक या वे अपराधी करते हैं जो अपने राजनीतिक मालिकों के इशारे पर लोगों को धोखा देते हैं तथा लोगों में सांप्रदायिकता का जहर बोते हैं।

सांप्रदायिक हिंसा सामाजिक एकता को विखंडित करती है और कुछ सत्ता-लोलुप राजनेता इसका लाभ उठाते हैं एवं अंग्रेजी हुकूमत की तरह की बंटे हुए समाज की कमजोरियों को बने रहने देना चाहते हैं। प्रायः सांप्रदायिक हिंसा सांप्रदायिक दलों द्वारा धार्मिक विद्वेष फैलाए जाने के कारण भी उत्पन्न होती हैं। भारत में सांप्रदायिक दृष्टिकोण रखने वाले दल सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काने के दोषी हैं जिसका परिणाम सांप्रदायिक हिंसा ही होती है।

इन सामान्य तत्वों के अलावा भारत में सांप्रदायिक दंगे भड़काने में कुछ अन्य स्थानीय कारण भी प्रमुख रहे हैं। पहला तो कि स्थानीय स्तर पर विभिन्न समुदाय के व्यापारियों के बीच की आपसी प्रतिद्वंद्विता हिंसा को भड़का देती है। सांप्रदायिक हिंसा बड़े शहरों में भी भड़क उठती है। बाबरी मस्जिद टूटने के बाद मुंबई में हुई सांप्रदायिक हिंसाएं इसकी प्रमाण हैं। दूसरा उन कस्बों में भी आसानी से सांप्रदायिक हिंसा भड़क उठती है, जहां सांप्रदायिक हिंसा भड़कने का इतिहास मौजूद रहा हो। यदि किसी शहर में धार्मिक अल्पसंख्यकों की संख्या अधिक है तो वहां अल्पसंख्यक व बहुसंख्यक वर्ग के ऊपरी तबके के मध्य प्रतिद्वंद्विता बढ़ जाती है। दोनों अपने समुदायों की समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी अपनी धार्मिक अस्मिता का सवाल उठाकर हिंसा भड़कने की संभावनाएं बढ़ा देते हैं। तीसरा, आजकल कुछ असामाजिक तत्व भी सांप्रदायिक सौहार्द को विखंडित करने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। कुछ स्थितियों में कुछ राजनेता भी अपनी राजनीतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए इन असामाजिक तत्वों की सहायता लेकर सांप्रदायिक सहअस्तित्व को खंडित करने का प्रयास करते हैं। कुछ स्थितियों में ये असामाजिक तत्व अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी इसे खंडित करने का प्रयास करते हैं दोनों स्थितियों में सांप्रदायिक तनावों के बढ़ने से दंगे भड़क उठते हैं।

सांप्रदायिक हिंसा का कारण चाहे कुछ भी हो, इनके कारण तुरन्त इन पर राजनीतिक बहस आरंभ हो जाती हैं। हमारे समाज में वर्ग की अपेक्षा जाति या संप्रदाय से पहचान अधिक प्रबल है। देश के शासकवर्ग भी आर्थिक समस्याओं जैसे गरीबी, बेरोजगारी तथा मंहगाई जैसे मुद्दों को जातिगत और सांप्रदायिक रूप प्रदान करने से नहीं चूकते। लोगों को इनकी चालों में नहीं आना चाहिए। देश सांप्रदायिक हिंसा की समस्या का उन्मूलन करने से पूर्व जनता की गरीबी व बेराजगारी की समस्याओं का निदान आवश्यक है।

पाठगत प्रश्न 27.2

(1) सांप्रदायिक हिंसा भड़काने वाले कुछ सामान्य कारण बताइए।

(2) सांप्रदायिक तनाव पैदा करने वाले विशेष तत्वों का उल्लेख कीजिए।

(3) किस प्रकार आर्थिक समस्या सांप्रदायिक समस्या को प्रभावित करती हैं?

(4) सांप्रदायिक सौहार्द को बनाए रखने के किसी एक उपाय पर प्रकाश डालिए।

27.6 बहुसंख्यक सांप्रदायिकता

भारत में सम्प्रदायवाद मुख्यरूप से सांप्रदायिक तनाव बहुसंख्यक समुदाय (हिंदू) तथा आमतौर पर माने जाने वाले समुदाय (मुसलमान) के बीच के तनावों की आरे इंगित करता है। भारत में सांप्रदायिक हिंसा भड़काने के लिए किसी एक धार्मिक समुदाय के लोगों को पूर्णतः दोष नहीं दिया जा सकता। अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन द्वारा समाज को विखंडित करने के प्रयासों को नकारा नहीं जा सकता परन्तु साथ-साथ हिंदू तथा मुसलमानों दोनों के एक वर्ग को सांप्रदायिक भावनाएं उग्र करने और समाज को विभाजित रखने का दोषी माना जा सकता है।

बहुसंख्यक सांप्रदायिक (हिंदू) की जड़ें 19वीं शताब्दी के आखिरी चरण में तलाश की जा सकती हैं जब हिंदू धर्म के कुछ नेताओं ने अंग्रेजी हूकूमत के खिलाफ जनजागरण अभियान शुरू किया था तथा भारत की गरिमा के लिए हिन्दू आधार स्वीकार किया था। राष्ट्रीय आंदोलन के कुछ नेताओं ने लोगों को राजनीतिक रूप से संगठित करने के लिए धार्मिक आह्वान भी शुरू किया था। कुछ लोगों ने तो इस बात पर भी जोर दिया था कि भारतीय संस्कृति की विरासत पर बल देते हुए इन्होंने राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए हिंदुत्व एकमात्र साधन माना था इससे इस प्रकार से उन्होंने सांप्रदायिक दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया। 1947 से पूर्व कई नेताओं ने हिंदू देवी-देवताओं को आधार बनाकर राष्ट्रवाद का प्रचार शुरू किया था। इसमें कुछ हिंदू सांप्रदायिक दलों ने भी अपनी सक्रिय भूमिका निभाई जो हिंदूधर्म की विभिन्न जातियों को संगठित कर एक नए समुदाय के रूप में उन्हें सुसंगठित करना चाहते थे। कुछ प्रसिद्ध कट्टरवादी हिंदू नेताओं ने हिंदुओं की अस्मिता को बनाए रखने का आह्वान किया था। इनके विचार में हिंदू वही था जो भारत को अपनी मातृभूमि के साथ-साथ पवित्र धर्मभूमि भी माने। इन दृष्टिकोण से मुसलमान भी भड़क गए क्योंकि वे भारत को सिर्फ अपनी मातृभूमि मानते थे धर्मभूमि नहीं क्योंकि उनकी अवधारणा है कि इस्लाम का पवित्र देश तो दारूल इस्लाम की

अवधारणा है। कुछ कट्टर हिंदू नेताओं ने तो राष्ट्र की संप्रदायवादी व्याख्या समान धर्म, इतिहास, भाषा के कारण एक सूत्र में बंधे हैं इस आधार पर हिंदू बहुल समाज ही भारत राष्ट्र का द्योतक है।

कुछ हिंदू राजनीतिक संगठनों ने तो मुसलमानों के साथ सौतेला रवैया अपनाने की मंशा प्रकट की अर्थात मुसलमानों को दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाए। ये संगठन 1947 के देश विभाजन का जिम्मेदार मुसलमानों को मानते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण से मुसलमानों में अलगाव की भावना पनपी है।

27.7 अल्पसंख्यक संप्रदायवाद

मुसलमान संप्रदायवाद के उभरने के कई कारण रहे हैं। इसका बहुत उग्र रूप सामने आया है। मुसलमान संप्रदायवाद का अध्ययन एकांगी हो सकता है। इसका अध्ययन बहुसंख्यक संप्रदायवाद के संदर्भ में ही किया जा सकता हैं। अल्पसंख्यक संप्रदायवाद अथवा मुसलमान संप्रदायवाद के उदय के कारण मोटे तौर पर निम्नलिखित हैं:

(क) औपनिवेशिक नीति : जब अग्रेजों ने मुगलशासकों से देश का शासन छीना तो उन्होंने मुसलमानों के लिए कुछ ऐसी आर्थिक तथा राजनीतिक नीतियाँ बनाई जिनसे उन्हें कमजोर किया जा सके ताकि वे अंग्रेजों को भविष्य में चुनौती न दे सकें। इसके लिए उन्होंने आधुनिक शिक्षा तथा ब्रिटिश संरक्षण से लाभान्वित संरक्षण से मुसलमान अपने आप को सुविधाओं से वंचित अलग-थलग महसूस करने लगे तथा उनमें सांप्रदायिक भावनाएं तीव्र होती चली गई।

(ख) सामाजिक-आर्थिक कारण : अंग्रेज शासकों की नीतियों से हिंदू तथा मुसलमानों का असमान तथा असंतुलित विकास हुआ। इसके बाद उन्होंने दोनों समुदायों के लिए अलग-अलग आर्थिक तथा शैक्षिक अवसर उपलब्ध कराए। मुसलमान आर्थिक व शैक्षणिक सुविधाओं से वंचित रहे। हिंदुओं के बेहतर आर्थिक स्तर ने मुसलमानों के मन में अपने निम्न स्तर और पीड़ित समुदाय होने का बोध कराया। फलतः मुसलमानों के मन में असुरक्षा तथा सांप्रदायिक भावनाओं का बीज पड़ गया।

(ग) अलीगढ़ आंदोलन : यह आंदोलन सरसैयद अहमद खां ने चलाया था। इसके पीछे उनका मुख्य उद्देश्य था मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा प्रदान करना तथा अंग्रेज प्रशासकों के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करना। इसके द्वारा मुसलमानों को कांग्रेस पार्टी में शामिल होने से रोकने का प्रयास किया गया। इस कारण हिंदुओं और मुसलमानों के मध्य राजनीतिक विरोध बढ़ते गए और भारतीय राजनीति में एक पृथक तत्व, मुस्लिम राजनीति का उदय हुआ।

(घ) ब्रिटिश नीतियों में बदलाव : जब हिंदू समृद्ध होने लगे और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जिसे अंग्रेज़ हिंदु संगठन मानते थे के नेतृत्व में राष्ट्रीय भावनाएं पनपनें लगी तो अंग्रेजों की मुसलमानों के प्रति नीति में बदलाव आया। अब वे मुसलमानों के लिए विशेष व्यवहार पर बल देने लगे। इसने इस संप्रदाय के एक अभिजात्य वर्ग के द्वारा पृथक राज्य की मांग को बढ़ावा दिया। इससे भारतीय मुसलमानों में सांप्रदायिक भावनाएं परिपक्व होने लगी।

(ङ.) धार्मिक पुनरूथान का प्रभाव : धार्मिक पुनरूत्थान के लिए चलाए जाने वाले आंदोलनों ने भी सांप्रदायिक भावनाओं को बढ़ावा दिया। बहावी आंदोलन जोकि शुरू में गैर मुस्लिम संप्रदायवाद को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 1906 में मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। इसने राष्ट्रीय आंदोलन को औपचारिक रूप से धार्मिक आधार पर विभाजित कर दिया।

(छ) हिंदी-उर्दू विवाद : समाज में समुदायों में बांटने के उद्देश्य से भाषा को भी अंग्रेजों ने हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। यह विवाद आजादी के बाद भी अस्तित्व में बना रहा। मुसलमानों के वर्ग द्वारा चलाए जा रहे हिंदी विरोधी अभियान तथा हिंदुओं के एक वर्ग के लोगों द्वारा चलाए जा रहे उर्दू विरोधी अभियान के कारण भी भाषाई आधार पर भी दोनों संप्रदाय बंट गए हैं।

सिख संप्रदायवाद भी अल्पसंख्यक संप्रदायवाद के क्षेत्र में आता है। सिख अपने आप को एक अलग समुदाय मानते हैं। कुछ सिखों ने तो अलगाववादी भावनाओं को भड़काया है। कुछ लोगों को यह भव था कि हिंदु प्रभाव के कारण सिख धर्म अपना अस्तित्व खो बैठेगा। कुछ सिखों की तो मांग है कि पंजाब में शिक्षा का माध्यम गुरुमुखी हो। किंतु सर्वोच्च न्यायालय ने इसे मान्यता देने से इंकार कर दिया है। कुछ सिख संप्रदायवादियों की मांग है कि उनकी सामुदायिक पहचान को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया जाए। अब पंजाब में जनतांत्रिक प्रक्रिया की बहाली तथा चुनाव होने के कारण काफी हद तक वहां की सांप्रदायिक समस्या हल हो गई है।

27.8 संप्रदायवाद का परिणाम

संप्रदायवाद जनतंत्र, सामाजिक परिवर्तन तथा आर्थिक प्रगति के रास्ते में बाधक है। इसकी आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है।

(क) व्यक्तिगत शत्रुता : संप्रदायवाद दो समुदायों के बीच शत्रुता पैदा करता है, जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न होता है।

(ख) आर्थिक हानि : सांप्रदायिक दंगों के दौरान दूकानें लूट ली जाती हैं, सरकारी संपत्ति जला दी जाती है। इस प्रकार इससे बड़ी आर्थिक क्षति हो जाती है।

(ग) जन-हानि : सांप्रदायिक दंगों के दौरान व्यापक जन-हानि भी होती है।

(घ) राजनीतिक अस्थिरता : सांप्रदायिक दंगों से राजनीतिक अस्थिरता पैदा होती है कई बार तो तत्कालीन सरकार को इस्तीफा भी देना पड़ जाता है।

(च) राष्ट्रीय एकता के समक्ष चुनौतियाँ : यह संप्रदायवाद की सबसे बड़ी चुनौती है क्योंकि यह राष्ट्र के भविष्य पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है।

(छ) राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरे : दो संप्रदायों के बीच संघर्ष से संपूर्ण राष्ट्रीय सुरक्षा को चुनौती का सामना करना पड़ता है क्योंकि राष्ट्र की सुरक्षा समाज की एकता पर निर्भर करती है।

27.9 सांप्रदायिक-तनाव कम करने के सुझाव

संप्रदायवाद समाज के लिए अभिशाप है और इसे किसी भी तरह समाप्त किया जाना चाहिए। इसे कम करने हेतु सुझाव निम्नलिखित हैं:

(क) सांप्रदायिक संगठनों के संचालन पर रोक लगानी चाहिए और ऐसे संगठनों की सहायता करने वाले व्यक्तियों को दंडित किया जाना चाहिए।

(ख) अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक दोनों समुदायों को समान अवसर उपलब्ध कराए जाने चाहिए, क्योंकि इससे दोनों के बीच संतुलन बना रहता है।

(ग) मुसलमानों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्हें पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध कराई जानी चाहिए तथा उनमें सुरक्षा की भावना पैदा करनी चाहिए।

(घ) हिंदू तथा मुसलमान दोनों को धर्म को राजनीति से अलग रखना चाहिए।

(च) कानून एवं व्यवस्था तंत्र को निष्पक्ष रूप से कार्य करना चाहिए।

(छ) जिन क्षेत्रों में अक्सर सांप्रदायिक दंगे होते हों उन क्षेत्रों में तनाव कम करने के उपाय करने चाहिए।

(ज) रेडियो तथा टेलीविजन जैसे जनसंचार माध्यमों पर ऐसे समाचार प्रसारित करने पर प्रतिबंध होना चाहिए जो सांप्रदायिक हिंसा पक्षपात पूर्ण ढंग से प्रस्तुत करे।

(झ) समाज में लोगों को शिक्षा दी जानी चाहिए कि वे सभी धर्मों का आदर करें और सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करें।

(ट) शैक्षणिक संस्थाओं को चाहिए कि वे सांप्रदायिक सामंजस्य का पाठ पढ़ाएं।

(ठ) सरकार को ऐसे कानून बनाने चाहिए जो सभी धार्मिक समुदायों पर समान रूप से लागू हों।

पाठगत प्रश्न 27.3

1. अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक संप्रदायवाद क्या है?
2. अल्पसंख्यक संप्रदायवाद के एक कारण का उल्लेख करो?
3. संप्रदायवाद के एक परिणाम का उल्लेख करो?
4. संप्रदायवाद समाप्त किए जाने से संबंधित एक उपाय बताइए।

27.10 क्षेत्रवाद

क्षेत्रवाद का अर्थ होता है कि संपूर्ण देश की अपेक्षा किसी क्षेत्र अथवा राज्य के प्रति ज्यादा लगाव होना। क्षेत्रवाद के उदय के पीछे दो मुख्य कारण होते हैं। एक तो यह कि सरकार द्वारा निरन्तर उस क्षेत्र की उपेक्षा की गई हो अथवा उस क्षेत्र के लोगों में तेजी से आई जागरूकता, जो कि पहले बहुत पिछड़ा रहा हो। क्षेत्रवाद के उदय से स्वायत्तता की मांग उठ सकती है जिससे इससे संपूर्ण देश की एकता प्रभावित हो सकती है। क्षेत्रवाद का उदय स्वतंत्रता से पूर्व ही हो चुका था, जब अंग्रेजों ने लोगों को सिर्फ अपने ही क्षेत्र के बारे में सोचने के लिए प्रोत्साहित किया था। किंतु 1947 के बाद कुछ अन्य कारणों के चलते भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिला। कुछ कारण निम्नलिखित हैं:

(क) पहला तो यह कि हमारे विशाल देश के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक तथा सामाजिक विकास के स्तर भिन्न-भिन्न हैं । इसलिए पिछड़े क्षेत्रों के अभावग्रस्त लोगों ने अपने क्षेत्रीय हितों के विकास के लिए राजनीतिक आंदोलन छेड़े हुए हैं। (जैसे बिहार में झारखण्ड)।

(ख) दूसरा, जब सरकार कोई भाषा या विचारधारा जनता के ऊपर थोपती है और वे उसे स्वीकार करना नहीं चाहते तो क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिलता है।

(ग) विभिन्न क्षेत्रीय पार्टियों के उदय तथा उनके द्वारा हर संभव उपायों से सत्ता हासिल करने का उद्देश्य भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा देता है (उदाहरण के लिए असमगणपरिषद आसाम में तथा आंध्र प्रदेश की तेलगू देशम पार्टी)।

(घ) यातायात तथा संचार माध्यमों के विकास के चलते जब पिछड़े इलाकों के लोगों को तुलनात्मक ढंग से अपने क्षेत्र के पिछड़ेपन और अभावों का पता चलता है तो उनके मन में क्षेत्रीय भवना पैदा होती है। इससे क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिलता है।

(च) राजनेताओं द्वारा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों तथा राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति की

आकांक्षाओं से क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिला है। केंद्रीय सत्ता के निर्बल हो जाने के कारण, क्षेत्रीय व राज्यीय नेताओं को क्षेत्रवाद के प्रचार से अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्राप्त होता है। क्योंकि इसमें कम लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा को नकार दिया जाता है। इस प्रकार राज्यों की सीमाओं का नए शिरे से निर्धारण किया जाना चाहिए।

(छ) भाषाई आधार पर राज्यों के गठन (अर्थात भाषाई अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों की भाषा थोपना और अल्पसंख्यकों की भाषा की उपेक्षा) ने भी राज्यों में क्षेत्रवाद को जन्म दिया है। अत: भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन ने क्षेत्रवाद का पुष्ट किया है।

(ज) सरकार द्वारा लगातार किसी क्षेत्र अथवा राज्य के हितों को नजरअंदाज करने तथा केंद्र द्वारा राज्य सरकार के हर मामले में हस्तक्षेप करने के कारण भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिलता है।

(झ) राज्यों के मध्य संसाधनों की भागीदारी को लेकर भी आपसी तनाव बढ़ता है तथा क्षेत्रवाद का उदय होता है।

क्षेत्रवाद के उदय का कारण चाहे कुछ भी हो इससे भी देश की एकता और अखंडता प्रभावित होती है। हालांकि क्षेत्रवाद एक सकारात्मक तत्व भी साबित हो सकता है। जब क्षेत्रीय भावनाओं वाले लोग क्षेत्रीय हितों और राष्ट्रीय हितों के मध्य संतुलन स्थापित कर सकें।

पाठगत प्रश्न 27.4

1. क्षेत्रवाद किसे कहते हैं?
2. क्षेत्रवाद के उदय के कोई दो कारण बताइए?
3. किन्हीं दो क्षेत्रीय पार्टियों के नाम बताइए?

27.11 क्षेत्रवाद के विभिन्न स्वरूप

भारत में विभिन्न रूपों में क्षेत्रवाद का उदय हुआ है।

(क) राज्य की स्वायत्तता की मांग : प्राय: क्षेत्रवाद का उदय राज्यों द्वारा केंद्र से अलग अपनी स्वायत्तता की मांग से होती है। केंद्र द्वारा राज्य के मामलों में हस्तक्षेप द्वारा

भी क्षेत्रीयता का उदय होता है। भारतीय संघ के कुछ राज्यों में भी स्वायत्तता की मांग ने ज़ोर पकड़ा है। जम्मू कश्मीर राज्य में लद्दाख तथा उत्तर प्रदेश में उत्तराखंड, पश्चिम बंगाल में गोरखालैंड जैसे स्वायत्त राज्यों की मांग इसी भावना के चलते उत्पन्न हुई है।

(ख) केंद्र से पृथकता : यह क्षेत्रवाद का खतरनाक रूप है। इसका उदय तब होता है जब कोई राज्य केंद्र से अलग होकर अपना स्वतंत्र शासन स्थापित करने की मांग उठाता है। राज्यों के मध्य नंदी–जल के बंटवारे को लेकर विवाद, राज्यों द्वारा बहुसंख्यक भाषा को प्राथमिकता, नौकरियों में अपने राज्य के नागरिकों को प्राथमिकता से भी जिनसे क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिलता है। जब दूसरे इलाके से आकर लोग विकसित राज्यों में रोजगार के अवसर तलाशते हैं अथवा बस जाते हैं तो वहां के लोग उन आप्रवासियों को भेदभाव की दृष्टि से देखने लगते हैं।

पाठगत प्रश्न 27.5

1. क्षेत्रवाद के विभिन्न रूप कौन से हैं?
2. क्षेत्रवाद का सबसे घातक रूप कौन सा होता है?
3. आप्रवासी किसे कहते हैं?

27.12 क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भूमिका

भारत की दलीय प्रणाली का एक अद्वितीय लक्षण यह है कि कुछ समय से बड़ी संख्या में क्षेत्र तथा जातीय आधार पर राजनीतिक दलों का गठन किया गया है। ये क्षेत्रीय अथवा जातीय दल प्रायः बिना राष्ट्रीय आकांक्षाओं के एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र में कार्य करती हैं। तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश तथा आसाम जैसे कुछ राज्यों में क्षेत्रीय पार्टियां ज्यादा सक्रिय हैं। इन पार्टियों के उदय के पीछे निम्नलिखित कारण होते हैं:

(क) भारत में एक मिश्रित संस्कृति है तथा यहां एक राष्ट्रीय दल के लिए संभव नहीं है कि वह विभिन्न प्रांतों की समस्याओं को संपूर्ण रूप से हल कर सके। इसलिए कुछ क्षेत्रीय नेता क्षेत्रीय समस्याओं को आधार बनाकर वहां की जनता का समर्थन जुटाने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए अकाली दल तथा झारखंड पार्टी कुछ ऐसे ही क्षेत्रीय दल हैं।

(ख) कुछ प्रांत अपने ऐतिहासिक महत्व के चलते अपनी अलग पहचान को बरकरार

रखना चाहते हैं तथा राष्ट्रीय अखंडता के विरुद्ध कदम उठाते रहते हैं। इसी पहचान के चलते क्षेत्रीय दल अस्तितव में आते हैं। इस प्रकार के दल मुख्यरूप से भारत के उत्तर-पश्चिमी राज्यों में गठित किए गए हैं।

(ग) जब किसी राष्ट्रीय दल के नेता को चुनाव का टिकट नहीं मिलता है तो वह असंतुष्ट होकर क्षेत्रीय दल का गठन करता है तथा राष्ट्रीय दल को चुनौती देता है। जैसे बिहार में 'जनक्रांति दल' तथा केरल में 'केरल कांग्रेस पार्टी'।

(घ) कुछ क्षेत्रों का आर्थिक पिछड़ापन और उसके लिए केन्द्र की उपेक्षापूर्ण नीतियों के लिए उस पर दोषारोपण से भी क्षेत्रीय दलों का उदय होता है।

(च) केंद्र की बढ़ती हुई शक्तियों के विरोध में भी कई प्रांतों में क्षेत्रीय दलों का गठन किया जाता है, जैसे आंध्र प्रदेश में तेलगूदेशम पार्टी का गठन।

क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बहुत सीमित होता है और उनके उद्देश्य अपने क्षेत्र विशेष के हितों को बढ़ावा देना ही होता है। केंद्र में इनकी भूमिका प्रभावशाली नहीं होती क्योंकि वहां राष्ट्रीय दल ज्याद प्रभावी होते हैं। क्षेत्रीय दलों ने विभिन्न राज्यों में अपनी सरकारें बनाई हैं तथा वहां अपनी नीतियां सफलता पूर्वक लागू की हैं। किंतु अब केंद्र में संयुक्त मोर्चा सरकार के गठन में इन क्षेत्रीय दलों ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। केंद्र में संयुक्त सरकारों के निर्माण की प्रवृत्ति को देखते हुए भविष्य में यह दल और अधिक प्रभावशाली भूमिका निभा सकेंगे। अब ये क्षेत्रीय दल इस स्थिति में पहुंच गए है कि वे क्षेत्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए केंद्र सरकार पर अपना दबाव डाल सकें तथा पिछड़े इलाके के लोगों को राजनीतिक रूप से जागरूक बना सकें।

पाठगत प्रश्न 27.6

1. क्षेत्रीय दल किसे कहते हैं?
2. कुछ प्रमुख क्षेत्रीय दलों के नाम बताइए?
3. क्षेत्रीय दलों के उदय के दो प्रमुख कारण बताइए?
4. क्षेत्रीय दलों का संक्षेप में महत्व बताइए?

27.13 क्षेत्रीय असंतुलन सुधारने के उपाय

भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण पहलू है। कई बार यह देश की एकता के लिए

खतरा साबित हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियों को बढ़ने से रोका जाय। इसके लिए कुछ निम्नलिखित उपाय सुझाए गए हैं :

(क) देश के संतुलित विकास के लिए उपेक्षित इलाकों को ज्यादा महत्व दिया जाना चाहिए। इससे वे राष्ट्र की मुख्यधारा में अपने आप को महसूस करेंगे।

(ख) केंद्र को राज्यों के मामले में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए जब तक कि कोई राष्ट्रीय हित से संबंधित कोई अपरिहार्य मुद्दा न उपस्थित हो जाए।

(ग) लोगों की समस्याओं को शांतिपूर्ण तथा संवैधानिक ढंग से हल किया जाना चाहिए। नेताओं को क्षेत्रीय मांगों का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

(घ) राष्ट्रीय मामलों को छोड़कर बाकी मामलों में राज्यों को स्वतंत्र रूप से कार्य करने की छूट होनी चाहिए।

(च) केंद्र-राज्य संबंधों में राज्यों के पक्ष में परिवर्तन किया जाना चाहिए। ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए कि लोग क्षेत्रीय भावनाओं से ऊपर उठ कर राष्ट्र के प्रति लगाव बढ़ाएं।

पाठगत प्रश्न 27.7

1. क्षेत्रवाद को समाप्त किए जाने से संबंधित कुछ उपाय सुझाइए।
2. ऐसा कोई उपाय बताइए जिससे राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिल सके।

आपने क्या सीखा

किसी खास धर्म अथवा धार्मिक समुदाय से संबंध रखना मात्र संप्रदायवाद नहीं कहलाता। अपितु जब कोई एक धार्मिक समुदाय दूसरे धार्मिक समुदाय का विरोध करता है तब वह संप्रदायवादी कहलाएगा। यह एक प्रकार की विचारधारा है जो धर्मों की पहचान को धूमिल करके सिर्फ अपनी अस्मिता को बचाए रखने की कोशिश करती है। यह समाज में भेद पैदा करता है। जब कोई व्यक्ति अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धर्म को एक साधन के रूप में उपयोग करता है तो उससे संप्रदायवाद को बढ़ावा मिलता है। दरअसल यह अक्सर राजनीतिक कारणों से उकसाया गया होता है।

भारत में अंग्रेजों ने अपनी 'फूट डालो और राज करो' की नीति के तहत संप्रदायवाद को

जन्म और बढ़ावा दिया था। समाज में भेदभाव पैदा करने के लिए अंग्रेज भारतीयों को भारतीय नहीं बल्कि उन्हें धार्मिक समुदायों के सदस्य के रूप में देखते थे। इन्होंने समाज को बांटने के उद्देश्य से कई नीतियां तथा कानून बनाए जिसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश का विभाजन हो गया और एक स्वतंत्र मुस्लिम देश के रूप में पाकिस्तान का उदय हुआ। किंतु इस बंटवारे से संप्रदायवाद समाप्त नहीं हो गया स्वतंत्रता के बाद भी संप्रदायवाद के विषाणु पनपते रहे।

भारतीय राजनीति के कई आयाम हैं। मोटे तौर पर तो प्रमुख धार्मिक समुदायों द्वारा अपने स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए तथा राष्ट्रीय हितों को ताक पर रखते हुए अपने समुदायों के हितों को बढ़ावा दिया जाता है तब संप्रदायवाद का उदय होता है। संकीर्ण अर्थों में इसमें क्षेत्रीय, धार्मिक अथवा जातीय संगठनों का भी लगभग इसी प्रकार का उद्देश्य होता है। इनसे राष्ट्रीय अखंडता तथा सामाजिक शांति का नाश होता है।

भारतीय राजनीति में हिंदू संप्रदायवाद अर्थात बहुसंख्यक संप्रदायवाद और अल्संख्यक संप्रदायवाद अर्थात मुस्लिम संप्रदायवाद साथ-साथ चलते हैं और एक-दूसरे को बढ़ावा देते हैं। ये अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं ताकि एक-दूसरे से शक्ति प्राप्त करते हैं। हिंदू संप्रदायवाद मूलभूत हिंदू सिद्धांतों को बचाए रखने की कोशिश करता है तथा मुस्लिम संप्रदायवाद पृथकता के आधार पर पनपता है। दोनों ही जनतांत्रिक, राष्ट्रवादी तथा धर्मनिरपेक्षता के विरोधी सिद्ध होते हैं जो भय तथा असुरक्षा की भावना के कारण पनपते हैं।

संप्रदायवाद भारतीय राजनीति को निम्न तरीकों से प्रभावि करता है :

(क) धार्मिक सिद्धांतों और भावनाओं के आधार पर कइ राजनीतिक दलों का गठन किया गया है।

(ख) चुनावों के समय में संप्रदायवाद की भावनाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। आज आधुनिक समय में भी लगभग सभी दल समुदाय तथा जाति के आधार पर अपने उम्मीदवारों को खड़ा करते हैं। ऐसे उम्मीदरवार अपनी जाति तथा समुदाय के आधार पर मत प्राप्त करते हैं।

(ग) यहां तक कि मतदाता भी राजनीतिक पार्टियों को सांप्रदायिक प्रभाव में आकर ही वोट डालते हैं। बल्कि सामान्यतया उन उम्मीदवारों को ही वोट देते हैं जो उनकी ही जाति अथवा समुदाय के हों।

क्षेत्रवाद का अर्थ है किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य के प्रति गहरा लगाव। इसमें राष्ट्र की अपेक्षा लोग अपने क्षेत्र को ज्यादा महत्व देते हैं। क्षेत्रवाद या तो उस क्षेत्र की निरन्तर

उपेक्षा के कारण उदय होता है या लोगों में देर से आई राजनीतिक जागरूकता के कारण होता है जिससे वे अपने क्षेत्र के प्रति किए जाने वाले भेदभाव के लिए लड़ते हैं। क्षेत्रवाद के दो प्रमुख रूप हैं :

(क) अलग राज्य की मांग : जैसे तेलंगाना (आंध्र) तथा बोडोलैंड (असम) की मांग।

(ख) भारत संघ से अलगाव, जैसे खालिस्तान तथा नागालैंड की मांग।

पाठांत प्रश्न:

1. संप्रदायवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके उदय के कारण बताइए।
2. बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक संप्रदायवाद किसे कहते हैं?
3. क्षेत्रवाद किसे कहते हैं? यह किस प्रकार खतरनाक है?
4. क्षेत्रवाद के मुख्य स्वरूप क्या हैं?
5. संप्रदायवाद को समाप्त करने के कुछ उपाय बताइए।
6. क्षेत्रीय असंतुलन ठीक करने के कुछ उपाय बताइए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

17.1 1. दो समुदायों के बीच राजनीतिक रूप से मतभेद पैदा करने को संप्रदायवाद कहते हैं।

2. मार्लेमिंटो सुधार 1905, भारत सरकार अधिनियम 1919।

3. 1947 में देश का विभाजन तथा पाकिस्तान का गठन।

27.2 1. हमारे समाज का वर्गीय स्वरूप तथा लोगों का अपने क्षेत्र के प्रति विशेष लगाव।

2. समाज विरोधी तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका, विभिन्न समुदायों तथा व्यापारियों के तनाव।

3. गरीब लोग धनवान व्यक्तियों की तरफ आसानी से आकर्षित हो जाते हैं जो उन्हें अपने पक्ष में झुकाने का प्रयास करते हैं।

4. दो समुदायों के बीच संतुलित विकास के द्वारा ही सांप्रदायिक सद्भावना स्थापित की जा सकती है।

27.3 1. बहुसंख्यक संप्रदायवाद का अर्थ है हिंदू संप्रदायवाद तथा अल्पसंख्यक संप्रदायवाद का अर्थ है मुस्लिम संप्रदायवाद।

2. मुसलमानों की निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति, अलीगढ़ आंदोलन आदि।

3. संप्रदायवाद [illegible] तथा शांति को प्रभावित करता है।

4. सरकार को समान कानून बनाने चाहिए।

27.4 1. किसी एक क्षेत्र के प्रति अधिक लगाव व राष्ट्र-हित की उपेक्षा

2. केंद्र की भेदभावपूर्ण नीतियां, किसी प्रांत का पिछड़ापन

3. असम गण परिषद्, तेलगूदेशम

27.5 1. राज्य की स्वायत्तता की मांग, संघ से अलग होने की मांग।

2. पृथकतावाद

3. आप्रवासी उन्हें कहतें हैं जो एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जाकर बस जाते हैं।

27.6 1. क्षेत्रीय दल एक विशेष क्षेत्र में कार्य करते हैं।

2. आंध्रप्रदेश में तेलगूदेशम तथा केरल में केरल कांग्रेस।

3. केंद्र की बढ़ती हुई शक्ति के विरोध के कारण तथा अपनी ऐतिहासिक पहचान बनाए रखने के लिए दल की स्थापना।

4. क्षेत्रीय दल केंद्र के ऊपर क्षेत्रीय समस्याओं को हल करने के लिए दबाव डालते हैं।

27.1 1. केंद्र को राज्य के कार्यों में दखल नहीं देना चाहिए तथा सभी राज्यों को समान महत्व प्रदान किया जाना चाहिए।

2. केंद्र-राज्य संबंधों में परिवर्तन राज्य के पक्ष में किया जाना चाहिए।

पाठांत प्रश्नों के लिए निर्देश

1. कृपया देखें, उपखण्ड 27.1, 27.3 तथा 27.4
2. कृपया देखें, उपखण्ड 27.6 तथा 27.7
3. कृपया देखें, उपखण्ड 27.10
4. कृपया देखें, उपखण्ड 27.11
5. कृपया देखें, उपखण्ड 27.9
6. कृपया देखें, उपखण्ड 27.13

28
पर्यावरणीय क्षरण

28.1 भूमिका

पर्यावरण शब्द की व्याख्या अनेक विद्वानों ने अनेक तरह से की हैं। कुछ के लिए यह घर का पर्याय है, तो किसी के लिए गांव, शहर, देश या पूरा विश्व है। विभिन्न मतों के बावजूद यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह जीवन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का सम्मिलन है। घर, पड़ोस तथा देश के संदर्भ में इन तत्त्वों का विश्लेषण किया जा सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पर्यावरण की विभिन्न परिभाषाएँ सुझाई गई थीं, जो प्रबंधन विश्व संस्था की योजना पर आयोजित था। इन दृष्टिकोणों से प्राकृतिक तथा मनुष्य निर्मित संसाधनों से लाभ उठाया जा सकता है, जिसके द्वारा मानव की जरूरतें पूरी हो सकती हैं।

प्राकृतिक वातावरण चार प्रकार के अंतर्निहित तंत्रों से बना है जैसे-वायुमंडल, जलमंडल, स्थलमंडल, जीवमंडल। सामाजिक वातावरण के अंतर्गत मानव समूह, उनके द्वारा बनाई गई वस्तुएं, उत्पादन-संबध तथा संस्थापन-तंत्र बनाए गए हैं। जब हम सामाजिक वातावरण का विश्लेषण करते हैं तो यह पाते हैं कि कैसे मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था अपने को संगठित करती है और कैसे वह मनुष्य की जरूरतों को पूरा करती है। यह उनकी प्राकृतिक संसाधनों पर विजय पाने की लालसा दर्शाती है। इस संदर्भ में वातावरण को ऐतिहासिक रूप में देखा जा सकता है, जो भौतिक, जैविक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा उत्पादकता के तत्त्वों के निर्मित हैं और प्राकृतिक प्रभाव से किसी पर आश्रित नहीं हैं।

28.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- पर्यावरणीय क्षरण के विषय की व्याख्या कर सकेंगे।

- पर्यावरणीय क्षरण के विभिन्न कारणों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- पर्यावरणीय क्षरण के विषय में पढ़ते हुए इससे संबंधित जानकारियाँ प्राप्त कर सकेंगे।
- विकास के अस्मिता सिद्धांत का विश्लेषण कर सकेंगे।
- पर्यावरण संरक्षण पर देश तथा विदेश में हुई बैठकों को जान सकेंगे।

28.3 पर्यावरणीय क्षरण

जीवन के सहायक तत्त्वों के ह्रास के विभिन्न कारण हैं। पर्यावरण के ह्रास के मूलत: दो कारण हैं। (क) जीवन के सहायक तत्त्वों की उत्पादक क्षमता का ह्रास, जिस पर मनुष्य आश्रित है, मुख्यत: भूमि तथा जल संसाधन प्रदूषण जो कि पानी, भोजन तथा अन्य उपयोगी तत्त्वों को कम करता है, वह पारिस्थितिक तंत्र से उत्पन्न होता है। मरुस्थल भू-अपरदन तथा जैविक विधिता का ह्रास प्रथम प्रकार की पर्यावरणीय समस्या है। जल, भूमि तथा अन्य तत्त्वों में प्रदूषण फैलाने वाले अनेक व्यर्थ के पदार्थों का जमा होना, भारी धातुओं, खनिज पदार्थों का जमा होना पर्यावरण की समस्या है। प्राय: पारिस्थितिक तंत्र के एक भाग में होने वाला परिवर्तन इस प्रक्रिया की शुरुआत है, जो लंबे समय तक पारिस्थितिक तंत्र को नष्ट करता है। उदाहरण के लिए पेड़ पौधों का ह्रास, जैविक विधिता का ह्रास करता है। यह मुख्य रूप से कटाव, मृदा जमाव और जल संतुलन से रहित क्षेत्र है उनकी उत्पादक क्षमता को भी प्रभावित करता है और बड़ा भू-भाग, जो पेड़ पौधों रहित क्षेत्र हैं उनकी उत्पादक क्षमता को भी प्रभावित करता है।

28.4 पर्यावरणीय क्षरण के कारक

मनुष्य और अन्य जीव जगत के चारों तरफ फैले और सामान्य रूप से जीवन को प्रभावित करने वाले तत्त्व ही हैं जो पर्यावरण की परिभाषा के अंतर्गत आते हैं। ये सामान्यत: निम्नलिखित हैं:

(क) वातावरण (मूलत: वे गैसे जो पृथ्वी को घेरे हुई हैं)

(ख) स्थलमंडल (मृदा, जल, भूमि परत, कोर)

(ग) जलमंडल (जल जो विभिन्न रूपों में स्थित है और भूमि के आसपास और पृथ्वी के अंदर है)

(घ) जैवमंडल (पौधे और जंतु, जो पृथ्वी पर हैं)

28.5 रासायनिक प्रदूषक क्या हैं

रासायनिक प्रदूषक वे पदार्थ हैं जो खुले वातावरण में लंबे समय से स्थित हैं, इस स्थिति में वे जहरीले, हानिकारक या अस्वास्थ्यकर और जीवन को नुकसान पहुचाते हैं। इन पदार्थों में गैसें, भाप, और दूसरे पदार्थ जैसे धुंआ, धूल, कोहरा, ओस, जो स्वभाव से रसायनिक हैं, आते हैं।

28.6 वातावरण की संरचना

वातावरण विभिन्न परतों में विभक्त है। निचली परत को सम गोलार्ध कहते हैं, जो पृथ्वीतल से 800 कि. मी. तक फैला है और उससे ऊपरी परत को विषम गोलार्ध कहते हैं, जो समगोलार्ध से हजारों कि. मी. तक फैला हुआ है। ओजोन परत इन दानों परतों को आपस में विभक्त करती है। और बहमांडीय किरणों को समगोलार्ध में घुसने से रोकती है। जबकि समगोलार्ध में अणु गैसें हैं जैसे आक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बनडाइआक्साइड, जलीय भाप और गैसें विषम गोलार्ध में उच्च शक्ति के अणु और आयन हैं, जो रासायनिक तत्त्वों पर ब्रह्मांडीय किरणों के प्रहार से उपस्थित होते हैं।

पाठगत प्रश्न 28.1

सही तथा गलत वाक्य छाँटिए।

(1) प्राकृतिक पर्यावरण दस परतों में विभक्त है।

(2) जलमंडल पृथ्वी का जल समूह है।

(3) पारिस्थितिक तंत्र एक पारिस्थितिक भाग है, जो पौधों तथा जीव जंतुओं से मिलकर बना है ये आपस में तथा आसपास में सामन्जस्य स्थापित करते हैं।

(4) समगोलार्ध बाहरी परत को कहते हैं।

(5) वातावरण चार क्षेत्रों में विभक्त है।

28.7 पर्यावरणीय क्षरण के विविध चरण :

28.7.1 पर्यावरणीय क्षरण में ओजोन परत की भूमिका

विभिन्न रिपोर्टों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि पाली फलों से कार्बन में उच्च शक्ति

होती है और यह वातावरण में निम्न शक्ति आक्सीजन से विखंडित नहीं होती। उच्च शक्ति के आक्सीकरण (जैसे ओजोन) वातावरण ह्रास के लिए ज्यादा जिम्मेदार हैं। ये क्लोरोफ्लोरो कार्बन, रेफ्रिजेरेटर, वातानुकूलन कंडेंसन द्रव्य के रूप में इस्तेमाल होती है, जो धीरे-धीरे वातावरण में रिसती रहती है। इनके आंतरिक संरचना में ओजोन की अधिक मात्रा इनका क्षरण करता है। ओजोन की कमी उसकी परत में छेद कर देती है। ओजोन परत में छिद्र हो जाने से कास्मिक किरणें आसानी से समगोलार्ध में प्रवेश कर जाती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वातावरण का तापमान बढ़ जाता है, बर्फ पिघल जाती है, भूमि का बड़ा भाग डूब जाता है। जनसंख्या घनत्व बढ़ जाता है, इसके बाद भी जनसंख्या का केंद्रीयकरण से जगह सिकुड़ जाती है। अधिक जनसंख्या से अधिक दुष्प्रभाव होता है और यह चक्र मनुष्य और जैवं मंडल का क्षरण करता है।

28.7.2 पर्यावरण के क्षरण में कार्बनडाइआक्साइड की भूमिका

कार्बनमोनोआक्साइड और कार्बनडाइआक्साइड बड़े प्रदूषक हैं, जो दहन प्रक्रिया - औद्योगिक या यांत्रिक प्रक्रिया - से उत्पन्न होते हैं। कार्बन मोनोआक्साइड का बढ़ता स्तर महामारी का कारण हो सकता है जबकि कार्बनडाइआक्साइड सूर्य की किरणों को सोख कर वातावरण के तापमान को बढ़ा सकता है। यह प्रभाव उस गर्म प्रभाव के समान है, जिसकी बाहरी दीवार हरे रंग से पुती होती है। यह इसलिए होता है क्योंकि हरा रंग लाल रंग को सोख लेता है जैसे कि अवरक्त किरणों का गर्म प्रभाव हरा रंग सोख लेता है। हरे रंग के पदार्थ अधिकाधिक गर्म हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को ग्रीन हाउस प्रभाव कहते हैं। हाल में यह अनुमान लगाया गया है कि जो कार्बनडाइआक्साइड वातावरण में छोड़ी जाती है, उससे पृथ्वी का तापमान सन् 2030 तक 3 डिग्री तक बढ़ सकता है। इसका बढना पहले 100 साल के बढ़ने से ज्यादा है।

28.7.3 तेजाबी वर्षा और पर्यावरणीय क्षरण

तेजाबी गैसें जैसे कार्बन, सल्फर और नाइट्रोजन के आक्साइड घर में ईंधन और फैक्ट्री छोटे या बड़े पैमाने में ज्वलन एवं प्राण प्रक्रिया से उत्पन्न होती है, जो स्थलमंडल में फिर से वर्षा के माध्यम से आ जाती है। विखंडन से ये पृथ्वी पर वापस आती है। तेजाबी वर्षा का दुष्परिणाम मृदा, जल और जीवन पर अधिकाधिक पड़ता है।

28.7.4 जल प्रदूषण

सामान्य रूप से विश्व के सभी भागों में जल प्रदूषण की समस्या है। एक अरब लोगों (विश्व जनसंख्या का 20 प्रतिशत) के लिए पीने का साफ पानी नहीं है, मगर पीने के

पानी की माँग दिन प्रतिदिन अधिक जनसंख्या वाले देशों जैसे – चीन और भारत में बढ़ रही है।

भूमिगत जल गंदगी और रसायन से प्रदूषित होता है चाहे यह तकनीकी संपन्न देश अमरीका में हो या कम विकसित देश भारत में। लगभग हमारी 25 प्रतिशत पानी की जरूरतें कुंओं तथा जलाशयों से पूरी होती है। शहरों में रहने वाले लोग पानी को जल्दी उपलब्ध होने वाली चीज समझते हैं। जहां पानी की कमी होती है वहां वे इसे खरीदते हैं। सरकार और निजी एजेंसियों के पास समय की मांग के अनुसार पानी बेचने की प्रणाली विकसित होती जा रही है। लेकिन शहरी लोग यह भूल जाते हैं कि यह पानी बड़ी झीलों, टंकी और नदियों से ही आता है गांवों की कृषि योग्य भूमि में, जहां रासायनिक खाद्य, कीटनाशक दवाओं का इस्तेमाल किया जाता है, यह पानी के बड़े भाग को प्रदूषित करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में जल का रासायनिक प्रदूषण तीव्र नहीं है। जब तक वह क्षेत्र, जो औद्योगिक इकाई की परिधि में है जहां से बहिर्स्रोत नदी में बहते हैं या मिट्टी के माध्यम से भूमिगत होते हैं।

28.7.5 उष्णीय प्रदूषण

जल प्रदूषण का अन्य माध्यम गर्म जल है, जो उष्मीय ईकाईयों से नदी तथा समुद्र में जाता है। इस तरह का प्रदूषण पानी का तापमान कुछ डिग्री बढ़ा देता है और इस तरह यह मछली और पानी के जीवन तथा पारिस्थितिक सुतुलन को बिगाड़ देता है। पानी के जीवन का खतरा दुर्घटना में तेल के टेंकर से तेल का फैलना है।

28.7.6 नाभिकीय कचरा

नाभिकीय कचरा, जो समुद्र में फेंका जाता है वह जल और जीवन को समान रूप से प्रभावित करता है और पारिस्थितिक अंसतुलन लाता है। नाभिकीय धूल, जो परमाणु विस्फोट, परीक्षण और ऊर्जा ईकाई से हवा में भेजी जाती है और वर्षा के माध्यम से जल में पहुंच जाती है। नाभिकीय मिट्टी, पौधों और जीवन को प्रदूषित करती है। इस तरह पूरे पृथ्वी के पारिस्थितिक तंत्र को प्रभावित करती है।

28.7.7 वायु प्रदूषण

वायु प्रदूषण मुख्य रूप से गाड़ियों, जो कार्बनमोनोआक्साइड छोड़ती हैं, उनसे होता है। तेंजी से हो रहा औद्योगीकरण भी वायु प्रदूषण फैलता है, जिसमें फैक्ट्रियों से कई टन धुंआ वायु में जाता है। गाड़ियों, फैक्ट्रियों तथा अन्य से होने वाला शोर भी वायु प्रदूषण के लिए उत्तरदायी है।

पाठगत प्रश्न 28.2

(1) कुछ प्रमुख प्रदूषकों तत्त्वों के नाम बताइए।

(2) ओजोन परत में छिद्र कैसे बनते हैं।

(3) बहिर्स्राव किसे कहते हैं?

(4) वायु प्रदूषण के कुछ प्रमुख तत्त्व या कारक बताइए।

28.8 पर्यावरण संरक्षण के प्रति बढ़ती जिज्ञासा

पिछले दो दशकों से सभी देशों में पर्यावरण की समस्या बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों और सामान्य जनता का ध्यान आकर्षित कर रही है। वे निरंतर इस तरह के कुछ मुद्दों को लेकर चिंतित हैं, जैसे, अकाल, सूखा, बाढ़, ईंधन की कमी, लकड़ी और चारा, तथा वायु का प्रदूषण, खतरनाक रसायन और विकिरण की समस्या, प्राकृतिक संसाधनों की कमी, वन्य जीवन का लुप्त होना और जीव जंतुओं के लिए खतरा पैदा होना इत्यादि। पानी, मिट्टी, पेड़ पौधों के प्राकृतिक संसाधन देश की आय बढ़ाते हैं, जिस पर मनुष्य आश्रित है। मनुष्य पर्यावरण के ऊपर 1972 का स्टाकहोम सम्मेलन और 1992 का रियो दी जीनेरियो पर्यावरण और विकास सम्मेलन के मध्य कुछ टिप्पणीकर्ताओं ने विकास के विषय में कहा था कि 'मनुष्य के लिए पर्यावरण सुधारने के लिए सभी देशों में पर्यावरण मंत्रालय बनाने, दर्जनों क्षेत्रीय और विश्वव्यापी समझौते, विश्वव्यापी कार्य योजना पर्यावरण क्षरण की समीक्षा करने, समुद्र को बचाने के लिए ठोस कदम उठाने और साफ पानी की व्यवस्था और ओजोन परत में छेद होने से बचाने तथा पर्यावरण प्रदूषण को रोकने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए। पर्यावरण बचाए रखने के लिए सजगता सबसे प्रभावी कदम हो गया है। इसके लिए अलग-अलग देशों में अलग-अलग ढंग से गतिविधियाँ चलाई जा सकती हैं। बहुत से देशों में पहले जैसे प्रदूषण की अपेक्षा नए तरह के प्रदूषण पैदा हो गए हैं। शहरीकरण की प्रक्रिया पर्यावरण प्रदूषण में सबसे खतरनाक माध्यम के रूप में उभरा है। अधिक प्रभावी देशों में जीवन शैली के साथ-साथ, जीव जंतु और मानव को पर्यावरण प्रदूषण से बचाए रखने का त्वरित प्रयास होना चाहिए।

28.9 विकास गतिविधियां बनाए रखना

विकास गतिविधियों को बनाए रखना 20वीं सदी की सबसे बड़ी चिंता है। पर्यावरण तंत्र तथा औद्योगिक तंत्र के मध्य सही संबंध तथा संयोजन करने की जरूरत है। औद्योगिक प्रतिमान निर्धारित होने चाहिए क्योंकि विकास के नाम पर औद्योगीकरण ने पर्यावरण को

आहुति चढ़ा दिया है। औद्योगिक ईकाईयों के बहिर्स्राव, ऊष्मा, ईकाई की उठती धूल, नाभिकीय कचरा, कीटनाशक दवाईयां, चूहे मारने की दवा का कृषि में प्रयोग और रासायनिक खादों का प्रयोग आधुनिक कृषि में इस्तेमाल मिट्टी, जल और वायु प्रदूषण को जन्म देता है। इसके साथ ही पर्यावरण, अर्थव्यवस्था विश्लेषण, उत्पादकता और विकास को चिन्हित करता है। पर्यावरण अर्थशास्त्रियों का सुझाव है कि विकास के लिए आर्थिक रूप और नीतियों का निर्धारण होना चाहिए, और इसे व्यवस्था के प्रबंधन से जोड़ देना चाहिए। पर्यावरण को सही रूप में नापने के लिए पर्यावरण आय का माध्यम और मानव निर्मित आय से पैदा हुए उत्पाद और अन्य मानविक कार्यक्रमों में ढालने की जरूरत है।

अब तक विकासशील देशों ने एक जुट होकर पर्यावरण तंत्र और आर्थिक हिसाब निर्धारित नहीं किए हैं। अभी तक चार कार्यक्रमों के क्षेत्र खोजे गए हैं।

(क) पर्यावरण को विकास नीतियों तथा योजनाओं के साथ प्रबंधन के स्तर पर जोड़ देना।

(ख) पर्यावरण संबंधी यंत्रों और बाजार प्रोत्साहन को प्रभावी बनाना।

(ग) योजनाबद्ध कार्य को कानूनी तौर पर प्रभावी बनाना।

(घ) ऐसी प्रणाली विकसित करना, जो आर्थिक एंव लेखा-जोखा संबंधी मामलों में परस्पर एकजुट होकर कार्य कर सके।

28.10 पर्यावरण संरक्षण के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय वचनबद्धता

कई देशों में पर्यावरण संरक्षण के विषय में बढ़ती जिज्ञासा नई प्रक्रिया को जन्म दे रही है। स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी एकमात्र ऐसी शासनाध्यक्ष थीं जो 1972 के स्टाकहोम सम्मेलन में उपस्थित थीं, जो मनुष्य पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में आई थीं। 20 साल बाद रियो दी जेनेरियो में पर्यावरण और विकास का सम्मेलन हुआ था। यह इंदिरा गांधी ही थीं जिन्होंने सबसे पहले संकेत किया कि गरीबी ही सबसे बड़ी प्रदूषक है। जब तक इसे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नहीं हटाया जाएगा तब तक इस पृथ्वी पर से पर्यावरण विनाश को बचाने की बात करना व्यर्थ है। इसलिए एजेंडा 21 को बढ़ावा दिया गया, अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेज, जो रियो सम्मेलन से निकला वह मूलत: विकास का हराभरा एकजुट करने वाला एजेंडा था। UNDP और विश्व बैंक तथा अन्य प्रतिष्ठान एकजुट होकर विकास के लिए गरीबी को खत्म करने की वकालत कर रहे हैं। वास्तव में पर्यावरण और विकास नीति देखने में एक-दूसरे के पूरक हैं।

लंबे समय की पर्यावरण अधिकार और विकास की विवशता की जरूरतें केवल सामान्य हैं। कोई भी विश्व अनुदेश सामान्य नहीं होगा जब तक कि जनसंख्या का तीन-चौथाई

गरीबी में रहेगा। पर्यावरण और विकास अधिकार दोनों मिलकर विश्व में सभी लोगों के लिए लोकतांत्रिक और मानव अधिकार बनते हैं।

28.11 अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन

मांट्रियल सम्मेलन और मौसम परिवर्तन जैव विविधता और वन पर रियो दी जेनेरियो में हुआ सम्मेलन, पर्यावरण संरक्षण के प्रयास में अपने आप में विशेष उपलब्धि है। भारत ने इन सम्मेलनों में भाग लिया और इनके सिद्धांतों को लागू करने के लिए व्यवस्थित कदम उठाए। UNDP द्वारा पारित पर्यावरण कार्य प्रक्रिया लागू करना शेष है। औद्योगिक प्रदूषण काबू में करने के लिए 31 योजनाएं हैं जो विश्व बैंक द्वारा अनुमोदित की गई है और जिसमें 105 करोड़ डालर खर्च होना है। छोटे उद्योगों की एक सी बहिर्स्रावी ईकाई है जो कालांतर में अपनाई जाने वाली है। बढ़ते उद्योगों की व्यवस्था में देखे जा सकते हैं। इस तरह प्रदूषित औद्योगिक ईकाईयों की एक निश्चित समय में पर्यावरण बचाव के लिए पहचान की गई है। कुछ औद्योगिक ईकाईयों को लगाने से पहले जरूरी है कि पर्यावरण को साफ किया जाए। इंजनों को प्रदूषण मुक्त बनाना होगा। कुछ तो दोपहिया के लिए पहले ही लगा दिए हैं। कुछ तीन पहिया और कुछ प्रसिद्ध कारों के लिए। विश्व खाद्य संगठन द्वारा सहायतार्थ योजना राष्ट्रीय वन संपदा के लिए अग्रसर है। पर्यावरण ब्रिगेड, वन विनाश ब्रिगेड, पारिस्थितिक कार्य तल की गैर सरकारी संगठनों ने संगठित किया है। भारतीय वन संरक्षण कार्यक्रम बहुत साफ रहा है। भारत के पास 75 राष्ट्रीय पार्क और 421 वन्य जीवन संरक्षण केंद्र बनाने का नेटवर्क है। टाइगर कार्यक्रम तो बहुत सफल रहा है। भारत के पास जल, मिट्टी तथा वायु प्रदूषण को रोकने के लिए कानून बनाए गए हैं और कई औद्योगिक ईकाईयों के लेखा-जोखा का प्रावधान है। यह, जबकि सभी देशों में स्वैच्छिक है इस विषय में भारत का कार्य अग्रणी है। भारत फिर से इस्तेमाल होने वाली ऊर्जा, जैसे सौर, हवा और तरंग उर्जा के विकास के क्रमबद्ध कार्य के लिए चिंतित हैं, जो पर्यावरण स्रोत हैं। सौर उर्जा पर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। जिस पर तकनीकी उपलब्धि बनी है। भारत यह कार्य अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से कर रहा है।

28.12 पर्यावरण प्रदूषण को कम करने के लिए भारत सरकार द्वारा उठाए गए कदम

(1) पर्यावरण अदालत – इसके लिए विशेश अदालतें बनाई गई हैं, जो गरीबों को न्याय दिला सकेंगी, इन उद्योगों से जो पर्यावरण को प्रदूषित कर रहे हैं।

(2) पर्यावरण संबंधी उत्पाद – सरकार ने बाजार में सभी उत्पादनों के लिए कड़े मानक बनाए हैं। उत्पादनों के लिए मानक चिन्ह दिया जाता है जैसे ISI।

(3) शीशारहित पैट्रोल – रिफायनरियों को शीशारहित पैट्रोल बनाने के लिए मानाया जा रहा है। भारतीय पेट्रोल में अधिकतम शीशा है, जो गाड़ियों से प्रदूषण फैला रहा हैं।

(4) जहरीले कीटनाशकों पर प्रतिबंध – आठ रासायनिक कीटनाशक, जिसमें डी.डी.टी., बी एच सी, एलडरीन और मैला थियान मुख्य जहरीले पदार्थ हैं अब इन्हें हटा दिया गया है। इनको सुरक्षित जैव कीटनाशकों में बदला जा रहा है।

(5) राष्ट्रीय कचरा प्रबंध समिति – इसका मुख्य कार्य 40 करोड़ टन कचरा को उर्जा में बदलने का है, जो उष्णीय उर्जा के निकट पहाड़ों में और शहरी कूड़ा, खाद्य इत्यादि में है।

(6) सार्वजनिक बीमा – यह उन कंपनियों के लिए आवश्यक है जिसमें जहरीली गैसों के रिसने से मरने का खतरा है। इसमें 48 घंटे भीतर स्वतः सार्वजनिक बीमा हो जाता है।

(7) गाड़ियों द्वारा प्रदूषण – मोटर गाड़ियों के खिलाफ प्रदूषण के विरोध में कार्य कड़ाई से किया गया है। गाड़ियां जो लागू मानक को नहीं मानतीं उन्हें सजा दी जाती है और उनसे कहा जाता है कि वे सड़क से बाहर रहें।

आपने क्या सीखा

जहाँ पर हम रहते हैं उसके आसपास के वातावरण को पर्यावरण कहते हैं।

योजनाबद्ध ढंग से चलाई जाने वाली मानविक गतिविधियां पर्यावरण का क्षरण करती हैं जो पूरे पारिस्थितिक चक्र को प्रभावित करती हैं।

विकास वह अवधारणा है, जो कहती है कि हर विकास पर्यावरण से संबंधित होना चाहिए ताकि यह प्रकृति को नुकसान न पहुंचाए।

स्थायी विकास औद्योगिक विकास की जरूरत को समाप्त करता है।

तरह-तरह के प्रदूषण जैसे कार्बनडाइआक्साइड, कार्बन मोनोआक्साइड, कीटनाशक, कचरा और धुंआ पर्यावरण का क्षरण करते हैं।

पर्यावरण को बचाने के लिए मानव की चिंता बढ़ रही है। पर्यावरण संरक्षण की मांग निरंतर बढ़ रही है।

अपनी समितियों के साथ संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण संरक्षण के लिए सभी प्रयास कर रहा है। ताकि आने वाली पीढ़ियों को उस स्थिति का सामना न करना पड़े जो आज की पीढ़ी कर रही है।

भारतीय सरकार ने भी पर्यावरण चेतना और प्रकृति के संरक्षण के लिए कानून लागू किए हैं।

पाठांत प्रश्न

1. पर्यावरण की व्याख्या कीजिए ?
2. स्थायी विकास किसे कहते हैं ?
3. किसी दो प्रकार के पर्यावरणिक क्षरण के बारे में बताइए ?
4. निम्न की पर्यावरणिक क्षरण में भूमिका बताइए ?

   (क) ओजोन परत

   (ख) कार्बनडाइआक्साइड
5. तेजाबी वर्षा और ग्रीन हाउस प्रभाव क्या हैं ?
6. पर्यावरण को अच्छा बनाने के लिए भारत सरकार द्वारा किए गए प्रयास का उल्लेख कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

28.1 1. गलत

2. सही

3. सही

4. गलत

28.2 1. क्लोरोफ्लोरोकार्बन, गाड़ियों का शोर, उद्योग, परमाणु कचरा इत्यादि

2. क्लोरोफ्लोरोकार्बन द्वारा

3. उद्योगों का कचरा जो नदियों में बहता है।

4. संगीत तंत्र, चिमनी, गाड़ियां।

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें, उपखण्ड 28.1
2. कृपया देखें, उपखंड 28.6

3. कृपया देखें, उपखंड 28.3
4. कृपया देखें, उपखंड 28.4 और 28.4
5. कृपया देखें, उपखंड 28.4 और 28.4
6. कृपया देखें, उपखंड 28.8
7. कृपया देखें, उपखंड 28.9

पारिभाषिक शब्दावली

जीवन के सहायक तंत्र	–	मनुष्य के जीवन की मूलभूत जरूरतों को देने वाला क्षेत्र
स्योग	–	कोहरे और धुंए का मिश्रण
हेज	–	पतली परत
ब्रह्मांडीय किरणें	–	ऐसी किरणें जो बाहरी आंतरिक्ष से पृथ्वी पर पहुँचती हैं
उत्पादक क्षमता	–	शक्ति के अनुरूप उत्पादन की क्षमता
पारिस्थितिक तंत्र	–	पारिस्थितिक कारण, जो पौधों तथा जीव-जन्तुओं से मिल कर बना है जो आसपास से सामंजस्य करते हैं।
वन विनाश	–	पूर्णरूप से पेड़ पौधों का विनाश
हिमखंड	–	जो बर्फ की मोटी ठोस परत जम जाने से तैयार होता है उसे हिमखंड कहते हैं
क्षरण	–	क्षरित होना
अवरक्त	–	अदर्शनीय किरणें, प्रिज्म से दिखाई देने वाली लाल किरणों से भी कम लाल किरणें
कचरा	–	अवशेष गंध द्रव जैसे कारखानों से निकलने वाला पानी
होलोकास्ट	–	बड़े पैमाने पर विनाश

कीटाणु अवरोध	–	उत्पाद जो फंगस को खत्म करे
कीटनाशक	–	दवाईयां जो कीटाणुओं को मारने के लिए प्रयोग की जाती हैं
हरबीसाइड्स	–	दवाईयां, जो फालतू पेड़ पौधों को खत्म करने के लिए प्रयोग की जाती है
सेडेंटीसाइड (चूहानाशक)	–	ऐसी दवाईयां जो उन जानवरों को मारती हैं जो अपने अगले दांतों से चीजों को चबाते हैं। जैसे चूहे, गिलहरियां।

29
जनसंख्या वृद्धि तथा जनसांख्यिकीय परिवर्तन

29.1 भूमिका

भारत, जो विश्व का चीन के बाद दूसरा सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश है, सन् 2040 तक सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश हो जाएगा। संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1996 में की गई विश्व जनगणना के अनुसार विश्व के 5804 करोड़ व्यक्तियों में भारत की जनसंख्या एक सौ करोड़ से अधिक है। परन्तु विश्व के कुल भूक्षेत्र में से भारत के पास केवल 2.4 प्रतिशत ही है। इस प्रकार विश्व भूक्षेत्र के केवल 2.4 प्रतिशत भाग पर भारत में विश्व की 16.4 प्रतिशत जनसंख्या जीवन यापन करती है। विश्व मे प्रत्येक छठा व्यक्ति भारतीय है।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में, भारत की जनसंख्या 10 से 12.5 करोड़ के बीच थी। सन् 1600 ई. तक यह लगभग इतनी ही बनी रही। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर 95 वर्षों की कालावधि में भारत की जनसंख्या में चार गुणा वृद्धि हुई। तीव्र जनसंख्या वृद्धि के कारण मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, संसाधनों की कमी की समस्या तथा असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

तीव्र जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न समस्याएं लगभग सभी देशों के लिए चिंता का विषय बनी हुई हैं। भारत उन प्रथम देशों में था जिन्होंने जनसंख्या नियंत्रण की आवश्यकता को अनुभव किया। पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ होते ही भारत सरकार ने जनसंख्या वृद्धि रोकने की नीति अपनाई। उसने कई प्रकार से परिवार नियोजन कार्यक्रम को प्रोत्साहित किया जिसका समय के अन्तराल के बाद काफी विस्तार हो चुका है। इससे, देश के विभिन्न भागों में जन्म दर में भारी कमी, तथा जन्म व मृत्यु दर के बीच बढ़ते हुए अन्तर को कम करने में बहुत सहायता मिली है।

देश के शिक्षित नागरिकों में बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रति अत्यधिक जागरूकता है। देश के युवा वर्ग को जनसंख्या समस्या की जानकारी प्रदान करना भी महत्त्वपूर्ण है। आपने

पहले भी पिछली कक्षाओं में इसके बारे में कुछ अध्ययन किया होगा। इस पाठ में आपको इस विषय पर और जानकारी प्रदान की जाएगी।

29.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति को समझ सकते हैं।
- भारत के विभिन्न राज्यों में जनसंख्या के आकार तथा वृद्धि के बदले स्वरूप की व्याख्या कर सकते हैं।
- ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में भारत की जनसंख्या के वितरण की पहचान कर सकते हैं।
- भारत में जनसंख्या की समस्या को समझ सकते हैं।
- तीव्र जनसंख्या वृद्धि से समुचित विकास के सम्मुख खतरों का परीक्षण कर सकते हैं।
- जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रमों की व्याख्या तथा जनसंख्या वृद्धि पर उनके प्रभाव को समझ सकते हैं।

पाठगत प्रश्न 29.1

---

1. विश्व में दूसरी सर्वाधिक जनसंख्या किस देश में है?
2. सन् 1600 के आसपास भारत की जनसंख्या का आकलन कितना था?
3. वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में भारत की जनसंख्या कितनी थी?
4. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

   (अ) विश्व में प्रत्येक _____ व्यक्ति भारतीय है।

   (ब) तीव्र जनसंख्या वृद्धि _____ तथा मनुष्यों की आवश्यकताओं के बीच असन्तुलन की समस्याएँ उत्पन्न करती है।

   (स) परिवार नियोजन कार्यक्रम का समय के अन्तराल के बाद अत्यधिक _____ हो चुका है।

29.3 जन संख्या वृद्धि का स्वरूप

यदि हम, इस शताब्दी के प्रारम्भ में विश्व जनसंख्या की पिछली वृद्धि को देखें तो पता लगेगा कि संसार की कुल जनसंख्या 20 और 40 करोड़ के बीच थी, जिसमें से लगभग 10 से 12.5 करोड़ व्यक्ति अकेले भारतीय उपमहाद्वीप में रहते थे। 1650 तक विश्व की अनुमानित जनसंख्या 47 व 54.5 करोड़ के बीच थी। 1825 तक यह 100 करोड़ की सीमा पार कर गई तथा 1996 में यह 580.4 करोड़ थी।

29.3.1 भारत की जनसंख्या का आकार एवं वृद्धि

पाकिस्तान से अलग होकर भारत 1947 में अस्तित्व में आया। विभाजित भारतीय संघ में कुछ देशी रियासतों को प्रान्तों में विलीन कर दिया गया परन्तु कुछ अन्य ने 1951 की जनगणना के समय अपनी अलग पहचान बनाए रखी। 1956 में राज्य पुनर्गठन कानून के द्वारा कुछ नए राज्यों व संघ क्षेत्रों की सीमाओं में अनेक फेर-बदल किए गए जिसके परिणामस्वरूप कुछ नए राज्य बनाए गए तथा कुछ संघ क्षेत्रों को राज्यों में प्रोन्नत कर दिया गया। तदनुसार 1961 की जनगणना ने देश को 25 राज्यों व 7 संघ क्षेत्रों में श्रेणीबद्ध कर दिया। (मानचित्र सं. 1)

29.3.2

भारत में, आधुनिक रूप में 1881 में जनसंख्या गणना प्रारम्भ की गई उसी समय से प्रत्येक 10 वर्ष के अन्तराल से जनगणना कार्य सम्पन्न हो रहा है। तालिका 29.1, गत 100 वर्षों के दौरान भारतीय संघ (वर्तमान सीमाओं के अनुसार) की जनसंख्या को दर्शाती है।

भारत की जनसंख्या में वृद्धि 1981 में 68.3 करोड़ से 1991 में 86.6 करोड़ हुई। इस प्रकार 16.3 करोड़ की वृद्धि मात्र दस वर्षों में हुई। अतः 1991 की जनसख्ंया, देश की इस शताब्दी के प्रारम्भ की जनसंख्या से साढ़े तीन गुणा तथा स्वतंत्रता के समय की जनसंख्या से ढाई गुणा हो गई थी। यह लैटिन अमेरीका की जनसख्ंया से दो गुणा तथा सम्पूर्ण अफ्रीका की जनसंख्या से सवा गुणा थी। 1980 के दशक की जनसंख्या वृद्धि, आस्ट्रिया, बेल्जियम, फ्रांस, नीदरलैंड, स्विटजरलैंड, जर्मनी व लकज़मबर्ग को शामिल करते हुए पश्चिम यूरोप की कुल जनसंख्या से थोड़ी सी ही कम थी। वार्षिक वृद्धि के रूप में हमारी कुल जनसख्ंया में आस्ट्रेलिया अथवा श्रीलंका की जनसख्ंया के बराबर प्रति वर्ष जनसंख्या जुड़ जाती है।

तालिका 29.1

वर्ष	कुल जनसंख्या	दशक में वृद्धि		वार्षिक औसत धातीय वृद्धि दर (प्रतिशत)
		पूर्ण	प्रतिशत	
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
1891	23.59	-	-	-
1901	23.84	0.25	1.1	0.11
1911	25.21	1.37	5.7	0.56
1921	25.13	-0.08	-0.3	-0.03
1931	27.90	2.77	11.0	1.04
1941	31.87	3.97	14.2	1.33
1951	36.11	4.24	13.3	1.25
1961	43.92	7.81	21.5	1.96
1971	54.82	10.90	24.8	2.20
1981	68.33	13.51	24.7	2.20
1991	84.63	16.30	23.8	2.14
2001	102.70	-	21.3	1.93

टिप्पणी

1. 1991 की जनगणना जम्मू व काश्मीर में नहीं की गई। भारत के लिए जनगणना आँकड़ों में राज्य की वह जनसंख्या शामिल है जो जनसंख्या योजना 1989 की विशेषज्ञों की समिति ने प्रस्तुत की।
2. *एक दशक में जनसंख्या वृद्धि इस प्रकार आँकते हैं

$$\frac{(\text{सत्र के अन्त पर जनसंख्या} - \text{प्रारम्भ में जनसंख्या}) \times 100}{\text{प्रारम्भ में जनसंख्या}}$$

3. #औसत धातीय वृद्धि दर इस प्रकार आँकते हैं,

$Y = in\ (Pt/Po)/t$

Y का अर्थ है औसत वार्षिक वृद्धि दर,

Po का अर्थ है कालावधि के प्रारम्भ की जनसंख्या,

Pt का अर्थ है कालावधि के अन्त की जनसंख्या

t का अर्थ है कालावधि तथा *in* आधार *e* की सामान्य लघुगणक।

1. 1996 में भारत की जनसख्ंया 1901 की जनसंख्या का चार गुणा थी।
2. 1981-91 के दशक में भारत में जनसंख्या पश्चिम यूरोप की कुल जनसंख्या के लगभग समान थी।
3. भारत की जनसंख्या में प्रति वर्ष एक आस्ट्रेलिया अथवा श्रीलंका जुड़ जाता है।
4. 1961-71, 1971-81 व 1981-91 के दशकों में भारत की जनसख्ंया वृद्धि दर लगभग समान थी।

29.3.3 जनसंख्या वृद्धि का स्वरूप

पिछली शताब्दी में भारत में जनसंख्या वृद्धि के तीन भाग हैं। जिनमें 1921 तथा 1951 इस विभाजन में मुख्य है। 1921 का वर्ष 'महान विभाजक' कहलाता है क्योंकि यह पिछली कालावधि से, जनसंख्या में सामान्य वृद्धि वाली कालावधि को रेखांकित करता है। वर्ष 1951 से तीव्र जनसंख्या वृद्धि का काल प्रारम्भ हुआ है।

1921 से पहले के 30 अथवा कुछ अधिक वर्षों के दौरान जनसंख्या में कम वृद्धि का कारण उच्च मृत्यु-दर का होना था। 1886 तथा 1897 में देश के अनेक क्षेत्रों में गम्भीर अकाल पड़ा। बम्बई प्रान्त में अकाल के साथ-साथ प्लेग के प्रकोप ने भी स्थिति को बिगाड़ने में मदद की। इन दो आपदाओं के परिणामस्वरूप 1901 की जनगणना के अनुसार, 1891 के 1.88 करोड़ के स्तर से लगभग दो प्रतिशत की कमी जनसंख्या में रिकार्ड की गई।

1891-1901 के दशक की भाँति, 1901-1911 के दशक में भी उत्तर प्रदेश के अनेक भागों में अनेक स्थानीय अकाल तथा 1907 में एक व्यापक अकाल की पुनरावृत्ति हुई। बम्बई तथा बंगाल प्रान्त में प्लेग पहले से था। पंजाब व उत्तर प्रदेश में प्लेग तथा मलेरिया दोनों का प्रकोप था, जहाँ जनसंख्या वृद्धि नगण्य थी। फिर भी पिछले दशक की तुलना में जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई, क्योंकि सम्पूर्ण रूप से देश को अकाल से कम ही हानि हुई।

1911-20 के दशक के दौरान भारत में इन्फलुऐंज़ा महामारी का प्रकोप हुआ, जिसके कारण जनसंख्या में लगभग सात प्रतिशत की हानि हुई। कुछ प्रान्तों में, अन्य की अपेक्षा, इसका स्वरूप अत्यधिक घातक था।

1921 के बाद से, उच्च मृत्यु-दर के मुख्य कारणों पर धीरे-धीरे नियन्त्रण कर लिया गया है तथा 1921 से 1951 के बीच देश में धीरे-धीरे जनसख्ंया वृद्धि दृष्टिगोचर हुई है

(तालिका 29.1)। 1947 में स्वतंत्रता के पश्चात मृत्यु-दर में कमी तेजी से हुई जिसके फलस्वरूप 34 वर्षों में जनसख्या लगभग दोगुनी हो गई – 1947 में अनुमानित 34.75 करोड़ के स्थान पर 1981 में 68.33 करोड़। 1951 व 1991 की 40 वर्षों की कालावधि में भारत की जनसंख्या में 48.5 करोड़ की वृद्धि हुई, जो कि 1964 की कुल जनसंख्या के बराबर है।

केवल 1970 के प्रारम्भ से ही जन्म-दर में उत्तरोत्तर कमी दिखाई दी। गत दो दशकों के दौरान मृत्यु-दर में कमी के साथ-साथ जन्म-दर में भी कमी परिलक्षित हुई है (तालिका 29.3)। 1985 से जन्म-दर में कमी, मृत्यु-दर की अपेक्षा थोड़ी सी तीव्र हुई है तथा इसके फलस्वरूप जनसंख्या वृद्धि में भी कमी आई है।

29.3.4 राज्यवार जनसंख्या वितरण एवं इसकी वृद्धि

तालिका 29.2 में 1991 की जनगणना के अनुसार राज्यों व संघ क्षेत्रों में जनसंख्या वितरण दर्शाया गया है तालिका के अंतिम कालम में 1981-91 के दशक की वृद्धि-दर दी गई है।

भौगोलिक दृष्टि से मध्य प्रदेश देश में सबसे विशाल राज्य है, जिसमें कुल भूक्षेत्र का 13.5 प्रतिशत क्षेत्र आता है। जनसंख्या में उत्तर प्रदेश सबसे बड़ा है। वास्तव में संयुक्त रूप से इन दोनों राज्यों में भूक्षेत्र का 22.4 प्रतिशत तथा कुल जनसंख्या का 24.3 प्रतिशत भाग शामिल है। 1981 में देश की जनसंख्या में दक्षिण के चार राज्यों की जनसंख्या का प्रतिशत 26.2 रहा तथा 1991 में यह कुल जनसंख्या केवल 23.3 प्रतिशत थी।

उत्तर प्रदेश देश का सर्वाधिक जनसंख्या वाला राज्य रहा है। दूसरा स्थान बिहार का है। 1991 में 51.7 हजार जनसंख्या वाले लक्षद्वीप को सबसे कम जनसंख्या का क्षेत्र कहा जाता है। जनसंख्या के हिसाब से दिल्ली सभी सात संघ-क्षेत्रों में सबसे बड़ा है जिसके शहरी क्षेत्र में, 1991 में 94 लाख व्यक्ति रहते थे।

1981-91 में देश में जनसंख्या वृद्धि दर 23.8 प्रतिशत रही है जो कि 1971-81 की वृद्धि-दर से थोड़ी सी कम है (तालिका 29.2)। भारत के 15 बड़े राज्यों में से केरल व तमिलनाडु में जनसंख्या वृद्धि बहुत कम हुई, जबकि राजस्थान और हरियाणा में यह बहुत अधिक थी।

तालिका 29.2 : प्रत्येक राज्य व संघक्षेत्र का भूक्षेत्र तथा जनसंख्या तथा 1971-81 व 1981-91 में वृद्धि-दर

राज्य	वर्ग कि मी. में भूक्षेत्र	भारत के कुल भूक्षेत्र का भाग	जनसंख्या	भारत की कुल जन सं. का भाग	वृद्धिदर	
					1971-81	1981-91
भारत	3,287,263	100	846302688	100	24.66	23.85
आन्ध्र प्रदेश	275,045	8.37	66508008	7.86	23.10	24.20
अरुणाचल	83,743	2.55	864558	0.10	35.15	36.83
असम	78,438	2.39	2,29,14,322	2.34	23.36	24.24
बिहार	173,877	5.29	8,63,74,465	10.23	24.06	23.54
गोवा	3,702	0.11	11,69,793	0.14	26.74	16.08
गुजरात	196024	5.96	41309582	4.88	27.68	21.19
हरियाणा	44,212	1.35	1,64,63,648	1.93	28.75	27.41
हिमाचल प्रदेश	55,673	1.69	51,70,877	0.61	23.71	20.79
जम्मू व कश्मीर	222,236	6.76	77,18,700	0.91	29.69	28.92
कर्नाटक	191,791	5.83	4,49,77,201	5.31	26.75	21.12
केरल	38683	1.18	2,90,98,518	3.44	14.32	14.32
मध्यप्रदेश	44.3466	13.49	6,61,81,170	7.84	26.84	26.84
महाराष्ट्र	307713	9.36	7,89,37187	9.33	25.73	25.73
मणिपुर	22,327	0.68	18,37,149	0.22	29.29	29.29
मेघालय	22429	0.68	17,74,778	0.21	32.86	39.70
मिज़ोरम	21,081	0,64	6,89,756	0.08	48.55	39.70
नागालैंड	16579	0.50	12,09,546	0.14	50.05	56.08
उड़ीसा	155707	4.74	3,16,59,736	1.73	20.17	20.06
पंजाब	50,362	1.53	2,02,81,969	2.039	23.89	20.81
राजस्थान	342239	10.41	4,40,05,990	5.20	32.97	28.44
सिक्किम	70,96	0.22	4,06,457	0.05	50.77	28.47
तमिलनाडु	130,058	3.96	5,58,58,946	6.59	17.50	15.39
त्रिपुरा	10,486	0.32	27,57,205	0.32	21.92	34.30
उत्तर प्रदेश	294,411	8.96	13,91,12,287	16.44	25.49	25.48
प. बंगाल	88752	2.70	6,80,77,965	8.06	27.17	24.73
अंडमान निकोबार	8,249	0.25	2,80,661	0.03	63.93	48.70
चंडीगढ़	114	न	6,42,015	0.08	75.55	42.16
दादरा व नागर हवेली	491	001	1,38477	0.01	39.78	33.57
दमन-दीव	112	न	1,21,586	0.01	26.07	28.62
दिल्ली	1,483	0.05	94,20,644	1.11	53.00	51.45
लक्षद्वीप	32	न	51,707	0.01	26.53	28.47
पांडिचेरी	492	0.02	8,07,758	0.09	28.15	22.64

'न' का अर्थ है नगण्य

1971-81 व 1981-91 के दशकों में उत्तर-पूर्वी राज्यों में सामान्यत: अति तीव्र जनसंख्या वृद्धि हुई। 1981-91 में नागालैंड का प्रथम तथा दिल्ली का दूसरा स्थान था।

पाठगत प्रश्न 9.2

1. भारत की जनसंख्या वृद्धि के लिए 1921 के वर्ष को "महान विभाजक वर्ष" क्यों कहा जाता है?
2. 1981 व 1991 के बीच भारत की जनसंख्या में वृद्धि कुल कितनी थी।
3. निम्नलिखित वाक्यों को पूरा कीजिए:

   (अ) 1991 में भारत की जनसंख्या स्वतंत्रता के समय की जनसंख्या का _____ गुणा थी।

   (ब) भारत की जनसंख्या में प्रतिवर्ष _____ की कुल जनसंख्या के बराबर व्यक्ति जुड़ जाते हैं।

   (स) भारत की जनसंख्या 1901 में _____ से बढ़कर 1991 में _____ करोड़ हो गई।
4. 1991 में भारत की कुल जनसंख्या का कितना प्रतिशत भाग निम्नलिखित राज्यों में था?

   (अ) उत्तर प्रदेश (ब) बिहार (स) मध्य प्रदेश

29.4 ग्रामीण व शहरी वितरण

भारत की जनसंख्या (लगभग प्रत्येक देश की तरह) ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में वितरित है।

शहरी :- जनगणना संगठन द्वारा उस स्थान को शहरी माना जाता है जहाँ पर नगर निगम, नगरपालिका, छावनी बोर्ड, अधिसूचित क्षेत्र समिति आदि का अस्तित्व हो चाहे उसका आकार कितना भी हो। अन्य बस्तियों को शहरी तभी माना जाता है जब वह निम्नलिखित तीन शर्तों को एक साथ पूरा करती हों :-

(अ) जनसंख्या 5,000 से अधिक हो।

(ब) घनत्व 400 व्यक्ति प्रति वर्ग कि. मी. से कम न हो।

(स) जनसंख्या के कार्यशील पुरुषों में से कम से कम तीन-चौथाई पुरुष कृषि से असम्बन्धित कार्यों में संलग्न हों।

शताब्दी की समाप्ति के समय देश की जनसंख्या का केवल 10.8 प्रतिशत भाग शहरी क्षेत्रों में निवास करता था। 1921 तक यही स्थिति बनी रही तथा उसके कुल जनसंख्या बाद शहरी जनसंख्या का अनुपात धीरे-धीरे बढ़ने लगा। 1941 में यह 13.9 प्रतिशत था परन्तु, 1951 में अचानक 17.3 पर पहुँच गया। शहरी जनसंख्या के अनुपात में दूसरी वृद्धि 1971 व 1981 के बीच हुई तथा यह 1971 के 19.9 प्रतिशत से बढ़कर 1981 में 23.3 प्रतिशत हो गया। 1991 में, भारत की जनसंख्या के एक चौथाई भाग से कुछ अधिक शहरी क्षेत्रों में निवास करता था।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामीण जनसंख्या की अपेक्षा शहरी जनसंख्या में वृद्धि तीव्र गति से हो रही है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हमेशा ग्रामीण क्षेत्रों से अनेक व्यक्ति शहरी क्षेत्रों में स्थानान्तरित होते रहते हैं तथा समय के अन्तराल के बाद, कुछ नए शहरी क्षेत्रों का भी अस्तित्व हो जाता है।

1941-51 की कालावधि में भारत में शहरी वृद्धि दर विशेष रूप से अधिक थी, तथा फिर दोबारा 1971-81 के दशक में, ऐसा ही हुआ। वास्तव में 1971-81 के दशक में शहरी जनसंख्या वृद्धि दर सर्वाधिक थी। 1940 के वर्षों में युद्ध सम्बन्धी उद्योगों तथा बाद में देश-विभाजन के कारण, जब अधिक संख्या में विस्थापित लोग पाकिस्तान से आकर भारतीय शहरों व कस्बों में बस गए, ऐसा हुआ। 1970 के दशक में भी अनेक नए शहरों का अस्तित्व हुआ तथा अधिक मात्रा में ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों में आव्रजन हुआ। 1940 के वर्षों में ग्रामीण जनसंख्या में कम वृद्धि दर का कारण, भारत से लाखों की संख्या में मुसलमानों का पाकिस्तान को बर्हिगमन था।

1991 में शहरी क्षेत्रों में रहने वाले 21.76 करोड़ व्यक्तियों में से 65.2 प्रतिशत व्यक्ति एक लाख अथवा अधिक जनसंख्या वाली केवल 296 शहरी बस्तियों व नगरों के निवासी थे। भारत में कुल 3,697 शहर, कस्बें व शहरी, बस्तियाँ हैं। जनसंख्या के इस केन्द्रीयकरण का कारण यह है कि बड़े नगरों में रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध होते हैं तथा रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है। लेकिन इसके कारण अत्यधिक भीड़-भाड़ हो गई है तथा गंदी बस्तियाँ, पर्यावरण प्रदूषण, सामाजिक संगठनों की समस्याएँ व विचलित आचरण आदि भी अस्तित्व में आ गए है। सामान्यतया महानगरों व विशाल शहरी केन्द्रों की जनसंख्या राजनैतिक रूप से अधिक वाचाल तथा जागरूक होती है। परन्तु महानगरीय जनसंख्या का 30 प्रतिशत से अधिक भाग शहरी गंदी बस्तियों में रहता है।

पाठगत प्रश्न 29.3

1. किस दशक में शहरी जनसंख्या वृद्धि-दर सर्वोच्च थी।
2. 1991 में शहरी क्षेत्र में जनसंख्या का न्यूनतम घनत्व कितना होना चाहिए?
3. एक लाख व अधिक जनसंख्या वाले शहरों व नगरीय बस्तियों में रहने वालों का कुल शहरी जनसंख्या का अनुपात कितना था?
4. रिक्त स्थानों की पूर्ति से निम्नलिखित वाक्यों को पूरा करो।

   (अ) महानगरों तथा विशाल शहरी केन्द्रों की जनसंख्या राजनैतिक रूप से अधिक _____ होती है।

   (ब) 1970 के वर्षों में शहरी वृद्धि-दर अधिक थी, क्योंकि अधिक संख्या में _____ शहरों का अस्तित्व हुआ।

   (स) किसी स्थान को शहर होने के लिए वहाँ की कम से कम _____ कार्यशील पुरूषों की जनसंख्या को कृषि से असम्बन्धित कार्यों में लगा होना चाहिए।

29.5 जनसाँख्यिकीय परिवर्तन

जनसाँख्यिकीय परिवर्तन क्या है?

जनसांख्यिकीय परिवर्तन का अर्थ है उच्च मृत्यु-दर व जन्म-दर (जैसा भारत में 1921 से पहले था) के स्तर से निम्न मृत्यु-दर व जन्म-दर के स्तर पर परिवर्तन। जन्म-दर व मृत्यु-दर के बीच के अन्तर को "प्राकृतिक वृद्धि दर" कहा जाता है। यूरोप के कुछ देशों में जन्म दर, मृत्यु दर से कम है। वे अपनी कुल जनसंख्या के आकार में उत्तरोत्तर कमी की स्थिति का सामना कर रहे हैं।

पहली स्थिति, जिसमें जन्म दर 40-50, प्रति हजार जनसंख्या के आसपास होती है तथा मृत्युदर भी लगभग उतनी ही होती है। अधिकतर साधारण कृषि आधारित समाजों में मिलती है, जिनके रहन-सहन के स्तर भी साधारण ही होते हैं। इसके विपरीत जन्म व मृत्यु दर की अन्तिम स्थिति जो कि 10-12, प्रति हजार जनसंख्या के आसपास होती है यूरोप, उत्तरी अमेरीका, जापान तथा अन्य विकसित देशों के औद्योगिक समाजों में मिलती है।

29.5.1 भारत में जनसाँख्यिकीय परिवर्तन

भारत में लगभग 100 वर्षों में जन्म व मृत्यु दरों में परिवर्तनों का इतिहास मौजूद है

(तालिका 29.4) जनसाँख्यिकीय परिवर्तन की प्रथम स्थिति भारत में लगभग 1920 तक बनी रही, जबकि जन्मदरव मृत्युदर दोनों बहुत अधिक थी। यह पूरी तरह कृषि आधारित अर्थ व्यवस्था वाली स्थिति थी, जिसमें औद्योगीकरण कोई विशेष नहीं था। 1921 से पहले के तीस वर्षों में जनसंख्या की बदलती हुई वृद्धि दर के लिए उच्च मृत्यु–दर के स्तर जिम्मेदार थे। (तालिका 29.2)

तालिका 29.3 : 1891–1901 से 1971–81 तक तथा 1981 से 2001 तक (वार्षिक स्तर पर) भारत में जन्म–दर व मृत्यु–दर

वर्ष	जन्म–दर	मृत्यु–दर	प्राकृतिक वृद्धि (प्रति हजार)
1891–1901	48	48	0.0
1901–1911	49	43	6.0
1911–1921	49	49	0.0
1921–1931	47	37	10.0
1931–1941	45	33	12.0
1941–1951	43	31	12.0
1951–1961	44	26	18.0
1961–1971	42	20	22.0
1971–1981	37	15	22.0
1981	33.9	12.8	21.4
1985	32.9	11.8	21.1
1990	30.2	9.7	20.5
1991	29.5	9.8	19.7
1992	29.2	10.1	19.1
1993	28.7	9.3	19.4
1994	28.6	9.2	19.4
2001	24.8	8.9	

देश में जनसाँख्यिकीय परिवर्तन की दूसरी स्थिति 1920 के प्रारम्भ से 1971 तक रही यह वही समय था जब देश में औद्योगीकरण का कुछ आधार बन गया था। इस कालावधि में उच्च मृत्यु–दर के प्रमुख कारणों– अकाल व महामारियों पर धीरे–धीरे होने लगी (तालिका 29.2)। 1950 के वर्षों में मृत्यु–दर और तीव्र हो गई थी तथा जन्म–दर में कोई विशेष कमी दिखाई नहीं दी। इसके फलस्वरूप 1941–51 के दौरान 1.25

प्रतिशत प्रतिवर्ष की जनसंख्या वृद्धि दर की तुलना में, 1951–61 में यह 1.96 प्रतिशत प्रति वर्ष हो गई (तालिका 29.1 देखें)। 1961–71 के दौरान, जबकि मृत्यु–दर में और कमी होने के कारण जन्म–दर उच्च स्तर पर बनी रही जनसंख्या वृद्धि दर बढ़कर 2.05 प्रतिशत हो गई। 1971 से, भारत जनसाँख्यिकीय परिवर्तन की तीसरी स्थिति में पहुँच गया प्रतीत होता है। 1970 के वर्षों के दौरान मृत्यु–दर में कमी जन्म–दर में कमी के ही समान थी। इस कारण 1960 व 1970 के दशकों में जनसंख्या वृद्धि दर में ठहराव आ गया। 1980 के वर्षों में जन्म–दर में कमी, मृत्यु–दर में कमी से थोड़ी सी अधिक थी। परिणामस्वरूप, इस कालावधि में जनसंख्या वृद्धि दर, पिछले दशक की अपेक्षा, थोड़ी सी कम थी।

आशा की जा सकती है कि अगले कुछ दशकों में मृत्यु–दर की अपेक्षा जन्म–दर में तीव्र गति से कमी होगी। यह भी आशा की जाती है कि लगभग 2020 तक भारत जनसाँख्यिकीय परिवर्तन की चौथी स्थिति में पहुँचने के निकट होगा।

आर्थिक विकास, जिसने गत 40 वर्षों के दौरान जनसाँख्यिकीय परिवर्तन की गति को प्रोत्साहित करने में सहायता प्रदान की है, वाँछित स्तर तक नहीं पहुँच पाया है। 1970 व 1980 के दशकों में कृषि पर निर्भरता, कुल कार्यशील मानवशक्ति के समानुपात में, थोड़ी सी ही कम हुई है। भारतीय अर्थव्यवस्था के अनुपूरक क्षेत्र में कोई विशेष रोजगार वृद्धि नही हुई है, बल्कि, इस क्षेत्र में 1981–91 के दशक में श्रमिकों के अनुपात में कुछ कमी अवश्य आई है।

यह ध्यान देने योग्य है कि जनसाँख्यिकीय परिवर्तन के मामले में केरल व तमिलनाडु में उल्लेखनीय प्रगति हुई है तथा वहाँ स्वाभाविक वृद्धि दर में कमी हुई है। परन्तु, हाल के वर्षों में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में स्वाभाविक वृद्धि दर में बढ़ोत्तरी हुई है तथा ये और अन्य कुछ राज्य जनसाँख्यिकीय परिवर्तन में बहुत पिछड़ गए हैं।

पाठगत प्रश्न 29.4

---

1. जन्म–दर व मृत्यु–दर में अन्तर क्या दर्शाता है?
2. 1971 के बाद से भारत जनसाँख्यिकीय परिवर्तन की किस स्थिति में प्रवेश कर चुका है?
3. केरल व तमिलनाडु जनसाँख्यिकीय परिवर्तन की किस स्थिति में प्रवेश कर चुके हैं?

29.6 भारत की जनसंख्या की समस्या

भारत ने, लगभग साढ़े चार दशक पहले योजना आयोग की स्थापना करके, नियोजित आर्थिक व सामाजिक विकास की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया तथा इसका लक्ष्य "नागरिकों के रहन सहन के स्तर को ऊँचा करने तथा उनके लिए समुन्नत व सुविधापूर्ण जीवन बिताने के नए अवसरों की प्राप्ति" था। फलस्वरूप, देश के विभिन्न भागों में कृषि के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है तथा "हरित क्रांति" वाले क्षेत्र इसमें अग्रणी रहे हैं। इसी प्रकार उद्योग, विज्ञान और तकनीक, शिक्षा स्वास्थ्य तथा अनेक सेवाओं के सरंचना विकास के मामलों में भी उन्नति हुई है। परन्तु यह उन्नति निर्धारित लक्ष्यों से बहुत कम रही है, विशेषतया ग्रामीण विकास के बारे में अभी भी अनेक गाँव ऐसे हैं जहाँ पेय जल, बिजली अथवा सफाई का कोई प्रबन्ध नहीं है। अधिकांश गाँवों में उचित सड़क मागो के अभाव के कारण वहाँ वर्षा ऋतु में पहुचँना भी सम्भव नहीं होता है।

यह पहले भी कहा गया है कि 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत की जनसंख्या तीव्रगति से बढ़ने लगी जिसके फलस्वरूप 34 वर्षों में जनसंख्या लगभग दोगुनी हो गई – 1947 में अनुमानित 34.75 करोड़ से 1981 में 68.33 करोड़। 1951 से 1991 तक के 40 वर्षों की अवधि में भारतीय जनसंख्या 48.5 करोड़ अधिक हो गई जो कि 1964 में देश की कुल जनसंख्या थी। तालिका सं. 29.1 में दर्शाया गया है कि 1951 व 1981 के बीच भारत की जनसंख्या वृद्धि दर समान रूप से बढ़ी है। वृद्धि दरों में बढ़ोतरी का कारण मृत्यु दरों में कमी होना है, न कि जन्म दरों में बढ़ोत्तरी।

जनसख्या वृद्धि के कारण बेरोजगार व अल्परोजगार वाले व्यक्ति बहुत अधिक हो गए हैं। उदाहरण के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति के समय बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या 53 लाख थी। मार्च 1985 में 92 लाख तथा एक अप्रैल 1992 को 230 लाख व्यक्ति बेरोजगारों की श्रेणी में थे। भारत में बेराजगार व्याक्तियों की वर्तमान अनुमानित संख्या लगभग 450 लाख है। यद्यपि, हम खाद्य वस्तुओं की आपूर्त्ति सुनिश्चित करने में सफल रहे हैं ताकि कोई भारतीय भूखा न मरे परन्तु अभी भी भारत की लगभग 40 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे रहती है तथा कुपोषण व अन्य रोगों और निरक्षरता की शिकार है।

हमारी अर्थव्यवस्था की इस चिंताजनक स्थिति के लिए तीव्र जनसंख्या वृद्धि आंशिक रूप से उत्तरदायी है। ऐसा अनुमान है कि मार्च 2016 तक भारत की जनसंख्या 126.4 करोड़ हो जाएगी तथा 2040 तक चीन की जनसंख्या को भी पीछे छोड़ सकती है। परिणामस्वरूप, जब तक कृषि व उद्योग दोनों की उत्पादन तकनीक में कोई क्रांतिकारी सुधार नहीं होगा तब तक शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण तथा रोजगार आदि की समस्याओं में गुणात्मक वृद्धि होती रहेगी।

29.7 संपोषित या स्थायी विकास के लिए तीव्र जनसंख्या वृद्धि द्वारा प्रस्तुत चुनौतियाँ

1992 की विश्व विकास रिपोर्ट के अनुसार "संपोषित विकास" वह विकास है जो अनन्त समय तक स्थायी होता है। इसके अनुसार, "संपोषित विकास वह प्रक्रिया है जिसमें आर्थिक, वित्तीय, व्यापार, ऊर्जा, उद्योग व कृषि सम्बन्धी नीतियाँ इस प्रकार निर्धारित की जाती हैं जिससे ऐसा विकास हो सके जो आर्थिक, सामाजिक व पर्यावरण की दृष्टि से संपोषण योग्य हो। अर्थात, वर्तमान उपभोग का खर्च ऐसे आर्थिक ऋणों द्वारा नहीं पूरा किया जा सकता जिनका भुगतान भविष्य में दूसरों को करना पड़े।" अतः कहा जा सकता है कि कोई विकास सम्भव नहीं है जब तक वह संपोषण योग्य नहीं है।

परम्परागत संसाधनों के अनियंत्रित उपभोग के बारे में दो बातें प्रासंगिक है: (1) कम विकसित देशों में औद्योगीकरण व आर्थिक विकास की वर्तमान गति, जहां जनसंख्या वृद्धि दर भी तीव्र है, पर्यावरण को बुरी तरह प्रभावित कर सकते हैं और, इसीलिए उनको आर्थिक विकास की गति कुछ धीमी कर देनी चाहिए। (2) विकसित देश तथा उनकी बहु राष्ट्रीय निगमें उपभोक्तावाद के ऊँचे स्तरों को प्रोत्साहित कर रही हैं, जो कि प्राकृतिक संसाधनों को प्रभावित कर रहे हैं। संपोषित विकास के हित में इस उपभोक्तावाद में भारी कटौती की जानी चाहिए।

विकास व पर्यावरण की सभी योजनाओं के केन्द्र में जनता है। जनसंख्या नियन्त्रण, सामाजिक-आर्थक विकास व सुदृढ़ पर्यावरण प्रबन्ध परस्पर सम्बन्धित हैं। संपोषित विकास के संपूरक पहलू है संसाधन संरक्षण, पर्यावरण की सुरक्षा व संपोषित विकास के लिए, अन्य बातों के साथ-साथ, धीमी जनसंख्या वृद्धि, संक्षिप्त कुल व्यय तथा देशों में और उनके मध्य जनसंख्या विभाजन संतुलित होना अत्यावश्यक है। जनसंख्या नियन्त्रण व पर्यावरण की सुरक्षा के अभाव में विकास के प्रयास असफल हो जायेंगें।

संपोषित विकास के प्रसंग में विचारणीय मुख्य सिद्धांत इस प्रकार हैं।

- जनसंख्या विकास को उस स्तर तक सीमित करना जहाँ जनसंख्या वृद्धि से नुकसान उससे प्राप्त लाभ के बराबर हो।
- संसाधनों की पर्याप्तता के साथ तकनीकी विकास की कार्यकुशलता विचारणीय है।
- नवीनीकरण संसाधनों जैसे वर्षा जल का दोहन संपोषण योग्य उत्पादन सीमा के अन्दर होना चाहिए। अपशिष्ट पदार्थों का उत्सर्जन पर्यावरण के पुर्ननवीकरण क्षमता से अधिक नहीं होने दिया जा सकता है। पुर्ननवीनीकरण योग्य दुर्लभ संसाधनों के प्रयोग को नए विकल्पों की रचना से अधिक होने की अनुमति नहीं दी जा सकती है।

भारतीय प्रसंग में हमें मालूम है की 1997 में 96 करोड़ से अधिक की देश की जनसंख्या कुल विश्व जनसंख्या का छठा भाग है, परंतु हमारे पास विश्व भूक्षेत्र का केवल चालीसवां भाग ही है। यह भी इंगित किया गया है कि 2016 में हमारी जनसंख्या 126 करोड़ होगी और 2040 तक वह चीन की जनसंख्या को पार कर जाएगी। जैसा कि आप जानते हैं हम खनिज तेल जैसे पदार्थों के मामले में मुख्यतः आयात पर निर्भर हैं, तथा समय समय पर गेहूँ व चीनी का भी आयात करते रहते हैं। हमने वनों को काट कर भूमि को कृषि कार्य में ले लिया है। बड़े पैमाने पर वनों की कटाई के कारण उपजाऊ ऊपरी मिट्टी का विनाश हो गया है। हमारे जल संसाधन भी अत्यन्त सीमित हैं। तथा नदी-जल उपयोग के बारे में अन्तर्राज्यीय विवाद होते रहे हैं जैसे कावेरी नदी के पानी को लेकर कनार्टक व तमिलनाडु के बीच में। राष्ट्र की भावी पीढ़ियों के लिए भी संसाधनों विशेषः पुनर्नवीनीकरण वाले संसाधनों को बचा कर रखने का कर्त्तव्य बनता है। हमें पर्यावरण के और अधिक विनाश से बचना तथा उसका उपयोग वर्तमान व भविष्य की पीढ़ियों के कल्याण के लिए करना चाहिए। कदाचित इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कदम निकट भविष्य में जन्म-दर को कम करना है, जिससे अगले 25-30 वर्षों में जनसंख्या वृद्धि दर लगभग शून्य हो जाए।

पाठान्त प्रश्न 29.5

---

1. जनसंख्या वृद्धि का रोज़गार की स्थिति पर क्या विशिष्ट प्रभाव पड़ता है?
2. संसाधनों के उपयोग के बारे में संपोषकता का निहित सिद्धांत कौन सा है?
3. संसाधन संरक्षण, पर्यावरण सुरक्षा तथा संपोषित विकास के लिए क्या आवश्यक है?
4. रिक्त स्थानों की पूर्ति करो।

   (अ) वह कोई _____ नहीं यदि वह संपोषण योग्य नहीं है।

   (ब) विकास व पर्यावरण योजनाओं के _____ में जनता होती है।

   (स) बढ़े पैमाने पर वनों की कटाई ने ऊपरी ऊपजाऊ मिट्टी का _____ किया है।

29.8 भारत में जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रम

1952 में प्रथम पंच-वर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के साथ परिवार नियोजन कार्यक्रम को आधिकारिक रूप से अपनाया गया। इस योजना का लक्ष्य उन कारणों का पता लगाना था जो देश में तीव्र जनसंख्या वृद्धि में सहायक हैं। परिवार नियोजन की समुचित तकनीकों का

विकास, उनके बारे में सूचना प्रदान करने की विधियों की खोज तथा सरकारी अस्पतालों व अन्य संगठनों द्वारा परिवार नियोजन सुविधाएं अन्य सुविधाओं के साथ एकीकृत करना भी प्रथम योजना के उद्देश्य थे।

सीमित अनुभव व ज्ञान तथा उपलब्ध संसाधनों के कारण प्रथम पंच-वर्षीय योजना की कार्य शैली निदानात्मक रही। यह कार्य शैली असफल रही क्योंकि ग्रामीण तथा शहरी लोग बच्चे पैदा करने जैसे व्यक्तिगत मामले में परामर्श लेने के लिए किसी अस्पताल अथवा क्लीनिक जाना लज्जा प्रद तथा वर्जित कर्म मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें प्रतिरोधात्मक उपायों का ज्ञान नहीं के बराबर था तथा बहुत कम व्यक्ति उनकी आवश्यकता अनुभव करते थे।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के लिए अधिक धन आबंटन में कर तथा ग्रामीण व शहरी क्षेत्रो में अधिक क्लीनिकों को खोलकर प्रोत्साहित किया गया। इसके साथ-साथ कार्य एवं अन्वेषण आधारित एक राष्ट्रीय कार्यक्रम इस योजना काल में प्रायोजित किया गया। जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं। (अ) निरोधात्मक उपायों को अपनाने के लिए शिक्षा का विस्तार, (ब) शहरी तथा ग्रामीण क्लीनिकों द्वारा परिवार नियोजन सेवा जिनमें बन्ध्याकरण सेवाओं की सुविधा भी हो (स) कर्मचारियों का प्रशिक्षण। (द) अनुसन्धान।

तीसरी पंचवर्षीय योजना को एक सघन विकास अवधि की प्रथम अवस्था माना जाता है जो कि 1961 से 1976 तक 15 वर्ष जारी रही। लूप (जिसे पारम्परिक विधियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली माना जाता है) को गर्भाधान टालने व बच्चों में अन्तर करने के लिए वैकल्पिक विधि के रूप में 1965 में परिवार नियोजन कार्यक्रम में शामिल किया गया। संसाधनों के भारी सवर्द्धन के अतिरिक्त परिवार को सीमित रखने के लिए अनेक विधियों का जनता के सामने प्रस्तुत किया गया जिनमें से किसी एक का चयन पसन्द के अनुसार किया जा सकता था।

चौथी पंच-वर्षीय योजना में इस कार्यक्रम को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई जिसमें समयबद्ध लक्ष्य उपलब्धि का प्राथमिकता प्रदान की गई। तीसरी योजना की भाँति परिवार नियोजन कार्यक्रम पर धन आवंटन काफी बढ़ा दिया गया। इस कालावधि में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हुई, जैसे:- आपूर्ति व सेवाओं की उपलब्धता के लिए आधारभूत संरचना का निर्माण, तथा परिवार नियोजन के बारे में जन शिक्षण कार्यक्रम का प्रचार व प्रसार। 1969 में एर्णाकुलम (केरल) में चलते-फिरते अस्पताल जैसी सुविधाओं के द्वारा अधिक संख्या में बन्ध्याकरण करने के लिए लगाए गए एक शिविर की आरम्भिक सफलता के कारण बन्ध्याकरण लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इस शिविर पर आधारित शैली पर अत्याधिक बल दिया गया। बन्ध्याकरण मामलों में स्वीकृताओं, प्रेरकों व चिकित्सकों के लिए आर्थिक प्रोत्साहन भी प्रस्तुत किए गए। इस कार्यक्रम में मातृत्व व शिशु स्वास्थ्य रक्षा की आवश्यक बातों को शामिल करके स्वास्थ्य तथा परिवार नियोजन के बीच अत्यधिक समन्वय स्थापित

किया गया। इस योजना की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि 'गर्भाधान की चिकित्सकीय समाप्ति (M.T.P.) कानून' को पारित करना था। इस कानून के अन्तर्गत, कुछ विशेष परिस्थितियों में भ्रूण के गर्भपात की अनुमति दे दी गई।

पाँचवी पंचवर्षीय योजना काल में कई घटनाएं देश में हुई। गरीबों की जीवन शैली में सुधार के उद्देश्य से सरकार ने "न्यूनतम आवश्यकताएँ कार्यक्रम" लागू करने का निर्णय किया, जिसके मुख्य अंग स्वास्थ्य व परिवार नियोजन थे। केन्द्र सरकार के स्वास्थ्य और परिवार नियोजन मन्त्री ने 16 अप्रैल, 1976 को एक व्यापक राष्ट्रीय जनसंख्या नीति संसद में प्रस्तुत की। आर्थिक स्वतंत्रता व सामाजिक बदलाव के भारतीय आंदोलन में जनन क्षमता नियन्त्रण की निर्णायक भूमिका पर बल देने के साथ-साथ इस नीति में कहा गया कि --सरकार ने मौलिक उपायों की एक श्रृखंला का निर्णय लिया है..... जिससे, आशा की जाती है कि हम पांचवी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में अनुमानित 35 प्रति हजार की जन्म दर को छठी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक 25 प्रति हजार तक घटाने के नियोजित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होंगें" इन उपायों में; राज्यों की परिवार नियोजन योजनाओं के लिए केन्द्रीय सहायता का 8 प्रतिशत भाग सुरक्षित रखना, केन्द्रीय व राज्य विधान पालिकाओं में अगले 25 वर्षों के लिए प्रतिनिधित्व को न बढ़ाना, विवाह की आयु लड़कों के लिए 21 व लड़कियों के लिए 18 वर्ष निर्धारित करना, बन्ध्याकरण के स्वीकृताओं को वेतन हानि के लिए क्षति-पूर्ति के रूप में बढ़ी हुई आर्थिक प्रोत्साहन राशि प्रदान करना, माध्यमिक स्तर तक बालिका शिक्षा को उच्च प्राथमिकता देना तथा शिशु पोषण शामिल थे।

इस अवधि में देश में संकटकालीन परिस्थिति लागू थी। अतः उपरोक्त नीति के क्रियान्वयन में बल प्रयोग व ज़ोर-जबरदस्ती को लगभग सभी राज्यों ने अपनाया। देश ऐसे कठोर व्यवहार के लिए तैयार नहीं था, तथा इसके फलस्वरूप मार्च 1977 में केन्द्र में तथा बाद में जुलाई 1977 में अनेक राज्यों में राजनैतिक सत्ता में परिवर्तन हो गया। नई केन्द्र सरकार ने भी जनसंख्या वृद्धि को नियन्त्रित करने की आवश्यकता पर बल दिया जुलाई 1977 में उसने दूसरा जनसंख्या नीति से सम्बन्धित बयान जारी किया जिसमें परिवार नियोजन को सम्पूर्ण कल्याण कार्यक्रम का एक अभिन्न अंग बना दिया, परन्तु स्वैच्छिक स्वीकृति पर अधिक बल दिया।

1979 में, योजना आयोग ने "जनसंख्या नीति पर एक कार्यकारी समिति" को नियुक्त किया। इस समिति ने "दीर्घकालीन जनसांख्यिकीय लक्ष्य" की नीति को लागू करने की सिफारिश की। जिसमें "निवल पुनरूत्पादन दर" (NRR) वर्तमान दर 1:67 के अनुपात में 1996 तक सम्पूर्ण देश के लिए घटा कर एक रखी गई तथा 2001 तक सब राज्यों के लिए भी एक ही का लक्ष्य था। इस दीर्घावधि जनसांख्यिकीय लक्ष्य का अभिप्राय यह था:-

1. परिवार में बच्चों की संख्या 4.3 शिशुओं से घटा कर 2.3 शिशु कर दिया जाएगा;

2. प्रति एक हजार जनसंख्या पर जन्मदर 1978 में 33 के स्तर से घटा कर 21 की जाएगी;

3. प्रति एक हजार पर मृत्यु-दर को 1978 में 14 से घटा कर नौ किया जाए;

4. 1979-80 में योग्य दम्पतियों में से 22 प्रतिशत को परिवार नियोजन सुरक्षा प्राप्त थी, अब 60 प्रतिशत को यह सुरक्षा मिलेगी।

5. शताब्दी के अन्त तक भारत की जनसंख्या 90 करोड़ के आसपास होगी तथा सन् 2050 तक 120 करोड़ के स्तर पर स्थिर हो जाएगी।

सन 2001 तक निवल पुनर्उत्पत्ति दर 1 प्राप्त करने का अर्थ राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों अथवा जनता ने ठीक से नहीं समझा। 1991 की जनगणना के परिणामों व अन्य सम्बन्धित आंकड़ो से पता चलता है कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए उपरोक्त निर्दिष्ट लक्ष्यों को सन् 2000 तक प्राप्त नहीं किया जा सकता, केवल सम्भवतया, मृत्यु-दर 9 व शिशु मृत्यु-दर 60 से कम को छोड़ कर। सरकार की स्वास्थ्य नीति में इन दो बाद के लक्ष्यों की प्राप्ति को सुनिश्चित किया गया है। परंतु यह निश्चित है कि सन् 2001 तक भारत की जनसंख्या 100 करोड़ के आंकड़े को पार कर जाएगी। यदि अगली एक चौथाई शताब्दी में इसकी वृद्धि दर में समुचित कमी होती है जिसके फलस्वरूप जनसांख्यिकीय परिवर्तन की कम जन्म-दर व कम मृत्यु-दर वाली स्थिति आती है तो सन् 2075 के आसपास यह 180 करोड़ पर स्थिर हो सकती है।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में संचार माध्यमों द्वारा प्रचार, व्यक्तिगत संवाद (सीधे बातचीत) तथा जनता में परिवार नियोजन का संदेश प्रचारित करने के तरीकों व साधनों का प्रावधान किया गया। इसकी दूसरी चिंता केन्द्र, राज्य, जिले, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र व उपकेन्द्र के स्तरों पर अधिक प्रभावशाली समन्वय के बारे में थी। योजना प्रपत्र में इन बातों पर विशेष बल दिया गया: (1) कार्यक्रम की आधार भूत संरचना की कार्यकुशलता व प्रभावोत्पादकता को सुधारने के उपाय एवं साधन; (2) प्रत्येक राज्य को कार्यक्रम के बारे में और अधिक स्वायत्तता दी जाए; (3) दम्पति की स्वास्थ्य रक्षा को ध्यान में रखते हुए (दम्पति दर) विशेषत: युवा आयु वर्ग को, बच्चों के जन्मों में अन्तर रखने के उपायों पर अधिक बल दिया जाए; (4) लड़कियों के प्रति पक्षपात को समाप्त करने के लिए विशेष जानकारी, शिक्षा व संवाद प्रदान करने के अभियानों का आयोजन हो। (5) विवाह की न्यूनतम आयु से सम्बन्धित कानून के प्रचार व प्रवर्तन के प्रयास हों। (6) कम दम्पति सुरक्षा दर (CPR) वाले राज्यों पर और अधिक ध्यान दिया जाए; तथा (7) महानगरों में और ऊँची दम्पति सुरक्षा दर (CPR) प्राप्त करने के लिए विशेष कार्यक्रम आयोजित किए जाए।

पिछली योजनाओं की भाँति, जनसंख्या वृद्धि को सीमित करना, आठवीं पंचवर्षीय योजना का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था। 1990 में प्रति 1000 पर जन्म-दर 29.9 को घटा

कर 1997 में प्रति हजार 26 करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया; तथा बाल मृत्यु-दर को प्रति 1000 जीवित बच्चों में से 1990 में 80 के स्थान पर 1997 तक 70 करने का लक्ष्य था। इस योजना में 2011-2016 तक 'निवल पुर्नउत्पादन दर' (*NRR*) को प्राप्त करने प्राप्त करने की अभिकल्पना की गई।

योजना प्रपत्र में संसद द्वारा ''राष्ट्रीय जनसंख्या नीति'' की घोषणा किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। जैसा कि पिछली योजनाओं में प्रसारित किया गया है, इस योजना में भी सामाजिक कारकों पर बल दिया गया, जैसे महिला साक्षरता में वृद्धि, लड़कियों की विवाह की आयु को ऊँचा करना, महिलाओं के लिए रोज़गार अवसरों की प्रचुरता तथा समाज में उनके स्तर को ऊँचा उठाना। इसमें विकेन्द्रीकृत तथा क्षेत्र विशिष्ट शैली, प्रोत्साहन व इनाम के सम्पूर्ण कार्यक्रम की पुनर्रचना, चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों के चिकित्सकों की सेवाओं का उपयोग, सार्वजनिक संगठनों के योगदान तथा गर्भनिरोधक उपायों के अनुसंधान एवम् विकास, आदि पर बल दिया गया है।

केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय जनसंख्या नीति प्रपत्र को तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त की। समिति ने अपना प्रतिवेदन 22 मई, 1964 को स्वास्थ्य एवम् परिवार कल्याण मंत्री को प्रस्तुत किया। अन्य बातों के अतिरिक्त समिति ने, पर्यावरणीय स्थायित्व; आर्थिक पुनर्रचना व सामाजिक समता पर आधारित नीतिगत प्रारूप के नियोजन एवम् कार्यान्वयन के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक जनसंख्या व सामाजिक विकास आयोग को नियुक्त करने की अनुशंसा की।

पाठगत प्रश्न 29.6

1. भारत की प्रथम व्यापक राष्ट्रीय जनसंख्या नीति संसद में कब प्रस्तुत की गई?
2. भारत में आधिकारिक रूप से परिवार नियोजन कार्यक्रम कब अपनाया गया?
3. भारत में परिवार नियोजन कार्यक्रम में लूप को कब प्रचारित किया गया?
4. प्रथम सार्वजनिक बन्ध्याकरण शिविर कहाँ लगाया गया था?

29.9 जनसंख्या वृद्धि पर परिवार नियोजन कार्यक्रम का प्रभाव

यह ध्यान देने योग्य है कि जनसंख्या वृद्धि दरों पर परिवार नियोजन कार्यक्रम ने नकारात्मक व सकारात्मक दोनों प्रकार से प्रभाव डाला है। सकारात्मक तरीके में हमें जन्म दरों में कमी के द्वारा जनसंख्या वृद्धि दर में कमी होना दिखाई देता है। इसके विपरीत नकारात्मक पक्ष

तब सामने आता है जब परिवार नियोजन कार्यक्रम में किये गये आर्थिक व अन्य प्रयास प्राप्त परिणामों के आधार पर मापे जाते हैं।

तालिका 29.1 में दर्शाया गया है कि देश में 1961-71 के दशक तक जनसंख्या वृद्धि दर बढ़ी, परन्तु 1971-81 के दशक में इसी स्तर पर स्थिर रही। 1981-91 के दशक में वृद्धि दर कम तो हुई, परन्तु बहुत कम नहीं हुई। 1961-71 तक वृद्धि दर में बढ़ोतरी का कारण मृत्यु दरों में कमी का होना था, न कि जन्म दरों का बढ़ना। नियोजित विकास के प्रारम्भिक वर्षों में यदि परिवार नियोजन कार्यक्रम नहीं होता तो लोगों की स्वास्थ्य स्थिति में सुधार के कारण जन्मदरों में निश्चित वृद्धि हो सकती थी। जैसा तालिका 29.4 में दिखाया गया है, एक ओर तो परिवार नियोजन कार्यक्रम के कारण जन्म दरों में स्पष्ट रूप से कमी हुई है; तथा दूसरी ओर, लड़कियों की साक्षरता व शिक्षा के स्तरों में सुधार, महिलाओं की सरकारी नौकरियों पर नियुक्ति तथा उनकी स्थिति में सुधार भी उल्लेखनीय है। 1971 व 1994 के बीच जन्म दरों में 13.4 अंकों की कमी हुई है।

परन्तु, गत 40 वर्षों के अवलोकन से पता चलता है कि सरकार, जनसंख्या वृद्धि दर को वांछित स्तरों तक कम करने में सफल नहीं हो पाई है, जबकि समय-समय पर परिवार कल्याण विभाग "टाले गए जन्मों" के आधार पर दावा करता है कि जन्म-दर में जो भी कमी हुई है, वह सब परिवार कल्याण कार्यक्रम की सफलता के कारण है। परन्तु सरकारी दस्तावेज़ इस कार्यक्रम की सीमित सफलता की ओर ही इशारा करते हैं - चाहे इसे विफलता न माना जाए। इसके अतिरिक्त, सब प्रयासों के बावजूद भी परिवार नियोजन कार्यक्रम मूलतः एक अधिकारिक सरकार नियोजित कार्यक्रम ही बना हुआ है तथा जनता का अपना कार्यक्रम नहीं। योजना आयोग ने आठवीं पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा तैयार करते हुए स्वीकार किया कि "बजट सम्बन्धी सहायता तथा आधार भूत संरचना के विकास के रूप में अत्यधिक प्रयासों के बावजूद परिवार कल्याण कार्यक्रम का निष्पादन निवेश के अनुरूप नहीं हो पाया है। प्रारम्भ से ही निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति असन्तोषजनक रही है, जिसके फलस्वरूप, लक्ष्यों को पुर्ननिर्धारित किया गया है।"

इसके अतिरिक्त, परिवार कल्याण कार्यक्रम मूलतः स्वास्थ्य व परिवार कल्याण मंत्रालय का कार्यक्रम बन कर ही रह गया है। इसे एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय अभियान के रूप में स्वीकृति नहीं मिल पाई है जो हमारी आर्थिक विकास नीति का एक महत्त्वपूर्ण भाग बन कर प्राथमिकता तथा सशक्त राजनैतिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक प्रतिबद्धता प्राप्त कर सके।

परिवार कल्याण कार्यक्रम केन्द्रीकृत नियोजन तथा शीर्ष स्तरों पर लक्ष्य निर्धारण के कारण भी पिछड़ गया है। क्षेत्रीय विभिन्नताओं व विविधताओं का प्रायः कोई ध्यान नहीं रखा गया है। परिणामस्वरूप एक ही प्रकार की नीतियाँ, शैलियां व लक्ष्यों को उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार तथा राजस्थान जैसे राज्यों में लागू किया गया है - जहाँ स्वास्थ्य सेवाओं का ढाचाँ

कमजोर है व सम्बन्धित सामाजिक निवेशों का भी अभाव है। इसी प्रकार, हरियाणा व आन्ध्रप्रदेश जैसे राज्यों में इस कार्यक्रम की विफलता अन्य कारणों से हुई, संरचना के विकास के कारण नहीं।

'जनसंख्या वृद्धि को सीमित' करने के प्रयासों की आलोचना बुद्धि जीवियों, उद्योग पतियों, राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों व विदेशी संगठनों ने भी की है। स्व. श्री जे. आर. डी. टाटा, प्रसिद्ध उद्योगपति, गत चार दशकों के दौरान एक प्रभावशाली जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रम तथा व्यक्तिगत नि:शुल्क प्रयासों के लिए अभियान चलाते रहे। वह भारत सरकार की कार्यशैली से कभी सन्तुष्ट नहीं हुए।

29.10 भविष्य की नीति एवं परिप्रेक्ष्य

नई जनसंख्या नीति के बारे में स्वामीनाथन समिति ने एक वास्तविक तथा कारगर नीति जनसंख्या वृद्धि दर को सीमित करने के लिए प्रस्तुत की है।

यदि देश में जनसंख्या वृद्धि (विशेषत: हिंदीभाषी राज्यों में) को रोकना है तो केन्द्र व राज्य सरकारों को एक साथ कई नीतिगत उपायों को लागू करना होगा, जो कि निम्नलिखित हैं:-

(1) अनेक राज्य सरकारों को यह मनोवृत्ति त्याग देनी चाहिए कि परिवार नियोजन कार्यक्रम केवल केन्द्र की ही जिम्मेदारी है। वास्तव में, केन्द्र को चाहिए कि वह राज्यों को, इस कार्यक्रम को योजनागत तथा गैर योजना दोनों क्रियाओं का भाग बनाने को बाध्य करे।

(2) क्योंकि महिलायें इस कार्यक्रम की सफलता के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं, अत: उनके साक्षरता स्तरों को, विशेषत: ग्रामीण क्षेत्रों में, तेजी से सुधारना आवश्यक है। अनुसूचित जाति, जनजाति तथा अन्य दुर्बल वर्गों की महिलाओं के लिए भी ऐसा करना और अधिक आवश्यक है।

(3) विभिन्न प्रकार के वर्गों के लिए प्रशिक्षण आवश्यकताओं, जो कि अच्छी शिक्षा सूचना व संवाद का एक अभिन्न अंग है तथा प्रोत्साहन नीति का आयोजन भी अति आवश्यक है। प्रशिक्षण संस्थाओं को सशक्त किया जाना चाहिए तथा सभी स्तरों के कर्मचारियों को अनवरत शिक्षा, विशेषत: पुर्ननवीकरण पाठ्यक्रमों की, प्रदान करने की आवश्यकता है।

(4) स्कूली शिक्षकों को जनसंख्या शिक्षा के मूल तत्त्वों से अवगत कराने के लिए एक अनवरत कार्यक्रम विकसित किया जाना चाहिए।

(5) उन महिला विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में, जहाँ 50 अथवा अधिक अध्यापक

कार्यरत हों और/अथवा 1000 अथवा अधिक छात्र हो, वहाँ पारिवारिक स्वास्थ्य शिक्षा केन्द्रों को विकसित करने की भी अति आवश्यकता है।

निकट भविष्य में बढ़ती जनसंख्या के आकार को सीमित करने के लिए कुछ ठोस कदम, न केवल सरकारों द्वारा केन्द्र, राज्य, जिले व स्थानीय स्तरों पर उठाने होंगें; बल्कि उद्योग तथा श्रमिक संघ के संगठनों को भी इस बारे में आगे बढ़ना होगा।

आपने क्या सीखा

इस पाठ के अन्तर्गत आपने पढ़ा की भारत विश्व का दूसरा सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश है। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में, भारत की जनसंख्या 10 से 12.5 करोड़ के बीच थी जबकि संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1996 में की गई विश्व जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 95.3 करोड़ तक पहुँच गई है। भारत में भी जनसंख्या नियंत्रण की आवश्यकता पर विशेष ध्यान दिया गया है।

इस पाठ में आपने जनसांख्यिकीय परिवर्तन के बारे में भी पढ़ा है, जिसका अर्थ है उच्च मृत्यु-दर व जन्म-दर के स्तर से निम्न मृत्यु-दर व जन्म-दर के स्तर पर परिवर्तन। भारत में जनसांख्यिकीय परिवर्तन के इतिहास को देखते हुए, यह आशा की जा सकती है कि अगले कुछ दशकों में मृत्यु-दर की अपेक्षा जन्म-दर में तीव्र गति से कमी होगी। जनसांख्यिकीय परिवर्तन के मामले में केरल व तमिलनाडु में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। 1952 में प्रथम पंच-वर्षीय योजना के साथ ही परिवार नियोजन कार्यक्रम को आधिकारिक रूप से अपनाया गया। जनसंख्या वृद्धि दरों पर परिवार नियोजन कार्यक्रम ने नकारात्मक व सकारात्मक दोनों प्रकार से प्रभाव डाला है। जनसंख्या नीति के बारे में स्वामीनाथन समिति ने एक वास्तविक तथा कारगर नीति, जनसंख्या वृद्धि दर को सीमित करने के लिए प्रस्तुत की है। भविष्य में बढ़ती जनसंख्या को सीमित करने के लिए न केवल सरकारों द्वारा बल्कि उद्योग तथा श्रमिक संघ के संगठनों को भी इस बारे में आगे बढ़ना होगा।

पाठान्त प्रश्न

1. 1971-81 के दशक में अत्यधिक शहरी वृद्धि दर के लिए उत्तरदायी कारणों का उल्लेख कीजिए।
2. जनसांख्यिकीय परिवर्तन की विभिन्न स्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय परिस्थिति का वर्णन कीजिए।
3. संपोषण योग्य विकास के प्रसंग में, विश्व के समक्ष कौन से दो प्रमुख मुद्दे हैं?
4. संपोषण योग्य विकास के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
5. जनसंख्या वृद्धि के दुष्प्रभावों का परीक्षण कीजिए।
6. परिवार नियोजन कार्यक्रम के बारे में तीसरी पंच-वर्षीय योजना, प्रथम दो योजनाओं से किस प्रकार भिन्न थी?
7. परिवार नियोजन कार्यक्रम की सफलता पर टिप्पणी लिखिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

29.1 1. भारत

2. 10 से 12.5 करोड;

3. 23.8 करोड़

4. अ) छठा

ब) संसाधनों

स) विस्तारित

29.2 1. क्योंकि इसने धीमी जनसंख्या के वृद्धि के काल को उतर-चढ़ाव वाली वृद्धि के काल से अलग किया।

2. 16.3 करोड़

3. अ) ढाई

ब) आस्ट्रेलिया अथवा श्रीलंका

स) 23.84; 84.63

4. अ) 16.44 प्रतिशत

ब) 10.23 प्रतिशत

स) 7.84 प्रतिशत

2.9.3 1. 1971-81

2. 400 व्यक्ति प्रति वर्ग कि.मी.

3. 65.2 प्रतिशत

4. अ) वाचाल

ब) नया

स) तीन-चौथाई

29.4 1. प्राकृतिक वृद्धि दर

2. तीसरी

3. चौथी

29.5 1. बढ़ती हुई बेरोजगारी तथा अल्परोजगारी।

2. संपोषित उत्पादन आधार

3. धीमी जनसंख्या वृद्धि

4) अ) विकास

ब) केन्द्र

स) प्रोत्साहित

य) विनाश

29.6 1. 1976

2. 1952

3. 1965

4. एर्णाकुलम (केरल)

पाठान्त अभ्यास के संकेत

1. कृपया अनुभाग 29.4 देखें।
2. कृपया अनुभाग 29.5 देखें।
3. कृपया अनुभाग 29.7 देखें।
4. कृपया अनुभाग 29.7 देखें।
5. कृपया अनुभाग 29.1 और 29.7 देखें।
6. कृपया अनुभाग 29.8 देखें।
7. कृपया अनुभाग 29.9 देखें।

30

भारत में आर्थिक उदारीकरण की नीति

30.1 भूमिका

वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन जैसी आर्थिक क्रियाओं का निष्पादन, पुरातन काल से ही निजी संस्थाओं, व्यक्तियों तथा राज्य के द्वारा किया जाता रहा है। उनकी सहभागिता की प्रकृति तथा क्षेत्र समाज के आर्थिक विकास के स्तर, अर्थव्यवस्था की संरचना तथा समकालीन विचारों पर निर्भर करते हैं। आमतौर पर, अति विकसित अर्थव्यवस्थाओं में, समाज के आर्थिक विकास के स्तर, अर्थव्यवस्था की सरंचना तथा समकालीन विचारों पर निर्भर करते हैं। समाज के आर्थिक मामलों के प्रबन्धन में राज्य की भूमिका गौण होती है। उपभोक्ताओं व उत्पादकों में समन्वय स्थापित करने का कार्य मूल्य प्रणाली अथवा विपणन तंत्र द्वारा किया जाता है, न कि राज्य की नौकरशाही के द्वारा। जिस समाज में जनता के आर्थिक क्रियाकलापों के बारे में राज्य की भूमिका अपेक्षाकृत न्यूनतम होती है उसको सामान्यतया उदार कहा जाता है। राज्य की अधिकाधिक उपस्थिति जिन समाजों के आर्थिक क्रियाकलापों में होती है, उसे समाजवादी प्रणाली कहते हैं।

30.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- आर्थिक उदारीकरण का अर्थ जान सकेंगे,
- भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाने की भावना को परख सकेंगे,
- भारत में विकासवादी आयोजन की नीति का परीक्षण कर सकेंगे,
- नियोजित आर्थिक विकास की उपलब्धियों की व्याख्या कर सकेंगे,
- नियोजित आर्थिक विकास की त्रुटियों को पहचान सकेंगे,
- 1991 के बाद की आर्थिक उदारीकरण की नीति की विशेषताओं को परख सकेंगे।

30.3 आर्थिक उदारीकरण से अभिप्राय

आर्थिक उदारीकरण के अनेक अर्थ हैं। विस्तृत रूप में वह, राज्य के, आर्थिक क्रियाकलापों से पूर्ण निष्कासन, का पक्षधर है, परंतु सीमित अर्थ में भी उदारवाद का प्रयोग हुआ है – अर्थात सरकार बाजार तंत्र की शक्तियों के पक्ष में सभी प्रत्यक्ष प्रतिबंधों को उठा ले। निम्नलिखित उदाहरणों से यह विचार स्पष्ट हो जाएगा।

(क) विदेशी आयात को परिमाण आधारित कोटा निर्धारित करके अथवा ऊंचा आयात शुल्क वसूल करके, प्रतिबंधित किया जा सकता है। पहली विधि मूल्य तंत्र के विपरीत काम करती है जबकि दूसरी मूल्य प्रणाली को प्रभावित करने का प्रयास करती है। इस प्रकार कोटा से शुल्क की ओर सरकारी नीति में बदलाव को आर्थिक उदारीकरण का पैमाना कहा जा सकता है।

(ख) किसी विशेष उद्योग में निवेश को हतोत्साहित करने के लिए सरकार लाइसेंस जारी करने, अथवा उद्योग से होने वाले लाभ पर ऊंचे कर लगाने की प्रणाली को अपना सकती है। दूसरी प्रणाली को अपनाने वाली अर्थव्यवस्था उदारवादी समझी जाएगी। भारत में आर्थिक क्रियाओं में राज्य के हस्तक्षेप की प्रकृति व क्षेत्र को बदलने के उद्देश्य से पहले भी समय-समय पर आर्थिक उदारीकरण के प्रयास किए गए हैं। 1990 के बाद के आरंभिक वर्षों का प्रयास दूरगामी परिणामों वाला व अडिग सिद्ध हुआ है। इस पाठ में हम इसी प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेंगे जो कि वर्तमान में सरकार द्वारा अपनाई जा रही है। परंतु इससे पहले हमें उस प्रणाली तथा उसकी उपलब्धियों व त्रुटियों को समझना होगा जो कि पहले से ही मौजूद थी।

30.4 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रणाली

पचास वर्ष पहले औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता पाने के बाद आर्थिक वृद्धि को बढ़ाने के लिए भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया। इस प्रणाली के अंतर्गत सामाजिक न्याय के साथ-साथ तीव्र आर्थिक वृद्धि को सुनिश्चित करने के लिए बाजार तंत्र व राज्य दोनों की उपयुक्त भूमिकाएं निर्धारित होती हैं। तीव्र आर्थिक विकास के मार्ग पर चलने से पहले भारत को पश्चिमी यूरोप व अमरीका के पूंजी आधारित विकास के अनुभवों तथा पूर्वी यूरोपीय देशों व सोवियत संघ के समाजवादी मार्ग के लाभों की जानकारी थी। प्रथम श्रेणी के देशों में बाजार प्रवृत्तियों द्वारा आर्थिक विकास सम्पन्न होता है। जबकि दूसरे समूह के देशों में राज्य की प्रधानता होती है। पश्चिम के पूंजीवादी संसार के अनुभवों को देखकर भारतीय नीति-निर्माता यह जान गए हैं कि पूर्णत: बाजार प्रवृतियों पर आधारित विकास भारत की विशिष्ट आर्थिक पृष्ठभूमि के प्रतिकूल सिद्ध होगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के

समय देश आर्थिक रूप से पिछड़ा था। औद्योगीकरण का स्तर निम्न था। कृषि क्षेत्र कम उत्पादन दर तथा पुरातन हो चुकी जमींदारी व काश्तकारी प्रथा का शिकार था। बचत व निवेश का स्तर नीचा होने के साथ-साथ निर्धनता सर्वत्र व्याप्त थी। देश की तत्कालीन आवश्यकता तीव्र आर्थिक विकास थी। जिससे अधिकांश जनता लाभान्वित हो सके। परंतु, स्वतंत्रता के समय की परिस्थितियों को देखते हुए आयोजकों का मत था कि पूरी तरह बाजार निर्देशित विकास से न तो तीव्र वृद्धि दर और न ही आर्थिक समानता प्राप्त हो सकती है।

तीव्र आर्थिक विकास के लिए सुविकसित आधारभूत सरंचना का होना आवश्यक है, जिसे एक अविकसित देश का निजी क्षेत्र पूरा करने में असमर्थ होता है। क्योंकि, यातायात व संचार जैसे आधारभूत उद्योगों में अत्यधिक पूंजी निवेश की आवश्यकता होती है, जबकि इनमें लाभ लंबे समय के बाद अपेक्षाकृत कम मात्रा में मिलता है। इसके अतिरिक्त कम विकसित देशों में छोटा व कमजोर निजी क्षेत्र ऐसे बड़े पैमाने के उद्योगों को हाथ में लेने में रुचि नहीं लेता है। दूसरा कारण यह है कि पूंजीवादी प्रणाली में कार्य कुशलता व उत्पादकता के नाम पर श्रम व कल्याण के प्रति व्यय में मितव्ययिता अपनाने की प्रवृत्ति होती है। यह प्रणाली आर्थिक व सामाजिक विषमता को जन्म देती है तथा जनप्रिय नहीं हो पाती है। इसी कारण एक विशुद्ध बाजार निर्देशित आर्थिक प्रणाली भारत के राजनैतिक नेताओं को अस्वीकार्य थी।

तीसरा कारण है कि अर्थव्यवस्था के ऊपर दीर्घकालिक कुप्रभावों जैसे पर्यावरण विनाश तथा सीमित प्राकृतिक संसाधनों का अति दोहन के प्रति भी निजी क्षेत्र प्रायः उदासीन होते हैं। अतः राज्य के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह कर प्रणाली, अनुदान तथा कुछ प्रक्रियाओं पर प्रतिबंध लगाकर निजी क्षेत्र को नियंत्रित करे।

भारत जैसी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में उचित संस्थाओं के निर्माण तथा तीव्र विकास के लिए संसाधन जुटाने के लिए केवल राज्य को ही सक्षम माना गया। 1930 व 1940 के दशकों में पूर्वी यूरोप तथा रूस की केंद्रीय नियोजित अर्थव्यवस्थाओं की विशिष्ट उपलब्धियों को देखते हुए हमारे नीति निर्माताओं ने नियोजित आर्थिक विकास को ही उचित माना। इन्हीं कारणों से भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाई गई। भारतीय अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में मिश्रित अर्थव्यवस्था के तीन आयाम हैं।

(क) कृषि क्षेत्र के विकास का कार्य देश के करोड़ों किसानों के हाथों में सौंपा गया, राज्य ने उनको तकनीकी व आर्थिक सहायता प्रदान करने का कार्य अपने जिम्मे लिया। इसके अतिरिक्त, कृषि क्षेत्र में तीव्र वृद्धि दर प्राप्त करने के लिए राज्य ने समुचित संस्थागत ढांचा (जैसे जोत सुधार, लाभप्रद मूल्य नीति तथा देश व्यापी विपणन तंत्र) निर्मित करने का प्रयास किया।

(ख) देश के औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए राज्य ने अपने लिए सीधी अहम् भूमिका अपनाने का निर्णय लिया। अर्थव्यवस्था के शीर्षस्थ स्तरों पर नियंत्रण करने का प्रयास करते हुए राज्य में 'सार्वजनिक क्षेत्र' की स्थापना की, जिसमें अति महत्त्वपूर्ण उद्योगों का समावेश था। इसके साथ-साथ, उसने औद्योगिक लाइसैंसों, आयात लाइसैंसों, असमान कराधान तथा अनुदानों जैसे तरीके अपना कर उद्योगों में लगी निजी पूंजी को भी नियंत्रित करने का प्रयास किया।

(ग) राज्य ने आयकर, कृषिभूमि हदबंदी तथा एकाधिकार व प्रतिबंधित व्यापारिक गतिविधियों संबंधी कानून (MRTP) जैसे तरीकों से जनता में आय व धन के पुनर्वितरण के द्वारा एक समतावादी समाज की स्थापना का भी प्रयास किया।

आगे के पृष्ठों में हम उन नीतियों का अवलोकन करेंगे जो अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों जैसे, कृषि उद्योग, विदेशी व्यापार तथा निवेश का विकास करने के लिए राज्य द्वारा लागू की गईं।

पाठगत प्रश्न 30.1

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(1) एक अति विकसित अर्थव्यवस्था में, आर्थिक क्रियाकलापों के प्रबंधन में राज्य का हस्तक्षेप _____ होता है। (कम/अधिक)

(2) समाज के आर्थिक संगठन में राज्य की अत्यधिक उपस्थिति को एक _____ प्रणाली कहा जाता है। (उदारवादी/समग्र)

(3) आर्थिक उदारीकरण सरकार द्वारा _____ के स्थान पर _____ को लागू करना है जो कि बाजार प्रवृत्तियों के साथ-साथ कार्य करता है। (प्रत्यक्ष प्रतिबंधों/नियंत्रणकारी तंत्र)

(4) निजी आर्थिक निर्णय प्राय: अर्थव्यवस्था पर पर्यावरण आदि के बारे में होने वाले दुष्प्रभावों के प्रति बेखबर होते हैं। (सत्य/असत्य)

30.5 कृषि क्षेत्र की विकास योजना

1947 में भारतीय उप महाद्वीप के विभाजन के फलस्वरूप हमारी अर्थव्यवस्था बुरी तरह अस्त व्यस्त हो गई। कृषि आधारित उद्योगों जैसे पटसन व कपास, के लिए कच्चे माल की कमी हो गई। क्योंकि इनके उत्पादन क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए। इसलिए, प्रथम पंच

वर्षीय योजना (1950-55) में मुख्यतया इन असंतुलनों को दूर करने पर बल दिया गया। सौभाग्यवश, कृषि उत्पादन में अनुकूल वृद्धि हुई, जिससे देश मांग और पूर्ति के अंतर को समाप्त करने में सक्षम रहा।

प्रथम पंच वर्षीय योजना की समाप्ति से पहले कृषि क्षेत्र के विकास की एक दीर्घकालीन योजना उभर कर सामने आई। अपनाई गई विभिन्न युक्तियों के आधार पर भारतीय कृषि दो विभिन्न कालखंडों से गुजरती हुई दिखाई दी।

(क) 1950 से 1965 तथा

(ख) 1966 से आगे।

प्रथम कालावधि में जुलाई के पारंपरिक तरीकों में सुधारों के द्वारा कृषि उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया गया।। परंतु यह विधि अधिक कारगर सिद्ध नहीं हुई। कृषि उत्पादन में वृद्धि का मुख्य स्रोत जोत के क्षेत्र में बढ़ोत्तरी करना था। कृषि कार्यों की उत्पादकता में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ।

इसके परिणामस्वरूप कृषि से बाजार में जाने वाले अतिरिक्त उत्पादन की वृद्धि दर तेजी से फैलते हुए शहरी क्षेत्रों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में असफल रही। कृषि-मूल्य बढ़ रहे थे तथा साठ के दशक के मध्य में मुद्रास्फीति के कारण सरकार के औद्योगीकरण के प्रयासों को धक्का लगा।

इस स्थिति से निपटने के लिए तुरंत प्रभावी उपायों की आवश्यकता थी। सरकार ने विकास की एक नई युक्ति प्रस्तुत की जो कि कृषि उत्पादकता में वृद्धि के लिए, मूलतः तकनीकी उपायों पर आधारित थी। इस नए तकनीकी कार्यक्रम में अधिक उपज देने वाले बीजों, कीटनाशकों तथा उर्वरकों का प्रयोग शामिल था। सरकार ने इनके मूल्यों में अत्यधिक छूट प्रदान की। उसने सिंचाई सुविधाओं के विकास पर भी समुचित ध्यान दिया, क्योंकि नई कृषि विधियों की सफलता पानी की नियंत्रित उपलब्धता पर आधारित थी। इस नई विधि ने 'हरित क्रांति' को जन्म दिया, जिसके कारण भारत न केवल खाद्यान्न उत्पादन में निर्भर हो गया बल्कि वह गेहूं तथा चावल जैसे कृषि उत्पादों की भारी मात्रा का निर्यात करने में भी सक्षम हो गया। परन्तु यह तथाकथित 'हरित क्रांति' केवल कुछ ही फसलों व चुनिंदा क्षेत्रों तक सीमित थी। इस नई योजना ने भारत के विभिन्न राज्यों तथा देहाती क्षेत्रों में धन व आय की अनेक असमानताओं को भी जन्म दिया।

30.6 औद्योगिक क्षेत्र की विकास योजना

जब भारत ने अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित करने का कार्य प्रारंभ किया तो आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण को अपरिहार्य माना गया। परिणामस्वरूप, भारतीय नीति

निर्माताओं ने एक सशक्त तथा विविधतापूर्ण औद्योगिक क्षेत्र को विकसित करने पर बल दिया। इसके लिए 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में एक आधारभूत नीतिगत सरंचना का उल्लेख किया गया। यद्यपि बदलते हुए परिदृश्य के साथ-साथ, समय-समय पर 1973, 1977 व 1980 में इस नीति को संशोधित किया गया है, परंतु फिर भी 1990 की शुरुआत तक मौलिक नीति अपरिवर्तित ही रही है। अत: हम 1956 के नीति प्रस्ताव के पुनर्विचार का प्रयास करेंगे, जिससे यह पता चल सके कि मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रणाली ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में किस प्रकार कार्य किया है।

30.7 1956 के औद्योगिक प्रस्ताव की मुख्य विशेषताएँ

इस प्रस्ताव के अनुसार उद्योगों को तीन मुख्य श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

30.7.1 राज्य का एकाधिकार

1956 के प्रस्ताव की अनुसूची सं. 'अ' (परिशिष्ट 1) के अंतर्गत 17 उद्योगों को राज्य अर्थात केंद्र सरकार के विशुद्ध उत्तरदायित्व में माना गया। उनका विकास सार्वजनिक क्षेत्र के तहत किया जाना था। सुरक्षा, भारी उद्योग, खनिज पदार्थ, विद्युत, यातायात व संचार जैसे उद्योग इसमें शामिल थे। शस्त्र तथा गोला-बारूद आणविक ऊर्जा, रेलवे व वायु यातायात इन चार उद्योगों पर सरकार का एकाधिकार घोषित किया गया, जबकि शेष 13 के अंतर्गत नई इकाइयों की स्थापना की जिम्मेदारी राज्य को ही सौंपी गई।

30.7.2 मिश्रित क्षेत्र

1956 के औद्योगिक प्रस्ताव की अनुसूची सं. 'ब' (परिशिष्ट 11) के अनुसार इस श्रेणी में 12 उद्योग शामिल थे। मशीनी उपकरण, मिश्रधातु व इस्पात मौलिक रसायन व उनके मध्यवर्ती, एंटीबायोटिक तथा अन्य दवाईयां, उर्वरक कृत्रिम रबड़, लुगदी, सड़क व समुद्री यातायात।

30.7.3 निजी क्षेत्र

अनुसूची सं. 'अ' और 'ब' में वर्णित उद्योगों के अतिरिक्त बाकी सब निजी उत्पादकों के अंतर्गत आते थे। ये अधिकतर उपभोक्ता वस्तुओं से संबंधित थे। राज्य, संरक्षण की नीति तथा आयात शुल्क की ऊंची दरें लागू करके इन वस्तुओं के निजी तथा घरेलू उत्पादनकर्त्ताओं को सुरक्षा प्रदान करना था। परंतु निजी उत्पादकों को अपनी सभी गतिविधियां राज्य की निगरानी में ही जारी रखनी थीं। निजी क्षेत्र को नियंत्रित करने के लिए राज्य निम्नलिखित उपागमों को अपनाता था:

30.7.4 औद्योगिक लाइसेंस देना

निजी उत्पादकों को संबंधित अधिकारियों से नई ईकाइयां स्थापित करने तथा ईकाइयों का विस्तार करने – दोनों के लिए लाइसेंस लेना होता था। इस प्रावधान के द्वारा सरकार देश में सभी प्रकार के औद्योगिक माल के उत्पादन पर नियंत्रण करती थी।

30.7.5 आयात लाइसेंस द्वारा

एक कठोर विनियम नियंत्रण लागू किया गया। निजी व्यक्तियों द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा को सरकार के पास जमा करना होता था। विदेशी माल का आयात लाइसेंस प्राप्त करके ही हो सकता था।

औद्योगिक तक आयात संबंधी लाइसेंस पद्धतियों के कारण ही सरकार निजी क्षेत्र की गतिविधियों को नियंत्रित करने में सक्षम हो सकी। निजी क्षेत्र के उत्पादकों को प्रभावित करने वाले अन्य उपागमों में करों द्वारा प्रोत्साहन, निवेश पूर्ति, चयनित संस्थागत ऋण तथा मूल्य नियंत्रण आदि शामिल थे।

30.7.6 लघु उद्योग क्षेत्र

लघु उद्योग क्षेत्र के बारे में भी नियंत्रणों की एक सूची थी। निजी क्षेत्र की बड़ी कंपनियों को इसके साथ प्रतियोगिता करने की मनाही थी। इस क्षेत्र को भी राज्य द्वारा आसान शर्तों पर ऋण तथा सरंचना संबंधी सहायता प्रदान की जाती थी। लघु उद्योग क्षेत्र को प्रोत्साहन देने के पीछे भावना यह थी कि वह अपने श्रम प्रधान स्वरूप के कारण रोजगार प्रदान करने की क्षमता रखता है।

गांवों में लघु उद्योग क्षेत्र का अस्तित्व अनंत काल से रहा है। देहाती क्षेत्रों के असंख्य भारतीयों का इन उद्योगों में जीवन यापन होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के समय में लघु उद्योगों के उत्पादों जैसे हस्त शिल्प तथा हथकर्घा वस्त्र, देश के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करने के प्रमुख साधन बन गए। परिणामस्वरूप, इस क्षेत्र को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने सर्वथा अलग नीतियां अपनाईं, जिनमें आसान शर्तों पर ऋण व अनेक प्रकार के अनुदान तथा करों से छूट प्रदान करना शामिल थे।

30.7.7 बाहरी क्षेत्र

निर्यात

अब यह स्पष्ट हो गया है कि औद्योगीकरण की भारतीय नीति घरेलू बाजार पर अत्यधिक

निर्भर थी। जिसकी सुरक्षा ऊंची दरों पर आयात शुल्क लागू करके की गई थी। विदेशी बाज़ारों में निर्यात की सम्भावनाएं उस समय क्षीण मानी गईं, क्योंकि भारत को दूसरे अनेक विकासशील देशों से अपने निर्यात के मामले में, गंभीर प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। ये निर्यात अधिकांशत: कृषि पर आधारित थे।

विदेशी पूंजी

विदेशी पूंजी को घरेलू बाजार में सीमित भूमिका प्रदान की गई। उसकी गतिविधियों के क्षेत्र तथा सीमाएं सरकार द्वारा निर्धारित कर दिए गए।

30.8 पुरानी नीति की सफलता

विगत चार दशकों में नियोजित विकास का अनुभव सफलता व असफलता का मिश्रित उपहार रहा है। सकारात्मक पहलू यह है, कि स्वतंत्रता से पहले के समय की उपलब्धियों की तुलना में, भारत अपने सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वृद्धि दर को बढ़ाने में सफल रहा है। परंतु प्रति व्यक्ति आय में आशातीत वृद्धि नहीं हो पाई है, क्योंकि उस अवधि के दौरान जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ चुकी थी। भारत की उपलब्धियां उन विकासशील देशों की तुलना में भी कम हैं। जिन्होंने अपने विकास के प्रयास लगभग भारत के साथ-साथ शुरू किए।

परंतु इतना होते हुए भी भारत ने खाद्यान्न के क्षेत्र में न केवल आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली है, बल्कि उसको निर्यात करने की भी स्थिति में है, जिसका श्रेय 'हरित क्रांति' को जाता है।

औद्योगिक क्षेत्र में, न केवल वृद्धि दर में सुधार हुआ है, बल्कि थोड़े समय में ही देश में एक सुविस्तारित औद्योगिक ढांचा भी निर्मित हो गया है। राज्य के तत्त्वावधान में आधारभूत तथा पूंजी प्रधान उद्योगों का विकास भी विशेष रूप से सराहनीय है।

भारत, सिंचाई, ऊर्जा, यातायात, वित्त तथा सामाजिक सेवाओं का आधारभूत ढांचा निर्मित करने में सफल रहा है-जिससे यह विशाल और विभिन्नताओं वाला देश एकीकृत राष्ट्रीय बाजार का स्वरूप प्राप्त कर सके तथा पूंजीश्रम व तकनीक जैसे संसाधनों का आवागमन देश के अंदर स्वतंत्र रूप से हो सके। हमारे वैज्ञानिक और तकनीकी श्रमशक्ति की गणना विश्व के कतिपय शीर्षस्थ देशों में होती है। हमारे संविधान में निर्दिष्ट लोकतांत्रिक शासन तथा केंद्र से राज्यों को वित्तीय संसाधनों के हस्तांतरण ने विभिन्न क्षेत्रों के बीच विकास के स्तरों की गंभीर असमानताओं को कम किया है।

30.9 नीतिगत असफलताएँ

राज्य निर्देशित विकास की भी अपनी समस्याएँ थीं। औद्योगिक विकास का कार्यक्रम निर्यात की पूर्ण उपेक्षा करके पूरी तरह घरेलू मांग पर आधारित था। जैसा कि पहले कहा गया है, ऊंचे आयात शुल्कों के द्वारा घरेलू बाजार को संरक्षण प्रदान करके घरेलू मांग को उत्प्रेरित किया जाता था। इस कारण घरेलू उत्पादन कर्त्ताओं व उनके विदेशी सहकर्मियों के बीच प्रतियोगिता समाप्त हो जाती थी। परिणामस्वरूप, भारत एक उच्च उत्पादन लागत वाली अर्थव्यवस्था बन गया, जो कि संसार में प्रतियोगिता करने में असमर्थ था।

लाइसेंस प्रणाली के कारण घरेलू व्यापारिक संस्थाओं में भी प्रतियोगिता समाप्त हो गई। एक बार लाइसेंस प्राप्ति के बाद उद्योग में नए संभावित प्रवेशकों को कोई डर नहीं था तथा इस प्रकार कार्यकुशलता में सुधार करने के लिए प्रोत्साहन का अभाव था।

व्यापक लाइसेंस प्रणाली ने अर्थव्यवस्था में अत्यधिक नौकरशाही हस्तक्षेप को जन्म दिया, जिससे निकम्मेपन व भ्रष्टाचार की बढ़ोत्तरी हुई। इस परिदृश्य को "लाइसैंस-परमिट-राज" कहा गया है।

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में अत्यधिक कुप्रबंध व अकार्यकुशलता देखने को मिली। राजनैतिक हस्तक्षेप, प्रबंध संबंधी उत्तरदायित्व की कमी, कामगारों की अधिकता, श्रमिकों में अनुशासन का अभाव, वित्तीय अपव्यय आदि बुराइयां सार्वजनिक उपक्रमों में व्याप्त थीं। इनमें से अधिकांश उपक्रम हानिप्रद थे। सामूहिक रूप में इन उपक्रमों में विशाल पूंजी निवेश के बदले में कभी भी संतोषजनक वृद्धि दर नहीं दर्शाई गई।

सार्वजनिक उपक्रमों में लाभ की दर कम तथा कर वसूली में ढिलाई से संसाधनों में कमी आई और फलस्वरूप, सार्वजनिक निवेश घट गया। घरेलू बाजार में भी सुस्ती छाई रही थी तथा घरेलू उत्पादन लागत ऊंची होने के कारण निर्यात का विस्तार करके वृद्धि की संभावना क्षीण थी। 1970 के दशक का अंत होते होते अर्थव्यवस्था में शिथिलता प्रारंभ हो गई।

1980 के दशक में सरकार ने भारी मात्रा में बाहरी ऋण लेकर आर्थिक विकास दर में वृद्धि का प्रयास किया। आयात को भी धीरे-धीरे उदार बना दिया। विकास दर बढ़ने लगी। परंतु शीघ्र ही यह आभास हो गया कि भारत पर विदेशी ऋण असहनीय स्तरों पर पहुंचने वाला है। नीति निर्माताओं को यह बिल्कुल स्पष्ट था कि जब तक कारगर आर्थिक सुधार लागू नहीं किए जाते तब तक आर्थिक विकास दर का स्तर स्थिर नहीं रखा जा सकता है।

लगभग उसी समय, खाड़ी युद्ध के कारण भारत को विदेशी मुद्रा संकट का सामना करना पड़ा, क्योंकि तेल आयात का बिल बहुत बढ़ गया तथा देश से पूंजी का अग्रिम पलायन होने लगा। राष्ट्र की मन:स्थिति को भांप कर, सरकार ने संकट काल को अनुकूल अवसर

में बदलने के लिए सशक्त सुधार कार्यक्रमों का सूत्रपात किया। इन सुधार कार्यक्रमों का मूल मंत्र अर्थव्यवस्था को बंधन मुक्त करना था।

पाठगत प्रश्न 30.2

उचित शब्दों के माध्यम से रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(1) हरित क्रांति की तकनीकी योजना में मूलत: _____ शामिल थे। (अधिक उपज देने वाले बीज, जल, उर्वरक, कटाई यंत्र का प्रयोग)

(2) हरित क्रांति ने _____ में आशातीत सुधार किया।(भूमि की उत्पादकता, भूमि के स्वामित्व का प्रतिमान)

(3) निजी क्षेत्र को नियंत्रित करने के कुछ तरीकों में _____ शामिल थे।

अ. औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली।

ब. आयात लाइसेंस प्रणाली।

स. अनुदान।

द. मूल्य नियंत्रण।

(4) अत्यधिक राजकीय नियंत्रण ने, एक ओर घरेलू कंपनियों के बीच, तथा दूसरी ओर घरेलू कंपनियों व _____ (राज्य/विदेशी) कंपनियों के बीच प्रतियोगिता को _____ (हतोत्साहित/प्रोत्साहित) करके, भारत को एक उच्च लागत वाली अर्थव्यवस्था में बदल दिया।

(5) लाइसेंस-परमिट-राज का अभिप्राय है, अर्थव्यवस्था का अत्यधिक _____, जो कि अकार्यकुशलता व भ्रष्टाचार को जन्म देता था। (नौकरशाहीकरण/निजीकरण)

30.10 नई आर्थिक नीति की विशेषताएँ

30.10.1 विदेशी व्यापार

व्यापार : क्योंकि इस संकट का तात्कालिक कारण विदेशी मुद्रा की कमी थी, अत: इस समस्या को हल करने के लिए मौलिक सुधारवादी उपाय लागू किए गए। पहली नीतियों के कारण घरेलू उत्पादन लाभप्रद हो जाने से निर्यात अप्रत्यक्ष रूप से हतोत्साहित हो गया।

नई नीति ने रुपए का अवमूल्यन (दो बार में 22%) तथा आयात शुल्क में भारी कमी करके निर्यात के प्रोत्साहन की पुरानी व दुरूह प्रणाली को समाप्त कर दिया। ऐसी नीतियों ने निर्यात के लिए उत्पादन को भी, घरेलू बाजार के लिए उत्पादन के समान ही लाभप्रद बना दिया। गत छह वर्षों में भारतीय निर्यात, विशेषत: कृषिजनित निर्यात, इन नए उपायों के कारण अधिक हो गया।

आयात : आयात को भी अत्यधिक उदार बना दिया गया। मुक्त सामान्य लाइसेंस (OGL) के अंतर्गत वस्तुओं के संचय का विस्तार तथा आयात प्रक्रियाओं को सरल बना कर ऐसा किया गया।

30.10.2 विदेशी निवेश

(अ) भारत में विदेशी से संबंधित नियमों को काफी सुगम बना दिया गया। इस समय 34 उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों में कुल पूंजी के 51% तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को स्वत: ही स्वीकृति मिल जाती है, यदि विदेशी पूंजी निवेश आवश्यक पूंजीगत माल के आयात के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता को पूरा करता है तो।

(ब) विदेशी मुद्रा को आकर्षित करने के लिए विदेशी निवेशकों के अर्जित लाभांश के निष्कासन के प्रावधान उनके अनुकूल बना दिए गए हैं।

(स) 34 उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों के लिए विदेशी तकनीकी अनुबंधों की स्वीकृति, कुछ भुगतान सीमा को पूरा करने पर स्वत: ही दिए जाने का प्रावधान है।

30.10.3 औद्योगिक लाइसेंस की नीति

(अ) देश में प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली को लगभग त्याग दिया है। कोयला, चीनी, रसायन तथा सुरक्षा, पर्यावरण व सामाजिक जोखिम वाले 15 उद्योगों को छोड़ कर, बाकी सभी के लिए, निवेश के स्तरों का ध्यान रखते हुए, लाइसेंस की अनिवार्यता समाप्त कर दी गई है। वर्तमान क्षमता के भविष्य में विस्तार के लिए भी लाइसेंस लेने से छूट का प्रावधान है।

(ब) उत्पादों को अब केवल नई योजनाओं और उनके मौलिक विस्तार की ही सूचना प्रदान करने की आवश्यकता है।

30.10.4 सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम (PSUS)

इस क्षेत्र के उद्योग आर्थिक सुधार नीतियों के मुख्य लक्ष्य रहे हैं। इन उपक्रमों की दशा सुधारने के कुछ नीतिगत उपाय इस प्रकार हैं: आधारभूत उद्योगों के प्रबंध के लिए नियंत्रक

कंपनियों की संस्था की स्थापना करना, सार्वजनिक उपक्रमों के शेयरों का आंशिक निवेश समाप्त करना, उनके सामान्य प्रबंधन में राजनैतिक हस्तक्षेप को कम करना, अधिक स्वायत्तता प्रदान करना आदि।

30.11 नई आर्थिक नीति के सकारात्मक पहलू

आर्थिक उदारीकरण की नीति के आशातीत परिणाम सामने आए हैं। प्रारंभिक अवस्था की अस्थायी बाधाओं के पश्चात अर्थव्यवस्था समग्र उछाल आया है तथा भविष्य में इसके गतिशील होने के पर्याप्त संकेत हैं। नई नीति के उपायों के परिणाम भारत के निर्यात के बारे में, जिसमें पर्याप्त वृद्धि हुई है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विदेशी निवेशकों ने देश में निवेश करने में अत्यधिक रुचि प्रदर्शित की है। वह समय अब समाप्त हो चुका है जब विदेशी व्यापार खाते में भारत को लगातार घाटा होता था। अब हमारे पास पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा-भंडार जमा है, जो कि हमारी आयात आवश्यकताओं को पूरा करने में पूर्ण रूप से सक्षम है।

प्रत्यक्ष तथा सॉविभागिक विदेशी निवेश में अत्यधिक वृद्धि का यह भी अर्थ है कि विकास को प्रोत्साहित करने में संसाधन जुटाने में राज्य के उत्तरदायित्व में उत्तरोत्तर कमी हुई है। अब राज्य अपना ध्यान शिक्षा, स्वास्थ्य तथा ग्रामीण विकास जैसे सामाजिक उपयोगिता के क्षेत्रों के विकास पर केंद्रित कर सकता है।

30.12 नई आर्थिक नीति तथा निर्धनता की समस्या

भारत में जिस स्तर पर सुधार लागू हुए उनकी लागत तथा आर्थिक व सामाजिक लाभ महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिए सुधार प्रक्रिया की सुगम गति सुनिश्चित करने के लिए राजनैतिक नेतृत्व को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विभिन्न सामाजिक समुदायों के हितों में पर्याप्त संतुलन स्थापित हो।

आर्थिक उदारीकरण की नीति के साथ-साथ 'स्थायित्व' तथा 'संरचनागत समायोजन' की नीतियां भी लागू हुई हैं। स्थात्वि की नीति का अर्थ है संपूर्ण मांग को अर्थव्यवस्था की क्षमता के अनुरूप बनाए रखना, जिससे मूल्यों को नियंत्रित किया जा सके। इसके लिए सरकार की वित्तीय तथा मुद्रा-नियंत्रण की नीति की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, संरचनागत समायोजन की नीति एक ऐसी विधि है। जिसके द्वारा सरकार उत्पादन के स्तर और मूल्यों के समायोजन का प्रयास करती है। थोड़े समय के लिए इन नीतियों के कारण बेरोजगारी बढ़ना स्वाभाविक है। परंतु मध्यम व दीर्घ काल में इन्ही नीतियों के कारण

विकास की प्रवृत्तियां चालू हो जाएँगी तथा जो बाद में रोजगार दर में वृद्धि करेंगी। मूल्य नियंत्रण की समाप्ति बेहतर ऋण सुविधाएं तथा बढ़ी हुई निर्यात सम्भावनाएं (विशेषत: कृषि उत्पादों की) अंत में दरिद्रता की स्थिति को सुधार सकती है।

परंतु, कुछ थोड़ी समयावधि के लिए विकास दर बाज़ार प्रवृत्तियों के अनुकूल होने के कारण, गरीबों को परेशानी हो सकती है। इस प्रकार की विकास शैली का निर्धारण उस समय की परिसंपत्तियों के वितरण तथा क्रय शक्ति के द्वारा होता है। इससे दिखावटी उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन व आयात प्रारंभ हो जाएगा। एक ऐसे देश में, जहां अधिकांश जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे रहती हो, वहां, उच्च विकास के नाम पर, अतिव्ययकारी उपभोक्तावाद को उचित नहीं ठहराया जा सकता है।

इस प्रकार के विकास से मौजूदा क्षेत्रीय असमानताएं और अधिक होंगी, क्योंकि उत्तम संरचना सुविधाओं तथा प्रति व्यक्ति अधिक आय वाले राज्य व्यक्तिगत निवेश को अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में आकर्षित कर सकेंगे।

सरकार द्वारा वित्तीय अनुशासन के लिए और उपायों के साथ-साथ, अनुदानों तथा विकासात्मक व्यय में कमी करना भी शामिल है। इससे सामाजिक क्षेत्र की उन योजनाओं पर बुरा प्रभाव पड़ता है जो कि सार्वजनिक स्वास्थ्य, पोषण, शिशु इस प्रकार के सरकारी कार्यक्रमों से लाभान्वित होने वाले व्यक्ति और समाज के पिछड़े वर्गों से संबंधित होती हैं। अत: इससे उन पर कुठाराघात होता है। हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में इसी कारण सामाजिक राजनैतिक तनाव भी फैल सकता है। अत: सुधारों को बनाए रखने के लिए सामाजिक कल्याण की योजनाओं में सरकारी व्यय उचित स्तर बनाए रखना अति आवश्यक है। सरकार ने सामाजिक क्षेत्र के व्यय में अत्यधिक कटौती न करने का प्रयास किया है। परंतु सरकार द्वारा पर्याप्त रूप से संसाधन न जुटा सकने के कारण ऐसे प्रयासों से समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हुआ है।

ग्रामीण विकास और निर्धनता उन्मूलन की समस्या प्रभावशाली तरीके से तब तक हल नहीं की जा सकती है जब तक समाज सुधार कार्यक्रमों की कार्यकुशलता में सुधार लाकर भ्रष्टाचार को समाप्त न किया जाए। सार्वजनिक वितरण प्रणाली में समुचित विस्तार तथा उसे और लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर करने से समाज के दुर्बल वर्गों को लाभान्वित होने की दिशा में सार्थक प्रयास किया जा सकेगा।

परंतु सामाजिक विकास और निर्धनता उन्मूलन केवल वित्तीय आबंटन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसके लिए सशक्त राजनैतिक प्रतिबद्धता अनिवार्य है। कमजोर वर्गों के लिए नौकरियों में आरक्षण तथा पंचायतीराज संस्थाओं को क्रियाशील करने से प्रगतिकामी परिवर्तनों की आशा बलवती होती है।

पाठगत प्रश्न 30.3

उचित शब्दों को छांटकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(1) आर्थिक उदारीकरण की नीति ने निर्यात के लिए उत्पादों को घरेलू बाजार के लिए उत्पादन की तुलना में _____ निर्यात के विरुद्ध रुझान को बदलने का प्रयास किया। (एक जैसा लाभप्रद बना कर/अधिक लाभप्रद बना कर/कम लाभप्रद बना कर)।

(2) आर्थिक उदारीकरण की नीति में निम्नलिखित उपाय शामिल हैं

(अ) आयात का उदारीकरण (हां/नहीं)

(ब) विदेशी निवेश पर प्रतिबंधों में कमी (हां/नहीं)

(स) औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली को समाप्त करना (हां/नहीं)

(द) नौकरशाही लालफीताशाही में भारी कमी (हां/नहीं)

(य) सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का निजीकरण (हां/नहीं)

(र) आर्थिक क्रियाकलापों से राज्य का पूर्ण निष्कासन (हां/नहीं)

(ल) वित्तीय क्षेत्र का उदारीकरण (हां/नहीं)

(3) अन्य बातों के साथ साथ, ग्रामीण निर्धनता समाप्त करने के लिए अनिवार्य होता है:-

अ. सामाजिक योजनाओं में सरकारी व्यय पर्याप्त स्तरों पर बनाए रखा जाना चाहिए (हां/नहीं)

ब. सामाजिक कार्यक्रमों की प्रचालन कुशलता में सुधार हो तथा संबंधित पक्षों के भ्रष्ट आचरण पर रोक लगाई जाए। (हां/नहीं)

स. सार्वजनिक वितरण प्रणाली को शहरी गरीब वर्ग के प्रति पुर्नलक्षित किया जाएं (हां/नहीं)

आपने क्या सीखा

आर्थिक उदारीकरण में, नागरिकों की आर्थिक क्रियाओं पर प्रत्यक्ष सरकारी नियंत्रण के स्थान पर बाजार प्रवृत्तियों के द्वारा प्रचलित नियंत्रण प्रणाली को लागू करना शामिल है। 1991 में भारत सरकार ने आर्थिक उदारीकरण की एक महत्त्वाकांक्षी योजना को प्रारंभ किया, जिसका क्षेत्र अति व्यापक है तथा जो अलंघनीय प्रतीत होती है। इससे पहले, नियोजित आर्थिक विकास के गत चालीस वर्षों के दौरान राज्य की प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष संलिप्तता सर्वव्यापक थी। वर्तमान सुधारों का लक्ष्य राज्य की भूमिका कम करके निजी क्षेत्र की सहभागिता को प्रोत्साहित करना है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में राज्य तथा बाजार के बीच की आर्थिक क्षमता का स्तर मूलतः समाज के विकास के स्तर द्वारा निर्धारित होता है।

सामान्यतः एक अल्प विकसित अर्थव्यवस्था में, जहां पर्याप्त संरचनागत आधार तथा आर्थिक संस्थाएं सुविकसित न हों, राज्य की कार्यक्षमता अच्छी दिखाई देती है। समाजवादी देशों का यही अनुभव रहा है। आर्थिक विकास के निचले स्तरों पर मानवीय तथा भौतिक संसाधनों को गतिशील करने, संरचनागत आधार का निर्माण करने तथा आर्थिक संस्थाओं को संगठित करने के कार्यों को राज्य अधिक सुगमता से पूरा करता है। परिणामस्वरूप, आर्थिक विकास की गति तीव्र तथा आर्थिक विषमताओं की मात्रा कम हो जाती है।

इसी विचारधारा के अनुसार भारत ने विकास के 'मिश्रित अर्थव्यवस्था के नमूने' को अपनाया। इस प्रणाली के अंतर्गत, आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन का कार्य मुख्यतः राज्य द्वारा किया जाना था। आर्थिक मामलों में राज्य की सहभागिता प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से थी (अर्थात प्रोत्साहन व नियंत्रण के द्वारा)।

उदाहरण के लिए, कृषि क्षेत्र के विकास के कार्यों को पूरी तरह किसानों पर छोड़ दिया गया। राज्य ने केवल सिंचाई, विद्युत आपूर्ति तथा ऋण में छूट जैसी संरचनागत सुविधाएं प्रदान कर उनकी सहायता की। सरकार ने भी ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सुधार, कृषि उत्पादकता को बढ़ा कर अग्रणी क्षेत्रों में भूमि सुधार, कृषि भूमि की अधिकतम सीमा जैसे संस्थागत परिवर्तनों का भी प्रयास किया।

औद्योगिक विकास के क्षेत्र में राज्य की भूमिका प्रत्यक्ष तथा व्यापक थी। राज्य ने अपने पूर्ण स्वामित्व तथा नियंत्रण में 'सार्वजनिक क्षेत्र' की स्थापना की, जिससे अति महत्त्वपूर्ण आधार पूंजीगत माल, अणु-ऊर्जा तथा शस्त्रास्त्रों के उद्योगों को विकसित किया जा सके। इसके साथ-साथ निजी क्षेत्र के लिए राज्य ने लाइसेंस-परमिट, कोटा प्रणाली, विभेदीय कराधान अनुदान, मूल्य तथा औद्योगिक स्थिति संबंधी नीतियों के रूप में अप्रत्यक्ष नियंत्रण तंत्र की एक व्यापक पद्धति का सूत्रपात किया।

गत चार दशकों के दौरान आर्थिक विकास की नीति की अनेक उपलब्धियां तथा असफलताएं रही हैं। सकारात्मक पक्ष के रूप में इन उपलब्धियों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है: सिंचाई, ऊर्जा, यातायात, वित्तीय तथा सामाजिक सेवा क्षेत्रों में सशक्त संरचनागत आधार का निर्माण, उद्योगों के सुविभाजित ढांचे का विकास तथा तकनीकी एवं वैज्ञानिक श्रमशक्ति के भंडार की रचना। इसकी गणना विश्व के कुछ शीर्षस्थ देशों में की जा सकती है। एक लोकतांत्रिक प्रणाली तथा केंद्र से राज्यों को संसाधन हस्तांतरण पद्धति के कारण सामाजिक समुदायों तथा विभिन्न क्षेत्रों के बीच आय और धन की असमानताओं को उभरने नहीं दिया गया है।

नकारात्मक पक्ष यह है कि इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष आर्थिक प्रक्रिया पर राज्य का व्यापक और अतार्किक नियंत्रण है। इससे सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) की वृद्धि

दर को न केवल तीव्र होने से रोका गया है बल्कि घरेलू उत्पादों के मध्यभी प्रतियोगिता शिथिल हो गई, जिसके फलस्वरूप भारत एक उच्च लागत वाली अर्थव्यवस्था बन गया है। अकार्यकुशलता तथा उच्च उत्पादन लागत के कारण भारतीय निर्यात विश्व बाजार में प्रतियोगी स्तर का नहीं हो पाया है। इसके परिणामस्वरूप, भारत अपने निर्यात के द्वारा पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा अर्जित करने में सफल नहीं हो पाया है। अतः विदेशी मुद्रा की लगातार कमी, जो कि विकास के लिए एक बड़ी बाधा रही है, के कारण व्यापार और औद्योगीकरण की इस दोष पूर्ण नीति में खोजे जा सकते हैं।

अकार्यकुशलता और कुप्रबंधन सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में सबसे अधिक रहा है। संपूर्ण रूप से सार्वजनिक उपक्रमों ने उनमें निवेशित भारी पूंजी के बदले में कभी भी संतोषजनक लाभ दर प्रदर्शित नहीं की है, यद्यपि कुछ ईकाइयों का कार्य उत्तम रहा है। सार्वजनिक उपक्रमों की सामूहिक रूप से लाभ अर्जित करने में असमर्थता राज्य के समक्ष प्रस्तुत संसाधनों की कमी का एक प्रमुख कारण रहा है, जिसके फलस्वरूप सार्वजनिक निवेश व सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वृद्धि बहुत कम रही है।

इसके अतिरिक्त अत्यधिक नौकरशाहीकरण, जिसको 'लाइसेंस-परमिट राज' कहते हैं, ने भी भ्रष्टाचार को जन्म दिया है।

1990 के आरंभिक वर्षों में लागू की गई आर्थिक उदारीकरण की नीति का लक्ष्य विकास की इन बाधाओं को हटाना था। मुख्य बात यह थी कि प्रतियोगिता एवं कार्यकुशलता को प्रोत्साहित करने के लिए अर्थव्यवस्था पर सरकारी नियंत्रण की शैली में परिवर्तन किया जाए। ऐसा करने के लिए एक ऐसे पारदर्शी नियंत्रणकारी तंत्र की स्थापना करनी थी जो देश के आर्थिक प्रबंध में अनावश्यक नौकरशाही के हस्तक्षेप से निरापद हो। राज्य की भूमिका, अर्थव्यवस्था के प्रबंधक से बदल कर विकास को प्रोत्साहित करने वाले संगठन की होनी आवश्यक थी।

इन नए सुधारात्मक उपायों का लक्ष्य संसाधनों की कमी को भी दूर करना था जिसके कारण अत्यधिक बजट घाटा तथा आंतरिक एवं विदेशी ऋण के असहनीय स्तर जैसी समस्याएं उत्पन्न हो गई थीं।

देश के अंदर प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करने के लिए औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली को समाप्त करना आवश्यक माना गया। ऐसी आशा है कि इससे अर्थव्यवस्था में निजी निवेश बढ़ जाएगा। सरकार सार्वजनिक उपक्रमों में सुधार की नीतियां भी तैयार कर रही है। इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण नीतिगत निर्णय सार्वजनिक उपक्रमों के शेयरों को निजी संस्थागत क्रेताओं के समक्ष निवेश के लिए प्रस्तुत करना है। इस उपाय से अन्य उपक्रमों की कार्यशैली में महत्त्वपूर्ण नीतिगत निर्णय सार्वजनिक उपक्रमों के शेयरों को निजी संस्थागत क्रेताओं के समक्ष निवेश के लिए प्रस्तुत करना है। इस उपाय से इन उपक्रमों की कार्यशैली में

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने की संभावना है। विश्व बाजार में भारत की प्रतियोगितात्मकता के स्तर को सुधारने के लिए नए नीतिगत निर्णयों में, आयात शुल्क में भारी कमी, एक समुचित विनिमय दर की नीति तथा एक ऐसी उदार विदेशी निवेश की नीति, जो बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में निवेश को प्रेरित कर सके, शामिल है।

इन सुधार कार्यक्रमों की उपलब्धियां स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हैं। सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वृद्धि दर इन सुधारों के बाद अपेक्षाकृत ऊंची हुई है। अब देश में विदेशी मुद्रा की कमी नहीं है तथा विदेशी मुद्रा भंडार पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त अधिक मात्रा में विदेशी निवेश होने की आशा है, क्योंकि नए नीतिगत उपाय निवेशकों के हित में हैं। परंतु समाज में लाभान्वित होने वाले तथा हानि उठाने वाले साथ-साथ होते हैं। यह देखना राजनैतिक नेतृत्व का उत्तरदायित्व है कि इन सुधारों के द्वारा अधिकांश व्यक्तियों को अवसर उपलब्ध हों। इस बारे में कुछ बातें उल्लखनीय हैं। प्रथम, कम से कम छोटी से लेकर मध्यम कालावधि में 'स्थायीकरण' तथा 'संरचनागत समायोजन' जैसी विधियां अत्यधिक बेरोजगारी को जन्म देकर समाज के कमजोर वर्गों के लिए निर्धारित विकास कार्यक्रमों के लिए सरकारी धन आबंटन में कमी का कारण बनती हैं। इससे समाज के निर्धन व सुविधा विहीन वर्गों पर आर्थिक सुधारों का अपेक्षाकृत अधिक भारत पर पड़ता है। दूसरे, क्योंकि अर्थव्यवस्था का उदारीकरण बाजार-तंत्र को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है अतः तीव्रतर आर्थिक विकास के लाभ समाज के धनी वर्गों द्वारा अधिक मात्रा में हड़प लिए जाने की आशंका बनी रहेगी। इन प्रवृत्तियों के कारण देश के विभिन्न भागों में तथा सामाजिक समुदायों में आय की असमानताएं बढ़नी स्वाभाविक हैं। इससे सामाजिक व आर्थिक संकट उभर सकते हैं जो कि आर्थिक-सुधार प्रक्रिया को ही संकटग्रस्त कर सकते हैं।

भारत में, निर्धनता की व्यापकता व तीव्रता को देखते हुए, राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह समाज-कल्याण के कार्यों के लिए सार्वजनिक व्यय का स्तर बनाए रखे तथा एक प्रभावशाली सार्वजनिक वितरण प्रणाली, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों के लिए, को भी स्थापित करे। इसके द्वारा सुधार प्रक्रिया का स्वरूप मानवीय हो जाएगा जिसकी व्यापक आवश्यकता है।

पाठांत प्रश्न

1. भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रणाली की व्याख्या कीजिए।
2. कृषि क्षेत्र व औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए कौन सी योजनाएं लागू की गई हैं?
3. भारत की नई आर्थिक नीतियों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. निर्धनता की नई आर्थिक नीति की विवेचना कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

30.1 1. कम

2. उदारवादी

3. प्रत्यक्ष स्वविवेकी नियंत्रण/नियंत्रणकारी तंत्र

4. सत्य

30.2 1. उच्च उत्पादकता वाले बीज

2. भूमि की उत्पादकता

3. औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली

4. रोक कर/विदेशी कंपनियां

5. नौकरशाहीकरण

30.3 1. अधिक लाभदायक

2. (अ) हां, (ब) हां, (स) हां, (द) नहीं, (य) हां, (र) नहीं, (ल) हां

3. (अ) हां, (ब) हां, (स) नहीं।

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया उपखंड 30.4 देखें।
2. कृपया उपखंड 30.5 और 30.6 देखें।
3. कृपया उपखंड 30.10 देखें।
4. कृपया उपखंड 30.12 देखें।

31
शीत युद्ध के पश्चात विश्व-व्यवस्था

31.1 भूमिका

जिस विश्व में हम रहते हैं वह दिन प्रतिदिन छोटा होता जा रहा है। अब हमारे आसपास घटने वाली घटनाएं हमारे लिए अधिक महत्व रखने लगी हैं । उदाहरणार्थ यूरोप में ऐरोखिल (घातक कृमिनाशक) दक्षिण अमेरिका में कैंसर का कारण बन रहा है। रूस में फसलों के नष्ट होने से अफ्रीका में भूख की समस्या उत्पन्न हो सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में अवरोध उत्पन्न होने से एशिया में नौकरी की कमी हो सकती है। दूसरी ओर रूस में आर्थिक संपन्नता (जहां विश्व की दो-तिहाई आबादी रहती है) से अमेरिका व अन्य औद्योगिक देशों में रोजगार को बढ़ावा मिलता है। इन सभी विकासों ने विश्व को छोटा करके एक कस्बे सदृश कर दिया है। विश्व के किसी भी कोने में घटने वाली घटना का असर हमारे दैनिक जीवन पर पड़ता है। अत: यह आवश्यक है कि हम अपने आसपास घटनेवाली घटनाओं के प्रति जागरूक रहें। इसमें अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रवृत्तियां तथा मानवजाति के समक्ष आने वाली चुनौतियां व समस्याएं प्रमुख हैं।

31.2 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप निम्न तथ्यों से परिचित हो जाएंगे -

- शीत युद्ध का अर्थ एवं द्वि-ध्रुवीय विश्व की आवश्यकता
- शीत युद्ध के प्रभाव
- शीत युद्ध के संदर्भ में गुटनिरपेक्ष देशों के प्रभाव
- शीत युद्ध पश्चात का विश्व एक ध्रुवीय है न कि बहुध्रुवीय
- शीत युद्ध पश्चात के विश्व में गृह युद्धों, अल्पविकास, ऋण व आंतक की समस्याएँ, समान भौगोलिक आर्थिक व्यवस्था तथा भौगोलिक राजनैतिक व्यवस्था की जरूरत।

31.3 शीत युद्ध व इसके प्रभाव

द्वितीय विश्व युद्ध में विजय प्राप्ति के पश्चात, इसकी प्रतिभागी शक्तियों ने मुक्त बाजार की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था या राज्य द्वारा नियंत्रित समाजवादी अर्थव्यवस्था से संबंधित राजनैतिक मतभेदों का प्रतिरूप तैयार किया। संयुक्त राज्य अमेरिका पूंजीवादी व मुक्त विश्व का तथा रूस समाजवादी समूहों का प्रतिनिधित्व करता है। यह लड़ाई शत्रुता से अधिक, यूरोप व विश्व के अन्य भागों में सैन्य, राजनैतिक व आर्थिक नियंत्रण तथा प्रभाव के लिए थी और इसलिए शीत युद्ध का जन्म हुआ।

शीत युद्ध, युद्ध नहीं है। शीत युद्ध, अर्थात एक पक्ष सीधे लड़ने के स्थान पर, हर संभव साधन का प्रयोग करते हुए दूसरे पक्ष को नीचा दिखाने व कमजोर करने की कोशिश करता है। अमेरिका व रूस दोनों ही महाशक्तियाँ बन गए थे। इन दो महाशक्तियों से प्रभावित विश्व-राजनीति दो ध्रुवों में बंट गई।

महाशक्ति: महाशक्ति शब्द का प्रयोग केवल अमेरिका व रूस के लिए किया जाता है न कि फ्रांस, ब्रिटेन या चीन के लिए। महाशक्ति के पास बाकी विश्व के किसी भी देशों के समूह से अधिक या बराबर आर्थिक संसाधन व सैन्य शक्ति होती है एक महाशक्ति के पास अन्य राष्ट्रों की नीतियों व कार्ययोजनाओं को प्रभावित करने की क्षमता होती है। अमेरिका व रूस दोनों के ही पास ऐसी सैन्य व आर्थिक शक्तियाँ थी, जबकि ब्रिटेन, फ्रांस व चीन के पास परमाणु शस्त्र थे, परंतु आर्थिक साधन न थे, अन्य देशों, जैसे जापान व जर्मनी, के पास आर्थिक साधन थे तो सैन्य शक्ति न थी।

शीत युद्ध के दोनों ही पक्षों ने एक-दूसरे के खिलाफ सैन्य दल बनाए। संयुक्त राज्य अमेरिका ने उत्तरी अटलांटिक संधि संस्था की 1948 में स्थापना की जिसमें पश्चिमी यूरोपीय देश, यूनान, तुर्की कनाडा व अमेरिका शामिल थे। इसका उद्देश्य इस संस्था के संसाधनों का प्रयोग करना था, जिससे कि रूस या इसके साथी से होने वाले युद्धों में उन्हें प्रयुक्त किया जा सके। 1955 में वार्सा संधि की प्रतिक्रिया स्वरूप रूस ने पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों को इकट्ठा किया। इन विकासों ने संयुक्त राष्ट्र के कार्यों को प्रभावित किया। जैसा कि दूसरे अध्याय में वर्णित है कि संयुक्त राष्ट्र की स्थापना मुख्य शक्तियों के सहयोग पर की गई।

एक बार शीत युद्ध आरंभ हुआ तो स्वभाविक रूप से संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के अनुसार कार्य करना कठिनहो गया। संयुक्त राष्ट्र ने अपने तीन-चौथाई सदस्य देशों के साथ मिलकर बचाव प्रबंध किए। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद व महासभा में उसे अभीष्ट दो-तिहाई बहुमत प्राप्त हुए। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र मंच का प्रयोग अमेरिका द्वारा प्रतिनिधि देशों के बहुमत द्वारा रूस के विरुद्ध किया गया। दूसरी ओर विश्व संस्था भी संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेशनीति की कठपुतली थी, न कि एक तटस्थ विश्व संस्था।

बेहतर विश्व के निर्माण के लिए अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा तथा भौगोलिक सहयोग का लक्ष्य स्वप्न ही बन गया शीतयुद्ध काल के तनाव और टकराव 40 वर्षों तक चलते रहे। फलस्वरूप विश्व को मृत्यु, भूख व अन्य संकटों का सामना करना पड़ा। एक भी दिन ऐसा न था जब कि शस्त्रों से सज्जित शत्रु ने भोले-भाले व्यक्तियों, स्त्रियों व बालकों को न मारा हो। इसके साथ-साथ तोड़ फोड़, सैन्य आक्रमणों ने कितने ही लोगों को शरणार्थी बना दिया। सैंकड़ों अपने ही देश में बेघर हो गए। यही सब कुछ न था। शस्त्रों की दौड़ भी शीत युद्ध देशों में बढ़ रही थी। अमेरिका व रूस दोनों ने ही खतरनाक परमाणु शस्त्र बनाने शुरू कर दिया, जिनकी विनाशकारी क्षमता हिरोशिमा व नागासाकी पर गिराए गए बमों से कई गुना अधिक थी। जबकि शस्त्रों व हथियारों पर धन बहुतायत में खर्च किया जा रहा था तो करोड़ों लोग गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी व निराश्रय का सामना कर रहे थे।

शीत युद्ध के सबसे हानिकारक प्रभाव उन क्षेत्रों पर पड़े जहाँ रूस व अमेरिकी सेनाएं औ गुट अपना सिक्का जमाने का प्रयास करते रहे थे। शीत युद्ध की इस राजनीति ने बड़े पैमाने पर कोरिया, विएतनाम, पश्चिमी एशिया, इथियोपिया, सोमालिया, अंगोला, मोजांम्बिक आदि में शस्त्रों की होड़ आरंभ की। भारत को भी अपने पड़ोसी पाकिस्तान से तीन युद्ध लड़ने पड़े, जिसकी सहायता संयुक्त राज्य अमेरिका ने की थी।

भारत उन देशों में सब से पहला था जो कि औपनिवेशिक शक्तियों के प्रशासन से मुक्त हुए। भारत में स्वयं शीत युद्ध के किसी भी पक्ष के साथ गुटबंदी करने से मना कर दिया। इसने ऐसी विदेश नीति चुनी, जिसे गुटनिरपेक्षता कहते हैं। गुटनिरपेक्षता का अर्थ तटस्थता नहीं है। इसका अर्थ शीत युद्ध की राजनीति से इतर अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर स्वतंत्र निर्णय लेना है।

फलस्वरूप, एशिया व अफ्रीका के लगभग सभी देशें ने स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद गुटनिरपेक्षता को अपनाया संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों के रूप में इन देशों ने संयुक्त राष्ट्र की सहायता की। विश्व शांति व सुरक्षा बनाए रखने में तथा विभिन्न विवादों के समाधान में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुटनिरपेक्ष आंदोलन में भारत ने नेतृत्व किया।

वह भारत का नेतृत्व व उसके द्वारा महाशक्तियों से स्वतंत्र होकर कार्य किया जाना ही था, जिससे एशिया व अफ्रीका के उभरते राष्ट्रों को गुटनिरपेक्ष आंदोलन अपनाने पर बल दिया। विश्व के विभिन्न भागों में औपनिवेशिक शासन समाप्त करने में भारत के प्रयास निहित हैं। औपनिवेशिक शासन के अन्त से सैंकड़ों नए राष्ट्रों का उदय हुआ।

पाठगत प्रश्न 31.1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

1. शीत युद्ध
   (i) विश्वव्यापी प्रभावों के लिए आदर्शों की लड़ाई थी।
   (ii) अमेरिका व रूस के बीच प्रत्यक्ष युद्ध क्षेत्र था।
   (iii) युद्ध सदृश स्थिति थी जहां सभी राजनीतिक संबंध तोड़ लिए गए।
2. नाटो का गठन
   (i) गुटनिरपेक्ष देशों द्वारा किया गया।
   (ii) संयुक्त राष्ट्र द्वारा किया गया।
   (iii) संयुक्त राज्य अमेरिका व इसके साथियों द्वारा किया गया।
3. शीत युद्ध में रूस की भूमिका
   (i) पश्चिमी खंड के निर्माण में थी।
   (ii) पश्चिमी शत्रुओं के विरूद्ध सैन्य आक्रमणों में निहित थी।
   (iii) संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद व इसकी वीटो शक्तियों में बहुमत के निर्माण में थी
4. गुटनिरपेक्ष नीति का उद्देश्य था
   (i) शीत युद्ध के किसी भी पक्ष का साथ न देना।
   (ii) शीत युद्ध समस्याओं में तटस्थ रहना।
   (iii) शीत युद्ध शत्रुता बढ़ाना।
5. ऐसे कुछ क्षेत्रों के नाम बताएं जहाँ पर शीत युद्ध अप्रत्यक्ष रूप से चल रहे थे?
6. भारत ने गुटनिरपेक्ष नीति का चयन
   (i) संयुक्त राज्य अमेरिका की सहायता से किया।
   (ii) विदेशनीति में अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए विश्व शांति के प्रचार व प्रसार के लिए किया।
   (iii) शीत युद्ध शत्रुता में रूस की सहायता के लिए किया।

31.4 शीत युद्ध की समाप्ति

शीत युद्ध 1980 के दशक तक विश्व राजनीति पर हावी रहा, केवल उस अवधि को छोड़कर जिसे 'उपशमनकाल (डेटेंट)' अवधि कहते हैं (1962–1979)। पूर्व-पश्चिमी महाशक्तियों द्वारा एक-दूसरे की आलोचना पर नियंत्रण करने के कारण ही इस काल को डेटेंट अवधि अथवा शस्त्र सीमांकन कहते हैं। इस अवधि के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं सीटीबीटी (1963), परमाणु अप्रसार संधि (1968), स्ट्रेटेजीक आर्मस लिमिटेशन संधि (1972, 1976)। परंतु अवधि कम थी तथा शीत युद्ध 1979 में अफगानिस्तान पर रूसी आक्रमण के साथ आरंभ हो गया। 1980 के दशक के अंतिम वर्षों में अंतराष्ट्रीय राजनैतिक वातावरण में कई परिवर्तन आए।

1987 में महाशक्तियों ने अपने बीच शांति व सहयोग की स्थापना के लिए प्रयत्न शुरू किए। उन्होंने बहुत से मुद्दों पर समझौते किए तथा 1988 की अवधि में विभिन्न विवादों के शांतिपूर्ण हल ढूंढ लिए गए। अप्रैल 1988 में अफगानिस्तान से रूसी सेनाएं हटा ली गईं। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के प्रयासों से आठ वर्ष लंबी इरान-इराक युद्ध को रोका गया। नामीबिया (जिसे दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के नाम से जानते है) में संयुक्त राष्ट्र ने मार्च 1990 में नई सरकार की स्थापना के लिए चुनावों की व्यवस्था की । मध्य अमेरिका में दो शत्रु दलों के बीच जारी शस्त्र युद्धों (निकालगुआ, रास-साल्वाडोर) का अंत हो गया।

1989-90 में शीत युद्ध की समाप्ति पर यूरोप में बहुत से नाटकीय व आकस्मिक विकास देखे गए। शीतयुद्ध के सभी प्रतीक नष्ट कर दिए गए। दोनों जर्मनियों का एकीकरण हो गया। बर्लिन की दीवार गिरा दी गई। बुल्गारिया, हंगरी, पौलेंड, चैकोस्लोवाकिया में समाजवादी शासन हिंसा के बगैर ही समाप्त हो गया। इन सभी ने मुक्त बाजार व्यवस्था को चुना, वार्सा संधि संस्था को भंग कर दिया गया जबकि नाटो संगठन बरकरार रहा। रूस के भीतर ही लाटविया, एसटोनिया व अन्य गणराज्यों में स्वतंत्रता के लिए विद्रोह उठ खड़ा हुआ।

1991 में क्रिसमस की पूर्व संध्या पर रूसी गणराज्य के राष्ट्रपति मिखाईल गोर्बाचोव ने त्यागपत्र दे दिया। रूसी गणराज्य का पृथक्करण हो गया तथा पूर्वी यूरोप व मध्य एशिया में चौदह नए राज्यों का उदय हुआ। ये नए राज्य हैं - आरमेनिया, अजरबैजान, बेलारूस, एस्टोनिया, अर्जिया, कजाख़स्तान, किरगिस्तान, लाटविया, लिथुआनिया, तजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, उक्रेन, उज्बेकिस्तान। अब जो कुछ भी बड़े आकार में शेष है वह है रूस, जिसके राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन हैं।

रूस के पृथक्करण ने पड़ोसी राष्ट्रों को भी प्रेरणा दी जिससे यूगोस्लाविया का भी पृथक्करण हो गया और छः नए राज्यों का विकास हुआ : यूगोस्लाविया, बोसनिया, हर्जेगोविना, क्रोएशया, स्लोवानिया, मैकडोनिया इसके बाद चैकोस्लोवाकिया का भी विभाजन हुआ तथा चैक व स्लोवाकिया गणराज्य बने।

31.5 शीत युद्ध की समाप्ति के बाद का विश्व

एकपक्षीय अधिक बहुपक्षीय कम

शीत युद्ध की समाप्ति ने नई चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों को जन्म दिया। अमेरिका सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। विश्व एकध्रुवीय बन गया क्योंकि केवल अमेरिका के पास ही वृहद सैन्य व आर्थिक शक्ति थी। परंतु बहुत से विद्यार्थी बहस करते हैं कि विश्व एकध्रुवीय नहीं बन रहा बल्कि शक्ति के अन्य केंद्र भी हैं जैसे कि यूरोप संघ व जापान। दूसरी ओर यह बहस का विषय है कि उनकी शक्ति केवल आर्थिक शक्ति है। जर्मनी व जापान अभी भी सुरक्षा के लिए अमेरिका पर निर्भर है। जर्मनी व जापान दोनों ही देशों में अमेरिका के वृहद सैन्य स्थल है।

15 सदस्यीय यूरोपीय संघ शक्ति का केंद्र बन गया है परंतु यूरोपीय संघ व जापान की एकीकृत आर्थिक व सैन्य शक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका से कमतर है। आज जब जून 1996 में हंगरी, चैक गणराज्य व पौलेंड, जो कभी वार्सा संधि में शामिल थे, नाटो में शामिल हो गए संयुक्त राज्य अमेरिका रूस की सीमा से लगे सभी देशों को नाटो में शामिल करके उसे बढ़ाना चाहता है।

यह भी कहा जाता है कि चीन अपने बढ़ते परमाणु शस्त्रों, बढ़ती अर्थव्यवस्था और शक्ति केंद्र के साथ भौगोलिक शक्ति का केंद्र बन जाएगा। भारत दूसरा देश है जिसमें सबसे अधिक जन-शक्ति है तथा विज्ञान व तकनीक के क्षेत्र में इसकी बढ़ती उन्नति से भी इसकी शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिए बहुत से लोग शीत युद्ध के पश्चात विश्व को बहुपक्षीय मानते हैं दूसरी ओर यह भी मानते हैं कि अमेरिका ही वह अकेला देश है जिसकी सैन्य शक्ति को चुनौती नहीं दी जा सकती।

अपनी चुनौती न दी जा सकने वाली शक्ति के साथ अमेरिका ने 'नई विश्व व्यवस्था' स्थापित की है। राष्ट्रपति जार्ज बुश ने पहले पहल इस पद का प्रयोग किया। उन्होंने व्यवस्था कि संयुक्त राज्य के नेतृत्व को कभी भी चुनौती नहीं दी जा सकती एवं संयुक्त राज्य के मार्गदर्शन में ही संयुक्त राष्ट्र अपने घोषणा पत्र का पालन करेगा व उल्लंघन करनेवालों के विरूद्ध कार्यवाही करेगा। नेतृत्व की इस भूमिका में संयुक्त राष्ट्र ने अपने पश्चिमी साथी राष्ट्रों के सहयोग की मांग की है।

बहुत जल्द ही वह अवसर आया जब अमेरिका ने उदाहरण स्थापित किया–1990–91 में जब इराकी सेनाओं ने बलपूर्वक कुवैत पर कब्जा कर लिया तब अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र के प्राधिकार प्राप्त करके 'पुलिस" की भूमिका निभाते हुए अपने सागीरों के साथ इराक के विरूद्ध सैन्य आक्रमण किए तथा ईराकी सेनाओं को कुवैत से हटा दिया। परिणामस्वरूप अमेरिका ने ईराक पर कई शर्तें व आदेश लागू कर दिए जो अभी तक जारी हैं यद्यपि सुरक्षा परिषद के अन्य सदस्य फ्रांस, रूस व चीन यह मत व्यक्त करते हैं कि – इराक के विरूद्ध लगे आर्थिक आदेश, ईराक की जनता को आहत कर रहे हैं।

1992 में भी अमेरिका ने लीबिया के विरूद्ध ऐसे ही आदेश लगाए। अमेरिका से सहमत ब्रिटेन व फ्रांस व अन्य पश्चिमी शक्तियों ने दावा किया कि लीबियाई आतंकवादी 1988 में अमेरिकी यात्री विमान पर बमबारी के लिए जिम्मेदार हैं। अमेरिका ने 1994 में सोमालिया के सैन्य विद्रोहियों के विरूद्ध भी सैन्य कार्यवाही की।

संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने 'नई विश्व व्यवस्था' की अवधारणा को अपनाने से मना किया परंतु उन्होंने अमेरिका की श्रेष्ठता को चुनौती न दिए जाने वाली स्थिति को बरकरार रखा। सितंबर 1995 में संयुक्त राज्य महासभा को संबोधित करते हुए श्री क्लिंटन ने बल दिया कि जब कभी भी अमेरिका के हितों को खतरा उत्पन्न होने का अंदेशा होगा तो अमेरिका हर संभव कार्यवाही द्वारा इसे दूर करेगा। उन्होंने बल दिया कि वह दूसरे राष्ट्रों का सहयोग भी प्राप्त करेगा और यदि ऐसा नहीं होता तो वह अपने हितों के लिए सैन्य शक्ति का भी प्रयोग करेगा। ध्यान देने योग्य है कि अमेरिका को सामान्यतः किसी माध्यम से खतरा नहीं होता।

31.6 बढ़ते तनाव एवं विवाद

अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा में शीत युद्ध की समाप्ति पर बहुत सी आशंकायें उठीं। प्रारंभिक अवस्था में, मध्य अमेरिका, अफ्रीका व एशिया में शस्त्र विवादों व शत्रुताओं का अंत हुआ फिर भी विवाद व हिंसा जारी रहें

बहुत से देशों में, वैध सरकारें गिर गईं। उदाहरणार्थ अफगानिस्तान में (रूसी सेनाओं की वापसी के बाद) मध्य एशिया के कई राज्यों में, हैती में, अफ्रीका के कई देशों तथा सोमालिया, खांडा, बरूंडी, आइवरी कोस्ट यूरोप में अल्बानिया व बोस्निया आदि में।

शीत युद्ध के अंत के बाद बहुत से पराजित राज्यों का उदय हुआ। शस्त्र युद्धों का कोई विराम न था – उनमें से कुछ शीत युद्ध की राजनीति की बदौलत थी जब कि शक्तिशाली देश परमाणु अस्त्र–शस्त्र से युक्त थे। ऐसे शासन तंत्रों ने कभी भी व्यक्तियों के अधिकार का कल्याण की चिंता न की। एक बार शीत युद्ध समाप्त हुआ और संबंधित सदस्यों ने समर्थन वापस ले लिया तो विश्व में हिंसा, विप्लव व क्रांतियों आदि की स्थापना होने लगी। पिछले 5 वर्षों में विश्व के विभिन्न भागों में 80 युद्धों व सशस्त्र लड़ाईयों में 11 करोड़ से अधिक लोग मारे गए। सशस्त्र युद्धों का प्रमुख समाघात सीदे–सादे व्यक्तियों द्वारा सहन किया जाता है उनमें भी स्त्रियां व बालक प्रमुख हैं सशस्त्र युद्धों से लगभग 19 करोड़ लोग शरणार्थी बन गए व 39 करोड़ लोग मातृभूमि से बेघर हो गए।

पाठगत प्रश्न 31.2

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें–

1. ..... तथा ..... को महाशक्तियां कहा जाता है।
2. 1960 व 1970 के दशक की अवधि में शीत युद्ध तनावों से राहत मिली (सही/गलत)
3. आधुनिक युग में कुछ महत्वपूर्ण शस्त्र नियंत्रण समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। (सही/गलत)
4. ..... में दोनों जर्मनियों का एकीकरण हुआ।
5. शीत युद्ध की प्रतीक बर्लिन की दीवार को ..... में गिराया गया।
6. शीत युद्ध के अंत का अर्थ नाटो व वार्सा संधि का विलय है। (सही/गलत)
7. शीत युद्ध की समाप्ति के बाद केवल ..... ही महाशक्ति रहा।

8. खाड़ी युद्ध किन-किन देशों के बीच हुआ तथा उसमें किसकी पराजय हुई?

9. ऐसे कुछ नए उभरे हुए देशों के नाम बताएं जिनका उदय शीत युद्ध की समाप्ति के बाद हुआ?

10. संयुक्त रूसी गणराज्य का नया नाम ..... है।

31.7 निरस्त्रीकरण तथा भेदभाव

शीत युद्धोत्तर युग के आरंभ में नई प्रक्रिया का आरंभ हुआ, जिससे अमेरिका व रूस के परमाणु शस्त्र भंडार में काफी कमी हुई यह कमी उन दो संधियों के तहत हुई जो 1991 व 1993 में "स्टार्ट-i व स्टार्ट-ii" के नाम से जानी जाती है। 1993 में रासायनिक हथियारों के प्रयोग व उत्पादन व रोक लगाने के लिए एक भूमंडलीय सभा में हस्ताक्षर किए गए, जो 1997 से लागू हुई। परंतु इसके बाद निरस्त्रीकरण में भेदभाव भी दृष्टिगत हुआ। परमाणु प्रसार संधि, जो 1970 से प्रभावी थी, को 1945 में विस्तार मिला। यह संधि ऐसे देशों को परमाणु एकत्र करने से रोकती है। जिनके पास ऐसे हथियार नहीं हैं परंतु यह संधि इस तथ्य से आश्वस्त नहीं करती कि जिन देशों के पास परमाणु अस्त्र हैं वे आगे इसका उत्पादन नहीं करेंगे। भारत उन देशों में से एक है, जिसने भेदभाव के आधार पर इस संधि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया था।

सीटीबीटी (परमाणु अप्रसार संधि) भी इसी प्रकार की संधि है, जिसका उद्देश्य सभी प्रकार के परमाणु अस्त्रों पर रोक लगाना है। 1996 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में अपनाई गई यह संधि भी भेदभावपूर्ण है यह संधि पाँच परमाणु अस्त्र शक्तियों - चीन, फ्रांस, रूस, ब्रिटेन व अमेरिका के परमाणु अस्त्रों के उन्मूलन या घटोत्तरी पर रोक नहीं लगाती।

भारत ने इसका सदस्य बनने से भी मना किया क्योंकि सीटीबीटी द्वारा न तो परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाई गई न ही परमाणु शस्त्रों का उन्मूलन हुआ। शीत युद्धोत्तर युग में उत्तम पर्यावरणीय सुरक्षा के बाद भी अमेरिका ने देशों के विरुद्ध परमाणु शस्त्रों के प्रयोग को रोकने का आश्वासन नहीं दिया।

31.8 शस्त्र-व्यापार में नव-प्रवृत्तियाँ

शीत युद्धोत्तर काल में शस्त्र-व्यापर में थोड़ी ही कमी आई। 1987 में भौगोलिक शस्त्र हस्तांतरण व बिक्री 70 अरब डालर थी, जो 1993 में घटकर 32 अरब डालर हो गई। शस्त्रों के इस हस्तांतरण व बिक्री में अमेरिका 22 अरब डालर के साथ सर्वोपरि रहा। शस्त्रों का अन्य निर्यातक रूस को 2.8 अरब की आय हुई तथा बाकी आय जर्मनी, इटली व अन्य यूरोपीय देशों को हुई।

शस्त्र-व्यापार का एक और पक्ष भी है, अमेरिका व अन्य पश्चिमी देशों में शस्त्रों का उत्पादन गैर-सरकारी व्यावसायिक उद्यमियों द्वारा किया जाता है। ऐसे देशों की सरकारें नियंत्रण तो रखती हैं, परंतु विज्ञान व तकनीक में प्रगति से अधिक परिष्कृत अस्त्रों का उत्पादन होता है, जिससे कि वर्तमान शस्त्र-भंडारण अप्रचलित या पुराना हो जाता है। ऐसे शस्त्र निजी व्यापारियों को उपलब्ध कराए जाते हैं तथा ये व्यापारी इच्छानुसार मूल्य निर्धारित कर किसी को भी शस्त्रों की आपूर्ति कर सकते हैं।

शस्त्रों के इस विकास से समकालीन विश्व में 'हिंसा संस्कृति' का प्रसार हुआ है। एके 47 राइफल जैसे शस्त्र आंतकवादियों व व्यवसायी अपराधियों को आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। इससे आंशिक रूप में अपराधी गुटों, हिंसा, आंतक व जनसमुदाय की सुरक्षा को खतरा बढ़ा है। अफगानिस्तान का अनुभव इनमें से एक है।

31.9 मानवाधिकार आंदोलन

शीत युद्ध, मानवाधिकार आंदोलन प्रसार में बाधक रहा है। शीत युद्ध की समाप्ति से विश्व के लोगों के लिए बेहतर जीवन की आशा की गई। अमेरिका व इसके सहयोगी देशों ने मानवाधिकार, लोकतांत्रिक मूल्यों व मुक्त बाजार के प्रसारों की पुनरावृति की। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की पंद्रह सदस्यीय देशों की बैठक हुई, जिन्होंने विश्व शांति के लिए मानवाधिकारों की सुरक्षा को सहमति दी। भूख, हत्याओं, बोसनिया, रवांडा तथा सोमालिया जैसे देशों में शरणार्थियों की बढ़ती संख्या, हिंसा के रूप में मानवाधिकारों का अतिक्रमण हो रहा है, जिससे पड़ौसी क्षेत्रों को

शांति व सुरक्षा का गंभीर खतरा उत्पन्न हो गया है। विश्व बैंक व यूएनडीपी जैसी अंतराष्ट्रीय एजेंसियों ने मानवाधिकारों के प्रसार पर बल दिया है ताकि विभिन्न देशों में जन-संसाधनों का विकास हो सके।

यह बहुत रोचक बात है कि मुक्त बाजार या भौगोलिकता और अर्थव्यवस्था की उदारता मानवाधिकारों से जुड़े हैं। यह कहा जाता है कि सरकारों के नियंत्रण से मुक्त निजी उद्यमी मानवाधिकारों के प्रसार के लिए साधन उपलब्ध कराते हैं।

इस प्रकार की घोषणाओं व संभावनाओं के बाद भी शीत युद्धोत्तर काल में मानवाधिकारों की अच्छी स्थिति नहीं हैं बल्कि कुछ क्षेत्रों मे तो यह अधिक खराब है। गरीबी, भूख बेरोजगारी मानवाधिकारों का अतिक्रमण बढ़ रहा है। हिंसा, सशस्त्र युद्धों, हत्याओं की कहीं भी कोई सीमा नहीं है।

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप, यूरोप, जापान व अमेरिका के औद्योगिक देशों मे बेरोजगारी बढ़ रही है तथा औद्योगिक देशों में गरीबी रेखा 15% बढ़ गई है। गरीबी एक सापेक्षिक पद है। अमेरिका व यूरोप में गरीबी उस प्रकार की नहीं है जितनी कि तृतीय विश्व के देशों में है। इससे अधिक औद्योगिक देशों में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के लिए भी प्रावधान है। परंतु तृतीय विश्व के देशों में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है।

पाठगत प्रश्न 31.3

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

1. विश्व राजनीति में '' 'एक ध्रुवीय'' पद का अर्थ एक/कई शक्ति केंद्रों का प्रभाव होना है.....।
2. यूरोप व अफ्रीका में शीत युद्धोत्तर विवाद के उदाहरण थे, जिसमें हजारों निर्दोष लोग मारे गए?
3. परमाणु - अप्रसार संधि को अनिश्चित रूप से ..... में विस्तृत किया गया।
4. सीटीबीटी संधि कम्प्यूटर व प्रयोगशाला में परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाती है।
5. रासायनिक हथियारों की रोक ..... से लागू हुई। (1993, 1995, 1997)
6. ..... उन देशों में से एक है जो कि परमाणु - अप्रसार संधि व सीटीबीटी संधि का विरोध करते हैं।
7. शीत युद्धोत्तर वर्षों में मानवाधिकारों का अतिक्रमण समाप्त हो गया है। (सही/गलत)
8. शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था में ..... का एक प्रभाव धमकी के रूप में उद्भव हुआ है।

31.10 गरीबी की विशालता

अत्यधिक गरीबी, अभावग्रस्तता आज के जीवन की सामाजिक बुराईयाँ हैं। ऐसे गरीबों की संख्या, जिनके पास पर्याप्त भोजन, आवास, रोजगार बीमारियाँ तथा भुखमरी मानव विकास में रिपोर्ट द्वारा 1.3 करोड़ आंकी गई है। उनकी दैनिक आय 1 डालर प्रतिदिन से भी कम है। लगभग ये सभी अभावग्रस्त व्यक्ति अफ्रीका, एशिया व लैटिन अमेरिका में रहते हैं। विश्व का यह भाग विश्व की जनसंख्या के दो-तिहाई हिस्से का प्रतिनिधित्व करता, जिसे तृतीय विश्व या विकासशील विश्व कहते हैं। उनमें से लगभग 40% गरीबी रेखा पर जीवनयापन कर रहे हैं ।

खाद्य उत्पादन के प्रसार के बावजूद भी 'भूख' की समस्या बढ़ रही है। उ.अमेरिका व यूरोप के देशों में, किसानों को सहायता प्रदान प्रदान की जाती है इसी लिए वहां अनाज उत्पादन का आधिक्य है, जिसे 'शीत भंडारण' में रखा जात है। खाद्य भंडारण के ऊपर करोड़ो डालन खर्च किए जाते हैं। किसानों को सहायता देने का, तथा अतिरिक्त खाद्य को भंडारण में रखने का उद्देश्य कीमतों में स्थिरता के उद्देश्य से आपूर्ति पर नियंत्रण रखना है।

फिर भी मानवता के सामने प्रमुख चुनौती असंतुलित अर्थव्यवस्था की समस्या से बाहर निकलना है। इस व्यवस्था के द्वारा समृद्ध औद्योगिक राज्य अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, मुद्रा व राजकोषीय व्यवस्था का अपने हितों के अनुरूप प्रबंधन करते हैं। 'उत्तर' के ये समृद्ध औद्योगिक देश विश्व की 20% जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें उत्तरी

अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, यूरोप (रूस भी) व जापान शामिल हैं। विश्व व्यापार में इन औद्योगिक देशों का हिस्सा 85% है। संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व की जनसंख्या के 6% सहित विश्व की कुल आय का 30% इस्तेमाल करता है। इसके विपरीत शेष विश्व (तृतीय विश्व) अत्यधिक गरीबी में रहता है। तृतीय विश्व में विश्व जनसंख्या का तीन-चौथाई हिस्सा तथा विश्व आय का 1/5 हिस्सा है।

31.11 ऋण-भार

ऋण भार के कारण तृतीय विश्व के देशों की दशा बिगड़ गई है। 1993 की विश्व बैंक की रिपोर्ट दर्शाती है कि 1980-92 में विकासशील देशों ने 12,000 करोड़ डालर अधिक कर्ज चुकाया है तथा यह केवल ऋण का ब्याज व कुछ हिस्सा ही है। इस राशि को चुकाने के बाद भी विकासशील देशों का कुल ऋण अब भी लगभग 13,000 करोड़ डालर है।

आज के अफ्रीकी देशों पर इतना अधिक ऋण भार होते हुए भी। विकास सहायता के बदले वे कर्ज का तिगुना चुकाते हैं।

भारत, जो कि अपनी आवश्यकताओं के तेल का 40% आयात करता है, उस पर भी 96 डालर ऋण है। प्रत्येक वर्ष भारत 13 डालर चुकाता है जिसमें से 4.5 डालर विश्व बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को जाते हैं तथा शेष भाग द्विपक्षीय कर्जों को चुकाने में चला जाता है। विश्व बैंक के अनुसार भारत मध्यमरूप से कर्जग्रस्त है, जो कि आयात से प्राप्त आय का 28% चुकाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि भारत की निर्यातक आय 80% है। इस प्रकार जो कुछ भी भारत आयात के लिए चुकाता है उस आधार पर भारत भी ऋणग्रस्त है।

31.12 बहुराष्ट्रीय कंपनियां एवं भूमंडलीकरण

समकालीन विश्व में व्यापार, वाणिज्य, दूरसंचार, हवाई सेवाएं, जहाजरानी का प्रबंधन व्यवसायिक निगमों द्वारा किया जाता है, जिन्हें बहुराष्ट्रीय निगम कहते हैं। संयुक्त राष्ट्र में उन्हें पारदेशीय निगम कहा जाता है। शीत युद्धोत्तर (1945 के बाद) काल शुरू होते ही बहुराष्ट्रीय कंपनियों की विश्व अर्थव्यवस्था में प्रभावी भूमिका रही है। फिर भी शीत युद्ध के दौरान उनकी भूमिका पश्चिमी विश्व में तथा विकासशील देशों (जिनका पश्चिमी विश्व से राजनैतिक व सैन्य गठन था) तक ही सीमित हो गया। परंतु शीत युद्धोत्तर युग के आरंभ में ही बहुराष्ट्रीय निगमों को सभी देशों रूस, पूर्वी यूरोप समाजवादी चीन व वियतनाम में प्रभावी स्थान प्राप्त हो चुका था।

बहुराष्ट्रीय निगमों के पास वृहद कोष व तकनीकी विशेषज्ञ होते हैं, जो कि विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिए दो जरूरी चीजें है। कुछ बड़ी बहुराष्ट्रीय निगमों की कुल परिसंपत्तियां मध्य आकार की अर्थव्यवस्थाओं के सकल घरेलू उत्पाद से भी अधिक होती है। उदाहरणार्थ अमेरिकी कंपनी 'जनरल मोटर्स' की कुल परिसंपत्तियां 140 अरब डालर, रायल डच (नीदरलैंड) की 95 अरब डालर, मित्सुबीशी (जापान) की 60 अरब डालर है। इसकी तुलना में इंडोनेशिया का सकल घरेलू उत्पाद लगभग 115 अरब डालर, पाकिस्तान की 45 अरब डालर नाइजीरिया का 40 अरब डालर व मिस्र का 37 अरब डालर है।

कुछ बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों के साथ वास्तविक रूप में सहयोग करते हैं तथा आपसी लाभ से स्वंय के तथा उस देश के हितों की भी रक्षा करते हैं, जिसमें वे कार्य संचालन करते हैं। परंतु बहुत सी दशाओं में, निगम देश के प्राकृतिक संसाधनों व श्रम संसाधनों का शोषण करते हैं। अधिकतर विकासशील देशों में ये निगम स्थानीय नामों के तहत स्थानीय श्रम को उससे सस्ती दरों पर प्राप्त करते हैं, जो वह अपने देश में प्राप्त कर सकते हैं। परंतु वास्तविक लाभ वे अपने देश में ही हस्तांतरित कर देते हैं।

शीत युद्धोत्तर काल में बहुत से बहुराष्ट्रीय निगमों का उदय व प्रसार हुआ। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि रूस व पूर्वी यूरोप में साम्राज्यवाद के अंत से अप्रतिबंधित विश्व व्यवस्था का प्रसार हुआ। बाद में मलेशिया, द.कोरिया, सिंगापुर, भारत के कुछ छोटे व्यवसायिक निगमों ने बहुराष्ट्रीय निगमों का स्तर अर्जित कर लिए। अतः तीन या चार निगम ही विश्वव्यापी चाय उत्पादन तथा वितरण का कार्य संभालते थे । सात बहुराष्ट्रीय निगमों – बीपी, चेवरान, एक्सल, गल्फ, मोबिल, शैल तथा टैक्सको, जिन्हें "सेवन सिस्टर्स" कहते हैं, ने तेल शोधन व शोषण की तकनीक व इसके विश्वव्यापी वितरण पर नियंत्रण रखा।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि कोई भी अंतराष्ट्रीय प्रभुत्व इनके क्रिया संचालन पर नियंत्रण नहीं रखता। संयुक्त राष्ट्र ने इन 'सेक्रन सिस्टर्स' की गतिविधियों व शक्तियों के दुरूपयोग को जाँचने का प्रयास किया था कई वर्षों तक संयुक्त राष्ट्र ने निगमों के लिए 'आचरण संहिता' बनाने का प्रयास किया परंतु इस पर दो दशकों के कार्य के बाद तथा संहिता का रफ खाका बनाने के बाद 1980 के दशक में इस विचार को त्याग दिया गया। अमेरिकी दबाव के तहत 1992 में संयुक्त राष्ट्र का निगमों से संपर्क समाप्त हो गया।

बहुराष्ट्रीय निगमों की बढ़ती हुई भूमिका भूमंडलीकरण से संबंधित है, जो कि शीत युद्धोत्तर उत्तर विश्व व्यवस्था का प्रमुख लक्षण रहा। भूमंडली अर्थात संपूर्ण विश्व को पूंजी व सौदों के लिए एक बाजार समझा जाए दूसरे शब्दों में पूंजी संचालन पर कोई प्रतिबंध न हो – विदेश प्रत्यक्ष निवेश व कोषों का स्थानांतरण आदि भूमंडलीकरण की यह मांग है कि एक से दूसरे देश को लाया जानेवाला कच्चा माल व निर्मित माल के संचालन पर भी प्रतिबंध हो।

भूमंडलीकरण श्रम के अप्रतिबंधित संचालन को नहीं मानता अर्थात एक देश का श्रम, विशेषकर तृतीय देश का श्रम जहाँ मजदूरी की दरें कम हैं, वहीं रहे जहां वह है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण तृतीय विश्व के देशों की अर्थव्यवस्था का निगमों के अनियंत्रित शासन से प्रभावित रहता है।

भूमंडलीकरण 'निजी उद्यम' से भी संबंधित है। अर्थात सरकार को उत्पादन व वितरण के साधनों पर नियंत्रण नहीं रखना चाहिए। आर्थिक गतिविधियाँ निजी उद्यमियों या व्यवसायियों के लिए छोड़ दी जाएँ। व्यस्त उद्यम के तहत सभी आर्थिक गतिविधियां बेहतर परिणामों को प्राप्त करेंगी। सौदों व सेवाओं की मात्रा व गुणवत्ता दोनों में प्रसार होगा। यह भी कहा जाता है कि निजी उद्यमियों या व्यापारिक निगमों के बीच लाभ हेतु प्रतियोगिता देश की अर्थव्यवस्था के लिए लाभकारी होगी जिससे लोगों की समृद्धि बढ़ेगी।

इन सभी व्याख्याओं का अर्थ है कि बृहद पूंजी व तकनीकी जानकारियों युक्त निगमों (जो कि उत्तरी क्षेत्र के औद्योगिक देशों में स्थित है) को बिना किसी प्रतिबंध के तृतीय विश्व के देशों में कार्य संचालन की अनुमति दी जाए।

बहुत से अर्थशास्त्रियों व राजनैतिक नेताओं ने इन सभी बहसों की वैधता पर प्रश्न उठाते हुए इंगित किया कि भूमंडलीकरण से केवल नव-उपनिवेशवाद का जन्म होगा।

> **नव उपनिवेशवाद** अर्थात ऐसे शक्तिशाली राष्ट्रों की नीतियां जो कि स्वतंत्र राष्ट्र या राष्ट्रों पर राजनैतिक व आर्थिक राष्ट्र के औपनिवेशिक स्तर को कानूनी रूप से घटाए बिना, प्राप्त करना चाहते हैं।

तृतीय विश्व के देश सामान्यत: स्वतंत्र ही हैं परंतु सांस्कृतिक व आर्थिक रूप में उत्तर के उन्नत देश इन पर हावी हैं। यह भी कहा जाता है कि भूमंडलीकरण से धनी लोग और धनी तथा गरीब लोग और गरीब बनेंगे। परंतु आर्थिक दबावों के रहते भारत सहित सभी देशों के लिए कोई रास्ता नहीं है।

31.13 पर्यावरणीय संकट

विश्व समुदाय जिन चुनौतियों का सामना कर रहा है उनमें से पर्यावरण प्रदूषण भी एक गंभीर समस्या है। मानव की प्रकृति के ऊपर श्रेष्ठता स्थापित करने की प्रवृत्ति से हमने स्वयं ही विनाश के बीज बो लिए हैं उदाहरण स्वरूप आक्सीजन ही पृथ्वी पर मानव जीवन के लिए सबसे जरूरी तत्व है । बिना इसके मानवजीवन ही समाप्त हो जाएगा। जैसा कि हम जानते हैं आक्सीजन पौधों, पेड़ों, घास व समुद्रों की तह में छिपी हरियाली से उत्पन्न होती है परंतु आज नदियां व समुद्र ही सर्वाधिक प्रदूषित हैं।

मानवीय गतिविधियों से प्रभावित प्रदूषित पर्यावरण के संबंध में एकत्रित आंकड़े ही इसके गवाह हैं मृदा अपरदन, मृदा कटाव, घटते हुए वन, प्रदूषित जल व वायु सरीखी घटनाओं से जल व वायु परिवर्तन व ओजोन की परत में कमी हो रही है क्योंकि उद्योगों से विभिन्न प्रकार की जहरीली गैसें व कार्बन डाईआक्साईड निकलती है। इस संबंध में प्रमुख औद्योगिक देश अधिक अपराधी हैं।

उत्तर के उन्नत देश व दक्षिण के विकासशील देश पर्यावरणीय सुरक्षा की कार्य योजनाओं पर एक मत नहीं हैं। 90% प्रदूषण के जिम्मेदार औद्योगिक देशों का कहना है कि अफ्रीका, एशिया व लैटिन अमेरिका को अपने देशों में पर्यावरणीय सुरक्षा के लिए कुछ करना चाहिए। जबकि विकासशील देश कहते हैं कि औद्योगिक देशों को मानवीय पर्यावरण की सुरक्षा के लिए वित्तीय सहायता व तकनीकी जानकारियाँ उपलब्ध करानी चाहिए।

शीत युद्ध की समाप्ति पर इस संबंध में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की कुछ आशा प्रबल हुई। पर्यावरण व विकास पर रियोडी जेनेरो (ब्राजील) में 1992 में सम्मलेन आयोजित किया गया। सम्मेलन को 'अर्थ सम्मिट' के नाम से जाना जाता है। इस सम्मलेन ने संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के साथ समर्पित विकास पर आयोग स्थापित किया, परंतु रचनात्मक सहयोग के अभाव के कारण औद्योगिक व विकासशील देशों में प्रदूषण सुधार संबंधी प्रगति धीमी रही।

31.14 भौगोलिक प्रबंधन की आवश्यकता

हमने पूर्व पृष्ठों में जो कुछ भी पढ़ा उसके अनुसार स्पष्ट है कि मानवजाति के समक्ष जो समस्याएँ हैं वे प्रकृति में जटिल व भौगोलिक हैं। इनका निवारण किसी राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह से नहीं हो सकता। इसके लिए सभी देशों के सहयोग की आवश्यकता है दूसरी ओर पर्यावरण संबंधी या गरीबी की समस्याएँ सामाजिक आर्थिक व सांस्कृतिक दशाओं से जुड़ी हुई हैं। ये दशाऐं प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग हैं परंतु उन्हें केंद्रीकृत भौगोलिक व्यवस्था द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है इसके लिए सभी देशों के सक्रिय सहयोग व परामर्श पर आधारित भौगोलिक व्यवस्था की आवश्यकता है।

दुर्भाग्य से जो कुछ भी समकालीन विश्व में हो रहा है वह भौगोलिक मुद्दों पर कुछ शक्तिशाली राष्ट्र निर्णय लेकर उन्हें बाकी विश्व पर थोपने का प्रयत्न करते हैं। यह वर्तमान शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था में सत्य है परंतु इससे पूर्व स्थिति अलग थी तब काफी सीमा तक संतुलन व्याप्त था। एक ओर अमेरिका व इसके साथी दूसरी ओर रूस व इसके साथी थे। दोनों ही पक्ष तृतीय विश्व के देशों पर विजय चाहतते थे तृतीय विश्व के देशों ने ही गुटनिरपेक्ष नीति को बड़े स्तर पर अपनाया था। यह नहीं कह सकते कि शीत युद्ध काल आज के युग से बेहतर था उस समय अंतर यह था कि शक्ति का कोई केंद्र सर्वव्याप्त व अधिक प्रभावी न था।

शीतयुद्धोत्तर युग में शक्ति का एक केंद्र रूसी गणराज्य पृथक हो गया। ऋण-भार व अन्य आर्थिक व राजनैतिक कारण से तृतीय विश्व के देश संयुक्त राज्य अमेरिका व इसके साथी राष्ट्रों के प्रभाव को नहीं नकार सकते थे। विभिन्न तकलीफों व परेशानियों का भौगोलिक प्रबंधन जो अमेरिका की नजर में गंभीर परेशानियाँ नहीं थीं। उनके बारे में नहीं सोचा गया।

वित्त, व्यापार व वाणिज्य के संबंध में, अमेरिका परामर्श से निर्णय लेता है। यह परामर्श विशेषकर जापान व जर्मनी के साथ, जिन्हें 'सात समूह (जी-7)' के नाम से जानते हैं व इन निर्णयों के लिए अंतर्राष्ट्रीय वैधता विश्व व्यापार संगठन एवं अंतराष्ट्रीय मुद्राकोष के द्वारा प्राप्त करते हैं।

संक्षेप में शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था में अर्थव्यवस्था के समान प्रबंधन व शांति और न्याय को सुनिश्चित करती भौगोलिक राजनैतिक व्यवस्था के लिए कम संभावनाएँ दिखती हैं। यह दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान युग एक प्रकार से उपनिवेशवाद व साम्राज्यवादी युग का पुर्नजागरण है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण अंतर है । यह अंतर उननिवेशवाद व साम्राज्यवाद में व्याप्त संचार साधनों व जो कुछ आज उपलब्ध है, के मध्य है। इस अंतर से पृथ्वी को रहने का बेहतर स्थान बनाने का विश्वव्यापी आंदोलन सामने आया। यह आंदोलन उन संगठित समूहों द्वारा फैलाया गया जिन्हें गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) कहते हैं।

राष्ट्रीय सीमाओं के आरपार व्यक्ति गरीबी, पर्यावरण प्रदूषण, परमाणु शस्त्रों के प्रसार व सामूहिक विनाशों के अन्य हथियारों, अंतर्राष्ट्रीय आंतकवाद तथा मानवाधिकार अतिक्रमण की समस्याओं के प्रति जागरूक हो रहे हैं। अतएव जनता गैरसरकारी संगठनों की कार्य योजनाओं के साथ मिलकर सामान्य समस्याओं पर सहयोग देने के लिए सामने आ रही है। इन गैर सरकारी संस्थानों ने यूरोप, उत्तरी अमेरिका व विश्व के अन्य भागों में सरकारों को भौगोलिक हितों के मद्देनजर निर्णय लेने के लिए बाध्य किया है।

इस प्रवृत्ति के साथ साथ बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति भौगोलिक चुनौतियों का सामना करने के लिए हर संभव योगदान दे रहे हैं विये ब्रॉड आयोग (पश्चिम जर्मनी के पूर्व कुलपति) ने उत्तर-दक्षिण की समस्याओं पर जो रिपोर्ट

लिखी वह शीतयुद्ध काल की थी। उसी प्रकार शीतयुद्धोत्तर वर्षों में प्रतिष्ठित आयोग स्थापित किए गए। उदाहरणार्थ भौगोलिक आयोग, जिसमें स्वीडन के पूर्व प्रधानमंत्री श्री इंगवर कार्लसन व कामनवेल्थ के पूर्व महासचिव श्रीदत्त रामफल शामिल थे, इसका गठन 1995 में हुआ व इसने अपनी रिपोर्ट 'अवर ग्लोबल नेबरहूड' शीर्षक से दी तथा उसने संयुक्त राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने संबंधी प्रस्तावों की सिफारिश की। गैरसरकारी संस्थानों व राजनैतिक नेताओं ने भी नीति-निर्धारकों को प्रभावित किया। फिर बेहतर विश्व के निर्माण के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बहुत धीमीगति से प्राप्त हो रहा है।

31.4 पाठगत प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

1. तृतीय विश्व का ऋण लगभग ..... है।
2. आज के कुछ मुख्य बहुराष्ट्रीय निगमों के नाम बताएँ?
3. बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों में निवेश करके लाभों को वापस अपने देशमें हस्तांतरित कर देते हैं सही/ गलत।
4. शीतयुद्ध की समाप्ति से बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों की सहायता प्राप्त हुई / नहीं हुई।
5. पर्यावरण व विकास पर 1992 के सम्मेलन को ..... सम्मेलन के रूप में जाना जाता है।
6. गैर सरकारी संगठन शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।
7. भौगोलिक आयोग की अध्यक्षता किसने की?

31.15 आपने क्या सीखा

आपने पढ़ा कि विश्व छोटा हो रहा है। एक देश की घटनाएँ दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका व रूसी गणराज्य के मध्य शीतयुद्ध आरंभ हुआ। दोनों का विकास महाशक्ति के रूप में हुआ। दोनों ही एक-दूसरे पर प्रत्यक्ष हमला किए बगैर एक दूसरे पक्ष को कमजोर बनाने का प्रयास कर रहे थे परिणामस्वरूप बहुत सी सैन्य संधियों पर हस्ताक्षर किए गए। इससे संयुक्त राष्ट्र की कार्य प्रक्रिया भी प्रभावित हुई। देशों के मध्य शस्त्रों की होड़ शुरू हुई। शीत युद्ध 80 के दशक के अंत तक यह केवल उपशमनकाल को छोड़कर जो राहत की अवधि थी यूरोप में बहुत से सकारात्मक विकासों के बाद वर्ष 1990 को शीत युद्ध का समाप्ति वर्ष कहते हैं। अब संयुक्त राज्य अमेरिका सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरा है। इसके पास वृहद सैन्य दल व आर्थिक शक्ति है। शीत युद्धोत्तर काल में निरस्त्रीकरण प्रक्रिया आरंभ हुई तथा मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ी। परंतु निरस्त्रीकरण में सभी विकास भेदभाव पर आधारित हैं, जो कि भारत व इसकी मानसिकता वाले देशों को स्वीकार्य नहीं हैं। अतएव शीत युद्धोत्तर काल में शस्त्र व्यापार में आंशिक कमी आदि है। संक्षेप में शीत युद्धोत्तर युग शक्ति के केंद्र रूसी गणराज्य का पृथक्करण हो गया। तृतीय विश्व के देश संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव को चुनौती देने में अयोग्य है। वर्तमान युग सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय सुनिश्चित नहीं करता। मानवाधिकारों, पर्यावरण सुरक्षा व विकास के अन्य क्षेत्रों में गैर राजनैतिक संस्थान सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं।

पाठांत प्रश्न :

1. शीत युद्ध के प्रभावों की व्याख्या करें।
2. शीत युद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा प्रसारित 'नव विश्व व्यवस्था' की प्रमुख विशेषताएँ बताएँ?
3. शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था ने विकासशील देशों में गरीब जनसंख्या की परेशानियों को बढ़ाया है, शीत युद्धोत्तर वर्षों में आर्थिक स्थिति की व्याख्या करें?

4. शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था में मानवाधिकारों, पर्यावरण एवं गैर सरकारी संस्थानों के महत्त्व का वर्णन कीजिए?

5. शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था एकध्रुवीय या बहुध्रुवीय है? व्याख्या करें।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

31.1

1. क, 2. ख, 3. ग, 4. घ, 5. कोरियाई द्वीप, वियतनाम, पश्चिम एशिया, इथियोपिया, सोमालिया, 6. ख।

31.2

1. संयुक्त राज्य अमेरिका व रूसी गण्राज्य, 2. सही 3. सही, 4. 3 अक्तूबर 1989, 5. 13 नवम्बर 1989, 6. गलत, 7. संयुक्त राज्य अमेरिका, 8. ईराक के विरूद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इसके सहयोगी, इराक की पराजय, 9. तजाकिस्तान, 10. रूसी गणराज्य।

31.3

1. एक शक्ति केंद्र, 2. बोस्नीया, आर्मिया, यूरोप, सोमलिया, रवांडा, बरूंडी, साइबेरिया, अफ्रीका में जायरे, एशिया में अफगानिस्तान और तजाकिस्तान, 3. 1995, 4. गलत, 5. 1997, 6. भारत, 7. गलत, 8. आंतकवाद।

31.4

1. 2.1, 2. बी.पी., येवरान, आकसान, गल्फ, 3. सही, 4. सहायता प्राप्त हुई, 5. अर्थ, 6. हाँ, 7. इंगवेर कार्लसन और श्रीदत्त रामफल

32
संयुक्त राष्ट्र

32.1 भूमिका

संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने समय की अद्वितीय संस्था है। इसकी सदस्यता सार्वभौमिक है। 1945 में इसके सदस्यों की संख्या 45 थी जो, अब बढ़कर 191 हो गई है। विश्व के अधिकतर देश आज संयुक्त राष्ट्र के सदस्य हैं। संयुक्त राष्ट्र की गतिविधियां केवल सरकारों के ही नहीं, अपितु विश्व के व्यक्तियों की आवश्यकताओं व आशाओं को रूपायित करती हैं। इसीलिए संयुक्त राष्ट्र विश्व संस्था है। इसकी वृहद कार्यप्रणाली में राष्ट्रों के बीच शांति–स्थापना, सदस्य देशों के रहन–सहन को ऊंचा उठाना, मानवाधिकारों का संरक्षण, अंतर्राष्ट्रीय नियमों का आदर करना सम्मिलित है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं, कि हमारे जीवन का कोई भी पक्ष संयुक्त राष्ट्र की बढ़ती हुई गतिविधियों से अछूता नहीं है। फिर भी बहुत से अवसरों पर प्रभावपूर्ण गतिविधियों के अभाव में संयुक्त राष्ट्र को ही दोषी ठहराया जाता है।

32.2 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित तथ्यों से परिचित हो जाएँगे :

- संयुक्त राष्ट्र की उत्पत्ति का अनुरेखन
- इसके लक्ष्यों व आधारभूत सिद्धांत
- इसके प्रमुख अंगों, उनके संयोजन व कार्य
- विश्व शांति व सुरक्षा में इसके योगदान की भूमिका का विश्लेषण
- मानवाधिकारों के संरक्षण व तृतीय विश्व के देशों के आर्थिक विकास में इसका योगदान
- इसके द्वारा किए गए जाति–भेदभाव व उपनिवेशवाद के विरोध के महत्त्वपूर्ण परिणाम, और
- संयुक्त राष्ट्र ही भावी पीढ़ी के लिए सर्वोत्कृष्ण आशा है।

32.3 संयुक्त राष्ट्र के अंग

ऐतिहासिक रूप में, विभिन्न देशों के बीच संबंधों में युद्धों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी पिछली दो शताब्दियों में लड़ी गई लड़ाईयों में विश्व के अधिकाधिक देश शामिल थे। ये युद्ध विनाशकारी थे। बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक दो विश्व युद्धों के साक्षी हैं। प्रथम विश्व युद्ध (1941–19) के विश्वव्यापी जीवन व संपत्ति हानि से भयभीय राष्ट्रों ने दूसरे विश्व युद्ध को रोकने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की। परंतु, दुर्भाग्यवश राष्ट्रसंघ के सदस्य देश विभक्त हो गए तथा 1939–45 के दौरान द्वितीय विश्व युद्ध हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध प्रथम से अधिक विनाशकारी था। यह अनुमान लगाया जाता है कि इस युद्ध में 60 करोड़ लोग मारे गए। शत्रु देशों (जर्मनी, जापान व इटली) की पूर्ण हार के पहले भी, अमेरिका, रूस, ब्रिटेन द्वारा संचालित समवर्गी देशों ने राष्ट्र संघ की सफलता के लिए एक नई संस्था की योजना तैयार की। अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट, ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने अगस्त 1941 में अटलांटिक चार्टर पर हस्ताक्षर किए जो कि युद्ध पश्चात शांति–स्थापना के पक्ष में विभिन्न विचारों व प्रस्तावों पर विचार करने के लिए मास्को, तेहरान, डम्बारख, ओक व याल्ता में बहुत से सभा सम्मेलन आयोजित किए गए। अंत में 1945 में सेन–फ्रांसिस्को में नई संस्था संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए सभा हुई। 51 सदस्य राष्ट्रों सहित संयुक्त राष्ट्र 24 अक्तूबर 1945 को अस्तित्व में आया।

घोषणापत्र ही संयुक्त राष्ट्र का संविधान है। इसमें संस्था के उद्देश्य, संयुक्त राष्ट्र व इसके सदस्य देशों के संचालन को प्रभावित करते सिद्धांत, अपने संयोजन व शक्तियों सहित इसके अंगों की सूची है। अतएव घोषणापत्र में संयुकत राष्ट्र का महत्त्वपूर्ण परिचय है।

उद्देश्य एवं सिद्धांत

घोषणापत्र में संयुक्त राष्ट्र के निम्नलिखित चार मुख्य उद्देश्य दिए गये हैं–

(i) विवादों के शांतिपूर्ण समाधान तथा प्रतिबंध व अतिक्रमण द्वारा अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा की स्थापना करना।

(ii) समानता व आत्म–संकल्प के सिद्धांत हेतु विभिन्न राष्ट्रों में मित्रतापूर्ण संबंध विकसित करना।

(iii) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व मानवीय क्षेत्रों में अंतर्राज्यीय समस्याओं के समाधान में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना।

(iv) बिना किसी भेदभाव के मानवधिकारों के लिए सम्मान–भावना का प्रसार।

उपरोक्त उद्देश्यों का समर्थन करते हुए, संयुक्त राष्ट्र व इसके सदस्य देशों को कुछ महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शी सिद्धांतों का पालन करना पड़ता है। इनमें प्रभुसत्तापूर्ण समानता का सिद्धांत सर्वोपरि है। संयुक्त राष्ट्र सदस्यों के घरेलू मामलों में भी हस्तक्षेप नहीं करेगा।

संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देश अन्य देशों के साथ अंतराष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को हानि पहुँचाये बिना अपने विवादों को हल करेंगे। साथ ही सदस्य देश अन्य सदस्य देशों के प्रति किसी धमकी या बल का प्रयोग नहीं करेंगे। सदस्य देश संयुक्त राष्ट्र की सहायता करेंगे न कि उस देश की, जिसके विरुद्ध संस्था ने कार्यवाही की है।

पाठगत प्रश्न 32.1

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

(i) सन 1945 में ..... शहर में संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र का हस्ताक्षर किए गए। (जिनेवा, न्यूयार्क, सैन–फ्रांसिस्को)

(ii) ..... देश, संयुक्त राष्ट्र के मौलिक सदस्य थे। (26, 51, 191)

(iii) संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र का मुख्य उद्देश्य ..... है।

(iv) सदस्य देशों के बीच प्रभुसत्ता संपन्न समानता संयुक्त राष्ट्र का एक आधारभूत सिद्धांत है (सही/गलत)

(v) संयुक्त राष्ट्र सामान्यतः सदस्य देशों के घरेलू समस्याओं पर विचार नहीं करेगा (सही/गलत)

32.4 प्रमुख अंग-संयोजन और कार्य

शांति तथा सह–अस्तित्व के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संयुक्त राष्ट्र के निम्नलिखित छः अंग हैं–

महासभा

- सुरक्षा परिषद
- आर्थिक व सामाजिक परिषद
- न्यास परिषद
- अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय
- सचिवालय

यद्यपि इन सभी अंगों में अन्तः संबंध है फिर भी इनमें से प्रत्येक अपने संयोजन व कार्यों के आधार पर विशिष्ट हैं। आइए एक–एक करके इन्हें जानें:

(a) महासभा

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों में महासभा केंद्रीय संस्था है। समानता व सार्वभौमिकता के सिद्धांत इसी सभा में अंर्तनिहित हैं संयुक्त राष्ट्र के सभी 191 सदस्य इस महासभा के भी सदस्य हैं आकार, शक्ति के भेदभाव के बगैर प्रत्येक सदस्य का एक वोट है, उदाहरणार्थ भूटान व क्यूबा का वोट भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका का है। महासभा दो–तिहाई बहुमत से महत्त्वपूर्ण मसलों पर निर्णय लेती है। शांति व सुरक्षा के नए सदस्यों का प्रवेश तथा बजट–निर्धारण आदि।

सभा की प्रत्येक वर्ष नियमित सत्र में बैठक होती है। अब तक इसके 51 सत्र हो चुके हैं। आवश्यकता पड़ने पर यदि सभा चाहे तो विशेष सत्र या आपातकालीन विशेष सत्र में बैठक आयोजित कर सकती है।

सभा के पास बहुत सी शक्तियां व कार्य हैं। प्रथम यह घोषणापत्र के क्षेत्र में कोई भी मामला हल कर सकती है। चूंकि घोषणापत्र का क्षेत्र काफी विस्तृत है अतएव सभा की शक्तियाँ भी इस प्रकार हैं। शांति व सुरक्षा के प्रश्न, पर्यावरणीय सुरक्षा, आर्थिक विकास, औपनिवेशिक प्रशासन की समस्याए निरस्त्रीकरण, जनसंख्या विस्फोट भौगोलिक साम्राज्यों का प्रयोग आदि इसके अधिकार क्षेत्र में हैं। यह केवल मामलों पर बातचीत ही नहीं करती अपितु सुझाव व सिफारिशें भी प्रस्तुत करती हैं। किंतु यह शांति व सुरक्षा के प्रश्न पर सिफारिशें नहीं दे सकती क्योंकि यह सुरक्षा परिषद का कार्यक्षेत्र है। अपने कार्यों के भाग के रूप में सभा में राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक क्षेत्रों में अंतराष्ट्रीय सहयोग पर महत्त्वपूर्ण घोषणाएं की हैं। मानवाधिकार पर सार्वभौमिक घोषणा (1948), उपनिवेशवाद विरोध पर घोषणा (1960), नव अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (1974) घोषणा आदि कुछ उदाहरण हैं। ये देशों पर बाध्यकारी नहीं है। फिर भी इनके नैतिक व राजनैतिक महत्त्व हैं जिसे नकारा नहीं जा सकता।

अंतराष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में, सभा ने मानवाधिकार, शस्त्र नियंत्रण, राजनैतिक संबंधों से संबंधित कई को अपनाया है। सभा विभिन्न अंगों के लिए सदस्यों का चयन करते हैं या महासचिव को नियुक्त करती है। यह न्यास परिषद् आर्थिक व सामाजिक परिषद व अन्य संस्थाओं के कार्यों का निरीक्षण करती है। सभा को संयुक्त राष्ट्र के बजट को अनुमोदित करने व राशि निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त है।

(b) सुरक्षा परिषद

अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को बनाए रखने में सुरक्षा परिषद, संयुक्त राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अपने संयोजन व निर्णय निर्धारण के आधार पर यह सभा से एकदम भिन्न है। परिषद की सदस्यता 15 है, जिनमें से 5 स्थायी सदस्य हैं। ये पांच राष्ट्र चीन, फ्रांस, रूस, ब्रिटेन व अमेरिका हैं जिन्हें कुछ ऐतिहासिक व राजनैतिक आधारों पर 1945 में चुना गया था। बाकी दस अस्थाई सदस्य सामान्य सभा द्वारा दो वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। बाकी दस सदस्य विश्व के विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों यथा एशिया, अफ्रिका, लैटिन अमेरिका, पश्चिम व पूर्वी यूरोप से आते हैं। प्रारंभ में माना गया कि परिषद का छोटा आकार निर्णय–निर्धारण क्षमता को आसान बनाएगा। सुरक्षा परिषद महत्त्वपूर्ण मसलों पर निर्णय निर्धारण नहीं कर सकती। जब तक कि पांच स्थाई सदस्यों में से किसी भी एक सदस्य का वोट नकारात्मक है। स्थाई सदस्यों के इस विशेषाधिकार को 'वीटो पावर' के नाम से जाना जाता है। वीटो प्रावधान को आरंभ से ही आलोचना का सामना करना पड़ा है। यह शक्ति प्रभुसत्तापूर्ण समानता से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें स्थाई सदस्य प्रभुसत्तासंपन्न हो जाते हैं।

परिषद के कार्य व शक्तियां अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के रखरखाव तक सीमित हैं। यदि दो या अधिक देशों में विवाद उत्पन्न होता है तो परिषद इसका शांतिपूर्ण समाधान निकाल सकती है, परंतु यह सुझाव राष्ट्रों के लिए बाध्यकारी नहीं होता उदाहरणार्थ जम्मू-कश्मीर विवाद में सुरक्षा परिषद के समाधानों को मानने के लिए न तो भारत न ही पाकिस्तान बाध्य है। वे स्वेच्छा से इन्हे स्वीकार कर सकते हैं। देशों के बीच उत्पन्न युद्धों से निपटने के लिए भी परिषद को अतिरिक्त अधिकार प्राप्त हैं। ऐसी स्थिति में परिषद निश्चित कर सकती है कि आक्रमक कौन है तथा पुन: शांति स्थापना के लिए आवश्यक कदम उठा सकती है। इन उपायों में परिषद के स्वविवेक से सहमत आर्थिक स्वीकृतियाँ यथा परिसंपत्तियों का जमाव, आयात या निर्यात पर प्रतिबंध। जल, थल, वायु द्वारा सैन्य कार्यवाही आदि शामिल हैं। परिषद द्वारा निर्णय लिए जाने के बाद निर्णयों का पालन करना सदस्य देशों का कर्तव्य है। परिषद, स्थाई सदस्यों के समझौते से ही ऐसे महत्त्वपूर्ण निर्णय लेती है। हाल ही के वर्षों में शीत युद्ध के बाद परिषद अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा की समस्याओं से निपटने के लिए शक्तियों का स्वतंत्र प्रयोग करने लगी है।

(c) आर्थिक और सामाजिक परिषद्

आर्थिक व सामाजिक परिषद की कार्यप्रणाली तथा उसके नाम से ही स्पष्ट है यह अंतराष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व मानवीय समस्याओं पर विचार करती है। परिषद के पास आयोग की नियुक्ति का अधिकार है। वह आयोग जो स्त्री, जनसंख्या मानवाधिकारों आदि समस्याओं पर सुझाव देता है, यह परिषद विभिन्न विशिष्ट एजेन्सियों अंर्तराष्ट्रीय श्रम संस्था, विश्व स्वास्थ्य संस्था, खाद्य व कृषि संस्था की गतिविधियों के साथ समन्वय करती है। परिषद का अन्य महत्वपूर्ण कार्य गैर-सरकारी संगठनों का विकास करना है। अध्ययन, विचार-विमर्श व समन्वयन के द्वारा यह परिषद पूर्ण रोजगार, रहन-सहन के उच्च स्तर व अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व सामाजिक समस्याओं के समाधान का प्रचार-प्रसार करती हैं। वर्ष में एक बार परिषद की बैठक होती है। परिषद में 54 सदस्य होते हैं सभी को सामान्य सभा 3 वर्ष की अवधि हेतु चुनती है। परिषद ने सामान्य बहुमत व मत के द्वारा निर्णय लिए जाते हैं।

(d) न्यास परिषद्

न्यास परिषद 3 देशों के प्रशासन की देखरेख करती है, जो कि अंतर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था के अंतर्गत आते हैं। न्यास परिषद अप्रत्यक्ष रूप में, नियुक्त प्रशासनिक व्यक्तियों द्वारा 11 प्रदेशों का प्रशासन कार्य देखती है। सभी न्यासी प्रदेश अधिन्यास व्यवस्था से जुड़े हैं। इस परिषद का संयोजन विशिष्ठ रीति में हुआ है। सुरक्षा परिषद के स्थाई सदस्य, जो कि परिषद के प्रबंधक सदस्य नहीं थे, आर्थिक व सुरक्षा परिषद की भाँति, न्यास परिषद भी सामान्य बहुमत से निर्णय ले सकता है, अब जब कि सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध हेतु कोई भी न्यासी प्रदेश नहीं है, न्यास परिषद की बैठक नहीं होती। इस अंग के विषय में घोषणापत्र में संशोधन किए जाने चाहिए।

(e) अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

हेग में स्थित अंर्तराष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख न्यायिक अंग है। विश्व न्यायालय के रूप में प्रसिद्ध इस न्यायालय में सुरक्षा परिषद व सामान्य सभा द्वारा नौ वर्ष की अवधि के लिए चुने गए 15 जज हैं। व्यक्ति नहीं केवल राज्य ही इस न्यायालय में मुकदमा कर सकते हैं। यह न्यायालय सुरक्षा परिषद व सामान्य सभा के आवेदन पर अपनी सलाह प्रदान करता है। अब तक न्यायालय ने 72 मुकदमें तथा 23 सलाहकार मत प्रदान किए हैं।

(f) सचिवालय

सचिवालय भी प्रमुख अंग है। इसमें सदस्य देशों के प्रतिनिधि व विभिन्न अंगों को सेवाएं प्रदान करता अंर्तराष्ट्रीय स्टाफ शामिल है। स्टाफ की संख्या लगभग 50,000 है, जो कि संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय, न्यूयार्क व अन्य स्थानों पर नियुक्त हैं। सचिवालय में भर्ती प्रत्येक सदस्य देश के प्रतिनिधित्व को दर्शाती है। यह स्टाफ किसी देश विशेष को नही बल्कि संयुक्त राष्ट्र को ही सेवाएँ प्रदान करता है। सचिवालय का प्रमुख महासचिव होता है इसे सुरक्षा परिषद की सिफारिशों पर सामान्य सभा द्वारा पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है । संस्था के प्रारंभ होने के बाद से छ: व्यक्ति महासचिव के रूप में रहे हैं। नार्वे के त्रिग्वेली (1946-52), स्वीडन के दाग हैम्म शोल्ड (1953-61), म्यामा के यूथांट (1961-71), आस्ट्रेलिया के कुर्त वाल्द्धाइम (1972-81), पेरू के जेवियर पेरेज डी

क्यूलर (1982-91) तथा मिस्र के बुतरस बुतरस घाली। वर्तमान में घाना के श्री कोफी अन्नान इस प्रतिष्ठित पद पर हैं।

महासचिव के कार्य व शक्तियों से राजनैतिक न्याय की अपेक्षा की जा सकती है। घोषणापत्र में महासचिव को दी जाने वाली शक्तियों का महत्त्व है। ऐसे किसी भी मसले को सुरक्षा परिषद के ध्यान में लाए, जिससे अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता है। महासचिव सुरक्षा परिषद सामान्य सभा की अनुमति या प्राधिकरण के बगैर ही दो विवादग्रस्त देशों के लिए मध्यस्थ की भूमिका निभा सकता है। संक्षेप में, सदस्य देश महासचिव को महत्त्वपूर्ण परामर्श के स्रोत के रूप में देखते हैं।

पाठगत प्रश्न 32.2

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

1. सामान्य सभा संयुक्त राष्ट्र का बजट पारित करती है (सही/गलत)
2. स्थाई सदस्यों को ..... में वीटो प्राप्त है (संयुक्त राष्ट्र के सभी अंगों / सुरक्षा परिषद)
3. न्यास परिषद की वर्तमान सदस्य संख्या क्या है? (5/11/15)
4. विशिष्ट एजेंसियों की गतिविधियों के साथ समन्वयन में संयुक्त राष्ट्र का कौन सा अंग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है? (सामान्य सभा / सुरक्षा परिषद / आर्थिक व सामाजिक परिषद)
5. निजी व्यक्ति अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में मुकदमे कर सकते हैं (सही/गलत)
6. ..... संयुक्त राष्ट्र के वर्तमान महासचिव हैं (बुतरस बुतरस घाली / कोफी अन्नान)
7. अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजों का चयन ..... द्वारा किया जाता है (सामान्य सभा / सुरक्षा परिषद / सामान्य व सुरक्षा परिषद दोनों)

32.5 विश्व शांति में भूमिका

जैसा कि हमें ज्ञात है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है, अन्य उद्देश्य शांति के उद्देश्य के संपूरक हैं। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए संयुक्त राष्ट्र की संस्थाओं, विशेषकर सुरक्षा परिषद को विशिष्ट शक्तियाँ व अधिकार दिए गए हैं। विश्व शांति संरक्षण के लिए संयुक्त राष्ट्र की भूमिका के मद्देनजर एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह एक राजनैतिक संस्था है अंतर्राष्ट्रीय राजनीति व सरकारें स्थिर नहीं हैं। ये समय समय पर बदलती रहती हैं इसलिए संयुक्त राष्ट्र अपनी शक्तियों के प्रयोग में यांत्रिक व एक समान नहीं रह सकता। अतः संयुक्त राष्ट्र की भूमिका लचीली तथा व्यावहारिक है। सामान्यतः परिषद किसी भी आक्रमणकारी देश द्वारा शांति व भंग किए जाने पर उसे प्रताड़ित नहीं करती बल्कि वह लड़ाई रोकने के लिए प्रयास करती है।

अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को कई प्रकार से खतरा है। विवादित सीमाओं पर सेनाओं के युद्ध, एक देश द्वारा दूसरे देश में प्रतिकूल सरकार के परिवर्तन के लिए सैन्य हस्तक्षेप, एक देश के अंदर ही शक्ति संघर्ष के लिए बाहरी सहायता, अमरीका एवं रूसी शिविरों के मध्य शीत युद्ध शत्रुता आदि। इनसे निपटने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने तीन कार्यशैलियां अपनाई हैं। प्रथम, शांतिपूर्ण चरित्रों के प्रयास, दूसरा सैन्य बलों का प्रयोग और तीसरा शांति की पुर्नस्थापना के लिए सैन्य संगठन की नियुक्ति। हम इनकी संक्षेप में व्याख्या पढ़ेंगे।

शांतिपूर्ण समाधानों के लिए संयुक्त राष्ट्र की भूमिका एक शांत व आडंबरहीन प्रक्रिया है। सरकारी सूत्रों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र पिछले 50 वर्षों में विविध विवादों में से लगभग 172 के शांतिपूर्ण समाधान खोज चुका है। मध्यस्थता के द्वारा भी संयुक्त राष्ट्र ने बहुत से देशों की समस्याएँ हल की हैं, मध्यस्थता तकनीक के सहनशीलता व धैर्य की आवश्यकता है इससे थोड़े समय में हल नहीं निकलता है। मध्यस्थता, देशों द्वारा स्वयं, सुरक्षा परिषद या सामान्य सभा अथवा महासचिव के निवेदन पर की जाती है । 1962 का क्यूबाई मिसाइल संकट इसका अच्छा उदाहरण है जब महासचिव यू थेाट की मध्यस्थता से अमेरिकी व रूसी सैनिकों के बीच प्रत्यक्ष टकराहट को रोका जा सका। अक्सर वरिष्ठ व अनुभवी राजनीतिज्ञों को ही मध्यस्थता के लिए कहा जाता है। हाल ही के वर्षों में संयुक्त राष्ट्र

के मध्यस्थों ने अफगानिस्तान, अंगोला, कम्बोडिया; ग्वाटामाला व साल्वाडोर में शांति स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्र ने 1980 में इस आरोप की जाँच की कि ईरान इराक युद्ध में नागरिकों के विरुद्ध रासायनिक हथियारों का प्रयोग किया जा रहा है।

संयुक्त राष्ट्र की भूमिका का दूसरा पक्ष शांति व सुरक्षा को दी जानेवाली धमकियों के विरुद्ध बल प्रयोग के जुड़ा हुआ है। जैसा कि हमने इस अध्याय में पढ़ा कि सुरक्षा परिषद आर्थिक व सैन्य उपायों से उन देशों के खिलाफ कार्यवाही कर सकती है, जो कि अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरा उत्पन्न करते हैं या इसके निर्णय नहीं मानते। तथापि संयुक्त राष्ट्र की भूमिका प्रत्येक मामले की विशेष परिस्थितियों तथा पाँच स्थायी सदस्यों के समझौतों पर निर्भर है। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि संयुक्त राष्ट्र आर्थिक व राजनैतिक स्वीकृतियों के विभिन्न नियमों को दस देशों के विरुद्ध लागू करती है। इन स्वीकृतियों में राजनयिक संबंध तोड़ना, तेल निर्यात व आयात की आपूर्ति रोकना, शस्त्रों की आपूर्ति पर रोक, परिसंपत्तियों पर प्रतिबंध आदि शामिल है। हैती, इराक, लीबिया, सोमालिया, दक्षिण अफ्रिका इनके लक्ष्य रह चुके हैं। यदि इन उपायों का प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन नहीं होता तो संयुक्त राष्ट्र की ओर से सुरक्षा परिषद सैन्य कार्यवाही भी कर सकती है।

परंतु घोषणापत्र तैयार किए जाने के पाँच दशकों के पश्चात भी संयुक्त राष्ट्र कोई सैन्यदल नहीं है। संयुक्त राष्ट्र इच्छुक सदस्य देश को आक्रमणकारी देशके विरुद्ध सैन्य दलों के प्रयोग का अधिकार दे सकता है। संयुक्त राष्ट्र ने 1950 में दक्षिण कोरिया से उत्तरी कोरिया को हटाने के लिए व 1990 में कुवैत से इराक को हटाने के लिए सैन्य बलों के प्रयोग की अनुमति दी। शीत युद्ध के बाद हाल ही के वर्षों में विश्व में बहुत सी ऐसी लडाईयाँ हुईं, जिससे आसपास के क्षेत्रों की शांति को खतरा उत्पन्न हो गया है। इसके प्रति किसी अंतर्राष्ट्रीय सैन्य शक्ति को एक मुख्य शक्ति या क्षेत्रिय संस्था (नाटो) के तहत प्राधिकृत किया जाना संयुक्त राष्ट्र का प्रत्युत्तर था। सोमालिया, बोस्निया, हर्जेगोविना, हैती तथा खांडा में ऐसे ही कदम उठाए गए हैं।

विश्व शांति के रखरखाव में संयुक्त राष्ट्र का तीसरा पक्ष शांति प्रयासों की तकनीक से संबंधित है। शांतिप्रयास अर्थात एक अशांत क्षेत्र में परस्पर विरोधी दलों को एक-दूसरे से अलग रखने के लिए सैन्य व असैनिक कर्मचारियों की बहाली। संयुक्त राष्ट्र इन कर्मचारियों को संबंद्ध देशों की अनुमति के पश्चात ही भेजता है। संयुक्त राष्ट्र अब तक विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे 40 शांति प्रयासों को कार्यान्वित कर चुका है। इन्हें 'ब्ल्यू हैलमेट' के नाम से जाना जाता है। संयुक्त राष्ट्र आपातकालीन सेना, जिसे 1956 में मध-पूर्व के सिनाई क्षेत्र में इस्राइल व मिस्र दलों को शांत करने के लिए भेजा था, पहला बड़ा शांति प्रयास था। उसके बाद ऐसे बहुत से प्रयास किए गए यथा काँगो, साइप्रस, लेबनान आदि में इन्होंने अशांत क्षेत्रों में शांति स्थापना की, ताकि संधिवार्ताओं से मित्रता बहाल की जा सके। उत्तर-शीतयुद्ध काल में बहुत से शांति प्रयास संचालित किए गए। तथा ये किसी देश की सीमाओं के भीतर की समस्याओं को हल करते हैं। उदाहरणार्थ कम्बोडिया, जार्जिया, मोजांबिक, सोमालिया आदि। पूर्व यूगोस्लाविया में चलित मिशन, जिसे संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा सेना के नाम से जाना जाता है, संयुक्त राष्ट्र की इतिहास में सबसे बड़ा शांति प्रयास संचालन है। इस मिशन तथा सोमालिया मिशन से भविष्य में शांति प्रयासों के लिए बहुत सी शिक्षायें मिलती हैं।

पाठगत प्रश्न 32.3

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें -

(1) सुरक्षा एवं शांति मामलों में, संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र प्रावधानों का कठोरता पूर्वक नहीं बल्कि उदारता पूर्वक प्रयोग करता है (सही/गलत)

(2) राष्ट्रों की समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधानों को प्राप्त करने में ..... तथा ..... संयुक्त राष्ट्र के दो प्रमुख पक्ष हैं।

(3) अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान में संयुक्त राष्ट्र की सिफारिशें संबंधित देशों पर बाध्य है (सही/गलत)

(4) सुरक्षा परिषद द्वारा लागू कुछ अनुमोदनों को पहचानिए (शस्त्रों की बिक्री पर प्रतिबंध / राजनायिक प्रतिनिधित्वों मे कटौती)

(5) सैन्य बलों के प्रयोग के लिए सुरक्षा परिषद द्वारा प्राधिकृत किए जाने के दो प्रमुख उदाहरण ..... तथा ..... हैं।

(6) ..... प्रथम शांति प्रयास संचालन था जो कि 1956 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा किया गया था।

32.6 आर्थिक विकास के लिए प्रयास

यद्यपि युद्ध एवं शांति के मसले संयुक्त राष्ट्र को समाचारों की सुर्खियों में लाते हैं, फिर भी संयुक्त राष्ट्र ने आर्थिक व सामाजिक सहयोग के क्षेत्र में भी पूर्ण समपर्व से कार्य किया है संयुक्त राष्ट्र के वित्तीय व मानवीय संसाधनों का लगभग 80% आर्थिक व सामाजिक उन्नति की तरफ लगा है। इसके सभी प्रयास सामूहिक रूप से तृतीय विश्व के विकासशील देशों के हितों की ओर है। यहीं पर विश्व की तीन चौथाई जनसंख्या भूख, रोग, गरीबी, अशिक्षा व ऋण में डूबी रहती है। अल्पविकसित व विकसित देशों का यह सर्वथा व्याप्त अंतर संयुक्त राष्ट्र के लिए चिंता का विषय रहा है।

इस ओर संयुक्त राष्ट्र की दोहरी भूमिका है, एक तो विविध सदस्य देशों के बीच आर्थिक व सामाजिक दशाओं से संबंधित सूचनाओं का संग्रहण व प्रसार, दूसरा आर्थिक उन्नति के मद्देनजर कार्य योजना पर सामंजस्य बनाना। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1960 से प्रत्येक दशक को 'विकास दशक' घोषित करते हुए विभिन्न व्यूह रचनाएं बनाई। कृषि, सकल राष्ट्रीय उत्पाद, कार्यालयीय विकास सहायता के विकास के लिए लक्ष्य निर्धारित किए जाएं। परंतु दुर्भाग्य से कुछ लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सके। इन परिस्थितियों के तहत महासभा ने नय अंतराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (1974) की घोषणा की। यह नई व्यवस्था विकासशील देशों के पक्ष में थी। औधोगिक संबंधों में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका पर नाराजगी व्यक्त की। समृद्ध देशों ने भी इसका विरोध किया क्योंकि इससे तृतीय विश्व के महाशक्ति बनने का खतरा था। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा विश्व बैंक जैसी संस्थाओं पर जोर दिया जो कि संयुक्त राष्ट्र से बाहर थी तथा समृद्ध व उन्नत देशों द्वारा नियंत्रित की जाती थी।

शीत युद्ध की समाप्ति भी तृतीय विश्व के देशों के आर्थिक संकट को दूर नहीं कर सकी। उनका बाहरी ऋण 2,000 अरब डालर हो गया है। इसके अलावा समाजवादी राष्ट्र उस सहायता को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो विकासशील देशों के लिए है 1990 में संयुक्त राष्ट्र ने इंगित किया कि विकास संकट में है यह विविध भौगोलिक मुद्दों, पर्यावरण, जनसंख्या मानवाधिकार आदि को विकास से संबंद्ध करता है संयुक्त राष्ट्र के भौगोलिक सम्मेलनों- 1992 में 'अर्थ सम्मिट' से लेकर 1995 में कोपेनहेगन के सामाजिक बैठक तथा बीजींग स्त्री सभा (1995) ने विकास में जरूरी मुद्दों के लिए विविध कार्य योजनाएं बनाईं।

इसके अलावा भी संयुक्त राष्ट्र विभिन्न प्रकार की सहायताएं प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र जरूरतमंद राष्ट्रों को तकनीकी सहायता और मानवी सहायता प्रदान करता है। वे विकासात्मक परियोजनाओं को सामान्य उपकरणों की आपूर्ति प्रशिक्षण कार्यक्रमों, खाद्य आपूर्ति आदि के मूल्यांकन हेतु विशेषज्ञ उपलब्ध कराते हैं। ताजा आंकड़ों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र एक वर्ष में 35,000 डालर की विकासत्मक सहायता उपलब्ध कराता है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम संयुक्त राष्ट्र संस्था का प्रमुख अस्त्र है। संयुक्त राष्ट्र बाल कोष व संयुक्त राष्ट्र शराणार्थी उच्च आयोग भी संयुक्त राष्ट्र की ओर से सहायता प्रदान करते हैं। इस ओर बहुत कुछ किया जाना बाकी है, परंतु यह यूरोप व उत्तरी अमेरिका के समृद्ध व उन्नत सदस्य देशों की सहायता से ही संभव है।

पाठगत प्रश्न 32.4

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए -

(1) संयुक्त राष्ट्र के ..... प्रतिशत संसाधन विकासत्मक गतिविधियों की ओर उन्मुख हैं। (50/70/80)

.....

(2) तकनीकी सहायता प्रदान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख अस्त्र है .... (संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम / विश्व बैंक / आर्थिक व सामाजिक परिषद)

.....

(3) नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग मुख्यतः ..... द्वारा की गई। (समाजवादी देशों / अल्पविकसित देशों / उन्नत देशों)

.....

(4) आर्थिक विकास के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख महत्त्व ..... (ऋण देने में है / जागरूक बनाने व सांमजस्य स्थापित करने में है। / समृद्ध से गरीब देशों की ओर कोष स्थानांतरित करने में है)

.....

(5) प्रथम विकासात्मक दशक की स्थापना ..... में की गई। (1950/1960/1970)

.....

(6) 1992 में पर्यावरण व विकास पर आयोजित संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन को ..... के नाम से जाना जाता है। (पृथ्वी सम्मेलन / विकास सम्मेलन / पर्यावरण सम्मेलन)

.....

(7) आर्थिक सहायताओं के स्रोत के लिए, संयुक्त राष्ट्र के स्थान पर किस संस्था ने समृद्ध व उन्नत राष्ट्रों का पक्ष लिया? (नाटो / विश्व बैंक / यूरोपीय संघ)

32.7 उपनिवेशवाद और जातिवाद (रंगभेद) के विरुद्ध संघर्ष

जनसंख्या को औपनिवेशिक शासन से मुक्त करवाना संयुक्त राष्ट्र की ऐतिहासिक उपलब्धि है क्योंकि इसीसे संयुक्त राष्ट्र अस्तित्व में आया। 11 देश संयुक्त राष्ट्र के तहत आ गए। कैमरून, नौरू, नई गुइनिया, प्रशांत द्वीप, खांडा, उरूंडी, सोमालिया, तन्जानिया, टोगोलैंड आदि उनमें से कुछ है। परंतु इसके लिए संयुक्त राष्ट्र को धन्यवाद दिया जाना चाहिए अब कोई भी न्यास क्षेत्र नहीं है। 11 में से सात देश स्वतंत्र हो गए व चार का स्वेच्छा से पड़ोसी देशों में विलय हो गया। संयुक्त राष्ट्र ने औपनिवेशिक क्षेत्रों को स्वतंत्र कराने पर विशेष बल दिया। उपनिवेशवाद के विरुद्ध इस प्रचार में 1960 में महासभा द्वारा की गई घोषणा महत्त्वपूर्ण है इस घोषणा में सभी औपनिवेशिक क्षेत्रों व जनसंख्याओं को तत्काल स्वतंत्र करने की मांग की गई। तभी से संयुक्त राष्ट्र के उपनिवेश विरोधी समूह के तहत प्रयुक्त दबाव से 60 प्रदेश स्वतंत्र किए जा चुके हैं तथा अब केवल 17 देश ही उपनिवेशवाद के तहत हैं, जिन्हें संयुक्त राष्ट्र ने बीसवीं सदी के अंत तक स्वतंत्र करने की मांग की है। उपनिवेशवाद के विरुद्ध सर्वोत्कृष्ट सफलता है 1990 में नामीबिया का उदय, जिसके द्वारा दक्षिण अफ्रीकी उपनिवेशवाद का अंत हुआ।

दक्षिण अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र का जातिवाद के प्रति विरोध जिसे 'अलगाववाद' के नाम से जाना जाता है इस संबंध में संस्था के प्रयास 1946 से आरंभ होते हैं। दक्षिण अफ्रीकी श्वेतों ने संयुक्त राष्ट्र के विरुद्ध प्रार्थना को महत्त्व नहीं दिया फलस्वरूप महासभा ने बहुत से कदम उठाए, जैसे कि अंतर्राष्ट्रीय खेल प्रतिस्पर्धाओं में दक्षिण अफ्रीका की हिस्सेदारी। सुरक्षा परिषद ने बाद में दक्षिण अफ्रीका को शस्त्रों की बिक्री पर प्रतिबंध लगाते हुए इन प्रयासों में भाग लिया। इस अलगाव से तथा शीत युद्ध के तनावों से गुजरते हुए दक्षिण अफ्रीका ने व्यवस्था को हटाने के लिए कुछ कदम उठाए। व्यापक स्तर पर सम्मानित अश्वेत नेता नेल्सन मंडेला को 27 वर्षों की कैद के पश्चात मुक्त कर दिया गया। पृथक्करण के नियमों को सुधारा गया। अंतर्राष्ट्रीय अधीक्षण के तहत स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव कराए गए जिसके फलस्वरूप 1994 में राष्ट्रपति मंडेला की सरकार बनी। जल्द ही संयुक्त राष्ट्र ने सभी पूर्व सजाओं को माफ करके विश्व मानचित्र पर दक्षिण अफ्रीका को सही स्थान दिलाया।

32.8 मानवाधिकारों का प्रसार

संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र में विश्वव्यापी मानवाधिकार की सुरक्षा के लिए बेहतर प्रावधान वर्णित है। इस संबंध में मानवाधिकार आयोग, आर्थिक व सामाजिक परिषद, महासभा ने रुचि ली है। मानवाधिकारों को प्रोत्साहित करने वाली लगभग 80 घोषणाएं व रीतियां पिछले पांच दशकों में संयुक्त राष्ट्र द्वारा अपनाई गई हैं।

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा संयुक्त राष्ट्र की पहली उद्घोषणा है। 10 दिसम्बर 1948 को इसे अपनाया गया। यह दिन प्रतिवर्ष मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाता है। उद्घोषणा में आवास, राजनैतिक, आर्थिक,

सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों की व्यापक शृंखला है, जो सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेद के दिए जाने चाहिए। यह सार्वभौमिक उद्घोषणा, अन्य घोषणाओं की ही भांति सरकारों पर बाध्यकारी नहीं है। परंतु इसने कानूनी रूप से आवश्यक संविदाओं के मसौदे को प्रेरित किया। प्रथम आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों पर दूसरा आवास व राजनैतिक अधिकारों के मसौदे पर। ये दोनों संविदाए 1976 के बाद से इसे मानने वाले देशों पर लागू हो गईं। सार्वभौमिक उद्घोषणा सहित ये दोनों संविदाएं 'अंतराष्ट्रीय मानवाधिकार विधेयक' के नाम से जानी जाती हैं।

आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकार संविदा न्यायसंगत दशाओं व कार्य करने के अधिकार, रहन-सहन के पर्याप्त स्तर के अधिकार, सामाजिक सुरक्षा के अधिकार पर प्रकाश डालती है। आवास व राजनैतिक अधिकार संविदा घूमने की स्वतंत्रता, कानून के समक्ष समानता, चुनावों में प्रतिभागिता की स्वतंत्रता, अल्पसंख्यकों के अधिकार की सुरक्षा पर बल देती है। हस्ताक्षरकर्ता देशों की इन संविदाओं के प्रति अनुपालन को मानवाधिकार पर गठित समिति की रिपोर्ट से जाना जा सकता है । ध्यान देने योग्य बात यह है कि गृह व राजनैतिक संविदा के अंतर्गत संयुक्त राष्ट्र की विभिन्न व्यक्तियों से उनकी सरकारों के उपेक्षापूर्व व गलत व्यवहार के विरूद्ध शिकायतें सुनता है।

प्रताड़ना व जातीय भेदभाव को रोकने तथा बालकों, महिलाओं व अप्रवासी श्रमिकों की सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र ने कई घोषणाएं व संविदाएं अपनाई हैं।

संयुक्त राष्ट्र की गतिविधियों में मानवाधिकार पर नियमित सम्मेलनों का आयोजन भी शामिल है। 1993 में ही, संयुक्त राष्ट्र ने वियना में मानवाधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन की सिफारिशों पर कार्य करने के लिए महासभा ने 1994 में संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार उच्च आयोग को नियुक्त किया, जिसका काम पूरे विश्व में मानवाधिकारों के प्रति सम्मान को बढ़ावा देना है ।

पाठगत प्रश्न 32.5

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें

1. उपनिवेशवाद विरोधी उद्घोषणा को ..... में अपनाया गया। (1945 / 1960 / 1995)
2. अधिन्यासी क्षेत्रों के प्रशासन के लिए संयुक्त राष्ट्र उत्तरदायी था। (सही/गलत)
3. दक्षिण अफ्रीका में अलगाववाद के विरुद्ध आंदोलन का नेता ..... थे। (नेल्सन मंडेला / महात्मा गांधी)
4. मानवाधिकारों पर सार्वभौमिक उद्घोषणा संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य देशों पर बाध्यकारी है। (सही/गलत)
5. मानवाधिकार दिवस कब मनाया जाता है? (26 जनवरी / 10 दिसम्बर / 15 अगस्त)
6. मानवाधिकारों पर दो संविदाएं ..... से अस्तित्व में लाई गई (1997 / 1976 / 1966)
7. मानवाधिकार के क्षेत्र में सर्वोपरि सक्रिय संस्था है ..... (विश्व न्यायालय / मानवाधिकार आयोग / आर्थिक व सामाजिक परिषद)
8. 1993 में संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकर सम्मेलन की सिफारिशों पर किस कार्यालय की स्थापना की गई। (आमबडसमैन / मानवाधिकार उच्च आयोग / मानवाधिकार न्यायालय)

32.9 आपने क्या सीखा

संयुक्त राष्ट्र ने विश्व में शांति स्थापना के लिए मध्यस्थता व अन्य सेवाएं प्रदान की। विभिन्न अवसरों पर संयुक्त राष्ट्र ने आर्थिक आदेश जारी किए व कुछ उपेक्षित देशों के विरुद्ध सैन्य बलों के प्रयोग को सुनिश्चित किया। संयुक्त राष्ट्र के शांति प्रयास विश्व में शांति स्थापना के लिए बहुत महत्वपूर्ण रहे हैं इसके अतिरिक्त इस संस्था ने उन्नत देशों द्वारा अल्पविकसित देशों को आर्थिक सहायता प्रदान करवाने के लिए भी प्रयत्न किया। उपनिवेशवाद व जातिवाद के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र का विरोध तथा विश्व में अन्य संस्थाओं द्वारा मानवाधिकारों के प्रचार से भी प्रोत्साहनकारी परिणाम सामने आए हैं ।

संयुक्त राष्ट्र ने विभिन्न पक्षों पर प्रोत्साहनकारी प्रतिज्ञाएं सिखाई हैं, फिर भी जन समुदाय के लिए इसके द्वारा शांत, समृद्ध, समान व न्यायपूर्ण विश्व का निर्माण मुश्किल है । पाँच दशक इन आदर्शों के लिए काम है, परंतु जनसमुदाय एवं सरकारों की सहायता के बल पर अगले पांच दशकों में ये आदर्श वास्तव में प्राप्त किए जा सकते हैं।

पाठांत प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के उद्देश्यों व सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।
2. महासभा व सुरक्षापरिषद के संगठन व कार्यों का तुलनात्मक विश्लेषण करें।
3. विश्व शांति स्थापना में संयुक्त राष्ट्र द्वारा अपनाई जाने वाली कार्य योजनाओं पर प्रकाश डालिए।
4. अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में संयुक्त राष्ट्र के योगदान की जांच करें।
5. उपनिवेशवाद विरोधी प्रयासों में संयुक्त राष्ट्र के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए –

   (क) सेन-फ्रांसिस्को सम्मेलन

   (ख) संयुक्त राष्ट्र महासचिव

   (ग) संयुक्त राष्ट्र के शांति प्रयास

   (घ) मानवाधिकारों पर सार्वभौमिक उद्घोषणा

   (ङ) संयुक्त राष्ट्र अधिन्यास परिषद

पाठांत प्रश्नों के उत्तर

32.1 1. सैन फ्रांसिस्को

2. 51

3. अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा का रखरखाव

4. सही

5. सही

32.2 1. सही

2. सुरक्षा परिषद

3. 5

4. आर्थिक व सामाजिक परिषद

5. गलत

6. कोफी अन्नान

7. सुरक्षा परिषद व महासभा दोनों

33
अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियां

33.1 भूमिका

औद्योगिक क्रांति से एक ऐसी प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ जिससे विश्व के सारे देश अन्योन्याश्रित एवं छोटे होते चले गए हैं। 19वीं व 20वीं सदी की क्रांतियों ने परिवहन, संचार व सूचना के माध्यम से इनकी भौगोलिकता व अन्योन्याश्रितता को बढ़ाया है बाद में इस प्रक्रिया को तकनीकी एवं सूचना विनिमय के तीव्र प्रसार के द्वारा अधिक बल व प्रोत्साहन मिला। परंतु इसके साथ साथ श्रम, व्यापार, स्वास्थ्य, संस्कृति व विकास के क्षेत्रों में कई समस्याएं भी हैं और इन समस्याओं को अंतर्राष्ट्रीय सहयोग व सहकारिता के बगैर नहीं सुलझाया जा सकता। इन चुनौतियों का सामना करने तथा विशेष तकनीकी व गैर-राजनीतिक कार्यों के निपटारे के लिए सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, खाद्य एवं कृषि संस्थान, सामान्य शुल्क व व्यापार अनुबंध जैसी संस्थाएं स्थापित की हैं। विश्व व्यापार संगठन इसमें सबसे नया है।

अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियों की स्थापना के कई कारण हैं। विश्व ने पिछले दो विश्व युद्धों में संपत्ति व जीवन का व्यापक विनाश देखा था। राज्यों की विक्षत अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण हेतु अंतर्राष्ट्रीय संस्थानात्मक प्रबंधों की आवश्यकता थी। अतएव अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का जन्म हुआ। विश्व व्यापार संगठन (तथा इसके पूर्वज गैट) के अतिरिक्त इस अध्याय में वर्णित 6 एजेन्सियों सहित संयुक्त राष्ट्र की 17 विशेष एजेन्सियों हैं इन एजेन्सियों के कार्यक्षेत्र के बाहर परंतु इनकी गतिविधियों को प्रभावित करने वाली सैंकड़ों अन्य बहुराष्ट्रीय निगम भी हैं उनका भी वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

33.2 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप :

- अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियों की स्थापना के उद्देश्यों को जान सकेंगे।
- गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय सहकारिता के प्रसार के लिए संयुक्त राष्ट्र की संस्थाओं तथा आइएलओ, यूनेस्को, डब्ल्यूएचओ, फाओ की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।
- इन अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों के बारे में विभिन्न देशों के विभिन्न विभागों के दृष्टिकोणों से अवगत हो जाएंगे।
- सामाजिक-आर्थिक विकास तथा पुनर्निर्माण में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा विश्व व्यापार संगठन की भूमिका का वर्णन कर पाएंगे।
- बहुराष्ट्रीय संस्थानों की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

33.3 अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन मुख्य एजेंसियों में सबसे प्राचीन है। इसकी स्थापना स्वायत्त संस्थान के रूप में 1919 में की गई, जिसे राष्ट्र संघ से जोड़ा गया। संयुक्त राष्ट्र का उदय होने के बाद 1946 में यह प्रथम विशिष्ट एजेंसी बनी। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का मुख्यालय जेनेवा, स्विट्जरलैंड में है। कार्मिक वर्ग को अपनी सेवाएं प्रदान करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को 1969 में 'नोबेल पीस' पुरस्कार प्रदान किया गया जो कि इसकी 50वीं वर्षगांठ भी थी।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की एक प्रमुख व रोचक विशेषता यह है कि श्रमिकों व कर्मियों के प्रतिनिधि इसके नीति-निर्धारण में 'सरकारी कर्मियों के साथ साथ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है।'

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना सामाजिक न्याय के प्रचार-प्रसार तथा विश्व शांति की स्थापना हेतु की गई। यह संस्था कर्मचारियों के सामाजिक न्याय का विकास करती है। यह संस्था औद्योगिक श्रमिकों की कार्य व रहन-सहन दशाओं को बेहतर बनाने के लिए कार्यक्रमों व नीतियों का निर्धारण करती है। यह राष्ट्रीय प्राधिकारियों के लिए मार्गदर्शिका के रूप में अंतर्राष्ट्रीय श्रम मानदंडों का निर्माण करके, उनसे संबंधित नीतियों को कार्य व्यवहार में लाती है। यह संस्था वृहद तकनीकी सहयोग के माध्यम से नीतियों को प्रभावी रूप में क्रियान्वित करने के लिए सरकार की सहायता करती है। अपने प्रयासों के प्रसार हेतु यह संस्था शिक्षण व शोधों मे भी लिप्त है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का महत्त्वपूर्ण कार्य श्रम मानदंडों की स्थापना करना है तथा यह कार्य दो प्रकार से – रीतियों तथा सिफारिशों को मानकर किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने विभिन्न क्षेत्रों में लगभग 174 रीतियों को ग्रहण किया है। ये क्षेत्र हैं संघ की स्वतंत्रता, मजदूरी, कार्य-दशाएं तथा कार्य-अवधि, कर्मियों को मुआवजा, सामाजिक बीमा, वेतन सहित छुट्टी, औद्योगिक सुरक्षा रोजगार श्रृंखला तथा श्रम निरीक्षण। इसका समर्थन करने वाले राष्ट्रों के लिए इनसे संबंधित प्रावधानों का क्रियान्वयन बाध्य है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ट्रेड यूनियन की स्वतंत्रता पर रीतियों के क्रियान्वयन की देखरेख करता है। इसके लिए एक समिति का गठन किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सिफारिशें (जो संख्या में 180 से अधिक है) भी राष्ट्रीय नीति, विधायिका व व्यवहार के लिए मार्गदर्शिकाएं का कार्य करती है।

तकनीकी सहयोग के कार्यक्रम के माध्यम से, इसके विशेषज्ञ सदस्य देशों की सहायता करते हैं विशेषत: उनकी जो व्यवसाय संबंधी प्रशिक्षण प्रबंधन तकनीके, जनशक्ति योजना, रोजगार नीतियां, व्यवसायिक सुरक्षा और स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था, सहकारिता तथा छोटे पैमाने के दस्तकारी उद्योगों सरीखे क्षेत्रों में प्रयासरत हैं।

1992 में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने 'बाल मजदूरी उन्मूलन से संबंधित का अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम' आरंभ किया, जिसने राष्ट्रीय सरकारों की बाल मजदूरी के विरुद्ध लड़ाई के लिए आधार प्रदान किया। भारत में इस कार्यक्रम के तहत 50 से अधिक गैर-सरकारी संस्थान लिप्त हैं, जो कि सूदूर गांवों, शहरों, कस्बों में 100 से भी अधिक सक्रिय कार्यक्रम तैयार करने व व्यवहार में लाने में संलग्न हैं। भारत में 1994-95 के बजट में 5 करोड़ रू. इसके लिए स्वीकृत किए गए थे। इसके तहत हजारों बाल मजदूरों को मुक्त कराया गया है। कुछ बाल श्रमिकों को राष्ट्रीय खुला विद्यालय के तहत उच्च व उच्चतर माध्यमिक शिक्षाएं पास करने के लिए भी प्रोत्साहित किया गया।

33.4 संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संस्था (यूनेस्को)

यूनेस्को का गठन 1946 में हुआ तथा 1996 में इसने अपनी पचासवीं वर्षगांठ मनाई। 1997 के आकलनानुसार 185 देश इसके सदस्य थे। यह बौद्धिक सहयोग का मानक है। यह संस्था शिक्षा, विज्ञान व सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग के माध्यम से विश्व शांति की स्थापना करती है। भारतीय नेता जवाहरलाल नेहरू, राधाकृष्णन, जाकिर हुसैन व इंदिरा गांधी यूनेस्को के कार्यों से घनिष्ठता से जुड़े हुए थे। जवाहरलाल नेहरू ने यूनेस्को को 'विश्व समुदाय का विवेक' के रूप में परिभाषित किया। इसका मुख्यालय पेरिस, फ्रांस में है।

यूनेस्को का संविधान घोषणा करता है कि "जब मानव मस्तिष्क में युद्ध शुरू होता है तो इसका बचाव भी मानव मस्तिष्क में ही होता है।" यह एक अर्थपूर्ण कथन है। राष्ट्रों के बीच तब तक शांति की स्थापना नहीं हो सकती जबतक कि नागरिकों में सहनशीलता व मैत्रीभाव न उत्पन्न हो। यूनेस्को का संबंध भौगोलिक व उदार शिक्षा,

वैज्ञानिक खोजों के समान वितरण, संचार केंद्र उन्मुक्त, प्रवाह तथा सांस्कृतिक भिन्नताओं के प्रसार से है।

यूनेस्को का आदेश निःसंदेह: बहुत अच्छा है जो विभिन्न आशाओं तथा राजनीतिक विवादों को जन्म देता है। 1980 में अमेरिका, ब्रिटेन तथा सिंगापुर द्वारा सदस्यता वापस लेना यूनेस्को के लिए एक बड़ी घटना रही। यह एक गैर-राजनीतिक एजेंसी का राजनैतिक विवादों में पलटे जाने का दुर्भाग्यपूर्ण उदाहरण बना।

आइए इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लें कि राष्ट्रों का भाग्य कक्षाओं में बनता है तथा आज का विधार्थी ही कल का नागरिक है। अतएव शिक्षा ही यूनेस्को कार्यक्रमों का प्रथम प्रमुख गतिविधि बनी। सालों में साक्षरता कार्यक्रमों को अवधारणा को प्राथमिक शिक्षा को भौगोलिक रूप में समुन्नत करते हुए विस्तृत किया गया। इस माध्यम से अशिक्षा मूल कारण का उन्मूलन किया गया। इसने प्रशिक्षित शिक्षकों, शिक्षा योजनाओं तथा प्रशासकों की भी सहयाता की । इसने सदस्यों की शिक्षा संबंधी नीतियों के निर्धारण में सहायता की तथा शैक्षणिक संस्थाओं के वित्त तथा प्रशासन को भी बेहतर बनाया। यह विद्यालयों के स्थानीय निर्माण व सज्जा को भी प्रोत्साहित करता है। संक्षेप में इसका उद्देश्य शिक्षा को मानव के अधिकार के रूप में प्रयोगात्मक बनाकर नई तकनीक से लाभ उठाना है। तथा विश्व में आए द्रुत परिवर्तनों को जानने के लिए संशोधित विधियों का प्रसार करना है, जिससे कि बेहतर भविष्य के लिए नागरिक प्रशिक्षित हो सकें। भारत में राष्ट्रीय खुला विद्यालय तथा विश्वविद्यालय भी यूनेस्को के इन्हीं कार्यक्रमों का परिणाम हैं।

प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में यूनेस्को ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जो कि मानव तथा जीवमंडल, पर्यावरण, समुद्री विज्ञान, हाईड्रोलॉजी महासागरीय विज्ञान सरीखे क्षेत्रों में क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय शोध परियोजनाओं के विकास में भी सहायता की यूनेस्को की। सहायता से भारत में बहुत से इंजिनियरिंग कालेजों की स्थापना की गई।

सामाजिक विज्ञानों में यूनेस्को ने युद्ध, जातिवाद, विकास के सामाजिक- आर्थिक कारकों तथा मानव व पर्यावरण के संबंधों जैसे विषयों पर अध्ययन उपलब्ध कराया। अपने आरंभिक काल से ही यूनेस्को ने शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति, शांति, महिलाओं, मानवाधिकारों अंतर्राष्ट्रीय विधि पर 100 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इनमें से बहुत सी किताबें राष्ट्रीय पुस्तकालयों व विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को उपहारस्वरूप भेजी गई हैं। इस प्रकार यह मानवाधिकारों तथा शांति की स्थापना के लिए एक उपकरण के रूप में सामाजिक विज्ञानों को समुन्नत बनाती हैं।

सांस्कृतिक धरोहरों का संरक्षण यूनेस्को की अन्य प्राथमिकता है। यह सदस्य देशों को अपने सांस्कृतिक व ऐतिहासिक धमारतों, दुर्लभ पांडुलिपियों तथा कलाकृतियों के संरक्षण के लिए सहायता प्रदान करती है। उदाहरणार्थ, पाकिस्तान में मोहनजोदड़ो के संरक्षण के प्रयास दृष्टव्य है। इसने तमिलनाडु में रंगनाथस्वामी मंदिर के पुनर्निर्माण तथा संवर्धन में और अजंता-एलोरा की गुफाओं के पुनर्स्थापन में सहायता की तथा भारत सरकार की अन्य स्मारकों की भी सुरक्षा की।

यूनेस्को ने "शब्द एंव परिकल्पनाओं द्वारा विचारों के निर्बाध प्रवाह" को भी बढ़ावा दिया।। इसने संचार के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसने संचार संबंधी आवश्यकताओं को जानकर पत्रकारों की सहायता की तथा नई एजेंसियों, रेडियो, दूरदर्शन केंद्रों की स्थापना के लिए देशों की सहायता भी की व उन्हें संचार संबंधी नीतियों पर सुझाव दिए। इसने शैक्षणिक उद्देश्यों की पूर्ति लिए के रेडियो व सेटेलाइट का प्रयोग किया तथा इस निर्बाध प्रवाह को बढ़ाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय संधियों का प्रसार किया। 1978 में इसने "नव अंतर्राष्ट्रीय सूचना तथा संचार व्यवस्था" संबंधी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य प्राप्त किया। यह निर्णय पश्चिमी देशों में विवादग्रस्त रहा क्योंकि वे इस क्षेत्र में अपने एकाधिकार को छोड़ना नहीं चाहते थे।

पाठगत से प्रश्न 33.1

कोष्ठक में दिए गए शब्दों की सहायता से रिक्त स्थानों की पूर्ति करें:

1. ....., संयुक्त राष्ट्र की एक विशेष एजेंसी है, जिसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र के गठन से 25 वर्ष पूर्व की गई। (यूनेस्को / फाओ / आई.एल.आ / डब्ल्यू.एच.ओ.)

2. विशिष्ट एजेंसियों में से किसने 1969 में नोबेल शांति पुरस्कार प्राप्त किया ..... (आई.एल.ओ. / यूनेस्को / डब्ल्यू.एच.ओ. / फाओ)
3. कर्मचारी वर्ग के लिए सामाजिक न्याय का प्रसार करना ..... का उद्देश्य है। (फाओ / डब्ल्यू.एच.ओ. / यूनेस्को / आई.एल.ओ.)
4. किस वर्ष में यूनेस्को ने "नव अंतराष्ट्रीय सूचना व संचार आदेश" मांगा? ..... (1945 / 1975 / 1993)

33.5 विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू. एच.ओ.)

जेनेवा में स्थित विश्व स्वास्थ्य संगठन 1948 में अस्तित्व में आया। यह संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट एजेंसियों मे से एक है। संविधान के अनुच्छेद 1 के अनुसार इसका उद्देश्य "सभी व्यक्तियों द्वारा स्वास्थ्य का संभावित उच्च स्तर प्राप्त" करना है। संविधान स्वास्थ्य को "पूर्ण शारीरिक व मानसिक अवस्था तथा केवल निरोगी होना ही नहीं अपितु सामाजिक संतुलित अवस्था" के रूप में परिभाषित किया है। इसका संविधान इसे विभिन्न सरकारों को स्वास्थ्य सेवाएँ सबल बनाने के लिए रोगों के उन्मूलन संबंधी कार्यक्रमों, मातृत्व व बाल स्वास्थ्य सेवाओं, मानसिक स्वास्थ्य, चिकित्सा शोधों के प्रसार तथा दुर्घटनाओं के बचाव के लिए शिक्षण के स्तर को सुधारों व स्वास्थ्य व्यवस्थाओं के प्रशिक्षण के लिए तथा पर्यावरणीय स्वास्थ्य के विभिन्न पक्षों यथा पोषण, गृहों पर, स्वच्छता, कार्य की दशाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था के निर्देश देता है। इस संस्था को सभाओं, समझौतों तथा अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य मामलों से संबंधित विनियमनों, रोगों के नाम संशोधित करने, मृत्यु के कारणों व जन स्वास्थ्य प्रयोगों, खाद्य, जैवीय, औषधीय व समान अवसरों संबंधी अंतर्राष्ट्रीय मानदंडो के विकास, स्थापना तथा प्रसार का अधिकार प्राप्त है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के कार्य रोग नियंत्रण से स्वास्थ्य सेवा प्रसार की ओर स्थानांतरित हो रहे है 1977 में विश्व स्वास्थ्य सभा की सहमति से संगठन ने "सन 2000 तक सभी के लिए स्वास्थ्य" उद्देश्य की स्थापना की तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक भौगोलिक रूपरेखा बनाई गई यह रूपरेखा प्राथमिक स्वास्थ्य सुरक्षा पर आधारित थी। इस रूपरेखा के क्रियान्वयन के लिए सरकारों व व्यक्तियों के संयुक्त प्रयासों की जरूरत है।

संगठन देशों की विविध प्रकार से मदद करता है यथा उनकी स्वास्थ्य सेवाओं को सबल बनाने में, विशेष तौर पर स्वास्थ्य के लिए मानव संसाधनों का विकास करके, जिसमें व्यक्तियों, परिवारों, समुदायों, स्वास्थ्य संस्थानों के लिए सेवाएं भी सम्मिलित हैं। यह संगठन जरूरी दवाइयों, उपकरणों व अन्य आपूर्तियों के प्रावधानों में भी सहायता प्रदान करता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन व यूनीसेफ (संयुक्त राष्ट्र बाल आपातकालीन कोष) द्वारा विश्वव्यापी अभियान प्रारंभ किया गया जिससे सन् 2000 तक नब्बे प्रतिशत बच्चों को प्रभावी रूप से रोग मुक्त किया जा सके व उन्हें बाल्यावस्था के 6 मुख्य रोगों से बचाया जा सके। ये रोग हैं – डिप्थीरिया, पोलियो, खसरा, टी.बी., टेटनस, काली खांसी। डब्ल्यू.एच.ओ – यूनिसेफ का संयुक्त कार्यक्रम प्रत्येक वर्ष 3 करोड़ से अधिक बच्चों की जान बचाता है। 1980 में इसने विश्व से चेचक के पूर्णतया उन्मूलन का दावा किया, जो कि 13 वर्षीय भौगोलिक कार्यक्रम के परिणामस्वरूप हुआ।

विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा संचालित भौगोलिक शोध कार्यक्रम में एक विशेष कार्यक्रम है, जो कि संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रमों व विश्व बैंक के तत्वावधान में यह कार्यक्रम उष्णकटिबंधीय रोगों (मलेरिया, कृष्ठ रोग) के शोध व प्रशिक्षण का है। विश्व बैंक के सहयोग में कार्य करते हुए फाओ, संयुक्त राष्ट्र संघ कार्यरत है तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन पश्चिमी अफ्रीका के रोग अंधापन) के विरुद्ध लड़ाई में एक वृहद कार्यक्रम में संलग्न है। इस संस्था ने एड्स पर एक सम्मिलित कार्यक्रम चलाया ताकि इसे नियंत्रित कर रोका जा सके तथा समाज व व्यक्तियों पर एड्स का प्रभाव कम किया जा सके।

33.6 खाद्य एवं कृषि संस्थान (फाओ)

सन् 1945 में फाओ की स्थापना की गई, जो कि कनाडा के क्यूबेक शहर में आयोजित विश्व खाद्य सम्मेलन के फलस्वरूप की गई थी। इसका मुख्यालय रोम, इटली में है।

इसके संविधान के अनुसार, संस्था का उद्देश्य पोषण व रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना है, खेतों, जंगलों, मछलीघरों से उत्पन्न खाद्य व कृषि उत्पादों के वितरण व उत्पादन को सुधारना है। ग्रामीण जनता के रहन-सहन को बेहतर बनाना, एवं इन सभी माध्यमों से भूख का उन्मूलन करना है। फाओ के प्राथमिक उद्देश्यों में से एक है कृषि व ग्रामीण विकास को प्रोत्साहन देना। प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्धन व संवर्धन के लिए दीर्घकालिक व्यूहरचना का निर्माण, आपूर्ति में स्थिरता लाना तथा गरीबों को खाद्य उत्पाद की निरंतर आपूर्ति करना। निर्णय लेने, नीति-निर्माण व उनके जीवन को प्रभावित करने वाली गतिविधियों में ग्रामीण जनता की सहभागिता को बढ़ाना है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, फाओ विकसित देशों को तकनीक स्थानांतरण, कृषि शोधों, फसलों की बेहतर उपज, जल प्रबंधन, मिट्टी व कृषि में निवेश का प्रसार करता है। फाओ प्राकृतिक संसाधनों का संवर्धन करता है तथा फर्टिलाइजर व पेस्टिसाइड के राष्ट्रीय प्रयोग का भी विस्तार करता है। संगठन पशु रोगों का उन्मूलन करता है। समुद्री व अंतर्देशीय मछलीघरों का समुचित उपयोग, कृषि के विकास को बढ़ाता है तथा वन संसाधनों के प्रयोग को भी प्रोत्साहित करता है। इन सभी व अन्य क्षेत्रों जैसे पोषण, कृषि, इंजनियरिंग, भूमि संबंधी सुधारों, संचार विकास, वनस्पति व जलवायु के लिए दूरस्थ अनुभवों, फसलों एवं खाद्य के बचाव संबंधी सभी क्षेत्रों में तकनीकी सहायता प्रदान करता है। फाओ भौगोलिक जीव-विविधता (विशेषत: फसलों व पालतू पशुओं की उत्पत्ति विषयक विभिन्नता, जो कि स्थायी कृषि उत्पादन के लिए जरूरी है) पर भी कार्य करता है।

इसके अतिरिक्त, फाओ सूखा व अभावग्रस्त अफ्रीकी देशों की सहायता में भी प्रयासरत रहा है। इसमें, इसने अपनी सहयोगी संगठनों के साथ कार्य किया है। विश्व खाद्य कार्यक्रम खाद्य को सामाजिक व आर्थिक विकास व आपातकालीन राहत के रूप में प्रयोग करता है। 1990 में इसने अफ्रीकी भूमि के पुर्नवास व संरक्षण के लिए अंतर्राष्ट्रीय योजना आरंभ की, जिससे कृषि व ग्रामीण विकास की उन राष्ट्रीय नीतियों का विकास हो सके जो कि खाद्य सुरक्षा, जल व भूमि संसाधनों के प्रयोग द्वारा पर्यावरणीय सुरक्षा व सहभागिता पर बल देती है। इसकी भौतिक सूचना तथा पूर्व चेतावनी व्यवस्था, विश्व खाद्य स्थिति तथा अभावग्रस्त देशों की ताजा स्थिति की जानकारी संभावित दानकर्ताओं को उपलब्ध कराती है। इसकी खाद्य सुरक्षा सहायता योजना विकासशील देशों द्वारा राष्ट्रीय खाद्य कोषों की स्थापना सहायता करती है। यह संस्था कृषि उत्पादन पर सूचनाओं के संग्रह, विश्लेषण तथा प्रचार प्रसार में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

फाओ ऐसे मुद्दों पर विचार-विमर्श में तटस्थ मंच के रूप में कार्य करता है व नीतियों पर सरकारों को परामर्श देता है। यह अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करता है इसके विश्व स्वास्थ्य संगठन के सहयोग से पोषण पर 1992 में अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया था। फिर भी इस संस्थान के कार्य बाह्य राजनीति मुद्दों के बहस से अधिक नहीं हुए है, इसके कुछ कार्य राजनीतिक रूप में विवादग्रस्त रहे हैं इसके अंतिम महा निदेशक जो लेबनान के ई. साओमा थे, साम्राज्य-निर्माण, फिजूलखर्च तथा दानकर्ताओं के विरुद्ध एक गंभीर आरोप था कि उन्होंने ऐसी नीतियों को प्रोत्साहित किया जो कि फाओ के सदस्य देशों के समर्थन में थीं पर उन्हें प्रमुख कार्यों पर खर्च के लिए समुचित रूप से तैयार किया गया था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपरोक्त वर्णित संयुक्त राष्ट्र की चारों विशेष एजेंसियां वित्त संकट के दौरान कठिन समय से गुजरीं। कोषों का मुख्य दानकर्ता संयुक्त राज्य अमेरिका इन एजेंसियों के निर्णयों में स्वयं की प्रमुख भूमिका को चाहता है ताकि विकासशील देश नीतियों कार्यक्रमों के निर्धारण में हावी न हो सकें इन सभी तनावों व दबावों के बावजूद ये एजेंसियाँ अपनी गतिविधियों से संबंधित क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

पाठगत प्रश्न 33.2

कोष्ठक में दिए शब्दों की सहायता से रिक्त स्थानों की पूर्ति करें ।

1. ..... ऐसा रोग है जिसका विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा पूर्णतया उन्मूलन कर लिया गया है। (पोलियो / चेचक / अंधापन)
2. खाद्य व कृषि संस्थान का मुख्यालय ..... में है। (रोम / जेनेवा / पेरिस)
3. 'डब्ल्यू.एच.ओ – यूनिक' का संयुक्त कार्यक्रम ..... में भी अधिक बच्चों की जान बचाता है। (10 करोड़ / 5 करोड़ / 3 करोड़)

33.7 अंतर्राष्ट्रीय वित्त एजेंसियां

विश्व अर्थव्यवस्था का सुगम संचालन उन नेताओं के सामने सर्वप्रमुख आवश्यकता थी जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों की योजना बनाई। युद्ध के पूर्व की आर्थिक मंदी अभी तक दिमाग में ताजा थी। इसकी पुनरावृत्ति से बचने के लिए ब्रेटन (संयुक्त राज्य अमेरिका) में 1944 में एक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसके फलस्वरूप दो प्रमुख एजेंसियों अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक की स्थापना की गई। इन दो एजेंसियों को ब्रेटन वूड संस्थान के नाम से जाना जाता है। इनके मुख्यालय वाशिंगटन में हैं। आइए इनमें से प्रत्येक के बारे में विस्तार से जानें।

33.8 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य हैं– अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा सहकारिता का प्रसार करना, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रसार तथा विनिमय दर में स्थिरीकरण का रखरखाव, विनिमय संबंधी प्रतिबंधों को हटाने में तथा भुगतान की बहुपक्षीय व्यवस्था की स्थापना में सहायता करना। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के वित्त संसाधनों को इस निमित्त उपलब्ध कराना जिससे कि भुगतान के संतुलन द्वारा सदस्य देशों के असंतुलन में कमी आ सके।

संतुलित मत प्रणाली के चलते विकासशील देशों को कम शक्तियां प्राप्त हैं। इस संबंध में संयुक्त राज्य अमेरिका को सबसे अधिक शक्ति प्राप्त है। फिर उसके बाद जर्मनी, जापान, फ्रांस तथा इंग्लैंड का स्थान है। इस भागीदारी का प्रत्येक 4 वर्ष के बाद आवधिक पुनर्निरीक्षण होता है। सभी सदस्यों के मत मिलकर इस संस्था के कार्यों तथा क्षमता के अनुसार नीतियों का निर्धारण करते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, जरूरतमंद सदस्य देशों को समुचित शर्तों व नियमों के तहत कर्ज देता है ताकि वे समस्याओं से संबंधित संकट पर नियंत्रण भुगतान पर विजय पा सकें। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष राष्ट्रीय मुद्रा के अवमूल्यन पर बल दे सकता है सरकारी खर्चों में कमी, सहायता में कटौती आदि के लिए भी जोर डाल सकता है। उन्हें सामान्यतः "सप्रतिबंध" कहा जाता है।

(क) आहरण – जब किसी देश को अल्पकालिक या दीर्घकालिक भुगतान संबंधी समस्याएं हों तो वह देश अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अपनी मुद्रा बेच देता है उसके बदलें बाजार के प्रचलित कीमतो से कम कीमत पर अभीष्ट मुद्रा खरीदता है।

(ख) आवाती समझौता – अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्य देशों को इस बात का आश्वासन देता है कि उन्हें आवश्यकता पड़ने पर ऋण उपलब्ध कराया जाएगा। यह सप्रतिबंध होता है। सदस्य देशों को अनुमानित समस्या से निपटने के लिए आर्थिक नीति सुधारों से अवगत करवाना होता है।

(ग) वित्त – इसे 1963 में, विशेषतौर पर, विकासशील देशों की समस्याओं को दूर करने के लिए आरंभ किया गया इस योजना से प्रथम बार ज्ञात हुआ कि किसी देश के 'भुगतान के संतुलन' की समस्या नियंत्रण से बाहर जा सकती है। अधिकतर विकासशील देश रबड़ या नारियल का उत्पादन करते हैं अतएव अंतर्राष्ट्रीय बाजार में उनके प्राथमिक उत्पादों की अस्थिर कीमतों के कारण उनकी अर्थव्यवस्थाएं संवेदनशील हैं। अतः इस योजना के तहत अपनी संपूर्ण आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए विकासशील देशों को ऋण दिया जाता है।

(घ) विस्तृत कोष सुविधा – यह एक मध्यम आवधिक सहायता है जिसमें ढांचागत कमियों से योजना के माध्यम से निपटने के लिए सुधारक नीति की जरूरत होती है।

तेल सुविधा – इसका प्रावधान 1974 में लागू लागू हुआ जो कि पेट्रोल की कीमतों में अचानक वृद्धि से उत्पन्न भुगतान के संतुलन की समस्या के निपटारे के लिए किया गया था।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष बढ़ती हुई मांगों के मद्देनजर समय समय पर विभिन्न योजनाएं बनाता है। अपने कार्य संचालन के प्रथम दस वर्षों के दौरान, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष यूरोपीय देशों की समस्याओं व स्थायी विनिमय दर व्यवस्था के रखरखाव से अधिक संबंधित रही है। 1970 तक स्थायी विनिमय दर व्यवस्था विफल हो गई व इसका स्थान मुद्रा सौदों में मांग व पूर्ति की बाजार शक्तियों ने ले लिया। 1970 तक अधिकतर यूरोपी शक्तियां पर्याप्त शक्तिशाली बन

चुकी थीं। अतएव अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपना ध्यान विकासशील देशों की भुगतान-संतुलन की समस्याओं पर केंद्रित कर दिया।

1970 के बढ़े हुए अंशदान के कारण ऋण की सुविधाएं भी बढ़ गई है परंतु ये सप्रतिबंध हैं। आर्थिक प्रतिबंधों में विकासशील देश कठिन प्रतिबंधों का अनुसरण नहीं कर सकी क्योंकि यह लंबी अवधि में उनकी राष्ट्रीय सामाजिक आर्थिक नीतियों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार के बचाव गरीबों पर प्रहार करते हैं, क्योंकि वे अपृथक हैं उदाहरणार्थ बजट घाटा नियंत्रण सरकार द्वारा घटाए गए खर्च की सूचना देता है एक विकासशील देश में गरीबी व भूख को मिटाने के लिए राज्य की मध्यस्थता जरूरी है। कुछ अफ्रीकी देशों में बजट घाटा नियंत्रण खाद्य-संघर्ष का कारण बना।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में नीति निर्धारण मतैक्य से होता है जहां धनी देशों का मत अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। संतुलित मत प्रणाली कुछ विकासशील देशों के हितों के विरुद्ध है।

अब तक ऋण संबंधी प्रतिबंध केवल आर्थिक ही हुआ करते थे परंतु अब ये आर्थिक घेरे से निकल गए हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अब अच्छी सरकार, शस्त्र नियंत्रण, लोकतंत्र, कानूनी शासन व सर्वोपरि मानवाधिकार जैसे राजनीतिक उपाय लागू कर रहा है। ये राजनीतिक व्यवस्था का वह रूप विकसित कर रहे हैं जिसका सशक्त सैद्धांतिक अर्थअभिधान है। यह इसके पूर्व एकदम भिन्न थी जब कोष किसी भी राजनीतिक आयाम से विहीन आर्थिक निकाय थी।

आज अधिकतर विकासशील देश किसी न किसी योजना के तहत कर्ज में डूबे हुए है तथा स्वयं को इससे विमुक्त नहीं कर पा रहे हैं। इसे ऋण-जाल कहते हैं तथा निकट भविष्य में इससे निकलने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता।

33.9 विश्व बैंक

आई.बी.आर.डी. को ही विश्व बैंक के रूप में जाना जाता है। यह अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का निकट सहायक व साझेदार है। विश्व बैंक चार संस्थाओं का समूह है। 1945 में स्थापित, अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक, 1956 में स्थापित अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम, 1960 में स्थापित अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ, 1988 में स्थापित बहुपक्षीय निवेश प्रत्याभूति एजेंसी। इन चारों संस्थाओं का उद्देश्य है विकसित देशों के वित्त संसाधनों का प्रपालन विकासशील देशों की ओर करके उनके रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाना।

इसका मुख्य उद्देश्य उत्पादन उद्देश्यों के लिए पूंजी का निवेश उपलब्ध करवा कर विकास व पुनर्निर्माण में सहायता प्रदान करना है।

बैंक के संचालन संबंधी आधारभूत नियम इसके घोषणापत्र में दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं – (i) इसे केवल उत्पादनकारी उद्देश्यों जैसे कृषि, ग्रामीण विकास, उर्जा, शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, पोषण, सड़क व रेलवे, दूरसंचार, शहरी पत्तन व उर्जा आदि के लिए लोन देने का ही अधिकार है (ii) प्रत्येक ऋण की गारंटी संबंधित सरकार द्वारा ली जानी चाहिए कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, जब कि विशिष्ट परियोजनाएं हों। (iii) इसे पुनः भुगतान की संभावनाओं को पूरा पूरा ध्यान में रखकर उसका आदर करना चाहिए। (iv) इसे स्वयं को सुनिश्चित करवाना चाहिए कि अन्य संसाधनों से यथोचित शर्तों पर आवश्यक कोष अनुपलब्ध है (v) ऋण के प्रयोग को किसी विशिष्ट सदस्य देश की मुद्रा खरीदने हेतु प्रतिबंधित नहीं किया जा सकता (vi) बैंक की ऋण नीति आर्थिक मनन पर आधारित होनी चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक अपना अधिकतर धन उन ऋण प्रतिभूतियों के द्वारा उगाहता है जो कि विश्व वित्त बाजार में इसके सदस्यों द्वारा अंशदान में दिए गए शेयर कैपिटल की गारंटी पर आधारित होती है। बैंक के कोषों के अन्य साधन शेयर धारकों की पूंजी तथा धारित आय है। इसके ऋण सामान्यतः 15 से 20 वर्ष के लिए दिए जाते हैं जिसमें 5 वर्ष की अनुग्रह अवधि होती है। बैंक के कार्यों के मूल्य में परिवर्तन के अनुसार प्रत्येक छः माह बाद इन ऋणों की ब्याज पर का समायोजन किया जाता है। 1947 के बाद से बैंक ने प्रत्येक वर्ष लाभ अर्जित किया है। विश्व बैंक का गठन करने वाली चार संस्थाओं में से आई.बी.आर.डी. स्वयं अकेला सभी बैंको के ऋणों का तीन-चौथाई हिस्सा उपलब्ध करवाता है। आई.डी.ए. विश्व के गरीब देशों को ऊंची छूट पर ऋण प्रदान करता है।

एक ऋणी देश के लिए 1990 में "पावर्टी सीलिंग" 740 डालर प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद थी। लगभग आई.डी.ए. के सभी ऋण 50 वर्षों की अवधि के लिए ब्याज के बगैर होते थे (इन्हे ऋण के रूप में नहीं जाना जाता था)। इन पर केवल थोड़ा सा लघु शुल्क होता था। जिससे प्रशासनिक खर्चे पूरे किए जा सकें। दूसरी ओर आई.एफ.सी. सीधे ही निजी क्षेत्रों को बिना किसी सरकारी गारंटी के ऋण देता है। यह विकासशील देशों में पूंजी बाजार के पोषित विकास में निष्पक्ष भूमिका निभाता है। एम.आई.जी.ए. विकासशील देशों में निजी निवेश को परियोजित निवेश की गारंटी उपलब्ध करवाकर प्रोत्साहित करता है।

30 जून 1994 तक बैंक ने विभिन्न परियोजनाओं पर 124 देशों को कुल 249.39 अरब डालर के 3,600 ऋण प्रदान किए। विकासात्मक सहायता के अवशिष्ट आच्छादन को दूर करने के लिए, तथा यह सुनिश्चित कराने के लिए कि कोषों का समुचित संभव प्रयोग किया जाएगा, बैंक ने बहुत से देशों के लिए सहायता-प्रदान करते राष्ट्रों के परामर्शदात्री समूह का गठन किया। इसमें भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश शामिल थे।

सामान्यत: विश्व बैंक का ऋण सदस्य सरकार को दिया जाता है। परंतु यह एक निजी समिति को भी दिया जा सकता है। यदि ऋण मांगने वाले देश की सरकार द्वारा इस ऋण की गारंटी ली जाए। उदाहरणार्थ 1956 में भारत ने टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी को 80 करोड़ डालर का ऋण भारत सरकार की गारंटी पर प्रदान किया गया। भारत के राज्यों ने भी इस बैंक से ऋण प्राप्त किया है। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र की एनरॉन परियोजना को भारतीय गणराज्य की गारंटी के आधार पर यह लोन उपलब्ध कराया गया है। आई.बी.आर.डी. की ऋण क्रियाओं से भारत काफी लाभान्वित हुआ है समग्र रुप से देखें तो बैंक ने, पिछले साढ़े चार दशको में (1993 तक) भारत को लगभग 42 अरब डालर उधार दिए हैं। यह ऋण से आई.बी.आर.डी. तथा आई.डी.ए. के बीच समान रूप से बांटा गया है। भारत ही दोनों संस्थाओं में सबसे बड़ा ऋणी देश है क्योंकि इसने बैंक की कुल ऋण राशि का लगभग 15% ऋण प्राप्त किया है।

33.10 विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.)

सामान्य व्यापार व सीमाशुल्क अनुबंध (गैट) के स्थान पर 1 जनवरी 1995 को विश्व व्यापार संगठन की स्थापना की गई। यह संस्था बहुत से बहुपक्षीय व्यापार संधिवार्ताओं के दौरों का परिणाम थी। मारकेश अनुबंधकर्ता गैट की छत्रछाया में उरूग्वे व्यापार वार्ता के चरम के रूप में की गई। 15 दिसम्बर 1993 को इस वार्ता का अंतिम दौर था तथा प्रतिभागी सरकारों ने अप्रैल 1994 में मारकेश, मोरक्को में आयोजित बैठक में सुनिश्चित नियम पर हस्ताक्षर किए। "मराकेश घोषणा" ने पुष्टि की कि 'उरूग्वे दौर' की वार्ता विश्व अर्थव्यवस्था को मजबूत करेगी तथा पूरे विश्व में व्यापार, निवेश, रोजगार व आयवृद्धि के अधिक अवसर उपलब्ध होंगे। 31 अगस्त 1996 को संस्था ने 123 सदस्य थे।

व्यावसायिक गतिविधियों तथा व्यापार नीतियों के संबंध में विश्व व्यापार संगठन का क्षेत्र व्यापक है। गैट व्यापार में केवल सौदे-सामान पर ही प्रयुक्त था परंतु विश्व व्यापार संगठन, व्यापार में 'सामान', 'सेवाएं', 'विचार विनिमय' तथा बौद्धिक संपत्ति सभी पदों को शामिल करता है।

गैट तथा विश्व व्यापार संगठन के बीच मुख्य अंतर इस प्रकार है -(क) गैट नियमों का समूह, एक बहुपक्षीय अनुबंध है, जिसमें संस्थानात्मक आधार नहीं है। केवल एक लघु संबद्ध सचिवालय है। 1940 में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना के प्रयास में उत्पत्ति हुई। विश्व व्यापार संगठन एक स्थायी संस्था है, जिसका स्वयं का सचिवालय है। (ख) गैट को 'प्रावधानात्मक आधारों' पर लागू किया गया था फिर भी, चालीस से अधिक वर्षों बाद, सरकार ने इसके साथ स्थायी प्रतिबद्धता के रूप में व्यवहार किया। विश्व व्यापार संगठन की वचनबद्धता पूर्ण तथा स्थायी है। (ग) गैट के नियम पण्य सामान के सौदे में प्रयुक्त किए जाते हैं जबकि विश्व व्यापार संगठन सामान के अतिरिक्त संपत्ति में व्यापार व सेवाओं से संबंधित पक्षों का भी प्रतिपादन करता है। (घ) 1980 तक जब गैट एक बहुपक्षीय साधन था, इसमें बहुत से नए अनुबंध जोड़े गए। वे अनुबंध जो विश्व व्यापार संगठन का गठन करते हैं वे सभी बहुपक्षीय हैं तथा इनमें संपूर्ण सदस्यता के लिए वचनबद्धता आवेष्टित है। (ङ) विश्व व्यापार संगठन की विवाद व्यवस्थापन व्यवस्था अधिक तेज तथा स्वचालित है और इस प्रकार प्राचीन गैट व्यवस्था से बहुत कम संदेहास्पद है।

विश्व व्यापार संगठन जेनेवा, स्विट्ज़रलैंड में है, इसके मुख्य कार्य हैं:

- बहुपक्षीय व्यापार अनुबंधों का संचालन व क्रियान्वयन, जो एक साथ मिलकर विश्व व्यापार संगठन का गठन करते हैं।
- बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओं के लिए मंच के रूप में सक्रिय रहना।
- राष्ट्रीय व्यापार नीतियों को देखना, और
- भौगोलिक आर्थिक नीति निर्धारण में अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ सहयोग करना।

अतएव विश्व व्यापार संगठन बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था का कानूनी संस्थान है। यह प्रमुख संविदात्मक दायित्व उपलब्ध करवाता है यह तथ्य सुनिश्चित करते हुए कि सरकारें किस प्रकार घरेलू व्यापार विधानों का गठन तथा क्रियान्वयन करेंगी। यही वह मंच है जहां पर विभिन्न देशों के व्यापार से संबद्ध वाद-प्रतिवाद, संधिवार्ताओं तथा निर्णयों के द्वारा व्यक्त किए जाते हैं।

व्यापार-व्यवस्था से संबंधित, सिद्धांत जो कि विश्व व्यापार संगठन के अनुबंधों में रेखांकित है, उनमें चार महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है -

(च) व्यापार बिना किसी भेदभाव के किया जाएगा। अनुबंध सदस्यों तथा देशों में ही उत्पन्न माल के बीच किसी भी प्रकार के भेद पर रोक लगाता है। (छ) विश्व व्यापार संगठन अनुबंध सुनिश्चित करता है कि व्यापार व निवेश की दशाएं अधिक विश्वसनी हैं, ताकि सदस्य देश स्वेच्छानुसार नियमों में परिवर्तन न कर सके । घरेलू नियमों, विनियमनों तथा कार्य व्यवहारों की पारदर्शिता ही व्यापार दशाओं की विश्वसनीयता की कुंजी है। विश्व व्यापार संगठन के अनुबंधों में पारदर्शिता का प्रावधान हैं, जिसके लिए संगठन को औपचारिक सूचना के द्वारा राष्ट्रीय या बहुपक्षीय स्तर पर इन नियमों का खुलासा करने की जरूरत है। (ज) संगठन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार खुली एवं निष्पक्ष प्रतियोगिता को आमंत्रित करता है यह 'उन्मुक्त व्यापार' संस्था नहीं है, क्योंकि यह सुरक्षा के सीमित प्रारूपों तथा सीमा शुल्क की अनुमति देती है। (झ) विश्व व्यापार संगठन अनुबंध विकास तथा आर्थिक सुधारों को प्रोत्साहित करता है। बहुत से विकासशील देश पिछले दशक से उदारीकरण तथा आर्थिक सुधारों की नीतियों का अनुपालन कर रहे हैं।

विश्व व्यापार संगठन की महत्ता को तुच्छ नहीं समझा जा सकता। 1996 की संगठन की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार 1995 में माल एवं सेवा व्यापार में बहुत अच्छी वृद्धि हुई। प्रथम बार माल एवं सेवा व्यापार में बहुत अच्छी वृद्धि हुई। प्रथम बार माल व सेवा व्यापार में 6 अरब से अधिक का व्यापार हुआ। विश्व व्यापार संगठन के चालू प्रस्ताव हैं - अल्पविकसित देशों पर मारकेश घोषणा का तीव्र क्रियान्वयन, उनके आयात द्वारा भुगतान की जाने वाली सभी शुल्कों तथा गैर शुल्कों के सीमाओं के उन्मूलन द्वारा बाजार क्रियाओं के अभिगमन को बेहतर बनाना, निवेश-दशाओं को सुधारने में सहायता करना, विशेषतः निवेश पर बहुपक्षीय नियमों की वार्ता द्वारा, तकनीकी सहयोग का प्रभाव बेहतर बनाना, मानवीय तथा संस्थानात्मक क्षमता बढ़ाना।

पाठगत प्रश्न 33.3

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें

1. विश्व व्यापार संगठन का मुख्यालय ..... शहर में है। (जेनेवा / टोक्यो / न्योयार्क)
2. एल.डी.सी. ..... का संक्षिप्त शब्द है।
3. विश्व व्यापार संगठन को स्थापित करने में प्रथम प्रयास कब किया गया? (1994 / 1944 / 1990)
4. ..... में विश्व व्यापार संगठन के समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए।

33.11 बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका तथा प्रभाव (एम.एन.सी.)

इनको निगम भी कहते हैं। पूरे विश्व में 35,000 वृहद बहुराष्ट्रीय निगम हैं व इनसे संबद्ध 1,50,000 संख्याएं हैं। ये व्यवसाय उद्यम है। जो संसाधनों व पूंजी का नियंत्रण करते हैं, उदाहरणार्थ कुछ अफ्रीकी व यूरोप आधारित

निगमों की बिक्री 100 अरब डालर से भी उपर पहुंच चुकी है। पूरे विश्व में सामान्य मोटरों की बिक्री लगभग 140 अरब डालर है, जो कि विश्व के बहुत से राज्यों के सकल घरेलू उत्पाद से भी अधिक है।

आज बहुराष्ट्रीय निगम 1,700 अरब डालर के प्रत्यक्ष वित्तीय निवेश के लिए उत्तरदायी हैं। पूंजी बाजार तथा तकनीक में प्रवेश रोजगार तथा विश्व व्यापार का नियंत्रण करते हैं। उनकी निर्णय निर्धारण प्रक्रिया, राष्ट्रीय सुरक्षा या सामाजिक कल्याण से अधिक अनेक शेयर धारकों को लाभ पहुंचती है। चूंकि बहुराष्ट्रीय निगम 'बाजार शक्तियों' के प्रत्युत्तर में वित्त तथा उत्पादन को चालित करते हैं, इसलिए राज्य पर उनका गहरा प्रभाव पड़ता है। अपने दैनिक जीवन में हम सैंकड़ों बहुराष्ट्रीय निगमों की सेवाएं तथा उत्पादन प्रयोग करते हैं। भारतीय बाजार बहुत से सुविख्यात बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा बनाए माल बेचते हैं जैसे कि - बाटा, मोटोरोला, सीमेंस, डनलप, रैनबैक्सी, ग्लैक्सो, आईबीएम, कोलगेट-पामोलिव, पेप्सी आदि।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों को राष्ट्र की सीमाओं से बाहर जाकर माल, धन, वैयक्तिक तथा तकनीकी संचालन एवं लोचशीलता प्राप्त होती है। इस लचीलेपन के कारण उनकी मोलभाव की क्षमता दोनों सरकारों, गृह तथा मेजबान, में बढ़ती है। बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ व्यवहार करते हुए, सरकार को सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि वे आय आगमों पर स्फी, व्यापार-संतुलन, भुगतान-संतुलन, व्यापार प्रतिबंधों, मुद्रा कीमतों, स्रख नीतियों, रोजगार व आर्थिक योजनाओं पर नियंत्रण रखेंगे। आर्थिक व राजनीतिक कारकों की जटिल क्रियाएं बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों से प्रभावित होती है। इस प्रकार संसाधनों तथा वृहद बाजार के नियंत्रण द्वारा सरकार द्वारा नियंत्रण के क्षेत्रों में अग्रणी भूमिका निभाते हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों के बहुत से लाभ व हानियां है। बहुत से राज्यों ने इन निगमों की आलोचना की है। यह कहा जाता है कि इनकी क्रिया संचालन से, राष्ट्रीय प्रभुसत्ता व तकनीक, औद्योगिक व आर्थिक स्वतंत्रता का अतिक्रमण होता है। ये उच्च रूप में केंद्रीकृत हैं तथा संरक्षक कंपनियों द्वारा प्रभाव में रखी जाती हैं। इसके प्रबंधन में लोग गृह राज्यों से आते हैं। शोध केंद्रीकृत होती है। विदेशी सहायता के लिए स्वायत्तता सीमित है। संरक्षक कंपनी से तकनीक आयातित की जाती है। लाभ देश को वापस किए जाते हैं। उनकी नीतियां गृह राज्यों की आर्थिक व विदेश नीतियों के सदृश होती है।

दूसरी ओर लाभों में मेजबान राज्य की बढ़ी हुई समृद्धि व आर्थिक विकास शामिल है। जो राज्य की शक्ति को राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ती है। उनका योगदान प्रमुखतः पूंजी-निर्माण, तकनीक व प्रबंधन योग्यता, क्षेत्रीय विकास प्रतियोगिता व भुगतान संतुलन में होता है। ये स्थानीय रोजगार भी प्रदान करते हैं। उनकी हानियों के बावजूद सरकारों का निगमों के साथ 'प्रीति-घृणा संबंध' से वे राष्ट्र के व्यापार पर नियंत्रण रखते हैं तृतीय विश्व में मेजबान देश द्वारा उनकी उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता।

आपने क्या सीखा

इस अध्याय से आपको बहुत सी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों की स्थापना के कारणों को जानने में सहायता मिली। आपने जाना कि राष्ट्रों व व्यक्तियों के अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के बगैर, कुछ अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं जैसे श्रम, खाद्य-संकट, कृषि विकास, बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं, शैक्षिक व सांस्कृतिक विकास, व्यापार विकास आदि का समाधान नहीं प्राप्त हो सकता। वास्तव में उनके बिना वर्तमान विश्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती । हमने पढ़ा कि पिछले पचास वर्षों में इन अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। प्रकृति में विशिष्टता के बावजूद भी, उनके कार्य व गतिविधियां, उन्होंने बहुत सी उपलब्धियां प्राप्त की हैं। बहुत सी प्राप्त भी करनी हैं। आइए आशा करें कि ये इसी समर्पण भाव के साथ कार्य करते हुए विश्व की सामजिक-आर्थिक समस्याओं को सुलझाते रहेंगे।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

33.1 1. अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.)

2. अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.)

3. अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.)

4. 1978

33.2 1. छोटा बाक्स

2. रोम

3. 3 लाख

33.3 1. जेनेवा

2. अल्प विकसित देश (लीस्ट डेवलप्ड कंट्रीज)

3. 1944

4. मराकेश

पाठांत प्रश्नों के संकेत

33.4 1. कृपया देखें, अनुच्छेद 33.1 का पैरा 1 व 2

2. कृपया देखें, अनुच्छेद 33.3 3 ,,

3. कृपया देखें, अनुच्छेद 33.4 3 ,,

4. कृपया देखें, अनुच्छेद 33.7 1, 4–5 ,,

5. कृपया देखें, अनुच्छेद 33.7 6 ,,

6. अनुच्छेद, 33.7 ,, 3

7. अनुच्छेद, 33.8 ,, 1–4

संकेत-शब्द

1. **भुगतान संतुलन या बैलेंस ऑफ पेमेंट (बीओपी)** – यह उस भुगतान की ओर निर्दिष्ट करता है जो कि किसी देश के निर्यातों की कीमत तथा आयातों की प्राप्ति के बीच होता है।
2. **शर्तबंध** – अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व ऋण देते हुए विकासशील देशों पर लागू की गई शर्तें व आदेश। इन शर्तों में राष्ट्रीय मुद्रा का अवमूल्यन, सरकारी खर्चे में कटौती, सहायता में कटौती आदि शामिल है।
3. **बहुराष्ट्रीय निगम** – पार-राष्ट्रीय निगम के रूप में भी जानी जाने वाली वे कंपनियां या व्यवसाय उद्यम जो कि पूरे विश्व में बहुत से राष्ट्रों तथा बाजारों में एक भौगोलिक विक्रय केंद्र बनाते हुए कार्य संचालन करते हैं।
4. **विशिष्ट एजेन्सियां** – आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक स्वास्थ्य या अन्य क्षेत्रों में दायित्वों का वहन करने वाली वे अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं, जिनका कार्य संयुक्त राज्य के आर्थिक व सामाजिक परिषद द्वारा संयोजित किया जाता है।
5. **सीमा-शुल्क** – आयातों पर लागू कर।

पाठांत प्रश्न

1. 'संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट एजेंसियों' से आप क्या समझते हैं?

2. 'अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' शब्द की प्रकृति व क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
3. 'यूनेस्को' विवादग्रस्त क्यों हो गया है?
4. 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' के उद्देश्य बताते हुए इसकी भूमिका पर प्रकाश डालिए?
5. भारत किस सीमा तक विश्व बैंक से लाभान्वित हुआ है?
6. 'गैट' व 'विश्व व्यापार संगठन' के बीच भिन्नताओं की व्याख्या कीजिए।
7. बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों तथा उद्देश्यों का मूल्यांकन कीजिए।

34
भारत की विदेश नीति

34.1 भूमिका :

विदेश नीति किसी देश का बाहरी जगत के साथ संबंध या अंतक्रिया की ओर इंगित करती है। अंतराष्ट्रीय मामले में भारत का महत्त्व उस विदेश नीति के कारण है। जिसका भारत पालन करता है। अंतराष्ट्रीय समुदाय के एक सदस्य के रूप में, भारत के संदेश को सभी मुख्य मंचों पर उत्सुकता से सुना जाता है। बहुत से विदेशी राजनयिक प्रत्येक वर्ष भारत आते हैं।

आज की समस्याओं की बढ़ती जटिलता तथा अंतर्संबंध विदेश नीति की महत्ता को दर्शाते हैं। यह 'विदेश नीति' उन सिद्धांतों, लक्ष्यों तथा उद्देश्यों का योग है जिनका निर्माण देश, अन्य देशों से संबंध बनाते समय करता है। आज तकनीकी के माध्यम से विश्व छोटा बन गया है देशों के संपर्क भी बेहतर बन गए हैं। विदेश नीति किसी भी देश के हितों की सीमाओं से बाहर ले जाती है। ऐसे हित जो कि राष्ट्रीय सुरक्षा के सवाल से जुड़े हैं तथा राजनीतिक स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक एकता का संरक्षण, साथ साथ वृहद भौगोलिक हित जैसे कि विश्व शांति। इस प्रकार की व गतिविधियों के चलते लगभग सभी क्षेत्र राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक व सांस्कृतिक विदेश नीति के कार्यक्षेत्र में आते हैं। महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों तथा लक्ष्यों को धारण करके, कार्यालयी अनुबंधों, घोषणाओं तथा जन वक्तव्यों में वर्णित विदेश नीति उन संबंधों पर प्रकाश डालती है जो कि एक देश-विशेष पूरे विश्व के साथ बनाता है किसी भी देश की विदेश नीति स्थिर नहीं होती। यह परिवर्तित होती रहती है। राज्य समय-समय पर इन नीतियों को देश के अंदर व बाहर घटित परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में जांचते रहते हैं।

34.2 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप :

- उन कारकों को जान पाएंगे जो कि भारत की विदेश नीति को सुनिश्चित करते हैं।
- भारत की विदेश नीति के उद्देश्यों तथा सिद्धांतों को स्मरण करेंगे।
- गुट निरपेक्षता की अवधारणा को समझ सकेंगे तथा गुट निरपेक्ष आंदोलन के निर्माण में भारत की भूमिका से अवगत हो पाएंगे।
- विभिन्न क्षेत्रों तथा - अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा, विकासात्मक मुद्दे तथा परमाणु अप्रसार जैसे क्षेत्रों में भारत द्वारा उठाए गए राजनयिक कदमों के बारे में अवगत होंगे।
- संयुक्त राष्ट्र में भारत की प्रतिभागिता का विश्लेषण कर सकेंगे।
- शीतयुद्ध के पश्चात भारत की विदेश नीति में प्रमुख परिवर्तनों का विश्लेषण कर पाएंगें।

34.3 भारत में विदेश नीति को सुनिश्चित करने वाले कारक

एक राष्ट्र की विदेश नीति के निर्माण पर ऐतिहासिक, भौगोलिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं अन्य कई कारक प्रभाव डालते हैं। इनमें से केवल कोई भी एक कारक हावी नहीं होता, बल्कि इसमें सभी कारकों की अत: क्रिया है आइए उनमें से कुछ के बारे में विस्तार से पढ़ें।

(i) इतिहास

ऐतिहासिक आधार पर भारत बहुत से विदेशी आक्रमणों का शिकार रहा है। इसके अतीत का यह पक्ष विदेश नीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। अत: भारत हिंसा व युद्ध से घृणा करता है। सहनशीलता तथा अहिंसा के बुद्धवादी मूल्य, जो कि सम्राट अशोक ने अपनाए थे, भारत की विदेश नीति की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं।

अंग्रेजों के प्रति स्वतंत्रता संघर्ष का ऐतिहासिक अनुभव भी स्वतंत्र भारत की विदेश नीति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस नीति के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया गया वह 'स्वतंत्र' विदेश नीति के निर्माण हेतु था तथा भारतीय जनता की आवश्यकताओं व इच्छाओं का प्रतिबिंब था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने विदेश मामलों के विभाग से उस साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने की प्रार्थना की, जो कि एशिया व अफ्रीका के विभिन्न भागों में स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान देखने में आया।

(ii) संस्कृति

हमारे बाहरी विश्व के साथ शताब्दियों पुराने संबंध भी इतिहास का सुस्थापित कारक हैं । भारत सभी संस्कृतियों तथा धर्मों के लिए समिति स्थल रहा है। सिंधु घाटी सभ्यता की मोहरें मैसोपोटामियां जैसे दूरस्थ स्थलों पर भी देखने को मिलती हैं। इंडोनेशिया का अंकौरवाट मंदिर दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों से हमारे एतिहासिक व सांस्कृतिक संबंधों का प्रतीक है। नेपाल, भूटान, बर्मा (अब म्यामा), श्रीलंका, पाकिस्तान, बांग्लादेश के व्यक्तियों के साथ हमारे सार्वजनिक सांस्कृतिक संबंध हैं। संपूर्ण मानवजाति को परिवार के रूप में देखने 'वसुधैव कुटुंबकम' को चरितार्थ करने की दृष्टि ने भारत की विदेश नीति को आधार दिया। इस परंपरा के चलते, भारत कभी भी पूर्व-पश्चिमी या पूर्व-पाश्चात्य विश्व दृष्टिकोणों के तहत विभाजित नहीं हुआ है। भारत के लिए विश्व का एकल अस्तित्व है, देश एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए संपूर्ण मानव जाति के लिए बेहतर भविष्य का निर्माण करता है।

(iii) भूगोल

किसी देश की भौगोलिक स्थिति भी विदेश नीति को सुनिश्चित करने में महत्त्वपूर्ण कारक होती है। दक्षिण एशिया में भारत की व्यूहरचना स्थित है क्योंकि यह दक्षिण एशिया तथा दक्षिण पूर्व एशिया के बीच संपर्क बिंदु है – एक महत्त्वपूर्ण व्यापार मार्ग है तथा सुरक्षा क्षेत्र में इसलिए उसे विश्व व क्षेत्रीय मामलों में सक्रिय भूमिका प्राप्त है। उत्तर में हिमालय तथा समुद्रों व महासागरों का सीमा के किनारे किनारे विस्तार भारत के लिए प्राकृतिक सीमा बनाता है। भारत के पड़ोस में दो प्रमुख शक्तियां – रूस व चीन हैं। दक्षिण में समुद्र में पश्चिमी नौ सेना के लिए सीमाओं की सुरक्षा कोई आसान कार्य नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि न तो हिमालय न ही जल ने अतीत में बाहरी आक्रमणों से प्रतिरक्षा की। इस लक्ष्य की सुरक्षा ही विदेश नीति का लक्षण है। अत: भारत की विदेश नीति के संबंध अपने पड़ौसी राज्यों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध व शांति की स्थापना में हैं। अतएव इन क्षेत्रों में सैन्यीकरण होने पर भारत इस संबंध में अपने विचार अवश्य व्यक्त करता है। इसका उदाहरण है संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा भारतीय महासागर के दियागो गार्शिया में नौ सेना की तैनाती के मुद्दे का भारत द्वारा विरोध करना क्योंकि भारत का उद्देश्य भारतीय महासागर को शांति क्षेत्र बनाना है।

(iv) अर्थव्यवस्था

भारत की अर्थव्यवस्था भी देश की विदेश नीति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उपनिवेशवाद के कटु अनुभव ने जिस अर्थव्यवस्था को पीछे छोड़ा, नीति-निर्माताओं ने उसी अर्थव्यवस्था की दशा को देखते हुए असंतुलन को ठीक किया तथा एक स्वस्थ आर्थिक विकास के कार्यक्रम का अनुपालन किया। सूत, खनिज के निर्यातक तथा पेट्रोल, भारी मशीनरी के आयातक के रूप में भारत को औद्योगिक रूप से सुदृढ़ देशों से तकनीक व वित्तीय सहायता उधार लेने की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार उसने उन देशों से बेहतर संबंध भी स्थापित किए।

हमारे संविधान में भारत को 'प्रभुसत्तासंपन्न, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी गणराज्य' घोषित किया गया है। परिणामस्वरूप भारत की विदेश नीति में भी इन आदर्शों की सुरक्षा सुनिश्चित की गई है, देश की गणराज्यीय व्यवस्था विशेषकर सरकार का संसदीय स्वरूप भी विदेश नीति को प्रभावित करता है। भारत की विदेश नीति घरेलू समझौतों व आधार पर आधारित है। देश की विदेश नीति के निर्माण में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व की भूमिका ने एक गहरा प्रभाव छोड़ा है, जो आज भी विदेशी संबंध-संचालन में प्रतिबिंबित है। विदेश नीति सभी प्रमुख राजनीतिक पार्टियों के आपसी विचार विमर्श से निर्धारित की जाती है। बहुत से दबाव समूह तकनीकी, वाणिज्य समुदाय, स्वास्थ्य महिला अधिकारों, प्रवासी भारतीय सभी मिलकर विदेश नीति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, घरेलू जन मत, जो कि प्रेस के माध्यम से उद्धत होता है, भी विदेश नीति निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण

भारत या किसी भी देश की विदेश नीति पर विश्व में व्याप्त वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणस्वरूप शीत युद्ध की शुरुआत, तत्पश्चात रूस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच द्वितीय विश्व युद्ध, सेनाओं का प्रसार, परमाणु युद्ध के प्रसार ने , भारत द्वारा गुटनिरपेक्ष आंदोलन का निर्माण करके सकारात्मक विदेश नीति को बढ़ावा दिया। गुटनिरपेक्षता के माध्यम से नीति को स्वतंत्रता के महत्त्वपूर्ण पैमानों को सुरक्षित रखा जाता है। यह कोई नकारात्मक नीति या दृष्टिकोण नहीं था। गुट निरपेक्ष आंदोलन में भारत की भूमिका, उसका अफ्रीकी-एशियाई देशों को आश्रय तथा शांति स्थापना में संयुक्त राष्ट्र को भारत का योगदान ने शीत युद्ध काल की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रत्युत्तर दिया।

पाठगत प्रश्न 34.1

1. निम्नलिखित के आगे सही अथवा गलत का निशान लगाइए।

   (क) किसी देश की विदेश नीति उस देश के विश्व के अन्य देशों के साथ संबंध पर आधारित होती है। (सही / गलत)

   (ख) राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी मुद्दे विदेश नीति के तहत आते हैं । (सही / गलत)

   (ग) भारत की विदेश नीति की जड़ें 1947 में हैं, जब भारत स्वतंत्र हुआ था। (सही / गलत)

   (घ) शीत युद्ध के मध्य में स्वतंत्र प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के रूप में भारत के जन्म ने विदेश नीति को प्रभावित किया। (सही / गलत)

   (ङ) स्वतंत्रता के बाद से ही भारत की विदेश नीति विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के मध्य विवाद का विषय रहा है। (सही / गलत)

2. कोष्ठक में दिए शब्दों की सहायता से रिक्त स्थानों की पूर्ति करें?

   (क) ..... और ..... के बुद्धवादी मूल्य भारत की विदेश नीति के मुख्य लक्षण हैं। (घृणा, अहिंसा, हिंसा, युद्ध, सहनशीलता)

   (ख) दो प्रमुख शक्तियां ..... और ..... भारत की उत्तरी सीमा के बिलकुल समीप हैं। (रूस, फ्रांस, ब्रिटेन, चीन)

   (ग) शीतयुद्ध ..... और ..... के मध्य गहरी शत्रुता का परिणाम था। (संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस, फ्रांस और ब्रिटेन, भारत और ब्रिटेन)

34.4 भारत की विदेश नीति के मुख्य सिद्धांत तथा उद्देश्य

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा उद्घोषित भारत की विदेश नीति के उद्देश्य भारत के अन्य देशों के साथ संबंध संचालन में मार्गदर्शक रहे हैं भारत की विदेश नीति के पांच मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(क) भारत की प्रादेशिक एकता तथा नीति की स्वतंत्रता का संरक्षण,

(ख) अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा निरस्त्रीकरण का प्रसार,

(ग) भारत का आर्थिक विकास,

(घ) सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रता, तथा

(ङ) भारतीय आप्रवासियों के हितों की सुरक्षा

इन आधारभूत उद्देश्यों को राष्ट्रीय हितों में गिना जाता है। इन्हीं राष्ट्रीय हितों या उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए ही हमारी विदेश नीति के संचालन में कुछ सिद्धांतों को समाविष्ट किया गया है। चाहे केंद्र में किसी भी पार्टी की सत्ता हो, इन सिद्धांतों का पालन अवश्य किया जाता है। आइए इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों के बारे में जानें:

(i) गुट निरपेक्षता

विदेश नीति के एक उपकरण व महत्त्वपूर्ण सिद्धांत के रूप में गुट निरपेक्षता भारत की विदेश नीति का आवश्यक तत्व बन गया है। यह अमेरिका द्वारा प्रतिनिधित्व, पश्चिम तथा रूस द्वारा प्रतिनिधित्व, पूर्व के वैचारिक मतभेद का प्रत्युत्तर था। नेहरू की व्याख्या के अनुसार गुट निरपेक्षता वह नीति है जिसमें अपने किसी राष्ट्र के सैन्य दल के साथ स्वयं को नहीं बांधते। इसमें शीत युद्ध के संदर्भ में किसी शक्ति संगठन से न जुड़ना भी शामिल है। न ही यह अवधारणा तटस्थता, पृथक्करण से संबंधित है। यह विश्व मामलों मे अपने समर्थको द्वारा एक गतिशील व सकारात्मक भूमिका की मांग करता है तथा राज्यों के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा गतिशील सहयोग में सिद्धांतों की स्थापना करता है।

भारत के लिए दोनों शीत युद्ध में सैन्यदलों की मित्रता लाभकारी रही। विशेषत: देश के आर्थिक विकास में सहायता प्राप्त करने के लिए बहुत सहायक रही। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत की सबसे अधिक सहायता की है भिलाई तथा बोकारों में इस्पात व लोहे की फैक्टरियों की स्थापना में। रूस की सहायता भी देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण रही।

भारत ने देशों को एक साथ लाकर गुट निरपेक्ष आंदोलन की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरणार्थ भारत ने 1955 में बांडुंग (इंडोनेशिया) में 29 देशों का सम्मेलन प्रायोजित किया। यह सम्मेलन अफ्रीकी एशियाई एकता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण रहा। 6 साल बाद 1961 में गुट निरपेक्ष आंदोलन अस्तित्वमें आया तथा बेलग्राद में इसका पहला सम्मेलन हुआ। तब से अब तक सभी सदस्य देशों के प्रमुखों ने समय-समय पर किसी सदस्य देश की राजधानी में सम्मेलन का आयोजिन किया है। भारत ने 1983 में नई दिल्ली में सातवें गुट निरपेक्ष सम्मेलन का आयोजन किया। जिसमें 99 राज्यों ने भाग लिया। इस सम्मेलन के माध्यम से भारत ने परमाणु ऊर्जा प्रसार, निरस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद, जातिवाद, आर्थिक विकास सरीखे मुद्दों पर विश्व मत का प्रचार किया।

(ii) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व

भारत की विदेश नीति में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व भी एक मुख्य कारक है। इसे प्रथम बार 1954 में भारत व चीन के बीच हुए समझौते में शामिल किया गया। इसे 'पंचशील' नामक सिद्धांत में से एक गिना गया। पंचशील में निम्नलिखित पांच सिद्धांत शामिल किए गए हैं :

(क) एक-दूसरे की प्रादेशिक एकता व प्रभुसत्ता का सम्मान

(ख) परस्पर अनाक्रमण

(ग) एक दूसरे के आंतरिक मामलों में परस्पर हस्तक्षेप न करना

(घ) समानता एवं आपसी हितों का ध्यान

(ङ) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व

पंचशील बहुत से अंतर्राष्ट्रीय समझौते में आधारस्वरूप रहा। 1955 के बांडुंग सम्मेलन ने 'पंचशील' सिद्धांतों को समर्थन दिया गया।

मित्रतापूर्ण संबंधों को कायम रखने का अद्यतन भाषांतरण 'गुजराल सिद्धांत' में प्रतिबिंबित होता है। गुजराल सिद्धांत का नामकरण हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री इंद्र कुमार गुजराल के नाम पर किया गया है तथा यह सिद्धांत भी ''पंचशील'' की ही भांति पड़ोसी राष्ट्रों से अच्छे संबंध रखने पर बल देता है। यह सिद्धांत, पड़ोसी राष्ट्रों द्वारा आरंभ की जाने वाली सौहार्दपूर्ण वार्ताओं के लिए भी आधार है। भारत की अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मधुर संबंध बनाए रखने की नीति मुख्यत: पांच सिद्धांत पर आधारित है :

प्रथम, नेपाल, बंगलादेश, श्रीलंका, भूटान, मालदीव जैसे पड़ोसियों के साथ भारत लेनदेन नहीं चाहता। अपितु विश्वास व भरोसे पर उन्हें बेहतर सेवाएं प्रदान करता है। दूसरा, कोई भी दक्षिण एशियाई देश अपने क्षेत्र में देशों के हितों के लिए हानिपूर्ण हो। तीसरा, कोई भी एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। चौथा, सभी दक्षिण एशियाई देश एक-दूसरे की प्रादेशिक एकता व प्रभुसत्ता का सम्मान करेंगे। पांचवां, सभी अपने वादविवादों का समाधान शांतिपूर्ण संधिवार्ताओं के माध्यम से करेंगे। भारत ने अपने संबंधो को बेहतर बनाने के लिए देशों से व्यक्तिगत संवाद शुरू किए हैं। उदाहरणार्थ – पाकिस्तान सरकार के साथ सामयिक वार्ता। भारत बंगलादेश के साथ गंगा के जल के बटवारे का भी समाधान कर चुका है। नेपाल के साथ 'महाकाली' समझौता भी पड़ौसी राष्ट्रों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध कायम करने की मिसाल है।

शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धांत ने एक अन्य संबंधित सिद्धांत पर भी बल दिया है – सभी अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान। भारत ने विभिन्न अवसरों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रकृति की समस्या को द्विपक्षीय या तृतीय विश्व के देशों के साथ वार्ताओं के द्वारा सुलझाया है। उदाहरण स्वरूप इसके प्रोत्साहन से समय-समय पर किसी समस्या का वार्ता द्वारा समाधान किया गया है, यथा कोरिया में बंदियों को वापस लौटाना, भारत-चीन, अरब-इस्राईल संघर्ष तथा पूर्व-पश्चिम के मतभेदों का निपटान। विनाशकारी विश्वयुद्ध के बाद एक स्वतंत्र प्रभुसत्तासंपन्न राज्यों का उदय हुआ जिसने हिरोशिमा व नागासाकी के मासूम व्यक्तियों पर परमाणु बम का प्रयोग भी देखा, भारत इस अस्त्र के विरोध में रहा है परमाणु प्रसार, तकनीकी विकास तथा घातक माध्यमों के प्रयोग ने निरस्त्रीकरण को एक तत्काल आवश्यकता के रूप में प्रतिबिंबित किया।

दक्षिण एशियाई क्षेत्र में शांति कायम करने के लिए भारत ने मित्रतापूर्ण संबंधों का सहारा लेकर आपसी सहयोग को लक्ष्य बनाया। महत्त्वपूर्ण अनुबंध जैसे सिंधु जल समझौता, जिस पर 1960 में भारत व पाकिस्तान द्वारा हस्ताक्षर किए गए। 1972 का शिमला समझौता, सीमा के प्रश्न पर चीन-भारत वार्ता, नागरिक अधिकारों व तमिलों को लौटाने पर 1964 का शास्त्री-भंडारनायके समझौता, कयातीवु द्वीप के विवाद पर समझौता, जल बंटवारे पर भारत-बंगलादेश समझौता, सभी विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए दबाव का उदाहरण है। दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन की स्थापना इस ओर एक सकारात्मक प्रयास था तथा इसकी स्थापना से क्षेत्रीय सहयोग का प्रचार प्रसार बढ़ा अस्तित्व में आए दक्षिण एशियाई अधिमान्य व्यापार समझौते से क्षेत्रों में सौहार्दपूर्ण व्यापार संबंध बढ़ रहे हैं।

(iii) संयुक्त राष्ट्र के साथ सहयोग

अपनी विदेश नीति में स्थापित उद्देश्य प्राप्त करने के लिए तथा विश्व शांति व सहयोग के हितों को प्राप्त करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा की समस्याओं के समाधान के लिए भारत संयुक्त राष्ट्र को महत्वपूर्ण उपकरण समझता है। 1956-57 के स्वेज संकट के दौरान भारत ने संयुक्त राष्ट्र की नीतियों में विश्वास को बल मिला। संस्थाओं के इतिहास में पहली बार संयुक्त राष्ट्र आपातकालीन दल के नाम वृहद शांति संबंधी कार्यों का आयोजन किया गया। इस संबंध में भारत का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा। यह संयुक्त राष्ट्र की शांति स्थापना में भारत की प्रतिभागिता की शुरुआत थी। आज ऐसी गतिविधियों में चाहे वह कांगो, नामीबिया, या मोजाम्बिक में हो, भारत के योगदान को जाना माना जाता है।

भारत संयुक्त राष्ट्र का बड़ा समर्थक रहा है। यह एक ऐसी संस्था है जो कमजोर व छोटे राष्ट्रों के लिए हितकारी है। शीत युद्धों ने संयुक्त राष्ट्र के कार्यों में विघ्न डाला, जिससे यह संस्था बहुत से राष्ट्रो में अपंग हो गई। इस संदर्भ में भारत ने शीत युद्ध के दौरान ऐसे किसी भी प्रयास का विरोध किया जिससे संयुक्त राष्ट्र कमजोर हो। भारतका मत था कि कि अंतर्राष्ट्रीय शांति की सुरक्षा सभी के लिए चिंता का विषय है फिर भी यह मानता है कि इस संबंध

में महाशक्तियों का विशेष दायित्व है संयुक्त राष्ट्र केवल शांति व सुरक्षा प्रदान करने की ओर कार्य कर सकती है बशर्ते कि महाशक्तियों के बीच एकता व परस्पर सहयोग हो। संयुक्त राष्ट्र के इकट्ठे सुरक्षा व्यवस्था में प्रथम आपातकाल 1950 के कोरिया संकट के दौरान आया। भारत ने उस तरीके का सर्वथा विरोध किया, जिसमें विवादों का अंत सैन्यदलों की सहायता से किया जाता है। इसके अतिरिक्त भारत ने मध्यस्थता प्रयासों में सहायता की तथा युद्धग्रस्त लोगों के लिए एक चिकित्सा-टीम को भेजा। हाल ही के वर्षों में भारत खाड़ी-युद्ध (1990) ने अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया के प्रति आलोचक रहा उसी प्रकार यूगोस्लाविया में संकटावस्था में भारत अंतर्राष्ट्रीय प्रतिभागिता के प्रति सचेत रहा।

संयुक्त राष्ट्र में भारत ने निरस्त्रीकरण पर वार्ताएं आरंभ की। 1950 में एक प्रस्ताव बनाते हुए भारत ने विकास के लक्ष्यों को निरस्त्रीकरण के साथ जोड़ा। अब तक विनाशकारी शस्त्रों पर बड़ी राशि खर्च की जा रही थी। अतएव स्पष्ट था कि इस क्षेत्र में की जाने वाली बचतों को अधिक रचनात्मक कार्यों में, विकासात्मक गतिविधियों में प्रयोग कर सकते हैं। अतएव संयुक्त राष्ट्र में विभिन्न अवसरों पर, भारत ने उन देशों में पूंजी, उपकरणों तथा तकनीकी के आयात पर प्रतिबंध लगाने का अनुरोध किया जो देश शस्त्रों के निर्माण को बढ़ावा देना करना चाहते हैं।

संयुक्त राष्ट्र आर्थिक व सामाजिक विकास के मुद्दों पर वार्ताओं के लिए महत्त्वपूर्ण मंच प्रदान करता है। दूसरी ओर अन्य एक जहां ब्रेटन वुड संस्थाओं में तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक समृद्ध देशों के पास निर्णय निर्धारण की शक्ति थी वहां संयुक्त राष्ट्र में 'एक देश एक मत' के सिद्धांत ने भारत जैसे देशों के मत को महत्त्वपूर्ण बनाया। इससे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की वर्तमान अवस्था में विरोधों को व्यक्त करने का अवसर मिला। भारत ने 1974 की सामान्य बैठक में पारित 'नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' के महत्त्वपूर्ण संकल्प को प्रायोजित किया। इसने अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की उस ढांचागत बाधा को केंद्रमें रखा, जिसने देशों को अपने साधनों का पूर्ण प्रयोग करने से वंचित किया था। उदाहरणार्थ प्राथमिक उत्पादों जैसे – सूत, जूट की कम कीमतें, विकसित देशों के उच्च सीमाशुल्क बाधाएं तथा सभी के द्वारा असामान्य व्यापार नियमों पर प्रकाश डाला। व्यापार व विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (यूएनसीटीएडी) में सुरक्षात्मक मूल्यों के मुद्दों को उठाया गया जो 'पारिश्रमिक, समानता व स्थिरता' पर आधारित थे।

आर्थिक क्षेत्र में भारत के संयुक्त राष्ट्र के साथ संबंध द्विमार्गी प्रक्रिया थी। एक ओर भारत विश्व संस्था द्वारा शुरु किए गए कार्यक्रमों का प्रत्यक्ष लाभ लेता था दूसरी ओर भारत ने स्वयं व्यक्तिगत रूप में व संसाधनों के द्वारा संस्था के कार्यक्रमों में योगदान दिया।

भारत का संयुक्त राष्ट्र को समर्थन का अर्थ यह नही है कि यह विश्व संस्था श्रेष्ठ है। भारत ने सदैव महसूस किया है कि संयुक्त राष्ट्र को अधिक उदार होना चाहिए। इसके कार्य अधिक लोकतांत्रिक व पारदर्शी होने चाहिए। इस संबंध में भारत ने निवेदन किया है कि सुरक्षा परिषद का विस्तार हो, ताकि उसमें भारत जैसे देश शामिल हो सकें।

(iv) जातिवाद का विरोध

भारत लंबे समय से जातिवाद का विरोध करता रहा है। पहली बार 1946 में भारत द्वारा भेदभाव के विरोध में प्रश्न उठाया गया। जब दक्षिण अफ्रीका संघ द्वारा उस देश में रहने वाले भारतीय मूल के लोगों के प्रति दुर्व्यवहार किया गया। बाद में उसी सरकार द्वारा व्यवहार मे लाए पृथक्करण के मुद्दे पर भी सवाल उठाया गया। विरोध स्वरूप भारत ने दक्षिण अफ्रीका के साथ संबंध तोड़ लिए। उस देश के साथ संबंध दुबारा तभी स्थापित किए गए जब पृथक्करण व्यवस्था को पूर्णतः हटा कर एक स्वतंत्र, लोकतांत्रिक सरकार की 1994 में नेल्सन मंडेला द्वारा स्थापना की गई।

(v) उपनिवेशवाद का विरोध

भारत उपनिवेशवाद का विरोधी रहा है। भारत की इस प्रवृति ने उसे उन एशियाई व अफ्रीकी राष्ट्रों के निकट कर दिया जो स्वंय ही इस उपनिवेशवाद के शिकार थे। भारत ने 1947 में एशियाई राष्ट्रों की अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया जिसका विषय था 'अ-उपनिवेशवाद'। बांडुंग सम्मेलन (1955) ने भी 'अपने घोषणापत्र में साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध सामान्य नीति'' का आह्वान किया।

अफ्रीकी- एशियाई देशों के संयुक्त प्रयासों को प्रेरणा मिली। जब 1960 में संयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा ने औपनिवेशिक देशों व व्यक्तियों को स्वतंत्रता प्रदान करने की घोषणा की। भारत इस घोषणा के सह-प्रायोजकों में से एक था। भारत ने संयुक्त राष्ट्र के संरक्षण के तहत स्थापित समितियों में इस निमित्त भाग लिया कि उपनिवेशवाद की समापन प्रक्रिया को जांचा जा सके। भारत ने रोडोशिया, अंगोला, मोजांबिक में उपनिवेशवाद का विरोध किया तथा 1961 में गोवा की पुर्तगालियों से मुक्ति हेतु सेनाएं भेजने में संकोच नहीं किया।

पाठगत प्रश्न 34.2

प्रश्न 1 उपयुक्त शब्दों से रिक्त स्थानों की पूर्ति करें -

(क) ..... भारत की नीति का मुख्य निर्माता है।

(ख) गुट निरपेक्ष समूह की प्रथम बैठक ..... में ..... आयोजित की गई।

(ग) अफ्रीकी-एशियाई देशों की बांडुंग सम्मेलन ..... में आयोजित की गई।

(घ) पंचशील ..... तथा .....के बीच हस्ताक्षरित समझौतों में सन्निहित था।

(ङ) महाकाली समझौता भारत के ..... के साथ संबंधों में बहुत महत्त्वपूर्ण था।

प्रश्न 2 सही उत्तर पर निशान लगाएं -

(क) गुट निरपेक्षता तथा तटस्थता समान ही हैं। (सही / गलत)

(ख) भारत ने सदैव महसूस किया है कि संयुक्त राष्ट्र उदार नहीं है तथा इसके कार्यों को अधिक लोकतांत्रिक तथा पारदर्शी होना चाहिए। (सही / गलत)

(ग) भारत ने दक्षिण अफ्रीकी सरकार द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली रंगभेद की नीति का विरोध किया। (सही / गलत)

34.5 शीत युद्ध के बाद चुनौतियाँ

चार से भी अधिक दशकों से भारत की विदेश नीति शीत युद्ध की राजनीति को ध्यान में रखते हुए कार्य संचालन कर रही है। कटु शत्रुता के साथ तथा सोवियत रूस के विभाजन के साथ उत्तर शीत युद्ध युग आरंभ हो चुका है। शीत युद्ध की समाप्ति के बाद भारत की विदेश नीति के किन परिवर्तनों की आवश्यकता है? नई विश्व व्यवस्था में गुट निरपेक्षता कहां तक ठीक है? कुछ ऐसे प्रश्न है जिनका भारतकी वर्तमान विदेशनीति के संदर्भ में उत्तर जानना जरूरी है।

निःसंदेह भारत की विदेश नीति में कुछ मुख्य समायोजनों को शामिल किया जाना जरूरी है। भारत की विदेश नीति में समाविष्ट कुछ लक्ष्य व उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

(1) अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा का प्रसार (2) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व (3) अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण ढंग से निपटान (4) संयुक्त राष्ट्र के साथ सहयोग (5) उपनिवेशवाद का विरोध (6) जातिवाद का विरोध (7) आर्थिक विकास तथा (8) गुट निरपेक्षता।

ऐसे मुद्दे, जिनके लिए गुट निरपेक्ष आंदोलन की स्थापना की गई आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। भारत अन्य गुट निरपेक्ष आंदोलन के साथ सहयोग में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह एक कटु सत्य है कि समृद्धों व गरीबों के बीच इस सदी के अंत तक आर्थिक अंतर बढ़ जाएगा। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों में विकासशील देशों के लिए हानिकारक स्थिति में रहेगें। इन्हीं परिस्थितियों में भारत को अन्य देशों के साथ मिलकर सहायक परिवर्तनों की ओर कार्य करना चाहिए। ऐसा करने में, भारत को गुट निरपेक्ष आंदोलन के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए क्षेत्र को बेहतर बनाने का प्रयास करना चाहिए।

भारत का व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (कांप्रीहेंसीव टेस्ट बैन ट्रीटी (सीटीबीटी)) के साथ वार्ता व कार्य

व्यवहार का प्रयास भी प्रशंसनीय है। इस वार्ता ने भारत को एक स्वतंत्र विचार स्थापित करने व विश्व मुद्दों पर लौटने में सहायता की है। भारत सभी परमाणु शस्त्रों के उन्मूलन का प्रबल समर्थक रहा है तथा जिनेवा में, जहां वार्ता की गई, भारत ने सैद्धांतिक आधारों पर समझौते का विरोध किया।

भारत का परमाणु शस्त्रों के प्रति विरोध मूलतः उन विनाशकारक शक्तियों का मार्ग अवरोध है जो इन शस्त्रों के परिणामस्वरूप सबल हैं। परमाणु शक्ति को उर्जा के वैकल्पिक स्रोत के रूप में पहचानते हुए भारत ने बार-बार बल दिया कि इसका प्रयोग रचनात्मक उद्देश्यों व शांति के लिए होना चाहिए। अतएव भारत सदैव सभी परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबंध लगाने के पक्ष में रहा है।

1961 में भारत ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में एक प्रस्ताव पारित किया कि विश्व की महान शक्तियों, जो कि सर्वश्रेष्ठ परमाणु शक्तियां भी हैं, परमाणु परीक्षण न करें। 1963 में भारत ने पार्शियल टैस्ट बैन ट्रीटी (पीटीबीटी) पर हस्ताक्षर किए, जो कि अंतरिक्ष व समुद्र में परमाणु परीक्षण पर प्रतिबंध के लिए था। 1968 में भारत ने परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया था। उसका यह विरोध फिर से सैद्धांतिक आधार पर था उसके मतानुसार इस संधि ने अपरमाणु शस्त्रों के विरुद्ध भेदभाव किया था। इस संधि की मांग थी कि देशों को परमाणु हथियार बनाने से बचना चाहिए। इस बात की परवाह किए बगैर कि परमाणु संपन्न देश अपने संचयन को घटाने हैं तथा वास्तविक परमाणु निरस्त्रीकरण का पालन करते भी है या नहीं। अतः जब संधि के द्वारा देशों के आसपास परमाणु अप्रसार की कोशिश की गई तो यह इसने देशों के अंदर इस अप्रसार के लिए बहुत कम कार्य किया। यह ज्यादा गंभीर स्थिति है। उस परमाणु प्रसार तकनीक व सुविधाओं को देखते हुए ही ऐसा किया गया क्योंकि ये इन महाशक्तियों के पास ही उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ अमेरिका, रूस, फ्रांस व ऐसे अन्य परमाणु देशों में वैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार के परीक्षण उनकी प्रयोगशालाओं में किए जा सकते हैं। ऐसे देशों को अपने परमाणु परीक्षण धरती पर करने की जरूरत नहीं है।

एनपीटी में अभी तक यह दोष पाए जाते हैं। जब 1995 में इसका विस्तार किया गया तो भी निरस्त्रीकरण के लिए कोई समय निगमित नहीं किया गया। इसके विपरीत संधि को असीमित समय दिया गया है। भारत का सीटीबीटी के प्रति विरोध भी इन्हीं आधारों पर हैं। 1988 में हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए व्यापक योजना प्रस्तुत की। उस समय प्रस्तावित योजना पर कोई कार्यवाही नहीं की गई। इसके बजाय 1994 में एक नए समझौते पर वार्ता शुरू की गई 'एनपीटी' की भांति ही 'सीटीबीटी' भी विश्व में परमाणु पदसोपान का रखरखाव चाहता है। निरस्त्रीकरण में एक वास्तविक हित के बगैर परमाणु परीक्षण पर प्रतिबंध लगा दिया गया तथा वह भी समयबद्ध होना चाहिए। समझौतों के इसी पक्ष के कारण भारत ध्यान आकर्षित करता है।

हमारे देश के सामने आर्थिक स्थिति से संबंधित भी कई चुनौतियां हैं। 1994 में अर्थव्यवस्था को उदार बनाने का निर्णय, एक क्रियाशील विदेशी अर्थ नीति के लिए भी जरूरी है। भौगोलिक आर्थिक निरीक्षणकर्ता भी स्वीकार करते है कि अगले 20-30 वर्षों में पांच मुख्य शक्तियां होंगी उनमें से यदि एशिया प्रशांत एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बनने जा रहा है तो भारत को उस का एक भाग बनने का प्रयास करना चाहिए। इस संबंध में कुछ कदम उठाए जा चुके हैं। भारत ने दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संगठन (एसियान) के साथ विकासात्मक प्रतिभागिता आरंभ की है (उस संस्था का सदस्य न होते हुए भी भारत को संस्था में महत्त्वपूर्ण प्रतिभागिता प्राप्त है)। आगे भारत एशिया-प्रशांत आर्थिक समुदाय (एपीइसी) मंच का सदस्य बनने की ओर प्रयास कर रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवहार पक्षपातपूर्ण व भेदभावपूर्ण है जबकि पर्यावरणीय चिंतन भी अल्प विकसित विश्व के उत्पादों के लिए व्यापार बाधाएं हैं ऐसी स्थिति में विदेश नीति महत्वपूर्ण बन जाती है।

पाठगत प्रश्न 34.3

प्रश्न 1 सही प्रश्न पर निशान लगाएं

भारत ने संधि पर हस्ताक्षर नहीं किए क्योंकि

(क) यह एक परमाणु शस्त्र संपन्न देश है

(ख) भारत महसूस करता है कि यह संधि परमाणु शस्त्रों का स्वामित्व रखने वाले देशों तथा अपरमाणविक देशों के बीच भेदभावपूर्ण नीति अपनाती है।

(ग) यह परमाणु निरस्त्रीकरण में विश्वास नहीं करता।

प्रश्न 2 निम्नलिखित संक्षिप्त शब्दों का विस्तृत अर्थ बताएं

(क) सीटीबीटी

(ख) एशियान (ए.एस.ई.ए.एन)

(ग) एपीइसी

आपने क्या सीखा

प्रत्येक देश के कुछ राष्ट्रीय उद्देश्य होते हैं। वह अपनी विदेश नीति के माध्यम से उनका अनुसरण करता है। भारत की विदेश नीति बहुत से कारकों जैसे इतिहास, संस्कृति, भूगोल, अर्थव्यवस्था से प्रभावित होती है। यह घरेलू एवं अंतर्राष्ट्रीय कारक भारत की विदेश नीति का निदेशन तथा निर्माण करते हैं। हमारी विदेश नीति में कुछ आधारभूत लक्ष्य भी हैं जो हमारी वर्तमान विदेश नीति के संचालन को प्रेरित करते हैं। भारत की विदेश नीति को राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना जरूरी हैं। इस संबंध में भारत की विदेश नीति अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षा के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना जरूरी है। इस संबंध में भारत की विदेश नीति अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए संचालित की जा रही है ।

पाठांत प्रश्न :

1. किसी देश की विदेश नीति का क्या महत्त्व है?
2. किसी देश की विदेश नीति को सुनिश्चित करने वाले कारक कौन कौन से हैं, विस्तार से विश्लेषण करें?
3. भारत की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धांतों का वर्णन कीजिए?
4. व्याख्या करें कि गुट निरपेक्षता किस प्रकार भारत की विदेश नीति के लक्ष्य तथा सिद्धांत के रूप में संगत है?
5. निम्नलिखित संक्षिप्त शब्दों का विस्तृत अर्थ बताएं

   (क) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व।

   (ख) गुजराल सिद्धांत।

   (ग) संयुक्त राष्ट्र शांति-स्थापना प्रयासों में भारत की भूमिका।

   (घ) एनपीटी तथा सीटीबीटी के प्रति भारत का विरोध।

योग्यता विस्तार

(1) हरीश कपूर, भारत की विदेश नीति, 1947-92, शैडो एन्ड सबस्टान्स (नई दिल्ली, 1994)

(2) के.पी. मिश्रा, भारत की विदेश नीति का अध्ययन (नई दिल्ली, विकास 1969)

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

34.1

1

(क) सही

(ख) सही

(ग) गलत

(घ) सही

(ङ) गलत

2

(क) सहिष्णुता, अनाक्रमण

(ख) रूस व चीन

(ग) संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस

34.2

1

(क) नेहरू

(ख) बेलग्राद, 1961

(ग) 1955

(घ) भारत, चीन

(ङ) नेपाल

2

(क) गलत

(ख) सही

(ग) सही

34.3

1. (ख)

2. (क) कांप्रीहेंसीव टेस्ट बैन ट्रीटी

(ख) एसोसिएशन आफ साउथ-ईस्ट एशियन नेशन्स

(ग) एशिया पेसिफिक इकोनोमिक कम्यूनिटी

पाठांत प्रश्नों के संकेत

प्रश्न 1 कृपया अनुभाग 34.1 में देखें।

प्रश्न 2 कृपया अनुभाग 34.3 में देखें।

प्रश्न 3 कृपया अनुभाग 34.4 में देखें।

प्रश्न 4 अनुभाग 34.4.1 में तथा 34.5 देखें।

प्रश्न 5 (क) कृपया अनुभाग 34.4.2 में देखें।

(ख) कृपया 34.4.2 में देखें।

(ग) कृपया 34.4.3 में देखें।

(घ) कृपया 34.5 में देखें।

35

भारतीय राजनीति में जाति और आरक्षण

35.1 भूमिका

समाज के राजनीतिक स्वरूप पर उसकी प्रकृति का गहरा प्रभाव पड़ता है। समाज की प्रकृति के अध्ययन के लिए उसके सामाजिक ढांचे को समझना बहुत आवश्यक है। भारत का सामाजिक ढांचा उसके वर्ण और जातिगत भेद को समझने से भलीभाँति जाना जा सकता है। ये वर्ण और जातियां ही, मिलकर वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप ग्रहण करती हैं, जिससे ये पुरोहितीतंत्र में क्रमबद्ध हुई हैं। सदियों से यही वर्ण-व्यवस्था समाज में सामाजिक-आर्थिक असमानताओं को जीवित रखती हुई एक परिपूर्ण प्रणाली के रूप में विकसित हुई है। निचली तथा विजातियों के लोग उच्च वर्ग के लोगों द्वारा अनेक प्रकार से दलित और शोषित होकर विविध रूपों में अक्षम बने रहे हैं। विजातियों की दशा विशेष रूप से शोचनीय बनी रही। छूआछूत के कारण तो उनकी दीनदशा और गहरी हो गई।

ब्रिटिश शासन का आगमन जाति-प्रथा के लिए पहली बड़ी चुनौती था। आधुनिक विचारों और संस्थाओं के प्रभाव से जाति-प्रथा की जड़ें हिल गईं। इन नए विचारों और संस्थाओं के प्रकाश में जाति, किसी तरह, एक सामूहिक पहचान बनकर सुदृढ़ हुई। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि स्वतंत्रता आंदोलन के सिलसिले में यह राजनीतिक संगठन के एक आधार के रूप में उभरी।

इस युग में ऐसी अनेक प्रेरक और उत्साहवर्धक आपसी चर्चाएं और प्रक्रियाएं घटित हुईं जिनसे जातिगत सामूहिक राजनीति का जन्म हुआ। यह ध्यान देने की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों के फलस्वरूप निम्न माने जाने वाली जातियों को अपनी पिछड़ी दशाओं का ज्ञान हुआ और वे उन अधिकारों के प्रति सचेत हुईं, जिनसे उन्हें सदियों से वंचित रखा गया था। परिणामतः उनमें से अनेक ऐसे व्यक्ति हुए जो जाति प्रथा से प्राप्त अपनी दशा को ईश्वरीय विधान मानने में सहमत नहीं हुए। इस जागृति की पृष्ठभूमि, शासन के प्रजातांत्रिक सिद्धांत के आरंभ, दलकेंद्रित राजनीति के उद्‌भव तथा ब्रिटिश शासकों की निचली और विजातियों के साथ मुसलमानों को, राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति कम करने के उद्देश्य से, संगठित करने के प्रयास—सभी से मिलकर, एक जातिगत राजनीतिकरण की आधारभूमि तैयार हुई। जाति-आधारित संगठनों—जैसे जातीय समितियां तथा जातिगत संघों, के उद्‌भवों द्वारा जातीय समूहों और राजनीतिक प्रक्रिया के मध्य में बिचौलिए की भूमिका निभाने से जातिगत राजनीतिकरण का अधिक प्रसार हुआ।

इसी स्थिति में भारत स्वतंत्र भी हो गया। राजनीतिकरण के कारण पिछड़ी जातियां अपना स्थान बनाने में सक्षम हो चुकी थीं। अब उनके दावों और मांगों की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। साथ ही, राष्ट्रीय नेतागण भी उनकी दशाओं में सुधार के कार्य के लिए समर्पित थे। उपरोक्त के प्रकाश में, संविधान निर्माता पिछड़ी जातियों को समाज की अन्य जातियों के बराबर लाने के लिए नए राज्य को सकारात्मक भूमिका के लिए एकजुट हो गए। उन्होंने यह महसूस किया कि बिना राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप के उनके ऐतिहासिक संचित पिछड़ेपन को समाप्त करना संभव नहीं होगा। पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की नीति को इसी संदर्भ में समझा जाना आवश्यक है। पिछड़ी जातियों का संबंध जनता की तीन श्रेणियों से है—अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ी जातियां (ओ.बी.सी.)।

35.2 उद्‌देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- भारत के जातिगत ढांचे के आधार के रूप में वर्ण और जाति की पहचान कर सकेंगे और साथ ही जाति-व्यवस्था के प्रमुख लक्षण जान सकेंगे।
- जाति-व्यवस्था पर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के प्रभावों की व्याख्या कर सकेंगे।
- राजनीतिक प्रक्रिया में जाति की भूमिका समझ सकेंगे।
- भारतीय जनतंत्र की कार्यप्रणाली में जातीय योगदान को आँक सकेंगे।
- पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए विशिष्ट संवैधानिक प्रावधानों को याद कर सकेंगे।
- नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम 1955 (पी.सी.आर.ऐक्ट) के महत्त्व को समझ सकेंगे और अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयुक्त के कार्यों को जान सकेंगे।
- राजनीति के अध्ययन में एक दूसरी सामाजिक श्रेणी के रूप में 'वर्ग' की पहचान कर सकेंगे।

35.3 भारत का सामाजिक ढांचा : वर्ण और जाति

जाति प्रथा की ऐतिहासिक जड़ें प्रारंभिक वैदिक काल में खोजी जा सकती हैं। जाति-प्रथा, जिसे वर्ण-व्यवस्था भी कहते हैं, सामाजिक श्रम के विभाजन पर आधारित थी। कालान्तर में, किसी प्रकार, व्यवसाय और जीवन वर्ण एवं जाति पर आधारित हो गए।

प्राचीन आदर्श वर्ण-व्यवस्था में चार वर्ण हैं, ब्राह्मण (पुजारी और बुद्धिजीवी वर्ग), क्षत्रिय (योद्धा और शासक वर्ग), वैश्य (उत्पादक वर्ग-किसान और कारीगर) और शूद्र (वे जो भृत्य और स्वच्छता के कार्य करते हैं)।

यही न समझा जाए कि वर्ण-व्यवस्था में वर्ण विषयक वास्तविकता की अपेक्षा सैद्धान्तिकता अधिक है। वास्तव में, चार ही नहीं यहाँ हजारों वर्ण और जातियां हैं, जिनमें वर्ण-व्यवस्था एवं जाति प्रथा व्यवस्थित है। वर्ण-विभाजन की दृष्टि से, फिर भी, अधिकांश जातियों को वर्गीकृत करना संभव है। मध्यम श्रेणियों की अपेक्षा सामाजिक धरातल के आखिरी स्तरों पर इनको समझा जाना हालांकि अधिक आसान होता है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि वर्ण व्यवस्था का संबंध जाति से है, जिसको अखिल भारतीय ढांचे में परखकर तालमेल बिठाना होता है कि कौन सी जाति कहां किससे संबंधित होती है।

राजनीति में जातिगत ध्रुवीकरण वर्ण और जाति दोनों स्तरों पर रहा है। यह पूर्णतः ध्रुवीकरण के उद्देश्य तथा संदर्भ पर आधारित होता है।

(क) वर्ण क्या है

एन.एच. रिस्ले वर्ण को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "परिवारों या परिवार-समूहों का वह समुदाय, जिसको एक नाम से पुकारा जाता हो, एक ही पौराणिक देव या मानव पूर्वज की संतान होने का दावा करता हो, और उसी एक वंशानुक्रम में अनुसरण की घोषणा करते हुए एक ही सजातीय समुदाय के रूप में अभिमत प्रकट करने में सक्षम व्यक्तियों द्वारा पुकारा और समझा जाता हो", एक वर्ण कहलाता है।

तब, एक ही परंपरागत व्यवसाय वाले समाज का समूह ही एक वर्ण कहलाता है। एक वर्ण के समूह में सदस्यता का नितांत आधार उसमें जन्म लेने के सिद्धांत पर आधारित है। तदनुसार, व्यवसाय का चयन खुला नहीं है। अपितु वह व्यक्ति-विशेष के जाति-विशेष में जन्म लेने से निश्चित होता है। इसी के साथ वर्ण-समूहों द्वारा निर्धारित भोजन और विवाह के नियमों का पालन करना पड़ता है। इन वर्ण-समूहों में अपने समुदाय के सदस्यों के लिए व्यवहार निर्धारित किए गए हैं। सदस्यों द्वारा इन नियमों की अवहेलना करने की दशा में समुदाय से निष्कासन सहित अन्य सीमाओं तक अधिकार प्रयोग की क्षमता इन समूहों को प्राप्त होती है।

(ख) जाति प्रथा के लक्षण

जाति प्रथा में, जातीय समूह अपने पुरोहित-तंत्रीय क्रम में शास्त्र-सम्मत 'पवित्रता और प्रदूषण (अपवित्रता)' के विचार पर आधारित होकर नियंत्रित होते हैं। जी.एस. घुरये (एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री) का कहना है कि जाति प्रथा के छह प्रमुख लक्षण है : (1) समाज का खंडित विभाजन (2) पुरोहित-तंत्र (3) खान-पान और सामाजिक अंतर्संबंधों में प्रतिबंध

(4) सामाजिक एवं धार्मिक भेदभावपूर्ण व्यवस्था। (5) व्यवसाय के मुक्त चयन का अभाव, और (6) वैवाहिक प्रतिबंध।

इससे यह थोड़े में ही स्पष्ट हो जाता है कि जाति प्रथा सर्वथा असमानता के सिद्धांतों पर आधारित रही हैं इसी के साथ, विभिन्न जातियों तथा वर्णों के लोगों के विभिन्न सामाजिक विशेषाधिकार तथा हक भी होते हैं। जब उच्चवर्गीय (छिज) व्यक्तियों को उच्च सुसंस्कृत स्तर। आर्थिक समृद्धि तथा सत्ता के फल सुलभ हैं तो निम्न जातियां तथा विजातियां अनेक संस्कारों, सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक स्तरों पर अभावों और अयोग्यताओं से ग्रस्त हैं। फलतः निम्न जातियां और विजातियां, सदियों से, प्रगति तथा सुंदर जीवन-यापन के बंद मार्गों पर चलती रहने के कारण बहुत कुछ सहती आ रही है। अक्षमताओं, भेदभावों, दबाव व शोषण की यह स्थिति एक ऐसा विषय है कि इसने समकालीन राजनीति में जाति को विस्फोटक प्रगतिशीलता के द्वार पर ला खड़ा किया है।

पाठगत प्रश्न 35.1

खाली स्थानों को भरिए :

(1) ——————और——————भारत के सामाजिक ढांचे के आधार हैं।

(2) जाति प्रथा में वर्ग अपने ———क्रम में ——————और———शास्त्र-सम्मत विचार पर आधारित होकर नियंत्रित होते हैं।

(3) जाति प्रथा, जिसे——————भी कहते हैं——————श्रम के विभाजन पर आधारित थी।

(4) वर्ण व्यवस्था का संबंध——————से है, जिसे अखिल भारतीय——————में परखकर तालमेल बिठाना होता है, जिसमें जाति विशेष फिट हो सके।

(5) जाति प्रथा में व्यवसाय चयन——————नहीं है, अपितु वह व्यक्ति विशेष की———के आधार पर निश्चित होता है।

35.4 जाति प्रथा पर आधुनिकता का प्रभाव

गांव के संकीर्ण वातावरण में जाति प्रथा अपने परंपरागत स्वरूप में निरंतर चली आ रही है। इसका एक परस्पर-संबद्ध स्वरूप है। आधुनिक विचारों और संस्थाओं के प्रभाव में जाति प्रथा, की रचनात्मकता, क्रमशः शिथिल होने लगी। समता, स्वतंत्रता तथा सहभातृत्व की पश्चिमी विचारधारा प्रचलित जाति प्रथा की हिमायती और सही ठहराने वाली असमानता की विचारधारा के लिए निर्णायक सिद्ध हुई।

आधुनिक उदारवादी विचारधारा के प्रसार के साथ ही अंग्रेज़ी राज्य में, वर्तमान धर्मनिरपेक्ष शिक्षा, नवीन न्याय-व्यवस्था और संसदीय संस्थाओं की स्थापना से जाति-प्रथा को उपयुक्त ठहराने वाले आंतरिक तर्कों को गहरा झटका लगा।

उदाहरणतः नवीन न्याय-व्यवस्था और न्यायालयों ने विभिन्न जातियों के लोगों को समानता का दर्जा दिया। आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था ने शिक्षा के द्वार सभी जातियों के लिए समान रूप से खुले हुए सिद्ध करके ब्राह्मणों के बौद्धिक एकाधिकार को समाप्त कर दिया। औद्योगीकरण और व्यवसायीकरण के कारण नए रोजगारों के बढ़ते हुए अवसरों के साथ ही जाति और व्यवसाय की परंपरागत अंतर्संबद्धता कमजोर हो गई। इन नए अवसरों से ऐसी व्यावसायिक सामाजिक और भौगोलिक गतिशीलता में सुविधा मिली, जिसके विषय में पहले सोचा भी नहीं जा सकता था।

ब्रिटिश राज्य में शहरीकरण और औद्योगीकरण के फैलने से जाति प्रथा को धक्का लगा। विभिन्न जातियों के व्यक्तियों के बीच में सामाजिक दूरी पर्याप्त रूप से कम हुई, क्योंकि गांव में सामाजिक व्यवहार में प्रचलित नियम और परस्पर संबंध शहरी वातावरण में अधिक नहीं चल सकते थे। इस प्रकार, नवीन संस्थाओं के प्रसार से नया वातावरण निर्मित हुआ, जो कि परंपरागत भारत की स्थिति से बहुत भिन्न था। हालांकि परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व में जाति प्रथा बहुत कुछ कम हुई, पर बनी रही। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि इसने नए वातावरण से तालमेल बिठा लिया। किंतु ज्यों-ज्यों जाति प्रथा के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक पहलू शिथिल होते गए त्यों-त्यों इसकी प्रकृति में बदलाव आता गया तथा एक समूह के रूप में जाति ने अपनी नई पहचान बनाई। परिवर्तित राजनीतिक, आर्थिक संदर्भ में जातिगत पहचान राजनीतिक गतिशीलता का लक्ष्य बन गई।

इस भांति आधुनिकीकरण का उल्टा प्रभाव हुआ। ज्यों ही एक ओर जाति-प्रथा के धार्मिक, सामाजिक और व्यावसायिक पहलू शिथिल पड़े त्यों ही दूसरी ओर इसकी जातिगत पहचान की पकड़ और मजबूत हुई। इससे आगे, जाति-प्रथा के दलित और शोषित पक्ष के उत्थान से पिछड़ी जातियों को समान सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में पद उत्थान और मजबूत सामाजिक स्थिति प्राप्त करने का पक्का इरादा सुलभ हुआ।

35.5 जाति और राजनीति की अंतर्क्रिया

ब्रिटिश राज्य में जाति ने राजनीतिक प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाना प्रारंभ किया। आजादी के बाद, राजनीति में इसकी सहभागिता बहुत अधिक बढ़ गई। राजनीतिक दलों द्वारा अपनी राजनीतिक सहायता और मत प्राप्ति के उद्देश्य से इसका यह जातिगत सामाजिक व्यक्ति समूह की पहचान विषयक तथ्य आसान साधन बन गया। जैसे-जैसे राजनीतिक दल अपने चुनावी उद्देश्य से जातिगत व्यवस्था का दोहन करने लगे त्यों ही जातिगत समूहों को राजनीति में सक्रियता द्वारा अपनी पहचान बनाने और समाज में अपने लिए लाभ और पद प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होता गया। इस भांति जाति और राजनीति की परस्पर अंतःक्रिया द्विमार्गीय प्रक्रिया बन गई है।

पूर्व के पृष्ठों में हमने पढ़ा है कि अंग्रेजी राज्य में संसदीय व्यवस्था प्रारंभ हुई। ये राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा स्वशासन की मांग की पूर्ति के लक्ष्य से अंशकालिक रूप से प्रारंभ की गई थी। सर्वप्रथम सन 1882 ई. में लार्ड रिपन के सुधारों में जनतंत्रात्मक शासन पद्धति के सिद्धांत को स्वीकृति दी गई थी। तभी से राजनीतिक प्रक्रिया में जातिगत समूहों की सहभागिता की चांप लगातार विस्तृत होती हुई दिखाई देती है।

जातियों का राजनीतिकरण करने में जातिगत संगठनों का विशिष्ट योगदान है। जातिगत संगठन इस आशय से मात्र अर्द्ध-स्वैच्छिक संगठन थे कि उनकी सदस्यता केवल जातीय समुदाय के सदस्यों के लिए ही सुलभ थी। इन संगठनों की संरचना आर्थिक लाभों की प्राप्ति या शैक्षिक साधनों की सुलभता या साफ-साफ राजनीतिक लाभों के उद्देश्य से उच्चवर्गीय नेतृत्व से लड़ने हेतु एकत्रित होने के लिए हुई थी। जिन उद्देश्यों के लिए ये संगठन बने उनके लक्ष्य हर तरह से राजनीतिक सहभागिता का था। इस भाँति जाति की पहचान पर आधारित संगठन या दल अंतर्जातीय क्रियाकलापों तथा उद्देश्यों की प्राप्ति में लग गए।

जाति पर आधारित संगठनों के अलावा दूसरी प्रकार के जाति पर आधारित जो संगठन बने वे जातीय संघ कहलाए। जातीय संघ एक ही जाति के लोगों ही से नहीं अपितु अनेक उन जातियों से बने जो सामाजिक रूप से समरूप थीं। पर विशेष रुचि तथा राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में वे समान व एकजुट थीं। इन दोनों प्रकार के संगठनों ने, विशेष रूप से औपनिवेशिक शासन में, राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक ढांचे के बीच मध्यस्थता में निर्णायक भूमिका निभाई।

स्वतंत्रता के बाद, औपनिवेशिक शासन काल की अपेक्षा जातिगत राजनीति की भूमिका कहीं अधिक व्यापक हो गई है। यह राजनीतिक प्रक्रिया के सभी स्तरों और देश के अधिकांश क्षेत्रों में देखी जा सकती है। सभी राजनैतिक दल चुनाव लड़ने हेतु, हर मतदान क्षेत्र में, अधिसंख्य या प्रभावशाली समुदाय या जाति के प्रत्याशियों को टिकट देने का प्रयास करते हैं। मंत्रिपरिषद में भी बड़ी जाति के समूह प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं। चाहे वे चुनाव हों, राजनीतिक नियुक्तियां हों या राजनीतिक दलों की संरचना, जातिगत विचार बहुत अधिक महत्त्व रखता है।

फिर भी, जातिगत प्रभाव, चुनाव के स्वर तथा क्षेत्र के आधार पर भी अलग-अलग होता है। इसका प्रभाव स्थानीय और प्रांतीय राजनीतिक प्रक्रिया में राष्ट्रीय स्तर की अपेक्षा कहीं अधिक रहता है। जाति की भूमिका शहरी क्षेत्र की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्र में ज्यादा होती है। ग्रामीण क्षेत्रों तथा स्थानीय स्तरों पर, क्षेत्र की लघुता और अपेक्षाकृत अधिक आमने-सामने की बातचीत सभी तथ्य जातीय राजनीति को प्रबल रूप से प्रभावित करते हैं।

आजादी के समय से भारतीय राजनीति में विशेष रूप से दो बातों ने जाति के मुद्दे को सामने ला खड़ा किया है। ये हैं (1) सार्वभौम वयस्क मतदान पद्धति का प्रारंभ। (2) पिछड़े वर्गों के पक्ष में सुरक्षित भेदभाव के लिए संवैधानिक प्रावधान। चुनावी राजनीति के अखाड़े में थे ऐसे सार्वभौम वयस्क इसमें सहभागिता के लिए मत जो संपत्ति परक चुनावी योग्यता के कारण वंचित रह जाते, जन-समूह का बहुत बड़ा भाग सामने आए। राजनीतिक दलों के लिए इससे मतों को समझाने बुझाने का कार्य बहुत कठिन कार्य हो गया। इतना कठिन कार्य उस समय आसान हो जाता है जब राजनैतिक दल मत प्राप्ति हेतु जातिगत भरोसा कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में राजनीति में जाति पर आधारित भागीदारी भारत में चुनाव दर चुनाव गहरी होती जा रही है। चुनावी राजनीति की बढ़ी हुई परिधि के अतिरिक्त, सुरक्षित भेदभाव के लिए संवैधानिक प्रावधानों ने भी राजनीति में विशिष्ट भूमिका निभाने के लिए जातियों के लिए पृष्ठभूमि प्रदान कर दी है। अन्य पिछड़ी जातियों (ओ.बी.सी.) के लिए आरक्षण का प्रश्न, अपने आप में एक द्वंद्व पूर्ण राजनीतिक मुद्दा बन गया है, क्योंकि हम आगे संवैधानिक प्रावधानों की चर्चा करेंगे। अतः यहां यह जान लें कि इस प्रकार के राजनीतिक प्रावधान विकट संघर्ष के राजनैतिक मुद्दे बन गए हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि सुरक्षित भेदभाव केवल तीन श्रेणियों के लोगों के लिए था, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ी जातियां (ओ.बी.सी), जिन्हें सामूहिक रूप से पिछड़ी जातियां ही कहते हैं। इन तीनों में से अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की पहचान आसान है और इनके लिए आरक्षण की आवश्यकता को लेकर अधिकांश लोगों की सहमति थी। किंतु अन्य पिछड़ी जातियों का मामला अलग ही था।

पहले तो अन्य पिछड़ी जातियों की उनके स्पष्टतः पिछड़ेपन की पहचान और स्वीकृति के मापदंड के अभाव में जानकारी करना कठिन था। जबकि कुछ लोगों का तर्क था कि पिछड़ापन आर्थिक और शैक्षिक मापदंड के आधार पर तय किया जाए तो कुछ ऐसे लोग थे जो मानते थे कि पुरोहित-तंत्र में जाति के स्थान से उसके ऐतिहासिक रूप से संचित पिछड़ेपन की सघनता को आधार बनाया जाए। संविधान निर्माताओं ने बड़ी बुद्धिमता से अन्य पिछड़ी जातियों से संबंधित लोगों के मापदंड और पहचान का मसला भावी शासन पर छोड़ दिया। इससे जातिगत राजनीति में विद्वेषपूर्ण स्थिति पैदा हो गई।

आजादी के बाद दो प्रकार की जातिगत राजनीति देखी जा सकती है। पहली प्रकार में राज्य सरकारों द्वारा अन्य पिछड़ी जातियों के रूप में अपनी इस पहचान के लिए शोरगुल करने वाले जाति समूह थे या वे जो स्वीकृत होने पर आरक्षण हेतु अधिक ऊंचे कोटे की मांग कर रहे थे। राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर इस उद्देश्य से आयोगों की नियुक्तियों तथा निर्णयों से इस प्रकार की जातिगत राजनीति को फलने-फूलने के अवसर मिलते रहे। दूसरी प्रकार की जातिगत राजनीति में मूलतः जाति के मापदंड के आधार पर अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण के पक्ष और विषय में सामाजिक और राजनैतिक शक्तियों की गतिशीलता शामिल है। जबकि पहली प्रकार की जातिगत राजनीति ने राज्य सरकारों की आरक्षण नीति को प्रभावित करना चाहा तो दूसरी प्रकार की जातिगत राजनीति का लक्ष्य केंद्रीय सरकार की आरक्षण नीति रही।

इस भांति, आरक्षण के मुद्दे ने राजनीति में जाति को एक सक्रिय भूमिका अदा करने के लिए उपजाऊ भूमि प्रदान की। राजनीति में जाति की हिस्सेदारी की सीमा का अनुमान मात्र इसी सामान्य तथ्य से लगाया जा सकता है कि जन-समुदाय की पचास प्रतिशत से अधिक संख्या अन्य पिछड़ी जातियों से संबंधित है।

35.6 प्रजातांत्रिक पद्धति पर प्रभाव

यहां यह समझ लेना प्रासंगिक होगा कि भारतीय राजनीति के पाश्चात्य अध्येता, भारतीय प्रजातंत्र की सफलता के विषय में संदेह प्रकट करते थे। उनका तर्क था कि प्रजातंत्र के लिए सामाजिक और भौतिक समानता, शिक्षा तथा वैयक्तिक समाज का अस्तित्व इसकी सफलता के पूर्व निर्धारित आधार होते हैं। पर भारत में चरम सीमा की सामाजिक और भौतिक असमानताओं, विस्तृत अशिक्षा और वैयक्तिकता की मूलरूप से विरोधी सामाजिक सिद्धांतों पर आधारित सामुदायिक संस्कृति का बोलबाला है। जहां प्रजातंत्र के लिए समान अधिकारों पर आधारित भावों की आवश्यकता होती है वहीं भारत की सामाजिक संरचना के आधार पुरोहित तंत्र और असमानता के सिद्धांत हैं। उनके तर्कों का निचोड़ यह था कि प्रजातंत्र जैसी आधुनिक संस्था भारत के परंपरागत मौजूदा सामाजिक ढांचे में अपनी जड़ें

नहीं जमा सकती। अतः उनकी भविष्यवाणी यह थी कि भारत का प्रजातांत्रिक प्रयोग गत्ते के मकान की तरह एक दिन धराशायी हो जाएगा।

सालों बीत गए, इस तरह के भ्रामक विचारों के होते हुए भी भारत का प्रजातांत्रिक प्रयोग न्यूनाधिक रूप में ही सफल रहा है। जब अन्य उत्तर औपनिवेशिक समाजों से जहां प्रजातंत्र का प्रयोग प्रारंभ होकर कुछ समय बाद ही असफल हो गया, से तुलना करने पर लगता है कि भारतीय प्रजातंत्र की सफलता एक अनुपम उपलब्धि है। अधिकांशतः भारतीय प्रजातंत्र की सफलता, प्रजातांत्रिक कार्य प्रणाली की आवश्यकताओं के अनुरूप, परंपरागत सामाजिक ढांचे के अनुकूल ढलने की क्षमता के कारण रही है। प्रजातंत्र के मार्ग में परंपरा अवश्य आई। जाति के नए संदर्भों के अनुकूल ढलना प्रजातंत्र की कार्य प्रणाली के लिए वस्तुतः, सुविधा जनक रहा। इसने परंपरा और आधुनिकता के मध्य की दूरी, खाई को सफलतापूर्वक पाट दिया। इसे जानकर, भारत की प्रजातांत्रिक सफलता को देखकर रूडोल्फ सदृश विद्वानों को यह कहना पड़ा कि "भारतीय परंपरागत संस्थाओं" में "परंपरा की आधुनिकता" विराजमान है।

भारत के पूर्ण विकास में रुचि रखने वाले समूहों, प्रभावी समूहों और अन्य प्रजातांत्रिक संस्थाओं के लिए सहयोगी संस्थाओं के अभाव में पाश्चात्य उदारवादी प्रजातंत्रों से रुचि समूहों तथा प्रभावी समूहों के मानिंद जाति-समूहों ने एक निर्णायक भूमिका अदा की है। प्रजातांत्रिक प्रयोग के लिए बाधक बनने से कोसों दूर, समाज के परंपरागत ढांचे ने राजनैतिक प्रजातांत्रिक संस्थाओं के लिए उपयुक्त भीतरी ढांचे का कार्य किया है। किंतु जाति-समूहों और जाति पर आधारित संगठनों के लिए, जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग, जो आज भी परंपरागत समाज और संस्कृति से आच्छन्न है, आसानी से वर्तमान राजनीतिक प्रक्रिया द्वारा पीछे छोड़ा जा सकता था । दूसरे शब्दों में जाति ने भारतीय प्रजातंत्र को हर दहलीज तक पहुंचा दिया है।

प्रजातांत्रिक पद्धति की कार्य प्रणाली के लिए जाति ही सहायक सिद्ध नहीं हुई अपितु जातिगत राजनैतिक अंतःक्रियाओं के माध्यम से प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को गहराई तक पहुंचाने में भी यह सहायक रही है। यदि राजनीति को शक्ति-संगठन के किए जाति की आवश्यकता थी तो जाति, विशेष रूप से निचली जातियों को तेजवान सामाजिक-आर्थिक असमानताओं के विरुद्ध लड़ने हेतु राजनीति की आवश्यकता थी।

इस भांति पिछड़ी जातियों की गतिशीलता तथा राजनीतिकरण ने प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को और गंभीरता प्रदान की है तथा समाज का प्रजातंत्रीकरण करने में योगदान दिया है।

पाठगत प्रश्न 35.2

1. निम्नांकित वाक्यों में से कौन सही हैं और कौन गलत, चिन्हित कीजिए :

   (1) स्वतंत्रता, समानता तथा सहभ्रातृत्व की पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा जाति-प्रथा के लिए नहीं थी। (सत्य / असत्य)

   (2) आधुनिकीकरण से जाति प्रथा चरमरा गई किंतु एक समूह के रूप में जातिगत पहचान मजबूत हुई। (सत्य / असत्य)

(3) जातियों के राजनीतिकरण में जाति संगठनों और जातीय संघों की भूमिका बेमानी थी। (सत्य/असत्य)

(4) स्वतंत्रता के बाद सार्वजनिक प्रौढ़ मताधिकार ओर पिछड़ी जातियों के लिए सुरक्षित भेदभाव के संवैधानिक प्रावधान ने राजनीति में जाति की भूमिका को और गंभीर बना दिया। (सत्य/असत्य)

(5) पिछड़ी जातियों का राजनीतिकरण भारत में जनतांत्रिक प्रक्रिया को गंभीरता प्रदान करने में सहायक रहा है। (सत्य/असत्य)

II. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(1) अंग्रेजी राज में प्रारंभ की गई न्याय व्यवस्था ने सभी जाति के लोगों को ——— ठहराया।

(2) औद्योगीकरण और व्यवसायीकरण के कारण नए रोजगार के अवसरों के साथ ही ———और व्यवसाय की परंपरागत संबद्धता ——————हो गई।

(3) यह तथ्य की ——————एक आसानी से पहचाना जाने वाला समूह है, जो राजनीतिक दलों द्वारा अपनी ओर सरलता से ही आकर्षित की जाने वाली ————बना ली गई है।

(4) जातीय समाज इस आशय में ——————स्वैच्छिक संगठन बने ——————कि इनकें सदस्यता केवल जाति के सदस्यों के लिए ही खुली थी।

(5) नए संदर्भों में जाति की अनुकूलता से वस्तुतः प्रजातंत्र की——————में सरलता आ गई।

35.7 संविधान और पिछड़ी जातियां

संविधान में पिछड़ी जातियों से संबंधित कई प्रावधान हैं। ये प्रावधान मूलभूत अधिकारों तथा राज्य के नीति-निर्धारक सिद्धांत विषयक अध्यायों तथा संविधान में अन्य स्थलों में भी खोजे जा सकते हैं। पिछड़ी जातियों के प्रति संविधान निर्माताओं का अवधान, जिसका संबंध संविधान में कमजोर वर्ग से है, संविधान की प्रस्तावना में भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसमें सामाजिक-न्याय, आर्थिक और राजनैतिक तथा स्तर और अवसर की समानता की चर्चा की गई है। यह कहना अनावश्यक है कि यह उल्लेख विशेष रूप से पिछड़ी जातियों के हितों को ध्यान में रखकर किया गया है।

संविधान निर्माताओं ने पिछड़ी जातियों की दलित दशा को ध्यान में रखकर उनके उत्थान के लिए विशेष प्रावधान रखे हैं। ये विशेष प्रावधान सुरक्षित भेदभाव के रूप में हैं। आरक्षण की नीति इस सुरक्षित भेदभाव का स्पष्ट उदाहरण है। आरक्षण की नीति और इसके संवैधानिक प्रावधान की चर्चा करने से पूर्व हमें पिछड़ी जातियों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों पर संक्षिप्त विचार करना उपयुक्त होगा।

'राज्य के नीति निदेक सिद्धांत' विषयक अध्याय के अनुच्छेद 38 तथा 46 में राज्य पर यह बाध्यता रखी गई है कि वह सामान्य रूप से सभी जन-समुदाय तथा विशेष रूप से पिछड़ी जातियों के कल्याण के कार्यों का निर्वाह करे। अनुच्छेद 38 में उल्लेख है कि (1) राज्य दक्षता पूर्वक जन-समुदाय के कल्याण के कार्य करेगा, ताकि सामाजिक व्यवस्था में सभी राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा सामाजिक तथा राजनैतिक न्याय का पालन हो सके।

राज्य का यह विशेष दायित्व होगा कि वह असमानताओं को कम करे और यह प्रयास करें कि अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले तथा अलग-अलग व्यवसायों में लगें सभी लोगों की असमानताएं समाप्त हों।

अनुच्छेद 46 के अनुसार "राज्य विशेष सावधानीपूर्वक समाज के कमजोर वर्गों के विशेष रूप से अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोगों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को प्रोन्नत करेगा तथा उन्हें सभी प्रकार के शोषण एवं अन्यायों से सुरक्षा प्रदान करेगा"।

इसी के साथ, 'समानता के अधिकार' विषयक अनुच्छेद 14 के अंतर्गत प्रत्येक नागरिक को कानून और कानूनी सुरक्षा की समानता के समक्ष समानता की गारंटी प्रदान की गई है। अनुच्छेद 16 (1) में सरकारी रोजगार के मामलों में अवसर की समानता की गारंटी निहित है। इसके अतिरिक्त, भारत में पुरोहित-तंत्र के अंतर्गत परंपरागत सामान्य रूप से प्रचलित, भेदभाव पर संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से रोक लगा दी गई है। यह अनुच्छेद 15 (1), 16 (2) तथा 29 (2) में विशिष्ट रूप से लिखित है। इसी शृंखला में अनुच्छेद 17 छूआछूत को समाप्त करता है तथा इसके अंतर्गत यह उल्लेख है कि सभी तरह का छूआछूत पूर्णतः प्रतिबंधित है।

(क) आरक्षण के प्रावधान

आरक्षण की नीति सुरक्षित भेदभाव के सिद्धांत पर आधारित है। संविधान-निर्माताओं द्वारा पिछड़ी जातियों के लिए सुरक्षित भेदभाव इसलिए आवश्यक समझा गया था क्योंकि मात्र अवसर की समानता ही पिछड़ी जातियों को समाज के शेष वर्गों के बराबर लाने के लिए पर्याप्त नहीं है। समान परिस्थितियों के अभाव में, अवसर की समानता से समानता को बढ़ावा देने के बजाय असमानता को ही बढ़ावा मिलेगा। यह ध्यान देने योग्य है कि सुरक्षित भेदभाव का प्रावधान एक अपवाद न होकर समानता के अधिकार का ही अभिन्न अंग है।

(ख) अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण

संविधान में तीन श्रेणियों के लोगों को पिछड़ी जातियों में माना गया है। इस खंड में हम अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों से संबंधित प्रावधानों की चर्चा करेंगे।

संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए तीन प्रकार के आरक्षण का प्रावधान है। (1) सरकारी और पब्लिक सेक्टर की नौकरियों में आरक्षण (2) शैक्षिक संस्थाओं में आरक्षण तथा (3) विधायी प्रतिनिधित्व में आरक्षण।

अनुच्छेद 16(4) तथा 333, के अंतर्गत, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए, क्रमशः 14% तथा 7% नौकरियां लोक सेवा के सभी स्तरों में सुरक्षित की गई हैं। अनुच्छेद 35 के आधार पर यह आरक्षण किसी तरह यथाशक्ति प्रशासनिक दक्षता को संगत बनाने के संदर्भ में है।

अनुच्छेद 15(4) के अंतर्गत शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश के आरक्षण से संबंधित है। इस अनुच्छेद के अनुसार, "राज्यों को शैक्षिक और सामाजिक रूप से पिछड़ी जातियों के नागरिकों या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के उत्थान के लिए विशेष प्रावधान है। इसी के अनुसार सरकारी साधनों से चलने वाली शैक्षिक संस्थाओं में, राज्य और केंद्रीय शासनों ने 20 प्रतिशत सीटें सुरक्षित कर दी हैं। फिर अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के प्रवेश के लिए योग्यताओं में भी छूट दी है, ताकि वे शैक्षिक अवसर प्राप्त कर सकें।

अनुच्छेद 330 तथा 332 के अंतर्गत लोक सभा तथा विधान सभाओं की सीटों में आरक्षण का प्रावधान है। लोक सभा में 78 सीटें अनुसूचित जाति तथा 38 सीटें अनुसूचित जनजाति के लिए सुरक्षित हैं। कुल विधान सभाओं में मिलाकर अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए क्रमशः 540, तथा 282 सीटें सुरक्षित हैं। इतना ही नहीं इनके लिए पंचायती राज संस्थाओं में भी इसी भाँति आरक्षण की व्यवस्था है।

(ग) अन्य पिछड़ी जातियों (ओ.बी.सी.) के लिए आरक्षण

सामाज शास्त्र की भाषा में, अन्य पिछड़ी जातियों की एक ऐसी अपशिष्ट श्रेणी है जो एक ओर उच्चवर्ग तो दूसरी ओर अनुसूचित जाति तथा जनजातियों को अलग करने से बच जाती है। मंडल कमीशन के आंकड़ों के आधार पर ये पूरी जनसंख्या के 52 प्रतिशत हैं। उन्हें संविधान के अनुच्छेद 15(4) और 16(4) के अंतर्गत आरक्षण का लाभ प्राप्त है।

जब अनुच्छेद 341 तथा 342 के अंतर्गत राष्ट्रपति के अध्यादेश के द्वारा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का उल्लेख हुआ तो ऐसा उल्लेख अन्य पिछड़ी जातियों के विषय में नहीं किया गया। उनकी पहचान बंद उल्लेख का कार्य राज्य तथा केंद्रीय सरकारों पर छोड़ दिया गया। अनुच्छेद 340 के अनुसार राष्ट्रपति अध्यादेश के द्वारा एक आयोग नियुक्त करें ताकि वह सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों की उन दशाओं और कठिनाइयों की जांच की जा सके। जिनमें वे श्रम करते हैं और परेशानियां उठाते हैं तथा ऐसी सिफारिशें प्रस्तुत करे जिनमें राज्य का केंद्रीय शासन उनकी दशाओं और कठिनाइयों में सुधार हेतु आवश्यक कदम उठाए।

अनेक राज्यों में जहां पिछड़े वर्गों का आंदोलन जोरों पर था जैसे तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, केरल, गुजरात, बिहार आदि राज्य सरकारों ने अपने पिछड़े वर्गों के लिए आयोग गठित कर दिए। इन आयोगों की सिफारिशों के आधार पर लोक सेवाओं तथा शैक्षिक संस्थाओं में नौकरियों के पद तथा भर्ती हेतु सीटें आरक्षित कर दीं।

हालांकि, केंद्रीय सेवाओं में अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण निश्चित करने में केंद्र सरकार ने बहुत लंबा समय लगाया। अनुच्छेद 340 के अतंर्गत केंद्र सरकार ने बहुत पहले

1953 में ही केलकर कमीशन नियुक्त किया था। इस आयोग ने 1956 में अपनी रिपोर्ट दे दी थी किंतु इसकी सिफारिशों को केंद्र सरकार ने लागू नहीं किया। अनुच्छेद 340 के अंतर्गत दूसरा आयोग, 1978 ई. में जनता पार्टी द्वारा बिठाया गया। मंडल कमीशन के नाम से विख्यात इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन 1982 में प्रस्तुत कर दी। इसने 3943 जातियों को अन्य पिछड़ी जातियों में माना और इनके लिए सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संगठनों तथा शैक्षिक संस्थाओं में 27 प्रतिशत पदों और सीटों की सिफारिश की।

वी.पी.सिंह के प्रधान मंत्रित्व में बनी केंद्रीय सरकार ने 13 अगस्त 1990 को मंडल आयोग द्वारा अनुशसित बिंदुओं पर अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की घोषणा करते हुए एक कार्यालयी परिपत्र जारी किया। इसके तत्काल बाद चारों ओर विरोध प्रदर्शन हुए। इस सिफारिश पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए अनेक उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमे डाले गए। सर्वोच्च न्यायालय ने इस मामले की नवंबर 1992 में जांच की और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण के लिए केंद्र सरकार को इस शर्त के साथ स्वीकृति प्रदान कर दी कि अन्य पिछड़ी जातियों में से "क्रीमी लेयर" (सपन्न स्तर के लोग) को निकाल दिया जाए। इस "क्रीमी लेयर" के निर्धारण के लिए केंद्र सरकार द्वारा रामानंद आयोग बिठाया गया। एक बार उसने अपना काम कर दिया और सरकार ने 13 अगस्त 1990 का आदेश सितंबर 1993 में लागू कर दिया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का लाभ देने में केंद्र सरकार को लगभग चालीस वर्ष लगे। सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की पहचान के लिए ठोस आधार पर जातिगत स्वीकृति में भी प्रायः यही समय लग गया।

हमें जानना चाहिए कि अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण सरकारी सेवाओं और शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश में भी लागू होते हैं। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की भांति लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओं में अन्य पिछड़ी जाति के लिए कोई सीट आरक्षित नहीं की गई है।

35.8 अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के उत्थान के लिए अन्य उपाय

आरक्षण की नीति के अतिरिक्त, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों के हित के लिए सरकार ने अन्य उपाय भी किए हैं। यहां ऐसे दो उपायों की चर्चा करना समीचीन होगा। संसद ने "अस्पृश्यता निवारण अधिनियम 1955" लागू किया, जिसे बाद में पूर्ण रूप से सुधार कर "नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम 1976" नाम दे दिया गया। यह अधिनियम अनुच्छेद 17 के विशेष रूप से तथा अनुच्छेद 15(2) के सामान्यतः प्रभावी क्रियान्वयन हेतु बनाया गया था। दूसरे संविधान के अनुच्छेद 338 के अंतर्गत सरकार ने अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त नाम से एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया।

नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम 1955 (पी.सी.आर.एफ.) में अस्पृश्यता के कारण किसी पूजास्थल में प्रवेश, पूजा करने, जलाशय, कुंए या सोते से पानी भरने में किसी व्यक्ति को रोकने पर दंड का प्रावधान है। किसी प्रकार की सामाजिक हीनता के आरोप के कारण

किसी व्यक्ति को किसी दुकान, रेस्टोरेंट, होटल, सार्वजनिक अस्पताल या शिक्षण संस्था अथवा किसी अन्य मनोरंजन स्थल में प्रवेश से न रोकने अथवा किसी सड़क, नदी, कुंआ, तालाब, नल, स्नान के तालाब, घाट, श्मशान इत्यादि के प्रयोग से न रोकने विषयक प्रावधान इस अधिनियम में सम्मिलित हैं।

नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम में "अस्पृश्यता" के प्रयोग में वे सभी बातें आती हैं जिनमें अस्पृश्यता विषयक उपदेश देना तथा अस्पृश्यता को सही ठहराना भी है। यह हर व्यक्ति को ध्यान देने योग्य है कि "जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 के अंतर्गत अपराधी सिद्ध होने वाला कोई व्यक्ति नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम के अंतर्गत सजा की अवधि के प्रारंभ होने की तिथि से छह वर्षों तक संसद या विधान सभा के चुनाव लड़ने के लिए आयोग्य हो जाता है। सजा में एक या दो वर्ष की जेल की सजा निहित है। इस अधिनियम के अंतर्गत यह उपबंध है कि जब तक अपराधी स्वयं को इस दोष से मुक्त होने के लिए प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता तब तक यह समझा जाता है कि उसने यह अपराध अवश्य किया है। संविधान के अनुच्छेद 338 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करने का उपबंध है। इस अनुच्छेद के अतर्गत जुलाई 1970 में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन जातियों के लिए इसके विशेष अधिकारी आयुक्त की अध्यक्षता में चार सदस्यों का आयोग गठित किया गया। आयुक्त की भूमिका में (1) अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन जाति को मिलाने वाले हितों की रक्षा के लिए सभी तथ्यो की खोज करना (2) लोक सेवाओं में आरक्षण तथा (3) नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम का क्रियान्वयन, सम्मिलित हैं।

पाठगत प्रश्न 35.3

1. उपयुक्त उत्तर को पहचान कर लिखिए :

   पिछड़े वर्गों का संबंध

   (अ) केवल अनुसूचित जाति से है।

   (ब) अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति मात्र से है।

   (स) अल्पसंख्यकों से है।

   (द) अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ी जातियों से है।

2. सुरक्षित भेदभाव का प्रावधान:

   (अ) केवल अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए है।

   (ब) राज्य के नीति निर्देशक तत्व विषयक अध्याय में निहित है।

   (स) समानता के अधिकार का अपवाद है।

   (द) समानता के अधिकार का अभिन्न अंग है।

3. सामान्य रूप से जन-कल्याण तथा विशेष रूप से पिछड़े वर्गों के कल्याण विषयक राज्य के प्रयास का उल्लेख :

(अ) अनुच्छेद 46 में है।

(ब) अनुच्छेद 38 में है।

(स) अनुच्छेद 29 में है।

(द) अनुच्छेद 38 और 46 में है।

4. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 46 इनमें से किसके विषय में बताता है ?

(अ) ज्यादतियों और अन्यायों से कमजोर वर्गों की रक्षा के विषय में।

(ब) अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के साथ होने वाली ज्यादतियों और अन्यायों तथा उनके सभी प्रकार के शोषण से सुरक्षा के विषय में।

(स) राज्य द्वारा कमजोर वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष प्रावधान द्वारा प्रोन्नत करने के संबंध में।

(द) अ, ब तथा स दोनों में उल्लिखित बातों के विषय में।

निम्न प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में दीजिए :

5. नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम 1955 में व्यापक रूप से कब सुधार किया गया ?

.....

6. पिछड़े वर्गों के लिए शैक्षिक संस्थाओं में आरक्षण के विषय में भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में उल्लेख किया गया है ?

.....

7. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए लोक सभा तथा विधान सभाओं में सीटों के आरक्षण विषयक अनुच्छेद का उल्लेख करें।

.....

8. भारत के राष्ट्रपति द्वारा भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद के अंतर्गत केलकर आयोग और मंडल आयोग नियुक्त किए गए थे ?

.....

9. आरक्षण के हितों से वंचित रखने के उद्देश्य से अन्य पिछड़ी जातियों के हितों में क्रीमी लेयर (संपन्न स्तर के लोग) की पहचान करने के लिए बनी हुई कमेटी की अध्यक्षता किसने की ?

.....

35.9 राजनीति की वर्गवादी दृष्टि

अब तक हमारा अध्ययन जाति तथा राजनीतिक प्रक्रिया में इसकी भूमिका तक ही केंद्रित रहा है। राजनीति की जाति केंद्रित दृष्टि के अतिरिक्त राजनीति की एक अन्य वर्गवादी दृष्टि भी है। पर उसकी चर्चा से पूर्व हम पहले वर्ग का अर्थ समझ लें।

जाति की भांति वर्ग भी एक सामाजिक समूह है। पर जाति के समान यह जन्म पर आधारित नहीं है। वर्ग एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसका आधार आय और व्यवसाय है। इस सामान्य अर्थ में हम भारतीय समाज में विभिन्न वर्गों की बात करते हैं, जैसे उच्चवर्ग, उच्च मध्यम वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग और श्रमजीवी वर्ग। समाज के स्तरीकरण का इस तरह का यह आधार आय और उपभोग के तरीके पर आधारित है।

मार्क्सवादियों के लिए वर्ग आर्थिक कसौटी पर आधारित सामाजिक समूह मात्र नहीं है। वर्ग को विशेष रीति से उत्पादन प्रणाली के संदर्भ में निर्धारित गया है। एक सामाजिक वर्ग उसके उत्पादन के साधनों के स्वरूप द्वारा आंका जाता है। जिनके पास उत्पादन के साधन हैं वे शासक वर्ग कहलाते हैं और जो श्रम बेचकर अपने जीवन के साधन जुटाते हैं वे श्रमजीवी वर्ग कहलाते हैं। इसके मध्य में मध्यम वर्ग होते हैं। मार्क्स की धारणा थी कि पूंजीवादी समय की गति के अनुसार मध्यम वर्ग को श्रमजीवी वर्ग में धकेल देगा। पूंजीवादी व्यवस्था में स्पर्धा का यही सही तर्कपूर्ण स्वरूप माना गया। कार्ल मार्क्स अपने इस तर्क के लिए भारत में ही नहीं अपितु अन्य प्रगतिशील देशों में पूंजीवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण मध्यम वर्ग के बीच काफी प्रसिद्ध हुए थे।

राजनीति की वर्गवादी दृष्टि में, राजनीति एक वर्ग-संघर्ष के संदर्भ में देखी जाती है। इसके अनुसार जब तक उत्पादन के साधन निजी संपत्ति के रूप में रहेंगे तब तक समाज दो विरोधी वर्गों—'सुविधा संपन्न' और 'सुविधा रहित'—में विखंडित होता रहेगा। इन दोनों वर्गों में संघर्ष चल रहा है। जो सुविधा संपन्न हैं और उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखते हैं। वे इस कारण इस प्रथा को निरंतर बनाए रखते हैं जबकि 'सुविधा रहित' लोग इसे उखाड़ फेंकने का प्रयास करते हैं और चुनौती देते हैं, क्योंकि उन्हें यह शोषण करने वाली और अन्यायपूर्ण प्रतीत होती है। इस भांति राजनीति को समझने के लिए हमें समाज में वर्ग-विभाजन की ओर देखना पड़ेगा।

फिर कुछ भी हो, भारत के मामले में वर्ग-भेद को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माननेवाले मार्क्सवादी भी जाति के पहले को पूरी तरह अनदेखा नहीं करते। यह इसलिए है कि उन्हें भारतीय समाज में जाति तथा वर्ग-विभाजनों के बीच परस्पर-व्याप्ति दीख पड़ती है। यह नोट करने लायक बात है कि एक व्यक्ति की जाति समाज में उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति को ही नहीं बताती अपितु उसकी आर्थिक स्थिति तथा उत्पादन के साधनों के साथ-साथ उसके संबंधों को भी दर्शाती है। उदाहरण के लिए भारत के गांवों में भूमि के स्वामी ज़मींदार तथा मालदार किसान, सामान्यतः ऊंची जातियों जैसे, भूमिहार, राजपूत और ब्राह्मण वर्ग के होते हैं, जबकि भूमिहीन मजदूरों का समूह, जो बटाई पर खेती करते हैं, प्रायः हरिजन और दूसरी नीची जातियों के होते हैं। मध्यवर्ती स्तर पर किसी तरह, जाति और वर्ग के बीच कोई स्पष्ट संपर्क नहीं है। मध्यम वर्गीय जातियां जैसे यादव, कुर्मी, जाट तथा अन्य ऐसी जातियों में भूमि-स्वामी तथा भूमि-हीन दोनों ही प्रकार के लोग मौजूद हैं।

पाठगत प्रश्न 35.4

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

1. जाति के समान वर्ग एक सामाजिक समूह हैं, किंतु जाति के ——————यह जन्म पर आधारति नहीं है।
2. मार्क्सवादी लोग सामाजिक वर्ग के ——————साधनों के संदर्भ में आंकते हैं।
3. जो उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं, वे——————वर्ग के होते हैं।
4. सामाजिक–आर्थिक दृष्टि–पट के चरण छोरों पर जाति और वर्ग में परस्पर ——है।

आपने क्या सीखा

जाति और वर्ण भारत में सामाजिक ढांचे का मूल आधार है। सदियों से जाति-प्रथा समाज में सामाजिक आर्थिक असमानताओं को बनाए रखकर शाश्वत और पूर्ण प्रथा के रूप में प्रकट हुई। निचली जातियों और विजातियों की दशा, विशेष रूप से, कारुणिक थी।

ब्रिटिश राज्य में आधुनिक उदारवादी विचारधाराओं और संस्थाओं से जाति-प्रथा को तगड़ा झटका लगा। परिणामतः, जाति प्रथा चरमराने लग गई। एक विशेष सामाजिक तत्त्व के रूप में जाति महत्त्वहीन हो रही है। किंतु एक राजनीतिक तत्व के रूप में महत्त्वपूर्ण हो गया है। यह तथ्य कि यह एक आसानी से पहचाने जाने वाला सामाजिक जन-समूह है, जिसे जाति के नाम पर राजनीतिक दलों द्वारा आसानी से अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। भारत में प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को पिछड़ी जातियों में राजनीतिकरण ने और गहरा कर दिया। पाश्चात्य उदारवादी प्रजातंत्रों के हितकारी समूहों और प्रभावी समूहों के प्रमुख जाति समूहों ने भूमिका निभाते हुए भारतीय प्रजातंत्र की कार्य प्रणाली को सरल बनाया।

पिछड़े वर्गों के संचित ऐतिहासिक पिछड़ेपन तथा उन्हें समाज के शेष लोगों के बराबर जाने की आवश्यकता के प्रकाश में संविधान में सुरक्षित भेदभाव का प्रावधान है। सुरक्षित भेदभाव एक अपवाद नहीं है अपितु समानता के अधिकार का अभिन्न अंग है। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को भारतीय गणतंत्र के स्थापित होने के साथ ही राज्य और केन्द्रीय सरकारों द्वारा आरक्षण का लाभ तो मिला है। परंतु अन्य पिछड़ी जातियों को विधायी संस्थाओं में प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है।

जाति के अतिरिक्त, एक दूसरा सामाजिक समूह है, जिसे वर्ग कहा गया है। यह आर्थिक कसौटी पर आधारित है। मार्क्सवादी इसे उत्पादन के साधनों के संबंध में व्यक्त करते हैं। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, भारत में सामाजिक-आर्थिक दृष्टि-पट के चरम छोरों पर जाति और वर्ग के बीच परस्पर समीपता है।

पाठांत प्रश्न

1. वर्ण और जाति किस तरह परस्पर संबंधित हैं ? जाति प्रथा के मूल तत्वों का वर्णन कीजिए।

2. जाति प्रथा पर आधुनिकीकरण का क्या प्रभाव रहा है ?
3. भारतीय प्रजातंत्र में जाति की भूमिका का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
4. सुरक्षित भेदभाव क्या है ? उन संवैधानिक प्रावधानों का उल्लेख कीजिए जिनके अंतगर्त पिछड़े वर्गों को आरक्षण के नाम दिए गए है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

35.1

1. कास्ट, जातियां
2. पुरोहित तंत्रात्मक, पवित्रता, प्रदूषण, (अपवित्रता)
3. वर्ण-व्यवस्था, सामाजिक
4. जाति, ढाँचा
5. खुला, जाति

35.2

1. असत्य
2. सत्य
3. असत्य
4. सत्य
5. सत्य

35.2

1. समान
2. जाति, कमजोर
3. जाति, वस्तु
4. अर्द्ध
5. कार्य-प्रणाली

35.3

I. (1) द (2) द (3) द (4) द

II. (1) 1976,

(2) 15 (4)

(3) 330 और 332

(4) 340

(5) रामानंद प्रसाद

35.4

(1) असमान

(2) उत्पादन

(3) शासक

(4) समीपता

पाठांत प्रश्नों के संकेत

कृपया देखें,

(1) उपखंड 35.3.1 तथा 35.3.3

(2) उपखंड 35.4

(3) उपखंड 35.5

(4) उपखंड 35.8.1, 35.8.2 तथा 35.8.3

35
भारत में उपनिवेशवाद

35.1 भूमिका

हमारे सांविधानिक स्वरुप का विकास काफी हद तक ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विरासतों पर आधारित है। हमारी बहुत-सी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याएं, जिन्हें हम दूर करना चाहते हैं, ब्रिटिश हुकूमत की देन है।

भारतीय जनता द्वारा ब्रिटिश उपनिवेशवाद के असली स्वरुप की अनुभूति ने राष्ट्रीय आंदोलन को आधार प्रदान किया और वह राष्ट्रीय आन्दोलन की रणनीतियां, लक्ष्य और उद्देश्य ही थे जिन्होंने स्वाधीनता के पश्चात हमारी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक नीतियों और कार्यक्रमों को आकार प्रदान किया। ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के अधीन किए गए निर्दयतापूर्वक शोषण ने आजादी के फासले को कम करने में मदद पहुंचाई। यही नहीं, इससे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के करोड़ों लोगों को अपने ही देश में विदेशी शासन के खिलाफ लड़ने में साहस व प्रेरणा मिली। ब्रिटिश हुकूमत ने मुख्यतः भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में एक अहम भूमिका निभाई। दूसरे शब्दों में, इसने पहली बार पूरे भारत में एकीकृत कानूनी, राजनैतिक व प्रशासनिक ढांचा निर्मित किया। उपरोक्त कारकों ने वस्तुतः आज की विद्यमान राजनैतिक व्यवस्था को संवारा और सजाया। राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की वास्तविक प्रकृति का अध्ययन करने के लिए यह जरूरी है कि ब्रिटिश उपनिवेशी—शासन के पड़ने वाले प्रभाव का विस्तृत अध्ययन किया जाय। यह इसलिए भी आवश्यक है कि मूलतः यही प्रभाव हमारी राजनैतिक व्यवस्था व संवैधानिक प्रणाली का आधार भी बना रहा है।

इस पाठ में हम ब्रिटिश उपनिवेशवाद की प्रकृति और भारत की सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्था पर इसके पड़ने वाले प्रभावों के बारे में अध्ययन करेंगे।

35.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- उपनिवेशवाद का अर्थ समझ सकेंगे।
- भारत में अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन की प्रकृति का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारतीय अर्थव्यवस्था पर उक्त औपनिवेशीकरण के प्रभाव को समझ सकेंगे।
- उपनिवेशवाद के भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों से परिचित हो सकेंगे।
- अंग्रेजी हुकूमत के भारत की राजनैतिक व्यवस्था पर पड़े प्रभावों का परीक्षण करेंगे।
- अंग्रेजी उपनिवेशवाद के प्रभाव का अध्ययन निम्न समस्याओं को समझने के लिए उपयोगी है :

  (क) उपनिवेशवादी शोषण

  (ख) भारतीय राष्ट्रवाद

  (ग) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था।

35.3 उपनिवेशवाद का अर्थ

उपनिवेशवाद पूंजीवाद का एक दूसरा रूप है, जो कि मुख्यतः पश्चिमी दुनिया में हुई औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप विकसित हुआ।

औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ कुछ उत्पादक व व्यापारी उक्त प्रोद्योगिकी का इस्तेमाल करते हुए जहां एक तरफ कच्चे तथा सस्ते खनिज पदार्थ की तलाश में थे वहीं दूसरी तरफ अपने उत्पाद को बेचने के लिए खुले बाजार की तलाश में भी थे। इस तरह गलाकाट बाजार प्रतियोगिता से बचने और साथ ही साथ अधिक से अधिक लाभ कमाने की आड़ में इन लोगों ने व्यापार पर अपना एकाधिकार कायम करने का प्रयास किया। इसलिए उन्होंने नए भू-भाग व क्षेत्र हड़पने शुरू कर दिए, और अंततः राजनीतिक सत्ता पर भी काबू पा लिया। मामला यहीं समाप्त नहीं हुआ अपितु कमजोर मगर पिछड़े लोगों को ताकतवर देशों के अधीन शोषित व पददलित किए जाने का दौर शुरू हुआ। इस प्रकार इस तरीके से आधुनिक उपनिवेशवाद अस्तित्व में आया। उपनिवेशवाद का मकसद दुनिया के पिछड़े देशों व उनके निवासियों पर समृद्ध देशों द्वारा शासन और शोषण करना था। इस तरह की प्रवृत्ति शोषणमूलक थी, जिसका लक्ष्य आर्थिक लाभ कमाना था।

उपनिवेशवादी शासन के विस्तार व स्थापना में कतिपय अन्य कारक भी उत्तरदायी थे। इसके पीछे उस राष्ट्र विशेष का अंध राष्ट्रवादी अभिमान भी काम कर रहा था। उक्त राष्ट्र का अपनी धार्मिक अच्छाई का ढोंग भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। इसी दौर में देश की भाषा व संस्कृति उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में तेजी ला रही थी। राष्ट्र की सैनिक व सामरिक शक्ति भी उपनिवेशवाद को बढ़ावा दे रही थी।

उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं। ऐसा लोगों का मानना है कि उपनिवेशवाद ही साम्राज्यवाद को पुष्पित व पल्लवित करता है। हकीकत यह है कि दोनों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। दोनों के उदय में कारक व परिस्थितियां समान रही हैं। किसी ने सही ही कहा

है कि साम्राज्यवाद अपनी सीमा से परे एक राज्य शक्ति का प्रतीक है। इसका उद्देश्य दूसरे राज्य के भूभागों को हड़पना-मात्र होता है। संक्षेप में, उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद एक राष्ट्र विशेष की अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक शक्ति है, जो किसी अन्य राज्य में रहनेवाले लोगों को अपने अधीन करने का प्रयास करती है। साम्राज्यवाद का निहित स्वार्थ समृद्ध व उन्नत राष्ट्रों के हित को देखते हुए पिछड़े लोगों के भाग्य के साथ खिलवाड़ करना होता है। यह भी सही है कि जहां कुछ लोग उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद को खुले रूप से नकारते हैं वहीं ऐसे भी लोग हैं जो इसकी अच्छाइयों की काफी प्रशसा करते हैं। यह साम्राज्य-निर्माण की एक सोची-समझी व्यवस्था है, जो शासन के पर्दे में, व कमजोर लोगों का शोषण करती है। इसका लक्ष्य पराधीन लोगों का कल्याण करना नहीं, वरन् आर्थिक रूप से तिजोरी भरना होता है। यह शासक देशों के लिए कोई मायने नहीं रखता कि पराधीन लोग किस नस्ल के हैं उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का अर्थ आमतौर पर जबरदस्ती अन्य राज्य के भू-भाग को हड़पना और राजनैतिक, सामजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक तौर पर लोगों को बंधुआ बनाना है।

साम्राज्यवादी अवधारणा के अनुसार साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद वित्तीय पूंजी पर एकाधिकार चाहता है। इसके अंतर्गत उपनिवेशी राज्य से बड़ी तादाद में शासक राज्य को पूंजी के निर्यात को बढ़ावा मिलता है। पूरी दुनिया दो हिस्सों में बंट जाती है—एक धनहीन देश और दूसरे समृद्ध देश—फलस्वरूप यह युद्ध को अवश्यंभावी बना देता है।

35.4 ब्रिटिश उपनिवेशवाद का स्वरूप

1600 ई. में ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद का उदय हुआ। इसी समय भारत, एशिया व अफ्रीका से तिजारत व व्यापार करने के लिए ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को एक चार्टर के तहत फरमान जारी किया गया। शुरुआती दौर में इसका लक्ष्य भारत व ईस्ट इंडीज के उत्पाद, खासकर मसाला, कपास, सूत तथा रेशमी सामानों की आपूर्ति करना था। इसके लिए यूरोपीय बाजार लाभ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। लेकिन जल्द ही उक्त नीति को दरकिनार कर वे लूट-खसोट व विस्तारवादी नीति पर उतर आए ताकि उनका व्यापार पर एकाधिकार कायम हो सके।

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवादी स्वरूप की सही जानकारी इसके तीन चरण अध्ययनों के पश्चात ही पाई जा सकती है। ये निम्नलिखित हैं :

(क) वाणिज्यिक पूंजीवाद (प्रारंभ से 1813 ई. तक)

(ख) खुला व्यापारिक पूंजीवाद (1813 से 1858)

(ग) वित्तीय पूंजीवाद (1858 से लेकर 1947 तक)

अब हम भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवादी स्वरूप के प्रत्येक चरण का विश्लेषण करेंगे।

(i) वाणिज्यिक पूंजीवाद (मुगलकाल के अन्त से लेकर 1813 ई. तक)

इस चरण की शुरुआत ईस्ट इंडिया कंपनी के तहत अंग्रेजी सौदागरों की भारत में घुसपैठ से हुई। वस्तुओं की खरीद फरोख्त और अधिक लाभ कमाने के लालच ने तुरंत ही ब्रितानी व्यापारियों में दूसरे के क्षेत्र व भूभाग को हड़पने और व्यापार पर एकाधिकार कायम करने की अंधी प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। इस दौरान उन्होंने काफी तादाद में पूंजी-संग्रह किया। इस पूजी

संचय ने वस्तुतः इंगलैंड में औद्योगिक माल के उत्पादन में भारी सहायता पहुंचाई। ईस्ट इंडिया कंपनी इस दौरान भारतीय बाजार से सस्ते दर पर कच्चे माल खरीदने पर जुटी रही, जिसे बाद में पक्के माल में निर्मित कर उन्होंने भारी दाम पर भारतीय लोगों को बेचना शुरू किया। आगे चलकर ब्रितानी शासकों को अपने व्यापार पर एकाधिकार तथा उसे पूरी हिफाजत देने के लिए और कब्जा किए गए भूभाग को नियंत्रित करने की आवश्यकता महसूस हुई। अब कंपनी और ब्रितानी सरकार इस स्थिति में नहीं थे कि भारत के क्षेत्रों को हड़पने के लिए तथा युद्ध की तैयारी के लिए पूंजी निवेश करें। यह कहना तर्कसंगत है कि उनकी इच्छाओं की पूर्ति में अंततः मुगल साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना भी सहायक साबित हुआ। सर्वप्रथम उन्होंने 1765 में बंगाल, बिहार व उड़ीसा में दीवानी अधिकार हासिल किया। व्यापार व तिजारत से लाभ कमाने के अलावा वे विभिन्न क्षेत्रों में लूट-खसोट भी करते रहे।

भारतीय लोगों का जबरदस्त शोषण तब देखने को मिला, जब दस्तकार, हथकरघा व्यवसायी व छोटे व्यापारियों को अपने ही देश में सामान बनाने व तिजारत करने पर ईस्ट इंडिया कंपनी ने रोक लगा दी। उन्हें इस बात के लिए मजबूर किया गया कि वे उन्हीं के यहां कम मजदूरी पर काम करें, जो बाजार दर से काफी कम थी।

भारत के आर्थिक शोषण का परिणाम यह रहा कि धीरे-धीरे ब्रिटिश लोगों के हाथों में पूंजी संचय होने लगी, जिससे इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा मिला। इस दौरान भारत औद्योगिक रूप से विकसित देशों को सूत निर्यात करता था। दुर्भाग्यवश यही भारत समय की दौड़ में विदेशी निर्मित माल का एक आयातक बनने को बाध्य हुआ। इस दोहरी व्यापारिक नीति ने कंपनी को भरपूर लाभ प्रदान किया। दूसरी तरफ इंगलैंड में ही समय पाकर एक नया बुर्जुआ वर्ग कंपनी की असीमित धन-संपदा से ईर्ष्या करने लगा। उक्त बुर्जुआ वर्ग ने अपने देश में कंपनी द्वारा भारत में इस लूट-खसोट व अपार संपदा बटोरने की निंदा की और वे कंपनी के खिलाफ ब्रितानी संसद में प्रस्ताव पास करवाने में कामयाब भी हुए।

बुर्जुआ वर्ग

यह पूंजीपतियों का ही शासक वर्ग है, जो कामगारों का शोषण करता है।

परिणामस्वरूप 1773 में रेगुलेटिंग एक्ट, 1784 के पिट्स आफ इंडिया एक्ट और 1793 व 1813 के चार्टर एक्ट के तहत कुछ सुधारात्मक कदम उठाए गए। उक्त कदम से कृषि व उद्योग में सुधार लाए गए, जिससे भारतीय उद्यम में पूंजी निवेश करने में मदद मिली। यह इस उम्मीद से किया गया ताकि भारत में उद्योगों का विकास हो। इससे नई नीति से भारत में ही विदेशी शासकों को एक अंध समर्थक वर्ग उदित हुआ। नीति-निर्णय के अनुसार अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय युवकों को इंगलैंड भेजने की पहल की गई, ताकि वे वहां प्रशासकीय कार्यकुशलता व निरीक्षण की जानकारी हासिल कर सकें और वे ब्रिटिश समर्थक अधिकारियों के साथ कदम से कदम मिलाकर उनके वफादार बन सकें।

इस वाणिज्यिक पूंजीवाद के दौरान ब्रिटिश अधिकारी अपनी अर्थ-काम की सिद्धि में लगे रहे। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने शिक्षा, प्रशासन, न्याय, संचार माध्यम, यातायात में आमूलचूल परिवर्तन किए तथा कृषि व औद्योगिक उत्पाद की तकनीक व तरीके भी बदल डाले।

इस समय ही भारत में मजबूत पूंजी आधार कायम किया गया, जिसका प्रयोजन भारत में ब्रितानी औपनिवेशिक तो आर्थिक हितों को सुरक्षा प्रदान करना था।

(ii) मुक्त व्यापार पूंजीवाद (1813 ई. से 1858 तक)

उपनिवेशवाद के इस चरण में कतिपय संवैधानिक सुधार भी देखे गए। इसका एक मात्र लक्ष्य था भारतीय-राष्ट्रवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों के बीच एक कार्यशील संतुलन बनाए रखना। इसी दौरान इन्हें यह भी एहसास हुआ कि भारत में स्थिर व एक सुचारु शासन का होना आवश्यक है, ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के हितों में वृद्धि हो सके।

यहां यह लिखना अनुचित नहीं होगा कि ब्रिटिश सरकार ने अपने राष्ट्रहित को बनाए रखने के लिए कुछ हद तक अमन-चैन कायम करने व भारत के संसाधनों को विकसित कराने का प्रयास किया। उन्होंने इस प्रयोजन के लिए कुछ लोगों को प्रशिक्षण भी दिया, ताकि वे प्रशासन की गाड़ी को चलाने में चालक का काम कर सकें। भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण व दोहन करने के अतिरिक्त विदेशी हुकूमत अपने औद्योगिक व वाणिज्यिक हित में साझेदारी बनाए रखने के लिए भारत को दोयम दर्जे पर ही रखती रही। इस दौरान जो भी सुधार के कदम उठाये गये उससे ओपनिवेशिक शासन का हित व स्वार्थ पूरा होता देखा गया। मुक्त व्यापार के नाम पर भारत में ब्रिटिश व्यापारियों व पूंजीपतियों को आवागमन की खुली छूट मिल गई। भूमि-सुधार के नाम पर जमींदारी व रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू की गई। इससे एक भूमि बिचौलिया वर्ग पैदा हो गया। यह बिचौलिया वर्ग ब्रिटिश शासन का एक पिट्ठू साबित हुआ। यह वर्ग न केवल लगान वसूलता था अपितु सस्ते दामों पर कृषि उत्पादन भी मुहैया कराता था। यह समृद्ध ज़मींदार वर्ग निःसंदेह राजनैतिक संरक्षण व आर्थिक शक्ति हासिल करता रहा। इस वर्ग का विदेशी शासन के साथ सांठ-गांठ होने से भारतीय लोगों के सामने इसकी छवि कष्ट-निवारक व परोपकारी के रूप में बनाए रखने का ढोंग किया गया।

जमींदारी व्यवस्था

जमींदारी व्यवस्था वस्तुतः सरकार और जमीन के वास्तविक जोतदार के बीच एक बिचौलिया मात्र थी। जमींदारी व्यवस्था के अधीन, गांव के गांव लगान वसूलने के लिए जमींदारों को दे दिए गए थे। सरकार के खजाने में सालाना एक निश्चित राशि जमा करा दी जाती थी। यह व्यवस्था 1793 में प्रचलन में आई।

रैयतवाड़ी व्यवस्था

रैयत छोटे-छोटे भूमिधर किसान थे। ये लोग भूमिहीन मजदूरों से अपने खेतों पर काम लेते थे। इस व्यवस्था के अंतर्गत सरकार सीधे लगान भूमिधरों से वसूल किया करती थी। छूट यही थी कि लगान समय-समय पर बढ़ा दी जाए। यह सरकारी तिजोरी को भरने का एक नया तरीका था, न कि खेत की जोत करने वालों को जमींदारों से मुक्ति दिलाना।

भारत से कच्चे माल का निर्यात और बदले में भारत के बाजार में पक्के माल का आयात शुरु हुआ, जिससे सरकार को यातायात व संचार साधनों की आवश्यकता एहसास हुई। नतीजतन

सड़कों का निर्माण शुरू हुआ, रेलवे लाइनें बनीं, वाष्पचालित जहाज आए तथा साथ में डाकघर व टेलीग्राफ भी अस्तित्व में आ गए। प्रशासन में भर्ती के लिए अंग्रेजी भाषा के अनिवार्यता की शुरूआत ही नहीं हुई अपितु अंग्रेजी पढ़े-लिखे इस तबके को नौकरी भी दी गई। उपरोक्त औपनिवेशिक चरण का अस्तित्व 1858 तक ही आकर खत्म हो सका, जो प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का काल माना जाता है।

पाठगत प्रश्न 35.1

निम्न खाली स्थानों को सही विकल्पों द्वारा भरें :

1. पश्चिमी दुनिया में उपनिवेशवाद————क्रांति के फलस्वरूप विकसित हुआ ।

   (क) कृषि (ख) औद्योगिक (ग) पूंजीवादी

2. उपनिवेशवाद और————जैसे शब्द पर्यायवाची हैं ।

   (क) साम्राज्यवाद (ख) समाजवाद (ग) राष्ट्रवाद

3. ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में दीवानी व नागरिक प्रशासन के अधिकार————में हासिल किया ।

   (क) 1755 (ख) 1765 (ग) 1768

4. रेगुलेटिंग एक्ट————के तहत कतिपय सुधार किए गए।

   (क) 1763 (ख) 1766 (ग) 1773

5. मुक्त व्यापार की नीति ने————व्यापारियों व पूंजीपतियों को भारत आने का खुला न्योता दिया।

   (क) ब्रिटिश (ख) फ्रेंच (ग) डच

6. ————सुधार से भारत में जमींदारी व रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू हुई।

   (क) पूंजीवादी (ख) भूमिसुधार (ग) औद्योगिक

(iii) वित्तीय पूंजीवाद (1958 ई. से 1947 तक)

उपनिवेशवाद के इस अंतिम चरण ने निःसंदेह ब्रिटिश उद्योगपतियों को भारत में बड़ी तादाद में पूंजी-निवेश करने का अवसर दिया। यह चरण भारत से ईस्ट इंडिया कंपनी की विदाई और उसके स्थान पर सीधे ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की शुरुआत से आरंभ होता है। इससे इंगलैंड़ में उत्पन्न नए पूंजीपति वर्ग में उत्साह जगा, क्योंकि अब उनके लिए भारत के उद्यमों में पहले की तुलना में वित्तीय पूंजी निवेश करना ज्यादा सुरक्षित था। यह नहीं भूलना चाहिए कि इस दौरान भी भारत की अर्थव्यवस्था पूरी तरह ब्रिटिश वित्तीय पूंजीवाद के पांव तले रौंदी जा रही थी।

पहले भी जिक्र किया जा चुका है कि उपनिवेशवाद व साम्राज्यवादी शासन का अंतिम चरण कंपनी की जगह सीधे ब्रिटिश हुकूमत से शुरू हुआ। उक्त चरण की समाप्ति आधी सदी से

अधिक स्वतंत्रता संघर्ष की लंबी कशमकश और 1947 की आजादी प्राप्ति से ही संभव हो पाई। यह आसानी से भूलने योग्य नहीं है कि 1857 के भारतीय विद्रोह की जो कंपनी के खिलाफ थे बड़ी क्रूरतापूर्वक ब्रिटिश फौज व हथियारों के बल में दबाया गया था। ब्रिटिश राजनेताओं में इसकी तत्काल प्रतिक्रिया हुई। जहां पहले ईस्ट इंडिया कंपनी मुनाफा कमाती रही अब उसकी जगह इंगलैंड का नया औद्योगिक वर्ग भारत के उद्यमों में हुए वित्तीय पूंजी निवेश से मुनाफा कमाने लगा। भारत से अपार धन और संपदा वित्तीय पूंजी के रूप में इंगलैंड में जाना शुरू हो गया। ब्रिटिश सरकार अपने निहित स्वार्थ की पूर्ति के लिए सड़क-निर्माण, कृषि सुधार, उद्योग, संचार, यातायात, सिंचाई व शिक्षा सुधार का जनकल्याणकारी ढोंग करके भारतीय जनता को बेवकूफ बनाती रही। यह स्मरणीय है। कि 1892 व 1909 के सुधारों से भारतीय राष्ट्रवादियों को कुछ भी लेना-देना नहीं था अपितु बदली हुई परिस्थितियों में ब्रिटिश प्रशासन को नया आयाम देना था। इसकी जीती-जागती मिसाल 1917 का मांटेग्यू घोषणा पत्र है, जिसमें क्रमशः भारत में स्वशासन लाए जाने की बात कागजी तौर पर कही गई थी। आप इसके बारे में विस्तार से पाठ संख्या 3 में पढ़ेंगे। यद्यपि सुधार व सरकारी अधिनियम ने प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी बढ़ाई लेकिन स्थिति फिर भी वही बनी रही। कारण यह था कि गवर्नरों को असीमित व निरंकुश शक्ति प्रदान कर दी गई थी। गवर्नर जनरल विशेष उत्तरदायित्व से दबा हुआ था, जिसका मकसद विदेशी सरकार व उसके आर्थिक स्वार्थ को लाभ मुहैया कराना था। 1947 में साम्राज्यवाद के इस अंतिम चरण की विदाई हुई और वह भी भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम से ही संभव हो पाया।

ब्रिटिश शासन का दो सौ साल से ज्यादा समय तक भारत पर नियंत्रण कायम रहा। पहली बार भारतीय लोग विदेशी शासन के खिलाफ खुलकर विरोध में आए, क्योंकि लोग उसके पड़ने वाले प्रभाव से जर्जर अर्थव्यवस्था, सामाजिक जीवन, राजनैतिक व्यवस्था व अस्त-व्यस्त जीवन शैली से ऊब चुके थे। कुल मिलाकर औपनिवेशिक शासन का कुप्रभाव आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था पर देखा गया।

पाठगत प्रश्न 35.2

निम्नलिखित में से सही वाक्यों पर निशान लगाएं :

1. भारत में उपनिवेशवाद का अंतिम चरण शांतिपूर्ण ढंग से विकास की ओर अग्रसर रहा। सही/गलत

2. भारत की असीम संपदा वित्तीय पूंजीवाद के रूप में इंग्लैंड भेजी जाती रही । सही/गलत

3. 1917 की मांटेग्यू घोषणा ने भारत में क्रमशः स्थानीय स्वशासन की पहल की । सही/गलत

4. गवर्नरों व गवर्नर जनरल को अधिक शक्ति देकर ब्रिटिश सरकार अपने आर्थिक हितों की रक्षा ठीक ढंग से नहीं कर पाई। सही/गलत

35.5 भारतीय अर्थव्यवस्था पर उपनिवेशवादी शासन का प्रभाव

उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप लाखों ग्रामीण कारीगर, बुनकर, वास्तुकार और शिल्पकार, खेतिहर मजदूर बेरोजगार हो गए। बहुत से व्यापारी व सौदागर दरिद्र हो गए। कृषि-उत्पादनों में बड़ी गिरावट आई। यह वही ब्रिटिश घुसपैठिए थे जिन्होंने भारत में सेंध लगाकर यहाँ के हथकरघा उद्योग व चरखा को नष्ट कर दिया था। ब्रिटिश शासन ने भारत की कला, उद्योग को नष्ट करने के साथ ही भारतीय समाज की बुनियाद को भी नष्ट कर दिया। परिणामतः भारतीय व्यापारिक समुदाय भी बर्बाद हुआ। इंग्लैंड के उद्योगपतियों को भी भारतीय उद्योगों की तरक्की रास नहीं आई और ब्रिटिश सरकार को अपने आर्थिक हित के लिए अपनी वित्तीय नीति में आमूल बदलाव लाने वाले कदम उठाने पड़े।

ब्रिटिश सरकार ने मुक्त व्यापार और गलाकाट प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा दिया, जिससे स्वदेशी उद्योग-धंधों पर बुरा असर पड़ा। इससे भारतीय संसाधनों का दोहन और भी तेजी से इंग्लैंड के हित में हुआ।

इसी दौरान भारत में मशीनीकरण की शुरूआत हुई, जिससे उद्योगों में काम के तरीके व तकनीकी में सुधार लाया जा सका औपनिवेशिक शासन ने इस दौरान भारतीय उद्यमों में राष्ट्रवाद ने दबा कर काम किया। अब लोगों को यह लग रहा था कि ब्रिटिश एकाधिकारवादियों से दमघोंटू प्रतिस्पर्धा में पार पाना उनके वश का नहीं। यह तब हितकर होगा जब भारतीय राष्ट्रवाद के हित में कानून बनाए जा सकें, न कि इंगलैंड के स्वार्थ में आयातित पूंजी निवेश से परंतु इससे निःसंदेह औद्योगिक विकास तेज हुआ। यातायात में सुधार, संचार, सड़क-निर्माण, रेलवे, बंदरगाह, शहर स्थित बाजार केंद्र में सुधार लाने से भारत के घरेलू व्यापार व वाणिज्य में बढ़ोतरी हुई।

35.6 भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर उपनिवेशवाद का प्रभाव

भारतीय समाज पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव अद्वितीय है। इस दौरान पश्चिमीकरण का रंग भारतीय समाज को अभिभूत कर चुका था।

ब्रिटिश सरकार अपनी नस्लीय व जातीय श्रेष्ठता को बढ़ावा दे रही थी। गोरी चमड़ी काली चमड़ी को सफेद बनाने में लगी थी। ऐसा वे अपने शासन की श्रेष्ठता साबित करने के लिए कर रहे थे। वे भारतीय लोगों को असभ्य व बर्बर समझकर उन्हें सभ्य, व सुसंस्कृत बनाने क प्रयास कर रहे थे। यहां तक कि हिंदू संस्कृति व परंपरा की हत्या भी की जा रही थी।

इस समय ईसाई मिशनरियों ने बहुत से हिंदुओं को ईसाई बनाया। खासकर ऐसे लोगों मे शिकार होने वाले निम्न जाति के व जनजातीय लोग थे। जातिगत विषमता फैलाकर समाज को तोड़ने का प्रयास किया गया। सामाजिक अंधविश्वास व छुआछूत उपहास का केंद्र बना जिसे ब्रितानी शासक कतई खत्म नहीं करना चाहते थे। भारतीय लोगों के दिमाग व दिल मे ओछापन व अल्पज्ञान बनाए रखने का नुस्खा तैयार किया गया। भारत के लोगों को खाने-पीने व यात्रा की, खासकर यूरोपीय लोगों के साथ, मनाही थी।

यहां यह याद रखना चाहिए कि कुछ जाने-माने समाज सुधारक और राष्ट्रवादी-राजा राम मोहन राय, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती, एम.जी. रानाडे आदि ने सामाजिक एकता की अपील कर सामाजिक खाई को पाटने में योगदान किया। उन्होंने धर्म व जातिगत

बनावटी विषमता का पर्दाफाश किया। औपनिवेशिक शासकों ने विचौलिया जमींदार वर्ग पैदा किया। यही वर्ग गांव में शोषण व उत्पीड़न के माध्यम बने । इसी काल में 'फूट डालो और राज करो' की नीति ने भारतीय समाज को पूरी तरह आहत किया।

इसके बावजूद ब्रिटिश सरकार ने अप्रत्यक्ष रूप से कई क्षेत्रों में भारतीय समाज को लाभ भी पहुंचाया। अंग्रेजी भाषा का लागू करना पहला इस दिशा में एक प्रयास था। इसका लक्ष्य एक ऐसा सामाजिक वर्ग तैयार करना था, जो अंग्रेजी संस्कृति व जीवन शैली को विरासत के रूप में ढो सके। यद्यपि इससे ब्रिटिश सरकार ने एक सक्षम व कुशल नौकरशाही विकसित की। साथ ही भारतीयों को इस अंग्रेजी भाषा व शैली ने पश्चिमी जगत की चकाचौंध, अधिकार व कर्त्तव्यों के बारे में सही जानकारी तथा की जाने वाली विषमता के बारे में ज्ञान लाभ कराया। इस अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से ही एक राष्ट्रीय प्रेस अस्तित्व में आया। विभिन्न भाषा-भाषी भारतीयों के बीच वैचारिक आदान-प्रदान संभव हो पाया।

भारतीय शास्त्रों व ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद किया गया, जो मूलतः संस्कृत में थे। भारतीयों ने लाक, रूसो, बर्क, वाल्टेयर के विचारों से परिचित हो सके और फ्रांस की क्रांति तथा अमरीकी स्वतंत्रता की परिस्थितियों को समझ पाए।

कहना न होगा कि ब्रिटिश शासक भारतीयों के साथ किसी भी प्रकार के मुठभेड़ को जान-बूझकर टालते रहे, इसलिए वे भारतीय समाज की परिपाटियों में हस्तक्षेप करने से बचते रहे। यह सही है कि राष्ट्रवादी व समाज-सुधारकों से प्रभावित होकर बहुत से अंग्रेजी बुद्धिजीवी व प्रशासकों ने भारतीय समाज में बैठे हुए सामाजिक अंध-विश्वास व बुराई को दूर करने में सहायता दी। ब्रह्मसमाज व आर्यसमाज ने मूर्ति पूजा का विरोध किया। इस दिशा में कानून बनाकर समाज में सती-प्रथा, व नरबलि को रोकने का प्रयास किया गया। बाल-विवाह पर प्रतिबंध लगाए गए। नारी-शिक्षा व विधवा-विवाह को प्रोत्साहित कर उनके उद्धार के कदम उठाए गए। जहां एक तरफ समाज में पड़ी गहरी खाई को ब्रिटिश शासन पाटने का कदम उठा रहा था, वहीं दूसरी तरफ 'राय साहब' आदि की उपाधि देकर भारतीय समाज को जान-बूझकर तोड़ भी रहा था। भारतीय समाज के कुछ खास वर्गों को खास दर्जे में रखने का प्रयास किया गया। साहित्य, भारतीय कला, इतिहास, पुरातत्व-शास्त्र आदि पर अंग्रेजों द्वारा लिखा गया। इस दिशा में भारतीयों को भी प्रोत्साहित किया गया कि वे अपने ही समाज को पश्चिमी आईने में देखें। पेशेगत आधार पर निर्मित सामाजिक वर्ग धराशायी हो गया। एक तरह से लोगों में वैज्ञानिक व आधुनिक सोच की आदत डाली गई। इस दौरान सामाजिक अंतर्क्रिया और गतिशीलता में और महत्वपूर्ण व्यापक वृद्धि देखने को मिली।

35.7 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर उपनिवेशवाद का प्रभाव

उपनिवेशवादी शासन से पूर्व रियासतें राजे-महाराजे भारतीय लोगों के काफी हमदर्द व करीब थे। दूसरे शब्दों में राजा व जनता के बीच करीबी रिश्ता होता था। लेकिन ब्रितानी हुकूमत ने प्रशासनिक कदम उठाकर राजों-महाराजों व आम जनता के बीच एक दूरी कायम कर दी। आम लोगों की पीड़ा अब दूर करना कठिन हो चला था और विदेशी भाषा के होने से यह दूरी और बढ़ती जा रही थी।

नौकरशाही की प्रकृति और चरित्र ने स्वरूप भी जनता को प्रशासन से अधिक दूर रखने का प्रयास किया। 1858 में कंपनी की जगह, ब्रितानी शासन ने नौकरशाही के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया। भारतीयों की विभिन्न सुधारों द्वारा जो प्रशासनिक जिम्मेदारी देने की बात कही गई, वह एक भ्रम ही साबित हुआ। यह भारतीयों को स्वशासन का कतई प्रशिक्षण देना नहीं था, न तो संसदीय लोकतंत्र का मूलाधार ही बताया जा सका, अपितु भारतीय राष्ट्रवादियों व ब्रितानी सरकार के बीच एक शक्ति संतुलन व दांव पेंच को बनाए रखना था।

ब्रितानी सरकार द्वारा भारतीय समाज में अनेकों वर्ग पैदा कर वास्तव में आजादी देने में देरी ही करनी थी। यह देरी वर्षों तक चलती रही। अंग्रेज हकीकत में भारत में संसदीय लोकतंत्र कायम करना नहीं चाहते थे। वे भारतीयों को इसके काबिल नहीं मानते थे। यदि मार्ले जो मूलतः मार्ले-मिंटो सुधार की धुरी थे, ने हाऊस ऑफ लार्डस में साफ तौर पर बताया भारत में संसदीय व्यवस्था लाना हमारा लक्ष्य नहीं, अपितु इसके बारे में एक क्षण को सोचना भी गवारा नहीं है।

इस प्रकार 1904, 1919 तथा भारत सरकार सुधार अधिनियमों द्वारा ब्रिटिश सरकार ने एक व्यवस्थित प्रयास सोचा-समझा था। जो कि छल-कपट से भरा था और एकमात्र इसका मकसद भारतीय राष्ट्रवाद के विकास को नियंत्रित करना था।

फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के भारतीय राजनैतिक व्यवस्था पर कुछ अच्छे प्रभाव भी दिखे। इसी उपनिवेशवादी शासन की छत्रछाया में भारतीय राजनैतिक एकता व प्रशासकीय एकरूपता प्रकट हुई, जो मुगल शासन के अधीन संभव नहीं था। अपनी प्रशासकीय सुविधा व नियंत्रण के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक केंद्रीकृत राज्य-शासन व सामाजिक ढांचे को एकरूपता प्रदान की। इससे अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय राष्ट्रवाद की लहर में तेजी आई। पहली बार भारतीय, इस महाद्वीप में एकल राजनैतिक सत्ता की छत्रछाया में आए, कानून के आदी बने और अनेकता में एकता संभव हुई। ब्रितानी सरकार के कुल किए गए योगदान में सबसे बड़ा योगदान भारत में संसदीय लोकतंत्र को लागू करना है। इससे लोगों में स्वतंत्र अभिव्यक्ति व एक राजनैतिक इच्छा शक्ति पैदा हुई। वस्तुतः ब्रितानी सरकार ने ही स्वशासन का प्रशिक्षण भारतीयों को दिया। 1935 में भारतीय अधिनियम के अंतर्गत ही संघवाद अपनाया गया। इसका प्रयोजन क्षेत्रीय भाषाई व सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए रखना था। अलगाववाद से बचने के लिए कतिपय एकतावादी तत्व भी अपनाए गए। उदाहरण के लिए निष्पक्ष पर मजबूत अखिल भारतीय नौकरशाही की व्यवस्था की गई। इसमें कोई दो राय नहीं कि नौकरशाही ब्रिटिश सरकार की एक धुरी थी। लेकिन आजादी के बाद भी यह हमारे लोकतंत्र का एक मजबूत व प्रभावशाली आधार बनी हुई है। इसी तरह एकल न्यायिक व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए उच्च शिखर पर एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया गया, जिसे व्यापक क्षेत्र में अधिकार प्रदान किया गया। यह विदित है कि अंग्रेजी भाषा के प्रचलन ने इस दौरान न केवल एक राष्ट्रीय प्रेस की नींव डाली, अपितु एक प्रबुद्ध राष्ट्रीय धारा को दिशा भी दी। जिससे बाहरी दुनिया से संपर्क संभव हुआ।

फिर भी, शोषण और उत्पीड़न की परिस्थितियों के बावजूद भारतीयों में एक अभूतपूर्व राष्ट्रीय जागरूकता का उभार हुआ जिसने विदेशी शासन को कड़ी चुनौती प्रदान की। भारतीयों द्वारा इस राष्ट्रीय प्रतिरोध के कारण ब्रिटिश सरकार की लाभप्रद आर्थिक गतिविधि समाप्त हो गई।

भारतीय राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई मांगों ने अंततः ब्रिटिश सरकार को 'फूट डालो और राज करो' की नीति के स्थान पर 'बांटो और भागो' की नीति अपनाने को मजबूर कर दिया। इस प्रकार, उपनिवेशी आधिपत्य का एक लंबा अध्याय 15 अगस्त, 1947 को समाप्त हो गया।

पाठगत प्रश्न 35.3

खाली स्थानों को उपयुक्त शब्दों से भरें :

1. औपनिवेशिक शासन के दौरान लाखों ग्रामीण दस्तकार, बुनकर और ग्रामीण मजदूरों का जीवन ————के कारण बर्बाद हुआ ।

   (क) कम निवेश (ख) काम की कमी (ग) पूंजी का अभाव

2. यह ब्रिटिश घुसपैठिए ही थे, जिन्होंने भारतीय हथकरघा और ——— को नष्ट किया ।

   (क) सामाजिक संरचना (ख) राजनैतिक स्वतंत्रता (ग) चरखा ।

3. ब्रिटिश शासन के दौरान कुल औद्योगिक विकास में तेजी बड़ी तादाद में आयातित——— निवेश से संभव हुई ।

   (क) मशीनरी (ख) पूंजी (ग) श्रमशक्ति ।

4. ब्रिटिश सरकार ने अपनी गोरी चमड़ी की सर्वोच्चता————जनता पर जाहिर की ।

   (क) हिंदू (ख) मुस्लिम (ग) भारतीय ।

5. अंग्रेजी भाषा के कारण राष्ट्रीय प्रेस एक ————साबित हुई।

   (क) वास्तविकता (ख) बोझ (ग) बाधा।

6. सामाजिक अंतःक्रिया और————में इस दौरान थोड़ी वृद्धि देखी गई।

   (क) यातायात (ख) स्वाभिमान (ग) लोक जागरण।

7. नौकरशाही के चरित्र व स्वरूप ने प्रशासन को ———— से दूर रखा।

   (क) जनता (ख) राज्य (ग) राष्ट्रवाद।

8. अंग्रेज लोग भारतीयों को ————के काबिल नहीं समझते थे।

   (क) संस्थाएं (ख) शासन (ग) उपयोग।

9. 1901, 1919 औ 1935 का भारतीय शासन अधिनियम व सुधार व्यवस्था भारतीय——— को नष्ट कर देता ।

   (क) राष्ट्रभक्ति (ख) चुनौती (ग) राष्ट्रवाद।

10. पहली बार भारतीय उपमहाद्वीप में लोगों को एक सामान्य कानून व एक राजनैतिक सत्ता तले रखा गया जिसकी नींव————के बीच रखी गई ।

   (क) अशांति (ख) विभिन्नता (ग) आंदोलन ।

आपने क्या सीखा

इस पाठ में आपने ब्रिटिश उपनिवेशवाद की प्रकृति तथा भारत के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले इसके प्रभावों के बारे में पढ़ा। आपने देखा कि उपनिवेशवाद एक प्रकार से पूंजीवाद का ही दूसरा रूप है, जो पश्चिमी जगत में औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया, इसका प्रभाव शासित देशों की जनता के धर्म, भाषा तथा संस्कृति पर भी पड़ा।

भारत में अंग्रेजी उपनिवेशवाद को तीन भागों में बांटा जा सकता है।

(क) वाणिज्यिक पूंजीवाद : इसका प्रवेश ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ भारत में हुआ था, किंतु इसने अपने एकाधिकार के द्वारा इस कंपनी को भी अपने ही अधिकार क्षेत्र में ले लिया।

(ख) मुक्त व्यापार का पूंजीवाद : इसके द्वारा ब्रिटिश अर्थव्यवस्था तो मजबूत हुई ही साथ ही एक प्रभावशाली तथा स्थिर शासन प्रणाली भी सुनिश्चित हुई। मुक्त व्यापार के द्वारा अंग्रेज व्यापारियों तथा पूंजीपतियों का भारत में आवागमन सुनिश्चित हो सका।

(ग) वित्तीय पूंजीवाद : इसके द्वारा कंपनी शासन का स्वरूप परिवर्तित होकर ब्रिटिश शासन के अधीन साम्राज्यवादी व्यवस्था हो गया। इस काल में भारत की संपूर्ण अर्थव्यवस्था वित्तीय पूंजीवाद के अधीन हो गई। इस दौर में वित्तीय निवेश, विदेशी पूंजी तथा वस्तुओं के निर्यात की अपेक्षा विभिन्न प्रकार के सरकारी अधिनियम पारित किए गए जिसके चलते यह कंपनी स्वायत्तशासी संस्था के रूप में भारत में स्थापित हो गई।

ब्रिटिश शासन का भारतीय अर्थव्यवस्था के ऊपर बहुत खराब असर पड़ा। इसके कारण भारत का कृषि व्यवस्था, दस्तकारी, ग्रामीणकला, हस्तशिल्प आदि नष्ट हो गए। हालांकि इस दौरान उद्योग धंधों का बहुत तेजी से विकास हुआ। यातायात के साधन विकसित हुए जिससे वाणिज्य तथा व्यापार को काफी बल मिला।

इसके साथ साथ साम्राज्यवाद का भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था समान रूप से गहरा असर पड़ा। भारतीय समाज में पश्चिमीकरण की एक लहर सी दौड़ गई। ब्रिटिश शासन के दौरान अंग्रेजी भाषा का प्रचार तथा ईसाई धर्म में लोगों को परिवर्तित करने के मामले की खूब बढ़े। इस दौरान एक जमींदार नामक मध्यवर्ग का उदय हुआ जो सामाजिक व्यवस्था में सहयोग देने के साथ साथ ग्रामीण जनता का शोषण भी करते थे। आपने यह भी देखा कि अंग्रेज शासकों ने भारतीयों के हाथ में उनका शासन सौंपने में देरी करने के उद्देश्य से तरह तरह के बहाने बनाते थे। वे नहीं चाहते थे कि देश में संसदीय जनतंत्र स्थापित हो। किंतु अंग्रेजी प्रशासन के इस रवैये से भारतीय लोगों में एकता राजनीतिक जागरूकता प्रवृत्त हुई। दूसरी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह भी है कि इस दौरान एकीकृत स्वतंत्र न्याय प्रणाली सुनिश्चित हो सकी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवादी शासन जहां अपने आपमें एक दुर्गुण है वहीं इसके कुछ गुणात्मक पहलू भी हैं।

पाठांत प्रश्न

1. उपनिवेशवाद से आप क्या समझते हैं ?
2. वाणिज्यिक पूंजीवाद के दौरान ब्रिटिश उपनिवेशवाद की क्या प्रकृति थी ?
3. जमींदारी व्यवस्था क्या है ?
4. भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश शासन के दौरान पड़ने वाले कौन से सकारात्मक प्रभाव थे ?
5. ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में किए गए सामाजिक सुधारों पर संक्षेप में प्रकाश डालें ?
6. ब्रिटिश कालीन कौन सी राजनैतिक व प्रशासकीय संस्थाएं अब भी आज़ाद भारत में मौजूद हैं ?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

35.1

1. औद्योगिक	2. साम्राज्यवाद	3. 1765
4. 1773	5. ब्रिटिश	6. भूमि-सुधार।

35.2

1. गलत	2. सही	3. सही	4. गलत।

35.3

1. काम की कमी	2. चरखा	3. पूंजी
4. भारतीय	5. वास्तविकता	6. लोकजागृति
7. जनता	8. शासन	9. राष्ट्रवाद
10. विभिन्नता		

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. कृपया देखें उपखंड . 35.3
2. कृपया देखें उपखंड . . . 35.4.1
3. कृपया देखें उपखंड . . . 35.4.2
4. कृपया देखें उपखंड . . . 35.5
5. कृपया देखें उपखंड . . . 35.6
6. कृपया देखें उपखंड . . . 35.7

36

राजनीतिक हिंसा

36.1 भूमिका

हमारे सामने सबसे अधिक शांति-भंग करने वाली समस्याओं में से राजनीतिक हिंसा एक है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अब तक मानव जाति के ज्ञात इतिहास में बीसवीं सदी में विशेष रूप से अधिक हिंसात्मक घटनाएँ हुई हैं। ये विश्व के प्रायः हर भाग में हुई हैं, चाहे वह औद्योगिक पूंजीवादी समाज हों या समाजवादी समाज अथवा चाहे वह एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश ही क्यों न हों। सामान्य रूप से ये तब अधिक होती हैं जब राजनीतिक संस्थाएं पर्याप्त रूप से जन-समूह के सामाजिक आर्थिक भेदभाव, असंतुलन तथा वेदनाओं का समाधान करने में सक्षम नहीं होतीं। ऐसे में राजनीतिक हिंसा भड़क उठती है। इसके विपरीत, ऐसा भी होता है कि अपेक्षाकृत समानतावादी स्थायी, सुविकसित राजनीतिक संस्थाओं वाले समाजों में राजनीतिक हिंसा समाप्त होने लगती है। सत्ता में निर्णायक भूमिका के राजनीतिक पक्षों पर अपनी पकड़ बनाए रखने का प्रयास प्रायः नए-नए समूहों द्वारा निरंतर किया जाता है। अतएव, राजनीतिक स्थिरता ऐसे अनेक समूहों की मांगों को पूरी करते हुए या कम से कम उनकी आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील रहकर राजनीतिक हिंसा पर काबू पा लेती है।

इस पाठ में हम राजनीतिक हिंसा की धारणा के अनेक आयामों का अध्ययन करेंगे।

36.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- राजनीतिक हिंसा के बढ़ते हुए विश्वव्यापी घटना क्रम को समझ सकेंगे।

- भारत में राजनीतिक हिंसा के प्रमुख कारणों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- राजनीतिक हिंसा के प्रमुख प्रकारों को जान सकेंगे।
- भारतीय राजनीति में राजनीतिक हिंसा के प्रभाव को समझ सकेंगे।
- राजनीतिक हिंसा को रोकने के लिए अब तक किए गए प्रयासों को पहचान सकेंगे। और
- इसके अन्य संभावित उपचारों के बारे में जान सकेंगे।

36.3 विश्वव्यापी घटना के रूप में राजनीतिक हिंसा का स्वरूप

संपूर्ण विश्व में किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक हिंसा व्याप्त है। फिर भी, हिंसा की प्रकृति और कारण स्थान एवं संस्कृति की भिन्नता के कारण अलग-अलग हो सकते हैं। अन्य कारणों के साथ ही यह राजनीतिक संस्थाओं की कार्य प्रणाली और उनके आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर करता है। जब समाज में सामूहिक हितों के कारण असंतोष और तनाव होता है तो सत्ता के प्रति हिंसा भड़क उठती है और इसे राजनीतिक स्वरूप मिल जाता है। इसे राजनीतिक हिंसा कहा जाता है। 'आयरिश रिपब्लिकन आर्मी' ने ग्रेट ब्रिटेन से उत्तरी आयरलैंड को स्वतंत्र कराने के लिए दबाव बढ़ाने के उद्देश्य से गोलाबारी की। दक्षिणी अफ्रीका के काले लोगों ने दशकों तक श्वेतों की अल्पसंख्यक सरकार की रंगभेदी नीतियों के विरुद्ध संघर्ष किया, और जब उनके प्रारंभिक शांतिपूर्ण अहिंसात्मक आंदोलन को सत्ता के हिंसात्मक दबाव का सामना करना पड़ा तो काले लोगों को विवश होकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिंसात्मक साधन अपनाने पड़े। अफ्रीका के कुछ देशों में आदिवासी संघर्षों का स्वरूप व्यापक हिंसा, गृह-युद्ध और राजद्रोह बन गए। रवांडा तथा सोमालिया में पूरी तरह फैले आदिवासी संघर्षों के प्रमुख उदाहरण सभी के समाने हैं। मध्य पूर्व में जहाज उड़ाकर ले जाना हिंसा के सशस्त्र प्रयोग में एक अनुपम योगदान है। लैटिन अमेरिका (अर्जेंटाइना, क्यूबा, बोलिविया, पेरू आदि) में अनेक विद्रोही समूह हैं जो गुरिल्ला-युद्ध, और अन्य इसी प्रकार की राजनीतिक हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। अर्नेस्टोची ग्वेवेरा जो अर्जेंटाइना में पैदा होने वाले गुरिल्ला मार्क्सवादी क्रांतिकारी थे, ने क्यूबा की क्रांति में भाग लिया। वे यह मानते थे कि हर राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन हिंसा है। वे बोलीविया की सेना द्वारा शासित और दबाए जाने पर एक गुरिल्ला क्रांति की अगुवाई करते हुए उसी सेना द्वारा पकड़ लिए गए थे और 9 अक्टूबर, 1967 को बोलीविया में गोली से उड़ा दिए गए। चीन के उस माओ-त्स-तुंग के वे खास अनुयायी थे जिसने घोषणा की थी कि "सत्ता बंदूक की नली से निकलती है।" विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में सन 1980 से आतंकवाद राजनीतिक हिंसा का ही बृहत स्वरूप बन गया है। हिंसा का इतने विस्तृत स्वरूप में फैलाव एक विश्वव्यापी घटना बन गया है। किसी भांति, यह जानकर भयभीत होना पड़ता है कि विविध घटनाएं और राजनीतिक हिंसा चौंकाने वाली दर से बढ़ रही हैं। अतएव राजनीतिक हिंसा के घटना-क्रम इसके कारणों तथा इससे निपटने के संभावित उपायों को समझना महत्त्वपूर्ण है।

36.4 राजनीतिक हिंसा के सिद्धांत

राजनीतिक हिंसा क्यों होती है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अनेक विद्वानों ने राजनीतिक हिंसा की सैद्धांतिक व्याख्याएं की हैं। कुछ प्रमुख सिद्धांत है : (i) निराशा जनित सामूहिक

उत्तेजना-जटिलताएं। (ii) अपेक्षित वंचना सिद्धांत (iii) आधुनिकीकरण प्रक्रिया (iv) सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्ष एक संक्रामक प्रक्रिया है।

यह दलील दी जाती है कि निराशा से सामूहिक उत्तेजना जन्म लेती है। शहरीकरण तथा जन-संचार माध्यमों आदि के माध्यम से एक व्यक्ति को औद्योगिक समाजों व उन उच्चस्तरीय जीवन-पद्धतियों के विषय में सीखने में सहायता मिलती है। जिन्हें विकसित जीवन-पद्धतियों में लोगों ने अनुभव किया है। साधनों तथा तकनीकी के अभाव में जब अविकसित देशों के लोगों की आंकाक्षाएं और अपेक्षाएं पूर्ण नहीं हो पाती तो वे स्वंय निराश व हताश अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार की हताशा से उत्पन्न हिंसा को निराशा जनित सामूहिक उत्तेजना-जटिलताएं कहा जाता है।

यदि एक प्रभावशाली वर्ग या समूह समाज में अधिक अवसरों और साधनों में अपनी हिस्सेदारी प्राप्त कर लेता है तो अन्य व्यक्ति उस समाज में स्वयं को अपेक्षाकृत ऐसे लाभों से वंचित समझते हैं। अपेक्षाकृत विकास और संपन्नता के समय इस प्रकार के असंतुलन, प्रायः होते हैं। जब दृष्टिगत अपेक्षाओं और वास्तविक पात्रता की खाई चौड़ी हो जाती है तो इससे हिंसा जागृत होती है।

राजनीतिक हिंसा का सीधा संबंध आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से है। अधिकांश विकासशील देश परंपरा से आधुनिकीकरण के इस संक्रमणकालीन दौर से गुंजर रहे हैं। संक्रमणकाल में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं में व्याप्त असंतुलन एवं वैषम्य हिंसा का कारण बन जाता है। राजीनितक आधुनिकीकरण में नए सामाजिक समूहों की राजनीतिक भागीदारी को शामिल करना निहित है। इस तरह संक्रमण कालीन समाजों की राजनीतिक हिंसा की जड़ें उनके नए समूहों की भागीदारी के लिए उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप संस्थाओं के विकास की असफलताओं में निहित हैं।

> आयरिश रिपब्लिकन आर्मी मूल आयरिश राष्ट्रवादियों का एक समूह है। यह, आयरलैंड को अंग्रेजों से मुक्त कराने के लिए प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व गठित आयरिश रिपब्लिकन आर्मी की पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है। सन् 1969 में यह दो समूहों में बंट गई। उसके बड़े समूह ने आयरिश प्रचलन वाली मार्क्सवादी विचारधारा को अपना लिया। इस समूह को समाजवादी व्यवस्था पहले सुलभ हो गई और इसने प्रचार के लिए हिंसा छोड़ दी। दूसरे समूह ने हिंसा के माध्यम से संयुक्त आयरलैंड की प्राप्ति की नीति बनाए रखी है। आयरिश रिपब्लिकन आर्मी की रणनीति में गोलाबारी, अंधाधुंध हत्याएं तथा अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रमुख नेताओं को निशाना बनाना शामिल है। इनके हिंसात्मक आग्रह के कारण इन्हें आयरिश और ब्रिटिश दोनों सरकारों ने विधिपूर्वक बहिष्कृत कर दिया है।

फ्रैंज फैनन (Frantz Fanon) तथा जॉर्ज सोरेल (George Sorel) जैसे लेखकों का मत है कि उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध उत्पीड़ित लोगों के पास संघर्ष के लिए एक हथियार केवल हिंसा ही होता है। फैनन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी रैच्ड ऑफ दी अर्थ' (The Wretched

of the Earth) में लिखा है कि औपनिवेशिक शासन को उखाड़ फेंक कर उससे मुक्ति पाने के लिए उसका प्रजावर्ग हिंसा का सहारा लेता है। सोरले, जो फ्रांसीसी मूक के हैं, ने हिंसा के फिर से उत्पन्न होते रहने वाली भूमिका के विषय में लिखा है। उनका मानना है कि हिंसा के माध्यम से एक वर्ग अपनी पहचान खो देता है और स्वयं को ध्वस्त कर लेता है।

लुई कोसर (Lewis Coser) तथा राल्फ डारेंडॉफ (Dahraendorf) अपने संघर्ष–सिद्धांतों में सामाजिक तनावों के समाधान तथा आपसी संबंधों को बनाए रखने के लिए संघर्ष के प्रयोग पर बल देते हैं। इस मामले में वे कार्ल मार्क्स (Karl Marx) तथा जॉर्ज सिमल (George Simmel) के अनुयायी हैं। उनके अनुसार हिंसा सामाजिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति है क्योंकि इस प्रक्रिया में कुछ समूह अन्य की अपेक्षा अधिक लाभ उठाते हैं। संघर्ष के द्वारा तनावों के समाधान विशेष रूप से बहुसंख्यक खुले समाज में परिलक्षित होते हैं।

पाठगत प्रश्न 36.1

एक वाक्य में उत्तर दीजिए।

1. माओ-त्से-तुंग का प्रसिद्ध कथन क्या है ?

   .....

2. किस प्रायद्वीप में आदिम संघर्ष अधिक प्रचलित रूप से होते हैं ?

   .....

3. किस समाज में राजनीतिक हिंसा कम प्रचलित है ?

   .....

4. लोग हताश या निराश क्यों होते हैं ?

   .....

5. आधुनिकीकरण की परिभाषा लिखिए।

   .....

6. फ्रैंज फैनन (Frantz Fanon) द्वारा रचित पुस्तक का नाम लिखो।

   .....

36.5 भारत में राजनीतिक हिंसा : अर्थ और कारण

हिंसा का अर्थ होता है शारीरिक शक्ति या बल का प्रयोग, जिससे व्यक्तियों अथवा संपत्ति को क्रमशः शारीरिक चोट या हानि पहुंचे। सामाजिक संदर्भ में हिंसा दो प्रकार की हो सकती है। इसमें अपने सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य-सत्ता या सरकार के विरुद्ध जनता के द्वारा शारीरिक और मनोवैज्ञानिक रूप से बल का प्रयोग किया जाना समाहित होता है। अंततः यह जन-समूह द्वारा की गई हिंसा होती है। दूसरी ओर राज्य सत्ता के प्रतिनिधियों जैसे पुलिस, सेना आदि द्वारा कानून-व्यवस्था बनाए रखने हेतु भी

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में एक परंपरागत, धार्मिक, सामंती और आदिम प्रथा से एक आधुनिक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र-राज्यों के रूप में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संक्रमण की एक प्रक्रिया निहित है। यह धर्मनिरपेक्ष संस्कृति, विज्ञान एवं तकनीक के विकास, नए मूल्यों के तौर-तरीकों, नए दृष्टिकोण और इस प्रक्रिया से गुजरने वाले समान स्तरीय समाजों, जिन्हें संक्रमणशील समाज कहा जाता है, का प्रतिनिधित्व करती है।

बल प्रयोग होता है। यह तो कानून द्वारा प्रदत्त उचित बल प्रयोग है। पर किसी तरह जब राज्य सत्ता के प्रतिनिधियों द्वारा किया गया बल-प्रयोग अपनी सीमाएं लांघ जाता है तो उसे राज्य द्वारा की गई हिंसा या आधिकरिक हिंसा कहा जाता है। ऐसी घटनाओं से अपने आप राज्य द्वारा दमन के विरुद्ध सामूहिक हिंसा भड़क सकती है। जब एक राजनीतिक समुदाय के बीच, राजनीतिक समूह और राजनीतिक शासन, उसके नेताओं या उनकी नीतियों की स्पर्धा के कारण हिंसा भड़क उठती है तो इसे राजनीतिक हिंसा कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में एक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक हिंसा, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से औचित्य और सत्ता के संबंधों को प्रभावित करने का प्रयास करती है। यह विशेष रूप से तब प्रगट होती है जब राजनीतिक संस्थाएं अपनी भूमिकाएं निभाने में असफल हो जाती हैं अथवा तब जबकि विशिष्ट राजनीतिक व्यक्ति अपना औचित्य एवं अधिकार खो बैठता है। मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक स्वरूप को बनाए रखने या परिवर्तित करने की सदिच्छा द्वारा उसे अभिप्रेरित किया जा सकता है।

राजनीतिक हिंसा से प्रजातंत्र की सुचारु कार्यप्रणाली में बाधा पड़ जाती है। एक प्रजातंत्र में जनता के प्रतिनिधि सर्वसाधारण के वोट द्वारा चुने जाते हैं। यह चुनाव बिना बल प्रयोग के प्राप्त वोट से होता है। प्रजातंत्र भी समानता में विश्वास करता है जो सर्वथा एक व्यक्ति एक वोट के सिद्धांत पर आधारित होता है। सभी निर्णय मतों की अधिकता पर आधारित होते हैं। राजनीतिक हिंसा प्रजातंत्र के इन सिद्धांतों की अवहेलना करती है। अतः राजनीतिक हिंसा को गैर-प्रजातांत्रिक ठहराया जाता है।

अब हम राजनीतिक हिंसा के कारणों पर भी विचार करें। किसी देश में राजनीतिक हिंसा के कारण आर्थिक उपलब्धि, एक समूह की वंशानुगत प्रभुत्व, शहरीकरण, राजनीतिक शासन तंत्र का स्वरूप तथा उस देश में सेना की भूमिका होती हैं। भारत में राजनीतिक हिंसा के कारण जाति, भाषा, सामाजिक-आर्थिक असमानताएं, आंतकवाद, जाति या समुदायवाद और राजनीति का अपराधीकरण हैं। इनमें से प्रत्येक की संक्षिप्त चर्चा नीचे दी जा रही है।

1. जाति

ऐसे झगड़े प्रायः ग्रामीण क्षेत्रों में होते हैं जिनके कारण प्रतिस्पर्धी जातीय समूहों में प्रतिस्पर्धा, या निम्न जाति वाले लोगों को दबाकर रखना होता हैं। इस प्रकार की हिंसा में बिहार सर्वोच्च शिखर पर है। बिहार में संपन्न उच्च जातियों के लोग अपने राजनीतिक कारणों से प्रतिस्पर्धा जातियों को समाप्त करने के लिए अपनी निजी सेना तक रखने लगे हैं जो आजकल एक सामान्य पद्धति बन गई है। चुनावों और राजनीतिक रैलियों के दौरान हत्याओं में वृद्धि हो जाती है। तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान में भी

जातीय संघर्षों के उदाहरण मिले हैं। सन 1984 में संसद में चर्चा में आया था कि 1991-93 के बीच अनुसूचित जातियों पर अत्याचार और ज्यादतियों के 52,534 से अधिक प्रकरण पंजीकृत हुए थे। ऊंची जाति के हिंदू लोग, कभी-कभी पुलिस की छिपे तौर पर मदद से दलितों के गांवों को जलाने के साथ-साथ बलात्कार, मारपीट और हिरासती हत्याओं से युक्त हिंसा कर डालते हैं। सकारात्मक भेदभाव की नीति (अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लोगों के लिए सरकारी सेवाओं और उच्च शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण) तथा मंडल कमीशन द्वारा अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की सिफारिशों ने जातीय संघर्षों को और अधिक उत्तेजित कर दिया। 1990-91 में मंडल-विरोधी आंदोलनों में व्यापक बंद, तोड़-फोड़ और विद्यार्थियों द्वारा आत्मदाह के दृश्य देखे गए। कभी-कभी जातिगत झगड़े, आर्थिक पद्धति के पुनर्गठन आदि के जन झगड़ों, जो जमींदारों और किसानों द्वारा हिंसा भड़काने हेतु जाति के मामले को तूल देकर प्रयोग करने से होते हैं, से मिलकर परस्पर विशेष संघर्ष का रूप धारण कर जाते हैं।

2. भाषा

भारत जैसे बहुभाषी और बहुजातीय देश के समाज में एक ही अकेले समूह द्वारा केंद्रीय राजनीति के आसन पर आसीन होना कठिन है। विविध प्रकार के समूह राजनीतिक सत्ता हथियाने का प्रयास करते हैं। अपनी भाषा के माध्यम से ऐसे इच्छुक व्यक्ति अपने वोट बैंक बनाने के लिए विशेष वर्ग के लोगों को राजनीतिक ढंग से अपनी ओर मिलाने का प्रयास करते हैं। किसी भांति जब दो या ज्यादा राजनीतिक विरोधी लोग उसी वर्ग (भाषायी) के लोगों से अपनी-अपनी बात कहते हैं तो इससे अपरिहार्य रूप से हिंसा की स्थिति आ जाती है। सन् 1950 से ही स्वतंत्र भारत में भाषा झगड़े का एक विशेष आधार और मुद्दा बनी है। एक भाषायी समूह के अधिकारों और एकाधिकार की माँग प्रायः भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग बनकर उठ खड़ी होती रही है। 1956 में राज्यों के भाषाई आधार पर पुनर्गठन के बावजूद भी हमने 1966 में हरियाणा आंदोलन, 1969 में तेलंगाना आंदोलन और देश के विभिन्न भागों में भाषा संबंधी दंगे और प्रदर्शन देखे।

3. सामाजिक—आर्थिक असमानताएँ

उत्तर वाम-मार्गी समूहों द्वारा प्रतिशोध हिंसा का एक बहुत बड़ा कारण था। यह पश्चिमी बंगाल में 1960 ई. में प्रारंभ हुआ और फिर आंध्र प्रदेश तथा बिहार में फैल गया। इसे पश्चिमी बंगाल और आंध्रप्रदेश के नक्सलबाड़ी आंदोलन के नाम से जाना जाता है। वाम मार्गी समूह समाज में समूल सामाजिक—आर्थिक परिवर्तन में विश्वास रखते हैं। जिसे वे बंदूक के प्रयोग के असंवैधानिक तरीकों से लाना चाहते हैं। उनका लक्ष्य एक समतामूलक सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना है और वे समाज के व्यक्तियों के बीच अनुपात से संपूर्ण संपत्ति को पुनः बांटने के पक्षधर हैं। यह देखा गया है कि नक्सलबाड़ी आंदोलन अधिकांश उन राज्यों में फैला जहां सामंती प्रवृत्तियां और राजनैतिक जागृति तथा साम्यवादी कार्यवाहियां देखी गईं। बिहार में भूमिहीन और अनुसूचित जातियों के हितों के लिए कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्स व लेनिनवादी) तथा इसकी उपशाखा इंडियन पीपुल्स फ्रंट (I.P.F.) संघर्ष करती रही है। उत्तर वाममार्गीय समूहों द्वारा हिंसा के लिए चरम बिंदु के साधन प्रयोग किए जाते हैं जैसे राज्य के अधिकारियों, राजनीतिज्ञों को अपने लक्ष्य की

प्राप्ति के लिए उड़ा ले जाना, गोली मारकर उनकी हत्या कर देना आदि। उनके इस प्रकार के कार्यों से समाज की शांति भंग होती है।

4. आतंकवाद

भारत में इस तरह की हिंसा अपने 'स्वप्नों की मातृभूमि' के निर्माण करने के उद्देश्य से क्षेत्रीय पुनर्गठन के लिए की जाती है। पहले-पहल यह भारत के उत्तर-पूर्वी भागों में प्रारंभ हुई फिर 1983 से पंजाब ने इसका अनुसरण किया और फिर 1988 से कश्मीर में और तदनंतर आसाम में फैली। यह समस्या अब गंभीर रूप ले चुकी है क्योंकि इसमें विदेशी हाथ भी है। पंजाब और कश्मीर के इन आतंकवादी समूहों को हथियार, बारूद प्रशिक्षित आतंकवादियों और धनराशि के रूपों में विदेशी सहायता मिलती है। इन राज्यों में अंधाधुंध हत्याओं, व गोलाबारी ने सामान्य नागरिकों का जीवन असुरक्षित बना दिया है।

5. विशेष समूहों की शिकायतें

अपनी शिकायतों को प्रगट करने के लिए हिंसा पर उतारू होने वाले समूहों में विद्यार्थी, शिक्षक, और श्रमिक संघ आदि शामिल होते हैं। विद्यार्थी समुदाय में बढ़ती हुई अनुशासन हीनता, अशांति से बंद, लाठी चार्ज, घेराव आदि होते हैं और यहां तक कि संस्थाओं के परिसरों में अपराधी तत्वों द्वारा हत्याएं तक कर दी जाती हैं। वास्तव में संस्थाओं के राजनीतिक संगठन एवं श्रमिक संघ राष्ट्रीय राजनीति का लघु रूप बन गए हैं क्योंकि अनेक छात्रों के राजनीतिक समूह और श्रमिक संघ राजनीति के क्षेत्रीय राष्ट्रीय दलों से संबद्ध और समर्पित होते हैं। किसी भांति विद्यार्थियों की शक्ति एक ऐसा बल है, जिसे रचनात्मक कार्यों में लगाकर समाज की भलाई के लिए उपयोग किया जा सकता है जैसा कि 1974 में एक सामाजिक-आर्थिक सुधार और पूर्ण क्रांति लाने के उद्देश्य से जयप्रकाश नारायण ने किया था। यह समूह-विशेष नवयुवकों का शक्तिशाली तंत्र होता है, अतः यह प्रजातंत्र की पुनर्व्यवस्था में योगदान दे सकता है। भारत के उत्तर-पूर्वी भागों में आदिवासी उपद्रव भी सामूहिक हिंसा का ही एक रूप हैं। नागा, कुकी, मिजो, बोडो, तथा इस क्षेत्र की अन्य आदिम जातियां आंतरिक हिंसा में लगी हैं। आसाम में से तोड़ कर बनाए गए सात विभिन्न प्रदेश, जिन्हें 'सात बहिनें' कहा जाता है (अरुणाचल प्रदेश, आसाम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड और त्रिपुरा), पूर्णतः आदिम जातीय पहचान के आधार पर निर्मित होने के बावजूद आज भी हिंसा से पीड़ित हैं।

6. सांप्रदायिकता

भारत के स्वतंत्रता-आंदोलन में यहां के मुसलमानों के एक भाग को पाकिस्तान की मांग के लिए भड़काने के समय से ही देश में राजनीतिक हिंसा का एक मात्र प्रबल कारण सांप्रदायिकता रही है। भारत जैसे बहुधर्मावलंबी देश में बहुमत समुदाय हिंदू है और अन्य मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, जैन, यहूदी तथा फारसी धर्मावलंबी अल्पसंख्यक हैं। अनेक राजनीतिक-साम्प्रदायिक संगठनों के गठन (मुस्लिम लीग, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिंदू महासभा, अकाली दल तथा भारतीय जनता पार्टी) ने सांप्रदायिक हिंसा को मानो थपकी दे दी है। भारत का स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद का इतिहास सांप्रदायिक उपद्रवों

से भरा पड़ा है। सबसे ताज़ा उदाहरण बाबरी मस्जिद के ध्वस्त होने के ठीक बाद का है। यद्यपि भारत में अनेक अल्पसंख्यक समुदाय हैं फिर भी हिंदू-मुसलमानों के परस्पर झगड़े होना एक सामान्य-सी बात रही है। इंदिरा गांधी की हत्या के तुरंत बाद सिक्ख-विरोधी उपद्रवों से बहुत ही खराब हालत हो गई। न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र कमेटी द्वारा सिक्ख विरोधी उपद्रवों की जांच से यह निष्कर्ष निकला कि इस उपद्रव में 3000 से अधिक सिक्खों की जानें गईं। अलीगढ़, कानपुर, दिल्ली, लखनऊ, मेरठ, मुरादाबाद, अहमदाबाद, भागलपुर, भिवाड़ी, बम्बई, सूरत और हैदराबाद, ऐसे कुछ सांप्रदायिक तौर पर संवेदनशील शहर हैं जहां स्वतंत्र भारत में बराबर सांप्रदायिक हिंसा भड़कती रही है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि सांप्रदायिक हिंसा भड़कने के लिए गहरे पैठे हुए धार्मिक बैर से अधिक कई अन्य कारण होते हैं। आर्थिक, कारणों से दंगाई लोग गांवों की अपेक्षा औद्योगिक कस्बों और शहरों में गति पा जाते हैं।

7. राजनीति का अपराधीकरण

भारत में आजकल अंधाधुंध उपद्रवों और हत्याओं के कारणों में से यह एक प्रमुख कारण अपराधीकरण बन गया है। चुनाव में या अन्य प्रसंगों में राजनीतिक लाभ उठाने के उद्देश्य से राजनीतिक दल, प्रायः, दंगे करवा देते हैं। राज्य के कुछ सरकारी संगठन जैसे पुलिस और अर्द्ध-सैनिक बल के अधिकारी भी पीड़ित व्यक्तियों के विरुद्ध स्पष्ट रूप से मौन सहमति और चुप्पी धारण कर जाते हैं। न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र समिति ने दिल्ली पुलिस को दिल्ली में सिक्खों के विरुद्ध उपद्रवी लोगों द्वारा की गई हिंसा में चुप्पी के लिए दोषी ठहराया है। श्री एन. एन. वोरा ने ओरोपों की जाँच करते हुए अपनी रिपोर्ट में अपराधियों और राजनीतिज्ञों की गठजोड़ की चर्चा की है और कहा है कि राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों, प्रचार माध्यमों के सदस्यों और छिपे हुए अपराध-प्रमुखों की पैशाचिक मिली-भगत का इसमें हाथ था। राजनीति का अपराधीकरण चुनावों के समय स्पष्ट हो जाता है जब राजनीतिक मतदान-केंद्रों पर कब्जा करने, जाली मतदान कराने, धमकी देने तथा छीना-झपटी कराने में अपराधियों की सहायता लेते हैं। यह इसलिए होता है क्योंकि गुप्त अपराधियों के मुखिया (Dons) लोगों का एक प्रत्याशी के चुनाव में छिपे तौर पर बहुत बड़ा हाथ होता है क्योंकि वे उसके चुनाव में ढेर सारा पैसा खर्च करते हैं। बीते हुए कुछ वर्षों में अपराधियों और राजनीतिज्ञों की भूमिका इतनी अधिक बढ़ गई है कि अनेक निर्वाचित प्रतिनिधियों (सांसदों और विधायकों) का लंबा आपराधिक विवरण होता है। इस प्रकार आपराधिक गठजोड़ संस्थात्मक बन गया है।

पाठगत प्रश्न 36.2

सही उत्तर चुनिए :

1. मंडल-विरोधी आंदोलन से निम्नांकित में बढ़ोत्तरी हुई :

   (अ) सांप्रदायिक हिंसा (ब) आदिवासी हिंसा

   (स) जातिगत हिंसा।

2. नक्सलबाड़ी आंदोलन पहले कहाँ प्रारंभ हुआ ?

(अ) पश्चिम बंगाल में (ब) पंजाब में

(स) आंध्रप्रदेश में।

3. उत्तर-पूर्वी भारत में आदिवासी हिंसा को रोकने के लिए क्या किया गया ?

(अ) उनकी भाषा की उन्नति की गई।

(ब) उनकी आदिम पहचानों के आधार पर नए राज्य गठित किए गए।

(स) क्षेत्र में लोगों के लिए नौकरियों के लिए नए पद सृजित किए गए।

4. अपराधियों, राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों के गठजोड़ की जांच के लिए गठित समिति का नाम क्या है ?

(अ) रंगनाथ मिश्र कमेटी (ब) मंडल कमीशन

(स) एन.एन. वोरा कमेटी।

5. सिक्ख विरोधी उपद्रव किसकी हत्या के बाद हुए ?

(अ) संत लोंगोंवाल की (ब) श्रीमती इंदिरा गांधी की

(स) राजीव गांधी की।

36.6 भारत में राजनीतिक हिंसा के प्रमुख प्रकार

यह कितना बड़ा विरोधाभास है कि गांधी की अहिंसा की भूमि भारत में, आजकल हर संभव प्रकार की राजनीतिक हिंसा समाज पर छाई हुई है। हिंसा के स्वरूपों को उनकी बारंबारता, तीव्रता और अवधि के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। हिंसा के कुछ रूपों को पूरी तरह हिंसक नहीं कहा जा सकता, वे केवल हिंसा की धमकी के रूप में ही होते है, जैसे एक दिवसीय बंद, या घेराव, जो एक सांकेतिक विरोध भर होते हैं और बिना किसी को चोट, हानि पहुंचाए या किसी वस्तु को ध्वस्त किए बारंबार किए जा सकते हैं। दूसरी ओर हिंसा के अन्य तरीके हैं जिनका भारी प्रभाव होता है और राज्य-सत्ता को भी चुनौती दे देते हैं। हम सब हिंसा के उन खास-खास रूपों की चर्चा करें। (नीचे दी गई तालिका क्र. 1 देखिए) जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि राजनीतिक हिंसा या तो राज्य के विरुद्ध सामूहिक हिंसा हो सकती है या प्रजा के विरुद्ध शासन द्वारा प्रायोजित हिंसा हो सकती है जैसे पुलिस द्वारा लाठी चार्ज आदि।

तालिका क्र. 1 भारत में राजनीतिक हिंसा के प्रकार

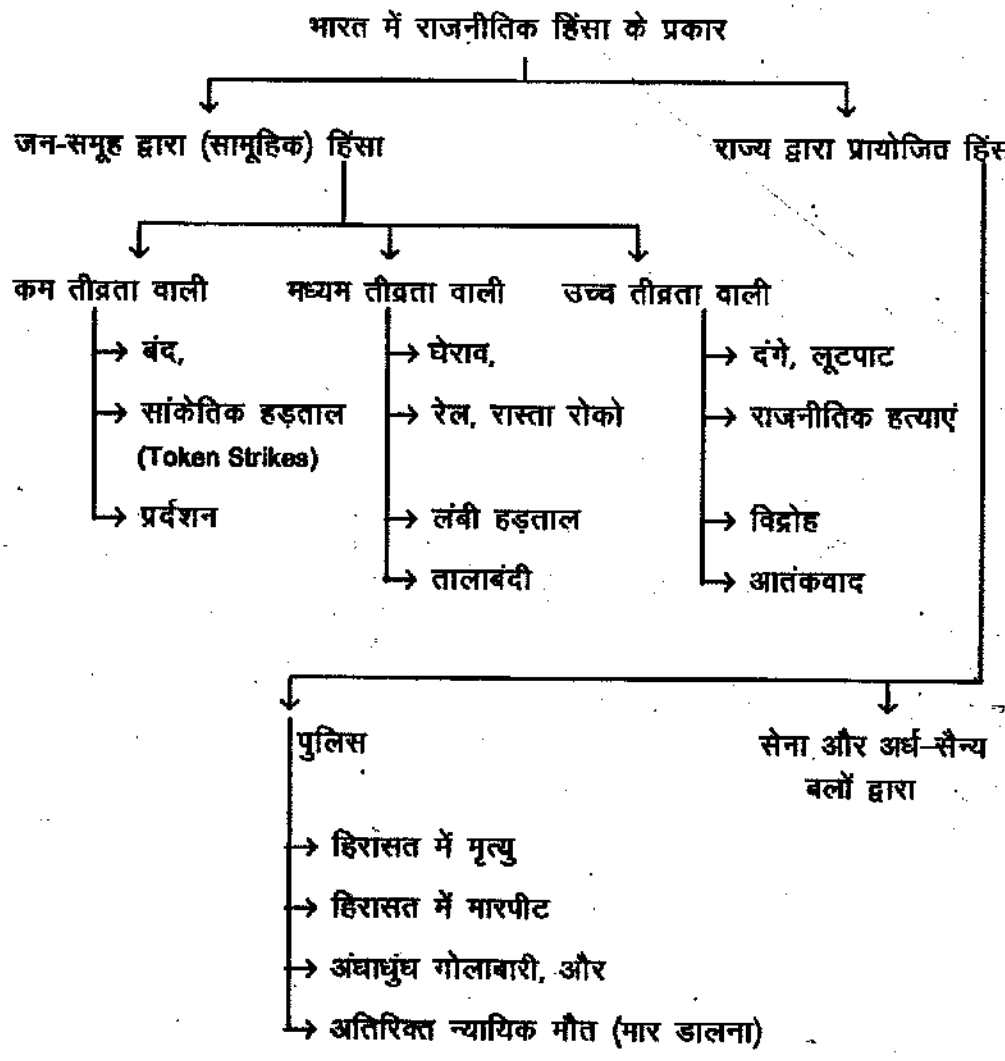

1. जनसमूह द्वारा (सामूहिक) हिंसा

तीव्रता के आधार पर निर्धारित तीन प्रकार की हिंसाओं की इस अंश में चर्चा की जा रही है। बंद और प्रदर्शन कम तीव्रता वाली सामूहिक हिंसाओं के स्वरूप हैं। प्रायः ये नौकरी के क्षेत्र में श्रमिक संघों, बैंक और बीमा कर्मचारियों के विरोधों और ऐतराज के रूप में और शिक्षण संस्थाओं में छात्र-संघों के प्रदर्शन व ऐतराज के रूप में। यद्यपि ये विरोध-प्रदर्शनों का प्रारंभ एक सूचना पर शांतिपूर्ण होता है पर इनकी स्थिति ऐसी होती है कि जब इनके नेता इन समूहों पर काबू पाने में असमर्थ हो जाते हैं तो ये प्रदर्शन हिंसक भी बन जाते हैं। जबकि विरोध स्वरूप बंद के कारण सारा कामकाज ठप हो जाता है। प्रदर्शन एक ऐसा अहिंसक समूह या भीड़ का मार्च होता है जिसके द्वारा वे संबंधित अधिकारियों का अपनी शिकायतों की ओर ध्यान आकर्षित कराते हैं। कुछ अवसरों पर वे प्रदर्शनबोर्ड (Placards), बैनर तथा पोस्टर आदि के साथ नारेबाजी भी करने लगते हैं। इन विरोधों में सामान्यतः

कोई शारीरिक बल का प्रयोग नहीं होता। वे इस इच्छा के प्रदर्शन द्वारा शासन-तंत्र को आगाह कर धमकी देते हैं कि उनमें शासन-विरोधी क्षमता मौजूद है।

घेराव, रास्ता या रेल रोको तथा तालाबंदी राजनीतिक दलों, हितकारी या प्रभावशाली समूहों द्वारा अपनी मांगों के समर्थन में किए गए साधन होते हैं। घेराव का आशय यह है कि शिकायतकर्त्ता लोगों का वह समूह निर्णय या नीति निर्धारक उन उच्च अधिकारियों को चारों ओर से घेर लेता हैं जिनकी नीतियों से परेशान होकर वे घेराव करते हैं। रास्ता या रेल रोको का अर्थ होता है। रेल या सड़क के शांतिपूर्ण यातायात को शिकायतकर्त्ताओं द्वारा बाधा पहुंचाना। रेल रोको आंदोलन, विशेष रूप से हिंसक ही होते हैं, क्योंकि कभी-कभी तो वे जन-संपत्ति को गहरी क्षति पहुँचा देते हैं। आसाम जैसे प्रातों में उल्फा (यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ आसाम) उग्रवादियों द्वारा, अपने जुझारू व विरोधी आंदोलन के रूप में, मीलों-मील रेल की पटरियाँ उड़ा दी जाती हैं। रेल रोको आंदोलन उग्रवादी स्वरूप धारण कर लेता है और पटरी उड़ाते समय उच्च तीव्रता वाली हिंसा में बदल जाता है। इसी तरह भारत में यह सामान्य रूप से देखा जाता है कि विद्यार्थी और नाराज भीड़ सरकारी बसों या पुलिस की जीपों को विरोधस्वरूप जला डालते हैं। तब अनेक राजनीतिक हिंसा के रूप फैल जाते हैं, जैसे-दंगे, लूट, राजनीतिक हत्या, हमलों जैसे आंदोलन तथा उग्रवाद। ये सभी उच्च तीव्रता वाली हिंसा के अंतर्गत आते हैं। आतंकवाद और गृहयुद्ध हिंसा के सबसे अधिक भयानक प्रकार हैं। दंगा उसे कहते हैं जो बहुत से लोगों द्वारा एकाएक, अंधाधुंध, लूट करने तथा लोगों को मार डालने के लिए हिंसक प्रदर्शन का रूप धारण कर लेता है। राजनीतिक अस्थिरता तथा अशांति के समय में शहरी क्षेत्रों में पूर्व नियोजित तथा जाल बिछाकर किए हुए दंगे देखे जाते हैं। विचारों की भिन्नता को दिखाने या प्रकट करने के उद्देश्य से प्रमुख राजनीतिक नेताओं को विरोध के कारण समाप्त करवा देने को राजनीतिक हत्या कहते हैं। इसमें नेताओं तथा उनकी नीतियों से विरोध तो होता ही है राजनीतिक सत्ता हथियाने का प्रयास भी निहित होता है। 1948 ई. में महात्मा गांधी, सन् 1984 में श्रीमती इंदिरा गांधी तथा सन् 1991 में राजीव गांधी की हत्याएं ऐसे ही वैचारिक राजनीतिक कारणों से हुई थीं। राजनीतिक हत्या आंतकवाद की खुली और प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया है।

भारत के उत्तर-पूर्वी भाग तथा अन्यत्र फैले जुझारू विरोधी आंदोलनों के पीछे उनकी आदिम और मूल पहचान पर आधारित अधिक स्वायत्तता और सत्ता की उपद्रवी माँग है। भारत में आतंकवाद पंजाब और कश्मीर के अलगाववादी आंदोलनों से संबंधित है। उनकी लड़ाई, मुख्य रूप से 'अपनी स्वप्नों की मातृभूमि' सजाने के पक्ष में शासकीय मशीनरी जैसे पुलिस व अर्द्ध-सैनिक बलों के अधिकारियों के विरुद्ध है। अतिरिक्त क्षेत्रीय और विदेशी मदद के कारण आतंकवाद एक विश्वव्यापी घटना चक्र बन गया है, जो सभी भौगोलिक सीमाओं को लांघ चुका है और संपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को प्रभावित करता है तथा इसके समुचित समाधान के लिए सभी राष्ट्रों के सम्मिलित प्रयास की महती आवश्यकता है। आतंकवादी बमबारी, पकड़ कर ले जाने, हथियारबंद हमलों और उड़ाकर ले जाने आदि साधनों का प्रयोग करते हैं।

2. राज्य द्वारा प्रायोजित हिंसा

अब जनता के विरुद्ध राज्य की एजेंसियों द्वारा की गई हिंसा के प्रकारों की चर्चा करें। भारत में सामूहिक जनचेतना में पुलिस की छवि बहुत धूमिल रही है। पुलिस, जो कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है, स्वय हिंसा के कार्य करती है। एकतरफा गोलाबारी, हिरासत में की गई मारपीट, हिरासत में हुई मौतों तथा मुठभेड़ी हत्याओं से मासूम जानें चली जाती हैं। जाली मुठभेड़ों में पुलिस द्वारा की गई हत्याएं कानून और न्यायेतर की गई मौतें मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त, पुलिस को कानूनी अधिकार हैं जिसके अंतर्गत वह पूछताछ कर सकती है। इस अधिकार का दुरुपयोग करते हुए वह तीसरे दर्जे के तरीकों-हिरासत में दी गई यंत्रणा, सिगरेटों से जलाना तथा मारपीट आदि, का प्रयोग करती है। कभी-कभी कानून को ताक पर रखकर मुल्जिमों को यातना देने के लिए तरह-तरह के तरीके खोजे जाते हैं। भागलपुर में 17 मुल्जिमों को अंधा करने वाला कांड प्रसिद्ध है, जिसमें जेल के अधिकारियों द्वारा उनकी आँखे फोड़ दी गई थी। हाल ही में, इसी प्रकार की एक घटना राजस्थान में पुलिस थाने में हुई थी। 1917से 1975 तक पश्चिमी बंगाल में राष्ट्रपति शासन था और कांग्रेस के शासन में साम्यवादी राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के निर्ममता से दमन का सहारा लिया गया था। लगभग 2,5,000 राजनीतिक कार्यकर्त्ता जेलों में डाले गए। एक स्रोत के अनुसार ज्ञात हुआ कि 1970 से 1972 तक 600 सी.पी. एम के सदस्य तथा 320 नक्सलवादी जेलों में मार डाले गए थे। पुलिस के अलावा सेना और अर्द्ध सैनिक बल जैसे यू.पी. में पी.ए.सी. (Police Armod Coustabulary) में तथा बी.एस.एफ. (Border Security Force) पर आतंकवाद एवं दंगो से पीड़ित क्षेत्रों में मासूम नागरिकों को जाली मुठभेड़ों में मार डालने तथा औरतों को यातनाएं देने में फंसे होने के आरोप हैं।

उपरोक्त प्रकारों का कोई साधन परस्पर अनन्य नहीं है। अर्थात ये आपस में एक जैसी ही हैं। कम तीव्रता के तरीके कभी भी उच्च तीव्रता के तरीकों का रूप धारण कर विस्फोटक हो सकते हैं। तदनुसार, एक से अधिक प्रकार की हिंसा भारतीय समाज में एक साथ ही भड़की हुई देखी जा सकती है। आतंकवादी हत्याओं, गोली से मार देने, अवैध अपहरण और संपत्ति के विनाश में लिप्त रहते हैं। शांतिपूर्ण प्रदर्शन हिंसक रूप धारण करने की दशा में दंगों की स्थिति धारण कर लेते हैं। अतः हमें अपने जीवन में हर तरह की हिंसा से बचने के लिए अपनी शिकायतों के प्रदर्शन करते समय सचेत रहना चाहिए।

36.7 भारतीय समाज पर राजनीतिक हिंसा का प्रभाव

राजनीतिक हिंसा का भारतीय समाज और राजनीति पर एक विध्वंशक प्रभाव पड़ता रहा है। इससे नागरिकों का जीवन कठिन और असुरिक्षत हो गया है। यह हमारे सामाजिक जीवन और हमारी कार्य-दक्षता तथा उत्पादकता दोनों पर प्रभाव डालती है। बंद, दंगों और आतंकवादी धमकियों के फैल जाने से, प्रायः, कई दिनों तक सामान्य जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। जैसा कि विशेष रूप से उत्तर-पूर्वी राज्यों में घटित होता है, बंद के दौरान सरकारी कार्यालयों और शैक्षिक संस्थाओं में कार्यों का ठप हो जाना एक सामान्य सी बात

के रूप में प्रायः जाना जाता है। इससे आर्थिक प्रगति और सरकार द्वारा चलाई जा रही विकास-योजनाएँ पिछड़ जाती हैं। वस्तुतः जब राजनीतिक हिंसा भड़क उठती है। तो इसे रोकने के लिए राज्य को ऐसे संभावित उपाय जैसे कर्फ्यू लगाना आदि करने पड़ते हैं। इससे जनता को अनेक कठिनाइयाँ हो जाती हैं। जब पंजाब तथा कश्मीर में आतंकवाद अपनी चरमसीमा पर था तो सूर्यास्त के बाद घूमना-फिरना असुरक्षित होता था। नागरिक यात्रियों के जान-माल की रक्षा के लिए हथियारबंद सुरक्षाकर्मियों की सहायता से रोडवेज की बाहर जाने वाली बसें चला करती थीं।

राजनीतिक हिंसा को रोकने और कानून-व्यवस्था बनाए रखने के लिए हमारा राज्य ढेर सारा धन तथा जन-संसाधन लगा रहा है। उन दुर्लभ साधनों, जिन्हें हम अनेक अर्द्ध-सैनिक बलों जैसे बी.एस.एफ., सी. आर. पी. एफ., रैपिड एक्शन फोर्स, स्पेशल प्रौटेक्शन ग्रुप(एस.पी.जी.) के रूप में अतिविशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा में लगाकर, उन पर खर्च करते हैं। इनका सुविधापूर्वक देश की रचनात्मक और विकास की क्रियाओं में उपयोग कर सकते हैं।

राजनीतिक हिंसा से देश की प्रजातांत्रिक राजनीतिक संस्थाओं की दक्षता प्रभावित होती है और कार्य-क्षमता चरमरा जाती है। वास्तव में, इससे देश की राजनीतिक संस्थाओं की जड़ों की स्वस्थ वृद्धि तथा प्रसार को अवरूद्ध कर दिया है। यह एक गंभीर व्याधि है जो कि राजनीतिक संस्थाओं के लिए किसी खतरे का अर्थ है इस भारत जैसे विस्तृत और विभिन्नताओं वाले देश के शासन में कठिनाई पैदा होना, जिसे केवल प्रजातांत्रिक तरीके से ही संभाला जा सकता है। अतएव इसके प्रजातंत्र के लिए खतरे में इसकी सामाजिक तथा राजनीतिक एकता और अस्तित्व के लिए खतरा निहित है।

36.8 भारत में राजनीतिक हिंसा रोकने हेतु उठाए गए कदम

भारत में राजनीतिक हिंसा की बढ़ती हुई घटनाओं को देखते हुए सभी स्तरों पर हिंसा समाप्त करने के लिए कुछ कदम उठाए गए हैं। इस प्रकार किए गए अधिकांश उपाय संवैधानिक हैं। हिंसा भड़काने के विरुद्ध अनेक कानून और विधान पारित करके या उनमें सुधार करते हुए दंडात्मक उपाय किए गए हैं। कुछ मामलों में कठोर प्रशासनिक उपाय भी प्रारंभ किए गए हैं। हम निम्नांकित उपायों पर विचार करेंगे।

(i) निचली जातियाँ और अछूत लोग जातिगत संघर्षों के सबसे अधिक शिकार होते हैं। अतएव दोनों प्रकार के उपाय किए गए हैं; कुछ नकारात्मक कानून भी बनाए गए हैं, जिनके द्वारा जाति आधारित भेदभाव के लिए कठोर दंड की व्यवस्था है। कुछ सकारात्मक कानून हैं, जिनके द्वारा पिछड़ी जातियों के सामाजिक आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाने के उपाय किए हैं। जो छूआछूत का भेद मानेगा या करेगा उसे छह मास से दो वर्षों की अवधि तक की क़ैद भुगतनी पड़ेगी और उस पर 200 रूपए से एक हजार रूपए तक का जुर्माना किया जा सकता है तथा संसद और विधान-सभा का चुनाव लड़ने से बहिष्कृत किया जा सकता है। इन दंडों का प्रावधान नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम 1976 (जो 1955 के अस्पृश्यता निवारण अधिनियम

अपराध 1955 का संशोधित रूप है।) अंतर्गत किया गया है। अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों (क्रूरता निवारण अधिनियम 1989) 1989 के आधार पर वे दंड और कठोर कर दिए गए हैं। ऐसे कुछ अपराधों या क्रूरताओं के लिए कानून में अब सजा की अवधि पांच वर्षों तक निर्धारित की गई है, जिनमें अछूत समझकर किसी को खाद्य पदार्थों के खाने या पीने से रोकना, उनके घरों में मल या मलवा डालना, उन्हें नंगा घुमाना, जबरदस्ती काम लेना (बंधुआ मजदूर बनाना) या बेइज्जती करना, नारियों का यौन-शोषण करना या उनके साथ छेड़खानी करना आदि शामिल हैं। इससे आगे, दलितों के विरुद्ध ज्यादतियों या क्रूरताओं के मामलों के जल्दी निपटारे करने के लिए राज्य सरकार द्वारा प्रत्येक जिले में 'विशेष अदालतें' कायम करने के लिए इस अधिनियम में प्रावधान निहित हैं। उनके लिए राज्य तथा केंद्र सरकारों की नौकरियों में, शिक्षण संस्थाओं में, छात्रों की भर्ती में तथा विधानसभा, संसद और पंचायती राज संस्थाओं की सीटों में 15 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था है।

(ii) भाषाई संघर्ष को शांत करने के उद्देश्य से अधिकाधिक भाषाओं को संविधान के अठारहवें शिड्यूल में सम्मिलित कर लिया गया है। (अब इनकी संख्या 18 हो गई है)

(iii) केंद्रीय शासन द्वारा विकास के लिए आर्थिक प्रस्ताव तथा शिक्षण संस्थाओं की स्थापना आदि कुछ ऐसे विशिष्ट उपाय हैं जिनके द्वारा उत्तर-पूर्वी राज्यों को भारत की प्रमुख धारा में लाने का प्रयास किया गया है और इनके द्वारा क्षेत्र में व्याप्त आदिवासी तथा अन्य उपद्रवों में लगने से लोगों को रोकने या मोड़ने का प्रयास किया गया है।

(iv) आंध्र के पी.डब्ल्यू.जी. (people's war group) तथा कुछ अन्य राज्यों के ऐसे ही उत्तर-वाममार्गीय समूहों को कानूनी तौर पर बहिष्कृत घोषित कर दिया गया है और केंद्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को इन संगठनों से निपटने हेतु अतिरिक्त अर्द्ध-सैन्य बलों तथा सेना की बटालियन भेजकर सहायता दी गई है।

(v) आतंकवाद को रोकने के लिए केंद्रीय सरकार ने समय-समय पर आतंकवादियों से हिंसा बंद करने की अपील की है। कुछ प्रोत्साहन जैसे हथियार डाल देने वाले समर्पणकारियों को क्षमादान और पुनर्वास-सुविधाएँ आदि प्रदान की गई हैं। आतंकवाद के भय को समाप्त करने के लिए 1987 में 'टाडा' (Terrorist and Disruptive Activities Act) कानून पारित किया गया था। किसी भाँति, संसद द्वारा 1996 में, इस एक्ट के अंतर्गत मासूम नागरिकों को फंसाकर इसके दुरुपयोग करने के विरुद्ध, भारी हंगामे के कारण इसे रद्द कर दिया।

(vi) सांप्रदायिक हिंसा को रोकने के लिए निम्नांकित कदम उठाए गए हैं। एक रैपिड ऐक्शन फोर्स (R.A.F) गठित की गई है और सांप्रदायिक रूप से संवेदनशील कस्बों में स्थायी रूप से तैनात कर दी गई है। इसे एक गैर-सांप्रदायिक बल का रूप देने के लिए इसमें सभी धर्मों के समूहों से व्यक्ति सम्मिलित किए गए हैं। राष्ट्रीय अल्प-संख्यक आयोग, एक कानूनी निकाय के रूप में गठित किया गया है, जो अल्प-संख्यकों की शिकायतों की छानबीन करता है और उनके अधिकारों के परिपालन की

देखभाल भी। 1992 ई. में (दिसंबर 1992 में बाबरी मसजिद के ध्वस्त किए जाने के बाद से) कुछ सांप्रदायिक संगठनों को प्रतिबंधित किया गया है, जैसे बजरंग दल, विश्व हिंदू परिषद, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जमात-ए-इस्लामी तथा इस्लामिक सेवक संघ आदि। अंततः, संसद द्वारा पूजा स्थल अधिनियम (Places of Worship Act) पारित किया गया है, जिसके अनुसार पूजा के स्थलों की वही स्थिति बनाई रखी जानी है जो 15 अगस्त 1947 को थी। इसका उद्देश्य यह है कि भविष्य में पूजा-स्थलों के विषय में कोई संभावित विवाद नहीं रहना चाहिए। यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि राजनीतिक हिंसा को रोकने के लिए अपनाए गए अधिकांश उपाय केवल कानून की किताबों में हैं तथा उनका क्रियान्वयन बहुत कारगर तरीके से नहीं हो पाया है। कुछ और उपचारात्मक उपायों को अपनाकर भारतीय समाज को हिंसा-रहित बनाने का प्रयास करना चाहिए।

पाठगत प्रश्न 36.3

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

1. ——————कम तीव्रता वाली सामूहिक हिंसा के प्रकार हैं।
2. आतंकवाद द्वारा प्रभावित दो प्रदेश——————हैं।
3. 'उल्फा' (ULFA) का अर्थ——————————है।
4. पुलिस द्वारा जाली मुठभेड़ दिखाकर की गई हत्याएं——————कहलाती हैं।
5. भाषाई संघर्ष से निपटने के लिए अधिकाधिक भाषाएं संविधान के ——————में सम्मिलित कर ली गई हैं।
6. रैपिड ऐक्शन फोर्स (R.A.F) का गठन ——————से निपटने हेतु किया है।
7. राजनीतिक हिंसा से हमारी ——————प्रभावित होती है तथा कार्यक्षमता और ——————कम हो जाती है।

36.9 और क्या किया जा सकता है ?

शिक्षा के धर्मनिरपेक्ष तत्त्व और परस्पर आत्मविश्वास को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि अन्य संप्रदायों के प्रति समझ और सम्मान के भाव विकसित हो सकें। सभी सांप्रदायिक राजनीतिक दलों तथा धार्मिक समूहों के क्रियाकलापों को मॉनीटर किया जाना चाहिए और सांप्रदायिक रूप से भड़काने वाले भाषणों पर रोक लगाई जानी चाहिए, क्योंकि सांप्रदायिक संवेगों को उत्तेजित करने के लिए वे, प्रायः उत्तरदायी होते हैं। पुलिस और अर्द्धसैनिक बल इतने व्यापक हों कि उनमें भारत के सभी समुदायों के लोगों का प्रतिनिधित्व हो सकें। इससे बहुत सीमा तक कर्त्तव्यपालन में वस्तुनिष्ठता, तटस्थता तथा अनुशासन उनके मनों में मजबूती से बैठ सकेंगे।

राष्ट्र की प्रमुख धारा से हटकर कुछ समुदायों का सांस्कृतिक धारा की ओर झुकाव बनाए रखना ही आज आतंकवाद का प्रमुख कारण बना हुआ है। इन समुदायों को उनके शासन-संचालन में अधिक स्वायत्तता देने और अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाने के लिए अवसर व छूट देने से भाषाई तथा सांस्कृतिक दमन से बचा जा सकता है। इस विषय को बिना संवेदनशील बनाए, जन-संचार माध्यम हिंसा के कारणों की वस्तुपरक रिपोर्टों के द्वारा सकारात्मक भूमिका निभा सकते हैं। आजकल के सूचना-परक युग में, प्रकाशन और इलेक्ट्रॉनिक दोनों ही जन-संचार माध्यम जन-समूह को शिक्षित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं।

इस सबसे अधिक राजनीतिक दलों के अनेक पहलुओं के लिए कानून आज के समय की आवश्यकता है। कम से कम उनके द्वारा अपनी आय के स्रोतों की घोषणा किया जाना अनिवार्य बना देना चाहिए। चुनावों में धन की भूमिका को घटाने की जिम्मेदारी तो हमारी राजनीति और जनता पर ही है। चुनाव लड़ने वाले एक प्रत्याशी के लिए स्वच्छ पुलिस रिकार्ड तथा कुछ औपचारिक शिक्षा की पृष्ठभूमि का होना आदि अपेक्षित होना चाहिए।

आपने क्या सीखा

इस पाठ से आप समझ सके हैं कि राजनीतिक हिंसा एक विश्वव्यापी घटना है। पिछले दो दशकों में संपूर्ण विश्व में राजनीतिक हिंसा में वृद्धि हुई है। इसके भय से हमारे समाज में जीवन बहुत असुरक्षित हो गया है। भारत में भी, राजनीतिक हिंसा की बढ़ती हुई स्थिति देखी जाती है। भारत में कई प्रकार की राजनीतिक हिंसाएँ विद्यमान हैं। इसके कारण अनेक हैं जैसे जाति, भाषा, धर्म, आतंकवाद, विद्रोह और राजनीति का अपराधीकरण। इसे रोकने के लिए सरकार द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं। फिर भी भारत में राजनीतिक हिंसा की बढ़ती हुई घटनाओं को कम करने के लिए अभी सरकार और जनता दोनों के स्तर पर बहुत कुछ किया जाना आवश्यक है।

राजनीतिक हिंसा की धमकी को रोकने के लिए, सरकारी प्रयासों के अलावा जनता के स्तर पर भी हमें महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी की पुनीत अहिंसा की विचारधाराओं का, यथाशक्ति, अनुसरण करना चाहिए। यह सत्य है कि संसार में सबसे अधिक प्रगतिशील देश वे हैं, जिनको अपनी संस्कृति तथा राष्ट्रीय-अस्मिता का भान है। हमें भी संपूर्ण विश्व में अहिंसा के संदेश को फैलाकर अपने सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रवर्तित करना चाहिए। नेतृत्व का सबसे अच्छा तरीका स्वयं पालन कर के उदाहरण प्रस्तुत करने का है। यदि सही अर्थों और सही भावना से इसका अनुसरण किया जाए तो आज भी भारत की पुरातन दार्शनिक उक्ति 'वसुधैव कुटुंबकम' (संपूर्ण धरती ही हमारा परिवार है) पूर्णतः समीचीन होकर आलोकित हो उठेगा।

पाठांत प्रश्न

1. आपेक्षिक वंचना सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
2. राजनीतिक हिंसा से क्या आशय है ? समझाइए।

3. भारत में राजनीतिक हिंसा के किन्हीं चार कारणों का उल्लेख कीजिए।

4. भारत में राजनीतिक हिंसा के गंभीर स्वरूपों, प्रकारों की प्रकृति संक्षेप में लिखिए।

5. राज्य द्वारा प्रायोजित हिंसा पर टिप्पणी लिखिए।

6. राजनीतिक हिंसा के घटना क्रम को समाप्त करने के लिए राज्य ने कौन-कौन से प्रमुख कदम उठाए हैं ?

7. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

   (अ) राजनीतिक हिंसा का सार्वभौम पहलू

   (ब) सांप्रदायिक हिंसा

   (स) राजनीतिक हिंसा का प्रभाव।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

36.1

1. माओ-त्से-तुंग ने घोषणा की थी कि 'सत्ता बंदूक की नली से निकलती है'।
2. आदिम झगड़े (संघर्ष) अफ्रीका में सामान्यतः घटित होते रहते हैं।
3. राजनीतिक हिंसा अपेक्षाकृत उन समतामूलक समाजों, जिनमें स्थायी, पूर्ण विकसित राजनीतिक संस्थाएं होती हैं, में सामान्यतः कम घटित होती है।
4. अविकसित देशों में स्रोतों की कमी तथा तकनीकी के अभावों के कारण अपूर्ण अपेक्षाएं हताशा (निराशा) को जन्म देती हैं।
5. यह एक परंपरागत, धार्मिक समाज से एक आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष समाज के रूप में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया है।
6. फ्रैंज फैनन ने पुस्तक 'दी रैचड ऑफ दी अर्थ' लिखी है।

36.2

1. (स) 2. (अ) 3. (ब) 4. (स) 5. (ब)

36.3

1. बंद, सांकेतिक हड़ताल और शांतिपूर्ण प्रदर्शन।
2. पंजाब और कश्मीर
3. यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ आसाम (ULFA)
4. न्यायेतर हत्याएँ (कानून को ताक पर रखकर की गई हत्याएँ)
5. संविधान के आठवें अनुच्छेद में सम्मिलित।
6. सांप्रदायिक हिंसा
7. दक्षता, उत्पादकता।

पाठांत प्रश्नों संकेत

कृपया देखें, अनुभाग

(1) 36.4, (2) 36.5, (3) 36.5, (4) 36.6.1 (5) 36.6 2

(6) 36.8 (7) (अ) 36.3 (ब) 36.5.6 (7) (स) 36.7

36
भारत का स्वाधीनता संघर्ष

36.1 भूमिका

पिछले अध्याय में आपने उपनिवेशवाद तथा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर इसके प्रभाव का अध्ययन किया। देर-सबेर भारतीय जनता के सभी वर्गों ने उपनिवेशीवादी भार का अनुभव किया और इसके बुरे प्रभावों को महसूस किया। इससे एक निश्चित समय पर भारतीयों में एक नई चेतना आई और फलतः भारतीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ। भारत अंग्रेजों के लिए कच्चे माल का उत्पादक तथा अंग्रेजी उत्पाद का बाजार बन गया। अंग्रेजों ने हमारा शोषण किया तथा हमारे देश की संपदा को अपने देश ले गए क्योंकि वे केवल इंगलैंड की ही आर्थिक समृद्धि चाहते थे।

अंग्रेजों ने भारत में सड़क, रेलवे तथा तार का एक तंत्र स्थापित किया। हालांकि इसके पीछे उनका लक्ष्य प्रशासनिक कुशलता स्थापित करना था, परंतु इस तंत्र ने भारतीयों को उनके काफी करीब ला दिया। अंग्रेजी भाषा को लागू करना भी भारतीयों के लिए लाभकर सिद्ध हुआ और इससे देश के विभिन्न क्षेत्रों-के लोग आसानी से एक-दूसरे से बातचीत कर सकते थे।

भारत में अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने 'फूट डालो और राज करो' की नीति का आविष्कार किया। उन्होंने विभिन्न समुदायों के बीच मतभेद पैदा करने की कोशिश की। इस नीति का विरोध भारत के सभी धर्मों के लोगों धनी तथा निर्धन भूस्वामी तथा किसान शिक्षित तथा अशिक्षित मध्यमवर्ग तथा कामगार आदि सभी ने किया। इन सभी ने स्वतंत्रता संघर्ष के लिए एक कड़ा संगठन बनाने में सहयोग दिया। इस अध्याय में हम भारत में स्वतंत्रता-संघर्ष का अध्ययन करेंगे।

36.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- प्रथम स्वाधीनता संग्राम का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म तथा भारतीय स्वाधीनता संघर्ष में इसकी भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे।
- उदारवादियों तथा क्रांतिकारियों की विचारधारा, कार्यक्रमों तथा उनके योगदान का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकेंगे।
- असहयोग, सविनय अवज्ञा तथा भारत छोड़ो आंदोलन में गांधीजी की भूमिका बता सकेंगे।
- स्वाधीनता संग्राम में भारतीय राष्ट्रीय सेना (INA) तथा नेताजी की भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे।

36.3 प्रथम स्वाधीनता संघर्ष

ब्रिटिश सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया। ईस्ट इंडिया कंपनी भारत की आर्थिक समृद्धि का लाभ उठाते हुए इसे अपने देश को भेजती रही। उन्होंने अपने यहां के तैयार माल को काफी ऊंचे दामों पर भारत में बेचा जबकि भारत के कच्चे माल की मामूली कीमत चुकाई। उन्होंने पारंपरिक ग्रामीण जीवन की स्वायत्तता तथा स्वशासन को खत्म कर दिया। इस नीति के कारण नए जमींदार वर्ग का उदय हुआ, जिसने गरीब लोगों का दमन शुरू किया। इससे कृषि को हानि हुई। भारतीय राजस्व का बड़ा भाग सेना तथा ब्रिटिश कर्मचारियों पर खर्च होता था। लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत संचार-संपर्क बढ़ाने तथा ब्रिटिश फायदे के लिए किया।

अधिग्रहण करने की अंग्रेजी नीति ने भारतीय शासकों को उनके राज्यों से वंचित कर दिया। सामाजिक तथा धार्मिक नेताओं ने जैसे, कि राजा राममोहन राय (1774—1833), स्वामी दयानंद, सर सैयद अहमद खां, श्रीमती एनी बेसेंट, गोविंद रानाडे, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद (1861—92) आदि ने लोगों को उनकी समृद्ध संस्कृति और सभ्यता से अवगत कराया। उन्होंने समाज में प्रचलित सामाजिक बुराइयों को भी समाप्त करने की कोशिश की। भारतीय समाज में राष्ट्रवाद की आत्मा उनके द्वारा प्रस्तावित सामाजिक-धार्मिक सुधारों से प्रभावित थी।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त, रक्षा सेवाओं सहित नौकरियों में भेदभाव किया जाता था। भारतीय सिपाहियों को ब्रिटिश सिपाहियों की तुलना में कम वेतन दिया जाता था तथा उनके साथ बुरा बरताव किया जाता था। अंग्रेजों ने इनफील्ड राइफल का प्रचलन शुरू करवाया, जिसमें जानवरों की चर्बी से बने कारतूस इस्तेमाल किए जाते थे। इन गोलियों के ढक्कनों को प्रयोग करने के पहले मुंह से खोलना पड़ता था। इनमें गाय और सुअर की चर्बी मिली होती थी। हिंदू तथा मुसलमान दोनों वर्गों के सिपाहियों ने धार्मिक कारणों से इसका इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया। इस इनकार के कारण 85 सैनिकों को अंग्रेजों द्वारा मेरठ ले जाया गया और उन्हें 10 साल की कैद हुई। इस घटना का उनके साथियों द्वारा कड़ा विरोध हुआ और उन्होंने अनेक ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या कर दी।

उपर्युक्त कारणों तथा ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों के कारण 1857 में एक विद्रोह हुआ। यह 10 मई, 1857 को मेरठ में शुरू हुआ और शीघ्र ही आगरा, बरेली, कानपुर, लखनऊ तथा देश

के अन्य हिस्सों में फैल गया। नाना साहेब, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, बहादुरशाह जफर तथा अन्य क्रांतिकारियों ने इस लड़ाई को धैर्य तथा साहस के साथ लड़ा, किंतु इसे अंततः अंग्रेजों के द्वारा कुचल दिया गया।

यह विद्रोह विफल हो गया क्योंकि इन विद्रोहियों के पास सामान्य उद्देश्य का अभाव था, लोगों के विभिन्न वर्गों में एकता तथा सहयोग नहीं था और इनके पास अंग्रेजी सेना की तुलना में आधुनिक हथियार उपलब्ध नहीं थे। इस विद्रोह से ब्रिटिश सरकार को बड़ा धक्का लगा क्योंकि वह यह सोचती थी कि भारतीय ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासन से संतुष्ट हैं और भारत पर वे अंग्रेजी राज को स्वीकार करते हैं।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इंडिया' में इस विद्रोह को 'स्वाधीनता की पहली लड़ाई' बताया। अंग्रेजों ने इसे 'बगावत' का नाम दिया अर्थात् सेना की एक छोटी टुकड़ी का विद्रोह। परंतु यह मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर, सेनाओं तथा कुछ राजाओं का एक सामान्य संघर्ष था, जो कि एक सामान्य उद्देश्य के लिए किया गया। यह उद्देश्य था अंग्रेजों को देश से बाहर निकालना। यह संघर्ष ब्रिटिश सरकार के लिए भारतीयों द्वारा दी गई एक कड़ी चुनौती था।

1857 के विद्रोह के परिणामस्वरूप 1858 में ब्रिटिश संसद में एक कानून पास हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी भंग कर दी गई तथा भारतीय प्रशासन को ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। इस एक्ट के विधानानुसार, गवर्नर जनरल वायसराय बन गया। वह भारत में रानी (क्राउन) का प्रतिनिधि बन गया। भारतीय शासन को भारत सचिव के प्रत्यक्ष नियंत्रण में दे दिया गया, जो कि ब्रिटिश सरकार का सदस्य होता था। भारत में एक 15 सदस्यीय मंत्रिपरिषद उसकी सहायता करती थी।

यद्यपि रानी विक्टोरिया की प्रसिद्ध घोषणा में यह कहा गया था कि भारतीयों को ऊंचे पदों पर बिना किसी जातिगत भेदभाव के नियुक्त किया जाएगा, किंतु इस बात पर कभी अमल नहीं किया गया। इससे ब्रिटिश सरकार के प्रति भारतीयों में रोष पैदा हो गया। ब्रिटिश सरकार ने 'अधिघोषणा में' भारतीयों राजाओं को उनके 'अधिकार, गरिमा और सम्मान' की गारंटी देते हुए उनको खुश करने की कोशिश तो की, परंतु अपने व्यवहार द्वारा उन्हें नाराज कर दिया।

पाठगत प्रश्न 36.1

सही उत्तर का चुनाव करें।

1. 1857 का विद्रोह पहली बार आरंभ हुआ :

   (अ) आगरा से

   (ब) दिल्ली से

   (स) मेरठ से

   (द) झांसी से

2. नवंबर 1858 की रानी की घोषणा ने,

(अ) उन सभी को माफी दे दी जिन्होंने ब्रिटिश सरकार के खिलाफ बगावत की थी।

(ब) भारतीय जजों को गोरों पर मुकदमों की सुनवाई का अधिकार दिया।

(स) ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से ब्रिटिश क्राउन (सम्राट) के हाथ में सत्ता हस्तांतरित कर दी।

(द) एक दो-सदनीय विधायिका का सृजन किया।

3. अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में किसने 1857 के विद्रोह को 'आजादी की पहली लड़ाई' कहा ?

(अ) लाला लाजपत राय

(ब) जवाहर लाल नेहरू

(स) बिपिन चन्द्र पाल

(द) सुभाष चन्द्र बोस

36.4 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

प्रथम स्वाधीनता संघर्ष की विफलता ने स्वतंत्रता के लिए प्रेरणा जगाने में कोई खास सफलता तो नहीं पाई, मगर इसने स्वतंत्रता सेनानियों को एक पाठ अवश्य पढ़ाया। 1858 की रानी की घोषणा उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकी। 1857 के बाद जिन कारणों से लोगों में राजनीतिक जागरूकता आई और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ, वे निम्नलिखित हैं।

1857 के बाद अंग्रेजों ने नस्लवाद तथा अक्खड़पन की एक नई दृष्टि का परिचय दिया। उन्होंने भारतीयों के साथ बुरा व्यवहार किया तथा भारतीय महिलाओं को सरेआम बेइज्जत किया। सरकारी नौकरियों में भी भेदभाव था। भारतीय सिविल सेवा की परीक्षा इंगलैंड में आयोजित कराकर तथा उसमें प्रवेश की आयु कम रखकर भारतीयों का प्रवेश मुश्किल बना दिया गया। एस.एन.बनर्जी तथा अरविंद घोष को नौकरी नहीं दी गई। ये असंतोष आंदोलन के अगुआ बन गए। संचार तथा यातायात सुविधाओं के विकास ने कुछ सुविधाए प्रदान कीं तथा पश्चिमी शिक्षा लोगों को एक-दूसरे के करीब लाई।

वायसराय लार्ड लिंटन ने दमनकारी नीति अपनाई। 'शस्त्र अधिनियम' से भारतीयों को काफी नाराजगी हुई क्योंकि इस एक्ट के अनुसार उन्हें शस्त्र रखने हेतु लाइसेंस लेना पड़ता था। वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट भारतीयों की स्वतंत्रता को समाप्त करने के लिए पास किया गया। इससे भारतियों में असंतोष फैला और वे अंग्रेजों के खिलाफ हो गए। ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की नब्ज पहचानने की कोशिश नहीं की तथा 1857 के विद्रोह का विश्लेषण करने में विफल रही। उन्होंने भारतीयों को आर्थिक दृष्टि से कंगाल बना दिया। उन्होंने भारतीय संपदा को इंगलैंड भेज दिया तथा भारतीयों पर करों का भारी बोझ लाद दिया। उन्होंने अकाल में भी भारतीयों की मदद नहीं की। जबकि सूखाग्रस्त लोग मर रहे थे और अंग्रेज लोग 'दरबारों' के आयोजन में

अपार संपदा खर्च कर रहे थे। इस कारण लोग क्रोधित हो गए। शिक्षित लोगों ने शस्त्र अधिनियम, प्रेस एक्ट, सिविल सेवा से भारतीयों को बहिष्कृत करने जैसी नीतियों का विरोध करने का निश्चय किया। उन्होंने अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों का विरोध करने के लिए एक सार्वजनिक मंच की आवश्यकता महसूस की। अपने प्रतिरोध को कार्यरूप देने के लिए भारतीयों ने सरकार से लड़ने के उद्देश्य से मिलकर एक संगठन बनाना शुरू कर दिया।

1866 में दादाभाई नौरोजी ने इंगलैंड में ईस्ट-इंडियन एसोसियेशन बनाया, जिसका उद्देश्य अपने पक्ष में जनमत तैयार करना था। 1870 में जस्टिस गोविंद रानाडे ने पूना सार्वजनिक सभा का गठन किया और फिर इसके बाद बंगाल में नेशनल लीग और मद्रास महाजन सभा का गठन हुआ। इन संगठनों ने सरकार के खिलाफ लोगों की शिकायतों को उठाना शुरू कर दिया।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण संगठनों के अलावा एक अन्य महत्त्वपूर्ण राष्ट्रवादी संगठन था 1876 में सुरेंद्रनाथ बनर्जी द्वारा स्थापित 'इंडियन एसोसियेसन'। इस संगठन का उद्देश्य शिक्षित मध्यवर्ग के हितों को प्रतिनिधित्व और सुरक्षा प्रदान करना था। इस संगठन ने सिविल सेवा में 21 से 16 वर्ष उम्र किए जाने के सरकारी फैसले का विरोध किया। इस संगठन ने दिसंबर 1883 में कलकत्ता में एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने देश के विभिन्न भागों में इस संगठन की शाखाएं खोल दीं और जनकल्याण के लिए सामूहिक प्रयास करने के विचार को जन्म दिया। किंतु यह संगठन सच्चे प्रतिनिधित्व की राष्ट्रीय इकाई नहीं बन सका।

1885 में थियोसोफिकल सोसायटी ने मद्रास के अडयार में मजदूरों का एक सम्मेलन आयोजित किया। यह एक राष्ट्रीय स्तर का संगठन बनाने के लिए राजनीतिक कार्यकर्ताओं और नेताओं का सम्मेलन बुलाने के उद्देश्य से आयोजित हुआ था। एक अवकाश-प्राप्त सिविल सेवक ए० ओ० ह्यूम ने ब्रिटिश अधिकारियों और भारतीयों को ऐसा संगठन बनाने की उपयोगिता समझाई। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को संबोधित करते हुए एक पत्र लिखा कि वे राष्ट्र को अपनी सेवाएं अर्पित करें। उनका प्रयास सभी राजनीतिक संगठनों को एकताबद्ध करने की दिशा में एक कदम था। उन्होंने 25 दिसम्बर, 1885 को बाम्बे में भारतीय राष्ट्रीय यूनियन के तत्वावधान में राजनीतिक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन आयोजित कराया। इस सभा की अध्यक्षता व्योमेश चंद्र बनर्जी ने की। दादाभाई नौरोजी के सुझाव पर इसका नाम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कर दिया गया। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष डब्लू० सी० बनर्जी के अनुसार, ए० ओ० ह्यूम का लक्ष्य था 'भारत के महत्त्वपूर्ण राजनेताओं को वर्ष में एक बार इस उद्देश्य से एकत्र करना कि देश की प्रमुख सामाजिक समस्याओं पर विचार किया जा सके।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का श्रेय ए०ओ० ह्यूम को जाता है। उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संस्थापक कहा जाता है। कांग्रेस एक ऐसा मंच था, जो कि शिक्षित भारतीयों को शोषित जनसमुदाय से संबंधित ब्रिटिश सरकार की नीतियों की कमियों के विषय में सरकार को अवगत कराने के लिए प्रोत्साहित करता था ।

(I) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का कार्यक्रम

शुरुआती दौर में कांग्रेस एक सुधारवादी तथा उदारवादी संगठन था। इसका उद्देश्य देश की आजादी अथवा स्वायत्तता नहीं था। इसके नेताओं को ब्रिटिश सरकार की विकासवादी नीतियों

में विश्वास था। वे चाहते थे कि सरकार की नीति उदारवादी रहे। कांग्रेस में फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, मदन मोहन मालवीय, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविंद रानाडे आदि नेताओं का प्रभुत्व था। इन नेताओं को 'माडरेट' (उदारवादी) कहा जाता था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1885 से स्वाधीनता प्राप्ति तक जातियों में समानता, जनता में शिक्षा, महिलाओं की स्थिति में सुधार आदि सामाजिक-सुधार के मुद्दों पर जोर दिया।

कांग्रेस देश के प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी बढ़ाने के पक्ष में थी। कांग्रेसियों ने मांग की कि गवर्नर-जनरल की कौंसिल में भारतीयों को शामिल किया जाए और न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग किया जाए। वे सरकारी खर्चे को भी कम करने के पक्ष में थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता समान रूप से भारतीयों को स्वतंत्रता देने के पक्ष में थे। वे निवारक निरोध अधिनियम की समाप्ति, भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार पर रोक, प्रेस की आजादी और 'वर्नाक्युलर प्रेस' पर लगे प्रतिबंधों को हटाने के इच्छुक थे। वे लंबित मामलों के शीघ्र निपटारे के लिए हाईकोर्ट सहित अदालतों की संख्या बढ़ाने की मांग कर रहे थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस औद्योगीकरण, भारतीय व्यापार को बढ़ाने, भारतीय वस्तुओं के संरक्षण, नमक पर लगे कर को हटाना, भूराजस्व तथा सैनिक खर्चे को कम करने के पक्ष में थी।

कांग्रेस ने उपर्युक्त सुधारों की वकालत लगभग 20 वर्षों तक की। वे विधाई इकाइयों और सरकारी नौकरियों में अधिक प्रतिनिधित्व की मांग करते थे। इसने अधिवेशन के अपने याचिका प्रस्ताव में यह मांग की कि ब्रिटिश सरकार भारतीय लोगों की शिकायतों और संघर्ष के समाधान की ओर ध्यान दे। इस काल को 'उदारवाद' अथवा उदार राष्ट्रवाद का युग कहा गया। कांग्रेस ने सरकार के साथ सहयोग किया। वे मानते थे कि कुशल प्रशासन देश में शांति और समृद्धि लाएगा। उस समय कांग्रेस को संवैधानिक साधनों तथा अंग्रेजों की न्यायप्रियता, ईमानदारी तथा एकता में विश्वास था। इनकी भाषा अनुनय-विनय और प्रार्थना की थी। आवश्यकता पड़ने पर प्रमुख भारतीयों द्वारा ब्रिटेन को अपने विचारों से अवगत कराने के लिए प्रतिवेदन के रूप में इस भाषा का प्रयोग किया गया।

पाठगत प्रश्न 36.2

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए ।

1. पश्चिमी शिक्षा से लोगों को ————मिला।
2. भारतीय सिविल सेवा में परीक्षा में भाग लेने की उम्र घटाकर ———वर्ष से ———वर्ष कर दी गई।
3. इंडियन एसोसियेशन 1876 में————के नेतृत्व में स्थापित हुआ।
4. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सन्———— में हुई।
5. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता————ने की।
6. ऐसे अंग्रेज व्यक्ति का नाम, जो कि कांग्रेस की स्थापना से जुड़ा था।————

(ख) सही उत्तर पर निशान लगाइए।

(i) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में किसे 'माडरेट' कहा गया ?

(क) लाजपत राय

(ख) लोकमान्य तिलक

(ग) विपिन चंद्र पाल

(घ) गोपाल कृष्ण गोखले

(ii) थियोसोफिकल सोसाइटी के संगठित कार्यकर्ताओं का सम्मेलन किस शहर में हुआ।

(क) मद्रास

(ख) मुंबई

(ग) कलकत्ता

(घ) लखनऊ

(iii) भारतीय राष्ट्रीयकांग्रेस के प्रारंभिक 20 वर्ष किस रूप में जाने जाते हैं

(क) गांधीवाद

(ख) समाजवाद

(ग) उदारवाद

(घ) फासीवाद

(ii) क्रांतिकारी

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से युवा लोगों ने कांग्रेस के उदारवादी साधनों की प्रभावशीलता पर संदेह करना शुरू कर दिया। वे चाहते थे कि सरकार पर दबाव डालने के लिए लोगों को आत्मनिर्भर और स्वतंत्र ढंग से अपने विचार रखना चाहिए। वे दया और याचना जैसी नीतियों के खिलाफ थे। महाराष्ट्र के बालगंगाधर तिलक, बंगाल के विपिन चंद्र पाल और पंजाब के लाला लाजपत राय, जो कि लाल, बाल और पाल के रूप में लोकप्रिय थे, इस आंदोलन के जन्मदाता थे। इन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी के प्रयोग और अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष का नारा दिया। इस नारे ने बड़ी संख्या में लोगों को आकृष्ट किया। निम्नलिखित कारणों से उग्रवादियों ने कांग्रेस के सुधारवादी आंदोलन का विरोध किया।

(i) ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस द्वारा समय-समय पार पास की गई मांगों पर विचार नहीं किया। सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था को सुधारने की दिशा में कोई ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए ब्रिटिश सरकार ने लंकाशायर में बने कपड़ों पर सीमा शुल्क समाप्त कर दिया जबकि भारतीय कपड़ों पर टैक्स लगा दिया।

(ii) उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में देश को अनेक अकाल तथा महामारियों का सामना करना पड़ा जैसे कि प्लेग और कालरा। सरकार द्वारा उठाए गए कदम अपर्याप्त थे। लगभग दो

करोड़ लोग इससे प्रभावित हुए। सहायता की जगह सरकार ने दमनात्मक नीतियों को अपनाया। बालगंगाधर तिलक ने सरकार की नीतियों के खिलाफ लोगों की आवाज अपने समाचारपत्र 'केसरी' में उठाई।

(iii) लार्ड कर्जन की बंगाल विभाजन की नीति ने आग में घी का काम किया और युवाओं के क्रोध को और भी भड़का दिया। कर्जन बंगाल को दो भागों में बांटना चाहता था, जिसमें एक भाग में बंगाल के हिंदू बहुल इलाके थे और दूसरे भाग में पूर्वी बंगाल और असम सहित मुस्लिम बहुल इलाके थे। इस विभाजन के विरोध में तमाम आंदोलन हुए। उग्रवादियों ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी का नारा दिया।

(iv) कुछ अंतर्राष्ट्रीय घटनाएं जैसे कि जापान जैसे छोटे देश से रूस की हार (1905) तथा इथियोपिया के हाथों इटली की हार (1896) ने भारतीय युवाओं के मनोबल और क्रांतिकारी विचारों को बढ़ाया।

(v) 1906 में कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में क्रांतिकारियों ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रस्ताव रखा। उदारवादी नेता दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता और सुरेंद्रनाथ बनर्जी आदि इस प्रस्ताव से सहमत नहीं थे। इन दोनों के मध्य मतभेद उदारवादियों के काबू से बाहर हो गया।

(iii) क्रांतिकारियों के कार्यक्रम और नीतियां

क्रांतिकारियों ने उदारवादियों की उदार नीतियों का विरोध किया। वे उनकी अनुनय–विनय की नीति के खिलाफ थे। वे मानते थे कि अंग्रेजों को भगाने के लिए बलिदान करना आवश्यक है। क्योंकि वे स्वेच्छा से भारत छोड़ने वाले नहीं थे। वे बल–प्रयोग के हिमायती थे। क्रांतिकारियों का दो गुट था एक हिंसा का समर्थक था और दूसरा अहिंसक था। अहिंसक क्रांतिकारियों ने राष्ट्रीय चेतना जगाने में अहिंसक साधनों का इस्तेमाल किया। बाल गंगाधर तिलक, लाजपतराय, विपिन चंद्र पाल जैसे नेता 'गरम दल' के नाम से जाने गए। वे आत्मसम्मान के पोषक थे और मानते थे कि स्वशासन अथवा 'होमरूल' चलाने के लिए उनमें क्षमता है। इसमें आम लोगों ने भी भागीदारी की और निम्न बातों पर विशेष जोर दिया :

(1) स्वदेशी आंदोलन चलाया, जिसमें विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेशी चीजों का प्रयोग होता था। लोगों को विदेशी वस्तुओं का यथार्थ मालूम हो जाने पर भारतीय उद्योगों को काफी लाभ मिला।

(2) ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली पदवियों का बहिष्कार किया।

(3) सरकारी नौकरियों का बहिष्कार।

(4) सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार। वे पश्चिमी शिक्षा के खिलाफ थे और राष्ट्रीय तथा व्यावसायिक शिक्षा पर जोर देते थे। इससे भारतीयों में देश-भक्ति की भावना तथा बलिदान को बल मिला।

क्रांतिकारियों का दूसरा वर्ग हिंसक साधनों में विश्वास करता था। इस वर्ग में शामिल थे : वीर सावरकर, श्यामजी कृष्ण वर्मा, खुदी राम बोस, बंगाल के कन्हैयालाल, सरदार अजीत सिंह, भाई

परमानंद, पंजाब के हरदयाल, अवध बिहारी, दीनानाथ तथा दिल्ली के मास्टर अमीरचंद। वे निष्क्रिय प्रतिरोध में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने बमबाजी तथा ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या का तरीका अपनाया।

दृष्टिकोण में भिन्नता के कारण अपने सूरत अधिवेशन (1907) में कांग्रेस विभाजित हो गई। कांग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव के मुद्दे पर दोनों गुटों में मतभेद था। क्रांतिकारी कांग्रेस का अध्यक्ष लाला लाजपत राय को बनाना चाहते थे जबकि दूसरा समूह रासबिहारी बोस को अध्यक्ष बनाना चाहता था। उदारवादी 'माडरेट' अपने कार्यक्रम में परिवर्तन करने पर राजी हो गए और स्वदेशी की अवधारणा की स्वीकृति तथा विदेशी वस्तुओं के परित्याग तथा राष्ट्रीय शिक्षा को लागू करने में सहमत हो गए।

कांग्रेस में उदारवादियों के बहुमत के कारण लाला लाजपतराय कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव हार गए। उदारवादियों का विरोध करने के कारण उग्रवादियों को पार्टी से बाहर निकाल दिया गया। सरकार ने उग्रवादियों के साथ दमनात्मक व्यवहार करना शुरू कर दिया और लोकमान्य तिलक, विपिन चंद्र पाल जैसे लोग गिरफ्तार कर लिए गए।

श्रीमती एनी बीसेंट तथा कुछ अन्य के प्रयासों से कांग्रेस के उग्रवादी तथा उदारवादी दोनों गुट एक हो गए और कांग्रेस राष्ट्रीय आंदोलन में पुनः एक शक्ति बन गई।

पाठगत प्रश्न 36.3

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए :

1. 'क्रांतिकारी' के नाम से जाने वाले किन्हीं दो नेताओं के नाम बताइए।

_____

_____

_____

2. क्रांतिकारियों की दो महत्त्वपूर्ण नीतियों का विश्लेषण कीजिए।

_____

_____

_____

3. कांग्रेस का कब और किस अधिवेशन में विभाजन हुआ ?

_____

_____

_____

4. क्रांतिकारियों के दो गुटों के नाम लिखिए।

_____

_____

_____

5. उस महत्त्वपूर्ण नेता का नाम बताइए, जिसके प्रयत्नों से कांग्रेस के उग्रवादी तथा उदारवादियों के दोनों गुट 1916 में एक हो गए।

_____

_____

_____

6. 'लाल–बाल–पाल' के नाम से कौन जाने जाते थे ?

_____

_____

_____

36.5 असहयोग आंदोलन में महात्मा गांधी की भूमिका

दक्षिण अफ्रीका में अपनी प्रदर्शनकारी एवं आंदोलनकारी प्रणाली में सफलता हासिल करने के बाद महात्मा गांधी जनवरी, 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस लौटे। उन्हें भारत लाने तथा सार्वजनिक जीवन में भाग लेने के लिए गोपाल कृष्ण गोखले ने प्रेरणात्मक भूमिका अदा की। गांधी जी प्रारंभ में ब्रिटिश परंपराओं और संस्कृति के प्रशंसक थे। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटिश शासकों को सहयोग भी दिया। इस युद्ध में मदद देने के लिए उन्हें 'कैसरे हिंद' की उपाधि दी गई।

1919 में प्रस्तावित सुधारों की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। इसने कांग्रेस को दो भागों में विभाजित कर दिया। सुरेंद्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में माडरेटों ने इन सुधारों का दिल खोलकर स्वागत किया, जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने दिसंबर अधिवेशन में इनको 'अपर्याप्त, असंतोषजनक तथा नाराज करने वाला' बतलाया। फिर भी, कांग्रेस ने भविष्य में एक उत्तरदायी सरकार की आशा में सरकार से सहयोग जारी रखा। तिलक ने इन सुधारों को 'असंतोषजनक तथा निराश करने वाला' बताया।

परंतु 9 माह बाद कांग्रेस के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। सितंबर, 1920 के कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में इसने असहयोग कार्यक्रमों तथा स्वदेशी की अवधारणा को अपनाया और परिषद के सुधारों का बहिष्कार किया। कांग्रेस के दृष्टिकोण में परिवर्तन निम्नलिखित कारणों से आया :

रौलट एक्ट तथा खिलाफत आंदोलन की परिणति जलियांवाला बाग हत्याकांड में हुई। इस घटना से हिंदू और मुसलमान दोनों ही नाराज थे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत सरकार ने

अपने को विशिष्ट शक्तियों से लैस करना चाहा, क्योंकि अब वह महसूस करने लगी थी कि राष्ट्रवाद की ताकत मजबूत हो गई है। अपने खिलाफ रहने वाले लोगों के साथ वह सख्ती से पेश आना चाहती थी। साम्राज्यवादी विधायी परिषद में फरवरी, 1919 में दो विधेयक पेश किए गए जिन्हें रौलेट बिल कहा गया। इस विधेयक ने सरकार को अधिकार दिया कि वह किसी को भी बिना मुकदमे के ही बंद कर सकती थी। इसके खिलाफ कोई अपील भी नहीं हो सकती थी। परिषद के भारतीय सदस्यों ने इस विधेयक का विरोध किया, क्योंकि यह राजनीतिक कार्यकर्ताओं को हतोत्साहित करता था। 17 मार्च, 1919 को विरोध के बावजूद बिल पास कर दिया गया। इस विधेयक के विरोध में देशव्यापी आंदोलन शुरू हुआ।

महात्मा गांधी ने 6 अप्रैल, 1919 को हड़ताल का नारा दिया और इसे शोक दिवस का नाम दिया। इस दिन रौलेट एक्ट को लागू करने की सरकार की सख्ती के खिलाफ शांतिपूर्ण प्रदर्शन के अलावा और कोई काम नहीं किया जाना था।

अमृतसर के जलियांवाला बाग में लगभग 50,000 लोगों की भीड़ शांत ढंग से 13 अप्रैल, 1919 को इकट्ठा हुई, जो कि अपने नेताओं की गिरफ्तारी तथा रौलेट एक्ट का विरोध करना चाहती थी। जनरल डायर ने इस सभा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया तथा निर्दोष लोगों पर गोलियां चलाने का हुक्म दे दिया। हजारों लोग मारे गए, क्योंकि निकास द्वार संकरा तथा एक ही होने के कारण लोग भाग नहीं सके। मार्शल ला लागू कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार की इस कार्रवाई के खिलाफ लोगों में भारी रोष भड़का।

इस घटना की समीक्षा के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। कांग्रेस ने अपने 1920 में हुए अधिवेशन में सरकार के साथ असहयोग करने का प्रस्ताव पास किया। बाद में नागपुर के अधिवेशन में इस प्रस्ताव को विशाल बहुमत से मंजूरी मिल गई। कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में 1885 के बाद 35 वर्षों में पहली बार सरकार के खिलाफ प्रत्यक्ष कार्रवाई का प्रस्ताव किया।

चित्र 36.1 महात्मा गाँधी

(i) कार्यक्रम

अपने असहयोग आंदोलन में कांग्रेस ने निम्नलिखित पहलुओं के लिए कार्यक्रम तय किया :

(क) पदवियों की वापसी (सर, रायसाहब, रायबहादुर, नाइटहुड) तथा सम्मानजनक पदों का परित्याग।

(ख) स्थानीय इकाइयों की नामांकित सीटों से त्यागपत्र।

(ग) दरबार आदि सरकारी कार्यों का बहिष्कार।

(घ) सरकारी तथा सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों से अपने बच्चों को हटाना।

(च) वकीलों तथा प्रतिवादियों-वादियों द्वारा न्यायालयों का बहिष्कार।

(छ) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

(ज) संशोधित परिषदों के चुनाव का बहिष्कार तथा

(झ) करों की अदायगी न करना।

उपर्युक्त बातों के अलावा कांग्रेस ने निम्नलिखित सकारात्मक बिंदुओं को भी स्वीकार किया :

(क) राष्ट्रीय स्कूलों तथा कालेजों की स्थापना की वकालत।

(ख) विवादों के निपटारे के लिए निजी मध्यस्थता न्यायालयों स्थापना की वकालत।

(ग) स्वदेशी वस्तुओं का स्वीकार तथा प्रचार।

(घ) अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी की स्वीकृति।

महात्मा गांधी ने कहा कि स्वराज्य की प्राप्ति के लिए सत्य को सर्वोच्च राजनीति के रूप में स्वीकार किया जाएगा। अहिंसा समूचे आंदोलन का प्रमुख सिद्धांत होगा। इस आंदोलन को प्रारंभ से ही लोगों का भारी समर्थन मिला। उन्होंने स्वदेशी की अवधारणा तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का सिद्धांत अपनाया।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सरकार की दमनात्मक नीतियों के कारण जुलाई, 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स की भारत यात्रा का बहिष्कार करने का फैसला किया। प्रिंस के भारत आगमन के दिन मुंबई में हड़ताल आयोजित की गई तथा पुलिस और लोगों के बीच टकराव हुआ। कांग्रेस तथा खिलाफत स्वैच्छिक संगठन को अवैध घोषित कर दिया गया पर लोगों ने परवाह नहीं की। दिसंबर, 1921 तक लगभग 25,000 लोग, जिनमें सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू, मौलाना आजाद तथा अन्य नेता भी थे, गिरफ्तार हुए। सरकार ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक गैर-कानूनी संगठन करार दे दिया।

दमनात्मक कार्रवाइयों के कारण कांग्रेस ने अपने दिसंबर के अंत में होने वाले अधिवेशन में संघर्ष और सविनय अवज्ञा आंदोलन को और भी तेज करने का फैसला किया। सविनय अवज्ञा शुरू करने के पहले गांधी जी ने लार्ड रीडिंग को एक पत्र लिखा कि 7 दिन के भीतर दमनात्मक कार्रवाइयां बंद कर दी जाएं। इस चेतावनी का समय बीत जाने पर उत्तेजित भीड़ ने 5 फरवरी, 1922 को उत्तर प्रदेश में गोरखपुर के चौरीचौरा पुलिस स्टेशन में 21 सिपाहियों को जिंदा जला

दिया। ऐसा कांग्रेस के समारोह पर पुलिस गोलीबारी के कारण किया गया। गांधी जी को इस घटना से बड़ा धक्का लगा और उन्होंने तुरंत सविनय आंदोलन बंद करने का आदेश दे दिया। इसद फैसले का कांग्रेस के सभी लोगों ने कड़ा विरोध किया। सी०आर० दास, एम०एल० नेहरू, जे० एल० नेहरू, लाजपतराय, अली बंधुओं तथा अन्य कांग्रेस के नेताओं को गांधी जी का यह फैसला अच्छा नहीं लगा क्योंकि उस समय ये नेता अंग्रेजों को भगाने की अच्छी स्थिति में आ रहे थे। इस आलोचना के कारण गांधी जी की लोकप्रियता को काफी झटका लगा। अपनी असफलता के बावजूद, यह आंदोलन जन–आधारित होने के कारण स्वाधीनता के मसले को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ।

(ii) सविनय अवज्ञा आंदोलन

सरकार नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार नहीं करना चाहती थी क्योंकि वह एक पूर्ण अधिराज्य की मांग कर रही थी। कांग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' की मांग की थी। कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन (31 दिसंबर, 1929) में जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव स्वीकार किया। यह तय किया गया कि हर वर्ष 26 जनवरी को स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाया जाएगा। 26 जनवरी, 1930 को प्रथम स्वाधीनता दिवस मनाया गया। यद्यपि संविधान सभा ने हमारे संविधान को 26 नवंबर, 1949 को स्वीकार किया था, फिर भी राष्ट्रीय आंदोलन में उसके महत्त्व को ध्यान में रख कर 26 जनवरी, 1950 को उसे लागू किया गया।

सरकार नेहरू रिपोर्ट के अनुसार देश को अधिराज्य (डोमिनियन) का दर्जा नहीं देना चाह रही थी। लोगों ने आर्थिक तंगी तथा दमन के कारण सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया। सरकार के कड़े रुख को देखते हुए कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने 11 फरवरी, 1930 से सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया और महात्मा गांधी को इस आंदोलन को चलाने के लिए अधिकृत किया। उन्होंने इस आंदोलन को शुरू किए जाने की सूचना वायसराय को पत्र लिखकर दी, पर सरकार ने कोई सकारात्मक रुख नहीं दिया।

महात्मा गांधी ने अपना द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन 12 मार्च 1930 को 'डांडी मार्च' के द्वारा शुरू किया, जो कि नमक कानून तोड़ने के लिए उन्होंने अपने 79 अनुयायियों के साथ शुरू किया। उस समय समुद्र के जल से नमक बनाना एक अपराध था। इसे 1923 में दोहरा टैक्स लगाकर गरीबों के लिए महंगा बना दिया गया था। महात्मा गांधी ने अपने अनुयायियों के साथ साबरमती से 200 मील की यात्रा 24 दिन में पूरी की और डांडी 6 अप्रैल, 1930 को पहुंचे। रास्ते भर उनका स्वागत किया गया। गांधी जी ने नमक कानून भंग कर दिया और उनके अनुयायियों ने देश के अनेक स्थानों पर नमक बनाया। इससे राष्ट्रीय भावना को बढ़ावा मिला। लोगों ने विदेशी शराब की दुकानों पर धरना दिया। सरकारी नौकरों ने अपने कामों पर जाने से इनकार कर दिया। वकीलों ने सरकार का सहयोग करना बंद कर दिया। तकनीकी तौर पर जानबूझ कर तोड़ा गया कानून यह एक अहिंसक सिविल अवज्ञा आंदोलन था।

इस से विदेशी वस्तुओं का आयात बहुत प्रभावित हुआ। भारतीय मिलों को काफी लाभ मिला। मुसलमानों के बहुमत ने इस आंदोलन में भाग नहीं लिया। लेकिन सीमांत गांधी के नाम से प्रसिद्ध अब्दुल गफ्फार खान के नेतृत्व में लालकुर्ती आंदोलन ने इस आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस आंदोलन की लोकप्रियता को देखते हुए सरकार ने कठोरतापूर्वक दमन की नीति लागू किया। गांधी, नेहरू तथा अन्य नेता गिरफ्तार कर लिए गए। 60,000 से अधिक लोग भी उनके साथ गिरफ्तार किए गए। कांग्रेस को पुनः गैरकानूनी घोषित किया गया। 5 मार्च, 1931 को गांधी-इरविन समझौता पर हस्ताक्षर हो जाने पर यह आंदोलन स्थगित कर दिया गया।

(iii) भारत छोड़ो आंदोलन

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत को एक पूर्ण डोमिनियन का दर्जा देने का प्रावधान क्रिप्स प्रस्ताव में था। भारतीय राज्यों का संघ में विलय करने का विकल्प कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने अस्वीकार कर दिया। दोनों के नेताओं ने अधिक शक्तियों की मांग की। सरकार ने बिना किसी आगे की बातचीत किए 11 अप्रैल, 1942 को अचानक क्रिप्स प्रस्ताव वापस ले लिया।

यह वापसी कांग्रेस के लिए चिंताजनक थी। महात्मा गांधी ने महसूस किया कि व्यक्तिगत सत्याग्रह उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता था। उन्होंने 'हरिजन' में लिखे अपने लेखों द्वारा 'भारत छोड़ो' का विचार दिया। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने वर्धा में जुलाई 1942 में पारित प्रस्ताव में अंग्रेजों को भारत छोड़ने की बात कही। बाद में इस प्रस्ताव को 8 अगस्त, 1942 को मुंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस ने अपने अधिवेशन में पास कर दिया।

यह एक जन संघर्ष था। अहिंसा इस आंदोलन का आधार था। महात्मा गांधी ने इस आंदोलन को भारत की आजादी के लिए उनके जीवन का आखिरी संघर्ष कहा। उन्होंने इसे 'करो या मरो' (डू और डाई) का नारा दिया।

9 अगस्त, 1942 को गांधी तथा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के अन्य सदस्यों को देश भर में गिरफ्तार किया गया। कांग्रेस को गैरकानूनी घोषित करते हुए इसके दफ्तरों पर छापा मारा गया और कोष को जब्त कर लिया गया। अनेक स्थानों पर गोलीबारी की गई जिसका लोगों ने हड़ताल तथा सभाएं आयोजित करके विरोध प्रकट किया। लोगों ने कई स्थानों पर सरकारी संपत्ति को नुकसान पहुंचाया। जैसेकि जय प्रकाश नारायण, डा० राम मनोहर लोहिया तथा श्रीमती अरुणा आसफअली आदि भूमिगत हो गए तथा सरकार को अपदस्थ करने के लिए भूमिगत हिंसक कार्रवाइयां चलाने लगे।

उस समय आंदोलन को नेतृत्व देने वाला देश में कोई नेता नहीं था। ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल के समर्थन से लार्ड लिनलिथगो की दमनात्मक नीति से 1942 के जन-आंदोलन को कुचल दिया गया। मुस्लिम लीग ने इस आंदोलन को समर्थन नहीं दिया और एक अलग राज्य की मांग की। तथापि जून, 1945 में ब्रिटिश सरकार ने क्रिप्स प्रस्ताव को कांग्रेस नेताओं के समक्ष रखा, जिसे कि उसने 1942 में वापस ले लिया था।

महात्मा गांधी जेल में गंभीर रूप से बीमार पड़ गए। सरकार ने उन्हें 6 मई, 1944 को इस भय से रिहा कर दिया कि कहीं वे जेल में ही मर गए तो देश में कानून और व्यवस्था की समस्या पैदा हो सकती है।

पाठगत प्रश्न 36.4

निम्नलिखित के उत्तर दीजिए :

1. रौलेट एक्ट का उद्देश्य क्या था ?

2. जलियांवाला बाग कांड किस दिन हुआ ?

3. महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन किस घटना के कारण स्थगित किया ?

4. कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की मांग किस अधिवेशन में की ?

5. सीमांत गांधी किसे कहते हैं ?

6. गांधीजी ने भारत छोड़ो आंदोलन को क्या नाम दिया ?

7. भारत छोड़ो आंदोलन के समय भूमिगत हिंसक गतिविधि चलाने वाले समाजवादी पार्टी के दो नेताओं के नाम बताइए ।

8. स्वाधीनता संघर्ष के दौरान पहली बार स्वाधीनता दिवस कब मनाया गया ?

9. महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए राष्ट्रीय आंदोलन का प्रधान सिद्धांत क्या था ?

10. गांधी जी ने अपना द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन कब प्रारंभ किया ?

_____

_____

36.6 स्वतंत्रता संघर्ष में सुभाष चंद्र बोस की भूमिका

कांग्रेस का एकगुट ऐसा था जो समाजवादी विचारधारा से प्रभावित था। इस वर्ग में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का युवा वर्ग था। सुभाष चंद्र बोस, जे० एल० नेहरू, जे० पी० नारायण, आचार्य नरेंद्रदेव, डा० राम मनोहर लोहिया आदि इसके कार्यकर्ता थे। इन्होंने कामगार वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन में आकृष्ट करने का काम किया। इस गुट का एक विभाजन और हो गया। इसके कुछ सदस्यों मै फारवर्ड ब्लाक की स्थापना कर ली और सुभाष चंद्र बोस इसके सदस्य बन गए। सुभाष चंद्र बोस गांधी जी के शांतिमय आंदोलन से सहमत नहीं थे। उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ एक कड़ा चुनौतीपूर्ण संघर्ष आरंभ किया। सरकार ने इस संगठन को प्रतिबंधित कर दिया और इसके प्रायः सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। सुभाष चंद्र बोस भी गिरफ्तार हो गए थे, किंतु उन्होंने बड़ी चालाकी से अपने आपको बचा लिया और काबुल के रास्ते जर्मनी और जापान पहुंच गए। उन्होंने 'आजाद हिंद फौज' का गठन किया, यद्यपि इस दिशा में कदम कैप्टन मोहन सिंह द्वारा पहले से ही उठाये जा रहे थे। उन्होंने 21 अक्टूबर, 1943 को 'आजाद हिन्दुस्तान' की एक प्रांतीय सरकार का गठन किया और उसका मुख्यालय सिंगापुर रखा। उन्होंने बिना किसी की आर्थिक मदद के 'आजाद हिन्द फौज' का गठन किया। उन्होंने जापान में कैद भारतीयों में से भारतीय राष्ट्रीय सेना (INA) का गठन किया। सुभाष आजाद हिंद फौज के सर्वोच्च कमांडर थे। लक्ष्मी स्वामीनाथन की कप्तानी में एक महिला रेजीमेंट (रानी झांसी) का भी गठन हुआ। वे जापान के रास्ते सिंगापुर पहुंचे। सिंगापुर की उनकी प्रांतीय सरकार को कई देशों ने मान्यता दे दी। उन्होंने अमेरिका तथा उसके मित्र देशों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। बर्मा को मुख्यालय बनाया और लोगों का आह्वान किया कि वे उन्हें खून दें और उन्हें फिर आजादी मिलेगी (तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा।)

भारतीय राष्ट्रीय सेना भारत की धरती पर जन्मी थी तथा मणिपुर के आसपास के क्षेत्रों में अपना प्रसार बढ़ाया। उन्होंने 'दिल्ली चलो' का नारा दिया। सुभाष के दृढ़ संकल्प के बावजूद मातृभूमि को आजाद कराने का उनका सपना साकार नहीं हुआ क्योंकि उनके पास खाद्य पदार्थों की कमी, सेना की कमी थी तथा मानसून का प्रकोप भी बढ़ गया था।

भारतीय राष्ट्रीय सेना की गतिविधियों से राष्ट्रीय भावना को जगाने में मदद मिली तथा इसका लोगों के सभी वर्गों पर असर पड़ा। जनता देश के लिए बलिदान करने को तत्पर थी। 'जय हिंद' का नारा जनता में व्यापक संघर्ष की भावना भरने में कामयाब रहा। दुखद बात यह है कि नेता जी एक जहाज दुर्घटना में मारे गए।

शाहनवाज, ढिल्लन और सहगल, जो कि इंडियन आर्मी छोड़कर सुभाष चंद्र बोस की भारतीय राष्ट्रीय सेवा में शामिल हो गए थे, पर दिल्ली के लाल किले में एक मुकदमा चलाया गया। कांग्रेस के नेताओं ने इन देशभक्तों की वकालत की। मुकदमे में उन्हें राजद्रोह के लिए मौत की सजा दी गई। इस फैसले के खिलाफ लोगों में काफी रोष था। इस कारण सरकार को साहस

नहीं हुआ कि उन्हें फांसी पर लटकाए। गवर्नर जनरल ने अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हुए उन्हें आजाद कर दिया।

नेता जी तथा भा. रा. से. के सदस्यों की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने राष्ट्रीय भावना को बढ़ाया। इस घटना ने ब्रिटिश सरकार को मजबूर कर दिया कि वह जल्द से जल्द भारत को आजाद कर दे। उनका सपना साकार हुआ और एक लंबे स्वतंत्रता-संघर्ष के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हो गया।

पाठगत प्रश्न 36.5

निम्नलिखित के उत्तर दीजिए :

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दो नेताओं के नाम बताइएं जो कि समाजवादी विचारों से प्रभावित थे ।

   _____

   _____

2. भारतीय राष्ट्रीय सेना का संस्थापक कौन था ?

   _____

   _____

3. आजादी के लिए सुभाष चंद्र बोस का क्या नारा था ?

   _____

   _____

4. नेता जी सुभाष चंद्र बोस ने 'आजाद हिंदुस्तान' की प्रांतीय (अंतरिम) सरकार कब और कहां स्थापित की ?

   _____

   _____

5. 'जय हिंद' का नारा किसने दिया ?

   _____

   _____

आपने क्या सीखा

अंग्रेजों ने हमारी अर्थव्यवस्था का शोषण किया । उन्होंने हमारे आर्थिक संसाधनों का अपने निजी लाभ के लिए इस्तेमाल किया और हमारी संपदा को अपने देश उठा ले गए। उन्होंने 'फूट डालो और राज करो' की नीति लागू करके हमारे समाज में सांप्रदायिक भावना को भड़काया।

1857 में शोषण तथा कुछ अन्य कारणों से ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के खिलाफ एक विद्रोह भड़का। हमारे नेताओं ने इसे 'आजादी की पहली लड़ाई' का नाम दिया जब कि अंग्रेजों ने इसे 'बगावत' अर्थात् मात्र 'सिपाहियों का विद्रोह' कहा। यद्यपि सामान्य उद्देश्य, एकता और सहयोग तथा आधुनिक हथियारों और तकनीकों के अभाव के कारण यह विफल हो गया, फिर भी, इसने ब्रिटिश सरकार के खिलाफ एक बड़ी चुनौती रखी। इस विद्रोह के बाद 1858 में ब्रिटिश संसद ने एक अधिनियम पास किया तथा ईस्ट इंडिया कंपनी को भंग कर दिया। भारत का प्रशासन क्राउन के हाथ में चला गया। 1858 की 'रानी विक्टोरिया की घोषणा' में कहा गया कि किसी भी प्रकार के जातीय भेदभाव के बिना लोगों को उच्च पदों पर नियुक्त किया जाएगा। इसके अलावा, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक कारकों ने भी लोगों में राष्ट्रीय भावना जगाई। संचार तथा यातायात; पश्चिमी शिक्षा आदि ने लोगों को एक-दूसरे के काफी करीब ला दिया और उन्होंने ब्रिटिश सरकार को पदच्युत करने की ठान ली।

लोगों को अंग्रेजों का विरोध करने के लिए एक सार्वजनिक मंच की आवश्यकता महसूस हुई और उन्होंने सरकार के खिलाफ एकजुट होकर लड़ने के लिए संगठनों का निर्माण करना शुरू कर दिया। इस प्रकार 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अस्तित्व में आ गई।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रवादी संगठन जो कि 1876 में बना सुरेंद्र नाथ बनर्जी का 'इंडियन एसोसिएशन' था। बाद में इसे दिसंबर, 1885 में इंडियन यूनियन नाम दिया गया और वही बाद में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इंडियन एसोसिएशन की यह सभा ए० ओ० ह्यूम द्वारा बुलाई गई थी तथा इसकी अध्यक्षता डब्ल्यू० सी० बनर्जी ने की।

शुरू के 20 वर्षों में कांग्रेस एक सुधारवादी तथा उदारवादी संगठन था, जो कि उदारवाद अथवा उदार राष्ट्रीयता का काल कहा जाता है। इस काल में मुख्यतः प्रशासनिक सुधारों तथा सरकारी नौकरियों में नियुक्ति पाने के लिए याचिका तथा प्रार्थना की जाती थी। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के युवा सदस्य माडरेटों की उदार नीतियों के विरोधी हो गए तथा उन्होंने कांग्रेस का विरोध करना शुरू कर दिया। लाला लाजपतराय, बालगंगाधर तिलक तथा विपिन चंद्र पाल इस आंदोलन के सूत्रधार थे। वे सब अंग्रेजों की दमनात्मक नीतियों के खिलाफ थे। उन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी के स्वीकार का नारा दिया तथा अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष शुरू कर दिया। उन्होंने लार्ड कर्जन की बंगाल विभाजन की नीति का भी विरोध किया।

दोनों गुटों में मतभेद के कारण 1901 के सूरत कांग्रेस में कांग्रेस का विभाजन हो गया। परंतु एनी बेसेंट तथा अन्य नेताओं के प्रयासों से दोनों गुट 1916 में पुनः एक हो गए और संगठित होकर स्वतंत्रता-संघर्ष में कूद पड़े। असहयोग आंदोलन (1920-22), सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930) और भारत छोड़ो आंदोलन परवर्ती काल के प्रमुख चरण रहे। अंततः 1947 में भारत ने ब्रिटिश शासन की पराधीनता से मुक्ति पाई।

महात्मा गांधी 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे। वहां पर उन्होंने दक्षिण अफ्रीकी सरकार की रंगभेद नीति का अहिंसक साधनों द्वारा सफलतापूर्वक विरोध किया था। रौलेट एक्ट के पास होने के बाद, जो कि बिना मुकदमा चलाए ही किसी भी व्यक्ति की गिरफ्तारी के लिए था, उसका

देश भर में विरोध हुआ। लोगों की विशाल भावनाओं का सर्वोच्च प्रदर्शन जलियांवाला बाग हत्याकांड में देखा गया।

कांग्रेस जलियांवाला बाग हत्याकांड तथा देश में हुई अन्य घटनाओं के कारण बहुत क्रुद्ध हो गई तथा गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन शुरू कर दिया। आंदोलन में लोगों ने विदेशी वस्तुओं तथा सरकारी संस्थाओं का बहिष्कार किया तथा विदेशी वस्तुओं की होली जलाई। महात्मा गांधी ने चौरीचौरा (गोरखपुर) की हिंसक घटना के बाद इस आंदोलन को स्थगित कर दिया। बाद में उन्होंने नमक कानून तोड़ने के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन 1930 में डांडी मार्च के रूप में चलाया।

कांग्रेस ने 31 दिसंबर, 1929 को आयोजित अपने लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव पास किया और 26 जनवरी को हर वर्ष स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाने का संकल्प लिया। तब तक जब तक कि देश को आजादी न मिल जाय।

द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हो जाने पर अंग्रेजों ने कांग्रेस को युद्ध की घटना पर विश्वास में नहीं लिया। इस पर कांग्रेस को बहुत नाराजगी हुई। कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो आंदोलन' चलाने का निश्चय किया। उन्होंने इसे आजादी पाने के लिए अपने जीवन का अंतिम संघर्ष का नाम दिया। यह 'करो या मरो' का निर्णय था। यह अहिंसा पर आधारित एक व्यापक जन-आंदोलन था। परंतु इस आंदोलन को भी सरकार के मजबूत हाथों द्वारा कुचल दिया गया।

नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने अपनी भारतीय राष्ट्रीय सेना के साथ स्वाधीनता की प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। उन्होंने जनता में राष्ट्रीयता की भावना जगाई।

नेता जी तथा अन्य स्वाधीनता सेनानियों का सपना साकार हुआ और एक लंबे स्वाधीनता संघर्ष के बाद अंततः 15 अगस्त, 1947 को भारत को आजादी मिल गई।

पाठांत प्रश्न

1. 1857 के विद्रोह के लिए उत्तरदायी कोई दो कारण बताएं।
2. 1857 के विद्रोह की सफलता के लिए कौन-कौन से प्रमुख कारण थे ?
3. भारत में राष्ट्रीय जागरण के लिए उत्तरदायी कारकों को सूचीबद्ध करें।
4. हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को अंग्रेजी भाषा के प्रारंभ तथा आधुनिक आवागमन एवं संचार के साधनों से किस प्रकार प्रभावित किया ?
5. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम बीस वर्षों में कौन-सी नीति एवं कार्यक्रम थे ?
6. स्वतंत्रता संघर्ष में उदारवादियों तथा उग्रवादियों की विचारधारा कार्यक्रम तथा योगदान की तुलना करें।
7. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महात्मा गांधी की भूमिका की व्याख्या करें।
8. संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :

   (क) 1920 का असहयोग आंदोलन।

(ख) सविनय अवज्ञा आंदोलन।

(ग) 1942 का भारत छोड़ो आंदोलन।

9. (क) स्वतंत्रता संग्राम में सुभाष चंद्र बोस तथा उनकी भारतीय राष्ट्रीय सेना (आई एन ए) की भूमिका का विश्लेषण करें।

(ख) 1. करो या मरो

2. जय प्रकाश नारायणा, राम मनोहर लोहिया, श्रीमती अरुणा आसफ अली (कोई दो)

3. 26 जनवरी 1930

4. अहिंसा

5. 12 मार्च 1930

36.5

1. सुभाष चंद्र बोस, जवाहर लाल नेहरु, जय प्रकाश नारायणा, डा. राम मनोहर लोहिया (कोई दो)

2. सुभाष चंद्र बोस

3. "तुम मुझे खून दो" मैं तुम्हें स्वतंत्रता दूंगा।

4. सिंगापुर में अक्तूबर को।

5. सुभाष चंद्र बोस।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

36.1

1. ख 2. ग 3. ग 4. ख

36.2

(क) 1. एक-दूसरे के निकट

2. 21 से 19

3. एस.एन.बैनर्जी

4. 1885

5. वोमेश चंद्र बैनर्जी

6. ए.ओ. हचूम

(ख) (i) घ (ii) क (iii) ग

36.3

1. लाला लाजपत राय, विपिन चंद्र पाल, लोकमान्य तिलक (कोई दो)
2. विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग।
3. 1907 में सूरत के अधिवेशन में।
4. अहिंसात्मक तथा हिंसात्मक समूह।
5. श्रीमती ऐनी बेसेंट
6. लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, विपिन चंद्र पाल

36.3

(क) 1. ख 2. ग 3. ख

4. ग 5. घ

पाठांत प्रश्नों के संकेत

1. देखिए भाग 2.3
2. देखिए भाग 2.3
3. देखिए भाग 2.4
4. देखिए भाग 2.4
5. देखिए भाग 2.4
6. देखिए भाग 2.4.1 व 2.4.2
7. देखिए भाग 2.5.1, 2.5.2 व 2.5.3
8. देखिए भाग 2.5.1, 2.5.2 व 2.5.3
9. देखिए भाग 2.6

37
संचार माध्यमों की भूमिका

37.1 भूमिका

संचार या बातचीत जीवन की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इससे जीवन का अनन्य संबंध है। बातचीत के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः यह कहा गया है कि जीवन का प्रारंभ और अंत बातचीत से ही होता है। बातचीत का अंत ही जीवन का अंत होता है। दूसरे शब्दों में इसका और जीवन का सहसंबंध इतना अटूट है कि शिशु के जन्म का पता उसके रोने से ही चलता है अर्थात् वह जनमते ही बातचीत में लीन हो जाता है। बातचीत या संचार की जीवन से सहसमाप्ति एक मूल और व्यापक क्रिया भी मानी जा सकती है। यह मौलिक इस तरह है कि आधुनिक परिवेश में आने से पूर्व अपनी आदिम अवस्था में व्यक्ति की अपने विचारों, इच्छाओं, इरादों, भावनाओं, ज्ञान तथा अनुभव को एक से दूसरे तक पहुंचाने की क्षमता ध्वनित व शब्दित हुई तथा व्यापक इसलिए है कि एक से दूसरे व्यक्ति तक अपने विचार पहुंचाने की क्षमता में ही व्यक्ति का अस्तित्व और जीने की वास्तविकता की स्थिति और सही अर्थों में उम्मीद बनती है, जबकि बातचीत करने की क्षमता के न होने को जीवन की बहुत बड़ी कमी कहा जाता है। प्रजातंत्र में संचार माध्यम ने एक संवाहक की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। असली प्रजातांत्रिक समाज के स्वीकृत तथ्यों में से एक यह भी है कि शक्तिशाली शासन-तंत्र जनता के हित के लिए बड़े विश्वास से संचार माध्यमों की सुचारुतापूर्ण कार्यप्रणाली को सुनिश्चित करता है। परिणामतः, नागरिकों को यह अधिकार है कि वे सरकार की कार्यप्रणाली के सही तथ्यों को जानते रहें और उन्हें यह पता चलता रहे कि सरकारी विभाग किस तरह काम कर रहे हैं ताकि ज्ञात तथ्यों से अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह में अपनी सही भूमिका निभा सकें। एक ओर ज्ञात

तथ्यों से बना हुआ सरकार के बारे में जनता का विचार कुशासन और भ्रष्टाचार पर रोक लगा सकता है तो दूसरी ओर विधायक लोग कभी जनता से सीधे और कभी उसके नेताओं, हितकारी समूहों तथा राजनैतिक दलों से संचार माध्यमों के द्वारा ज्ञात सूचनाओं के आधार पर कानून बनाते हैं। इस प्रकार संचार माध्यमों, सरकार और इसके नागरिकों का समीप का रिश्ता है तथा संचार-माध्यमों से ही संप्रेषण और संसूचना संभव है।

इस पाठ में, देश के सामाजिक आर्थिक विकास में अनेक जानकारियों, ज्ञानपरक मूल्यों तथा अभिरुचियों के प्रसारण माध्यम के रूप में संचार माध्यमों की भूमिका का अध्ययन करेंगे। साथ ही हम उन अनेक तथ्यों की भी चर्चा करेंगे जिनमें बड़े-बड़े उद्योगपतियों के प्रभावों, व शासन-तंत्र के नियंत्रणों आदि द्वारा संचार माध्यमों की सक्षम भूमिका में पग-पग पर प्रतिबंध लग जाता है। साथ ही अपने प्रजातंत्र की कुशल एवं दक्षतापूर्ण कार्यप्रणाली के हित में संचार माध्यमों की स्वतंत्रता किस तरह सुनिश्चित की जा सकती है, इस पर भी विचार करेंगे।

37.2 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप :

- संचार माध्यम के अर्थ को स्पष्ट कर सकेंगे और जन-संचार के विभिन्न माध्यमों को जान सकेंगे।
- भारत में लोकमत को ढालने में मीडिया के एक एजेंसी के रूप में योगदान का वर्णन कर सकेंगे।
- भारतीय राजनीति के उभरते हुए मुद्दों को प्रभावित करने और फैलाने में प्रकाशन माध्यमों की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारतीय राजनीति के उभरते हुए मुद्दों को उजागर करने में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बढ़ते हुए योगदान को समझ सकेंगे।
- मीडिया को अपनी दक्षतापूर्ण भूमिका निभाने से रोकने वाले बड़े-बड़े उद्योगपतियों के प्रभावों तथा शासन के नियंत्रण आदि जैसे तथ्यों को जान सकेंगे और
- भारत के प्रजातंत्र के हित में मीडिया की आजादी को सुनिश्चित करने वाले उपायों को सुझा सकेंगे।

37.3 जन-संचार के माध्यम—अर्थ और प्रकार

बातचीत या संचार में जानकारी, रुचि और अनुभवों को बांटना निहित है। यह एक स्रोत के द्वारा एक विशेष साधन से श्रोताओं तक बात या संदेश पहुंचाने की प्रक्रिया है। उदाहरण के लिए, परस्पर बातचीत संचार का सर्वसामान्य प्रकार है। बोलने वाला व्यक्ति साधन होता है तो सुनने वाला श्रोता और जो कहा जाता है वह संदेश। बोली हुई आवाज़ जिस वायु के माध्यम से गुजरती है वही स्रोत होता है। दूसरा उदाहरण एक समाचारपत्र में छपी खबर होती है। उसमें निहित संदेश अथवा पढ़ने वाला इससे जो कुछ समझता है, वही संदेश है। जो लोग उस समाचारपत्र को पढ़ते हैं वे श्रोता होते हैं, संपादक, रिपोर्टर या खबर लेने वाले

साधन होते हैं तो अपने आप में अखबार या छपी हुई लिपि स्रोत होते हैं। इस प्रकार का संप्रेषण किसी मीडिया द्वारा ही संभव है। अतः मीडिया वह उपकरण है जिसके द्वारा सूचनाओं, ज्ञान, मूल्यों, रुचियों और अनुभवों का, समुदाय में बड़ी सरलता से, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचना संभव हो पाता है। उदाहरणतः रेडियो, टी.वी., अखबार व्यक्ति वे माध्यम हैं जिनके द्वारा सूचनाएं व्यक्ति से व्यक्ति, जनता से शासन, और लोक से दल के नेता तक पहुंचती हैं। विल्बर शैम का कथन है कि "एक जन-संचार माध्यम, वस्तुतः, वह सुसंगठित कार्यदल है जो संदेशवाहक यंत्र के चारों ओर लगकर एक ही समय, एक ही संदेश को, एक साथ ही अधिसंख्य लोगों तक पहुँचाता है।" इस परिभाषा में जन-संचार माध्यम, समूह माध्यम तथा प्राकृतिक संचार जैसे अफवाह, शिक्षा, उपदेश, आदि संचार का स्रोत कोई उपकरण नहीं होता, को सम्मिलित नहीं किया गया है और फिर लोक जनता या मॉस शब्द से ही आधुनिक मीडिया, जन-समूह या जन-संस्कृति का आशय निकलता है।

सामान्यतः प्रेस, सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन को ही मास-मीडिया या जन-संचार माध्यम समझा जाता है। ये इसलिए समझे जाते हैं, क्योंकि एक देश तथा उसके बाहर तक की विभिन्नताओं वाले विस्तृत क्षेत्र में इनकी पहुंच संभव है। इस प्रकार जन-संचार माध्यम को नीचे अंकित विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) प्रकाशन माध्यम जैसे अखबार, पत्रिकाएं, जर्नल तथा पुस्तकें आदि।

(ख) इलैक्ट्रॉनिक मीडिया, जैसे टी.वी., रेडियो, सिनेमा आदि।

इन दो प्रमुख शीर्षों के अतिरिक्त जन-संचार माध्यम को कुछ अन्य श्रेणियों में भी बांटा जा सकता है। ये हैं :

(क) परिवार से संबंधित परंपरागत सामाजिक संरचना या ढांचा।

(ख) व्यक्ति से व्यक्ति संपर्क या इसे अनौपचारिक आमने-सामने की चर्चा भी कह सकते हैं।

(ग) राजनैतिक संरचना (ढांचा) जैसे हितकारी समूह, श्रमिक संगठन इत्यादि।

1. परिवार

राजनीतिक संचार (संप्रेषण) में परिवार संप्रेषण के सभी माध्यमों में सबसे अधिक सुनिश्चित और संगत भूमिका अदा करता है। पुरानी पीढ़ी का विश्वास है कि बालक के संस्कार ग्रहण में परिवार की शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। एक विशिष्ट विस्तृत परिदृश्य में परिवार को बहुत पहले से ही राजनैतिक संचरण का सबसे महत्वपूर्ण और सबसे पहला एजेंट स्वीकार किया गया है। वास्तव में, परिवार का प्रभाव बालकों के विश्वास और व्यवहार को निर्धारित करने में सबसे अधिक होता है।

बालक अपने माता-पिता की तरह ही राजनीतिक समुदाय,शासन, प्रणालियों तथा यहां तक कि राजनीतिक दलों के प्रति समान अभिवृत्ति और रुचियां अपनाते हैं। राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में स्थिरता और निरंतरता के एक तत्त्व के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के माध्यम से मौलिक राजनीतिक मूल्यों को प्रसारित करने का कार्य तो परिवार ही करता है, क्योंकि बालक, सामान्यतः राजनीतिक मामलों में, माता-पिता से ही सहमत रहते हैं अंतः भूतकाल से ही स्थापित मान्यताओं को तोड़कर उनमें मौलिक परिवर्तन करना समाज के लिए कठिन कार्य है।

2. व्यक्ति से व्यक्ति का संपर्क

यद्यपि परिवार सभी मानवीय साहचर्यों में सबसे ज्यादा सूचना का स्रोत है पर कुछ और भी, विशेषतः, मित्रों के समान समूहों और कार्य-दलों द्वारा व्यक्ति निकटतम संपर्क में आता और सीखता है। जैसे ही बच्चे बड़े होते हैं वे घर से बाहर निकलकर लोगों से संपर्क बढ़ाते हैं। ज्यों-ज्यों माता-पिता से दूरी बढ़ती जाती है त्यों-त्यों प्रौढ़ होते हुए बच्चे अपने समान समूह वाले प्रौढ़ बालकों की रुचियों और अभिवृत्तियों से प्रभावित होते हैं। जब प्रौढ़ होती हुई संतान नए व्यवसाय और जीवन की नई परिस्थितियों में पदार्पण करती है तो उन पर बढ़ता हुआ यह प्रभाव साफ जाहिर हो जाता है। कार्यालयों, क्लबों और दूसरी प्रकार की जन-सभाओं में लोग प्रायः राजनीति से संबंधित विषयों जैसे दलों, चुनावों, विधायिका आदि की चर्चा करते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति से व्यक्ति का संपर्क एक संप्रेषण के माध्यम के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

3. राजनीतिक संरचना

राजनीतिक संरचनाएं जैसे हितकारी समूह, मजदूर संघ, राजनीतिक दल और विधायिकाएं राजनीतिक संचार के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण औपचारिक माध्यम हैं। यहां उनकी संक्षिप्त चर्चा करना उपयुक्त होगा।

(क) हितकारी समूह और श्रमिक संघ

हितकारी समूह और श्रमिक संघ ऐसे लोगों के समूह होते हैं जो अपने समाज के किसी खास संबंधित मुद्दे पर समान विश्वास और मत रखते हैं और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शासन के साथ बातचीत करने के साथ-साथ राजनीतिक सत्ता हासिल करने की इच्छा नहीं रखते । समाज के समक्ष आने वाली किसी समस्या पर ध्यान केंद्रित करते हुए ये समूह सरकार से अपने पक्ष में विधिपूर्वक निर्णय करने पर जोर देते हैं। इस प्रकार एक ओर ये लोक या समाज और दूसरी ओर सरकार के बीच एक मध्यस्थ की प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

(ख) राजनीतिक दल

प्रजातंत्र में राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो किसी विशेष मुद्दे पर समान मत और विश्वास बनाए रखते हैं और राज्य सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से चुनाव लड़ते हैं। जो चुनाव जीत जाते हैं वे सरकार बनाते हैं और जो नहीं जीतते वे विपक्ष में बैठते हैं। अर्थात् जिनका दल अधिक सीटें पाता है वह सरकार बनाता है और जो कम वह विपक्ष में बैठता है। सरकार की भूमिका समाज की उन्नति के लिए उसकी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर, विभिन्न नीतियां और कार्यक्रम बनाना और उन्हें लागू करना होता है। विपक्ष की भूमिका सरकार के द्वारा नीतियों व प्रोग्रामों को गलत ढंग से बनाने और लागू करने से रोकना होता है। राजनीति में सरकार और विपक्ष दोनों की भूमिकाएं व्यापक होती हैं। इस तरह वे दोनों ही एक सूचना देने वाले संप्रेषक का काम करते हैं।

(ग) विधायिकाएं

एक प्रजातांत्रिक प्रणाली में विधायिकाएं, जैसे संसद, राज्य विधान सभाएं संप्रेषण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन निकायों के सदस्य संपूर्ण देश की जनता के प्रतिनिधि होते हैं। उनके माध्यम से लोक समुदाय की आवश्यकताएं, आकांक्षाएं और शिकायतें, यदि कोई हैं तो, सदन के पटल पर अभिव्यक्त होती हैं। उसी आधार पर संसद विधान तैयार करती है, जो मानव जीवन के हर पहलू को प्रभावित करता है। इस प्रक्रिया में मानवीय आवश्यकताएं और विभिन्न विधानों का निकटतम संबंध होता है, जिससे वे परस्पर प्रभावित होते हैं और संचार व संप्रेषण का माध्यम बन जाते हैं।

37.4 लोकमत को प्रभावित करने वाली एजेंसियों के रूप में मीडिया

प्रजातंत्र के उद्भव के साथ ही लोकमत का विचार प्रकाश में आया। जब शासकीय नीतियों में धीरे-धीरे बल की अपेक्षा मत की भूमिका अधिक हो गई और जब संविधान ने मत की अभिव्यक्ति को गारंटी प्रदान कर दी, तो सरकार में लोकमत की भूमिका को, सामान्यतः स्वीकृति मिल गई। लोकमत की उक्ति का वर्तमान में प्रचलित लोकनीति को सुनिश्चित करने की एजेंसी के रूप में अर्थ फ्रांस द्वारा प्रस्तुत किया गया था। जीन जैकस रूसो फ्रांस की राज्य–क्रांति के अवसर पर इसका प्रयोग करने वाले पहले राजनीतिक विचारक थे उन्होंने कहा था कि वास्तविक इच्छा शक्ति तो राज्य की ही होती है तथा इसे सामान्य इच्छा शक्ति भी कहा जा सकता है। एक राजनीतिक जन-समुदाय का अर्थ है एक अनुशासनहीन भीड़ से आगे एक स्पष्ट अल्पसंख्यकता तक। और भी विचार या मत तर्कपूर्ण या तर्क रहित हो सकता है या व्यक्त किया जा सकता है।

इस परिदृश्य में व्यक्तिशः व्यक्त मतों का कोई सामूहिक रूप लोकमत कहा जाता है। यह श्रमिक संगठनों व व्यापारिक संगठनों आदि का मत हो सकता है। एक जन-समूह उस अवस्था में महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब उसका प्रभाव लोकनीति के मसलों को प्रभावित करता है। लोकमत के विषय में विलियम अलबिक का मत है कि "लोकमत एक समूह के उन सभी सदस्यों की अभिव्यक्ति होता है जो एक प्रदत्त मुद्दे की ओर किसी रूप में सचेत और विचारशील हैं।"

एक प्रजातांत्रिक राज्य में लोकनीति लोकमत का कार्य है। सेट के अनुसार "प्रजातंत्र में लोकमत एक सक्रिय गति देने वाला तत्व होता है। लोक सरकार एक ऐसी एजेंसी भर मानता है, जिसे उन्होंने आदेश पालन के दायित्व से बिना मुक्त किए हुए शक्तियां प्रदान की हैं।" इस तरह लोकमत राजनीतिक व्यवस्था का अभिन्न अंग है। लोक के ज्ञान, मूल्यों और अभिवृत्ति के द्वारा इसे ढाला जा सकता है।

इस पाठ के पूर्ववर्ती भाग में हमने पढ़ा है कि जन-संचार जैसे टी. वी., अखबार, रेडियो के द्वारा सूचना, ज्ञान, मूल्य तथा अभिवृत्ति एक से दूसरे व्यक्ति में आते हैं। ऐसा ही संप्रेषण सरकार से लोक और इसके विपरीत भी संभव हो सकता है। क्योंकि मीडिया एक ऐसा उपकरण है, जिसके माध्यम से सूचना, ज्ञान, मूल्य तथा अभिवृत्ति एक साधन से दूसरे तक

पहुंचते हैं, अतः यह एक समाज में लोक मत को प्रभावित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। लोकमत के बनने और बदलने से संबंधित तथ्यों के लिए हर व्यक्ति अखबार और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया पर अवलंबित रहता है। लोक में शिक्षा के प्रसार से अखबारों की सस्ती सुलभता द्वारा लोकमत को ढालने में उनका प्रभाव बढ़ गया है। अधिकांश अखबार विधान सभा और संसद की बहसें, प्रसिद्ध राज नेताओं के व्याख्यान, दलों व सरकार की घोषणाएं तथा अन्य अनेक खबरें छापते हैं। उनमें से सभी राजनीतिक नहीं हैं फिर भी राजनीतिक खबरें पाठकों में लोकप्रिय होती हैं। अतः हर अखबार राजनीतिक खबरें एकत्रित करने में श्रम करते हैं और उनको हर तरह रोचक बनाते हैं। वे केवल खबरों के तथ्य भर ही नहीं प्रस्तुत करते अपितु उनकी व्याख्या तथा क्रमबद्धता भी सभी अखबारों द्वारा अपनी एक विशेष दृष्टि से की जाती है। प्रायः हर अखबार की अपनी शैली तथा सिद्धांत होता है। उनको संपादकीय में उजागर किया जाता है। यहां तक कि खबरों में मोटी-मोटी सुर्खियां लिखने या विशेष कॉलमों में अन्य प्रकारों से समाचारपत्र विशेष की शैली का पता चल जाता है। पाठक खबरें पढ़ते हैं और स्वयं को एक विशेष अखबार का अभ्यस्त बना लेते हैं। जनता द्वारा अखबारों के माध्यम से शिकायतें व्यक्त की जाती हैं तथा अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए जाते हैं। अपने सामान्य पाठकों की सुविधा के लिए अधिकांश समाचारपत्र कुछ कॉलम नियत कर रखते हैं। सरकार उन पर विशेष गौर करती है और अखबारों के दर्पण के माध्यम से अपने द्वारा किए गए कार्यों के विरुद्ध जन प्रतिक्रियाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करती है। अतः लोकमत को अलग-अलग करके स्पष्ट करने में समाचारपत्र एक व्यापक भूमिका निभाते हैं।

पाठगत प्रश्न 37.1

निम्न में से सही पर चिन्ह लगाइए।

(1) सबसे पहले किस देश ने लोकमत लागू किया ?

(अ) फ्रांस (ब) इटली (स) इंग्लैंड

(2) लोकमत सर्वप्रथम किस घटना के साथ समाविष्ट हुआ ?

(अ) फ्रांस की राज्य क्रांति (ब) रूस की राज्यक्रांति (स) इनमें से कोई नहीं।

(3) जनता तब राजनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब इसका प्रभाव,

(अ) सामाजिक नीति में हो (ब) सांस्कृतिक नीति में (स) लोकनीति में हो।

(4) प्रजातंत्र में लोकमत महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि

(अ) यह सरकार को कुशासन प्रदान करने से रोकता है।

(ब) लोक अपने विचारों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करना चाहता है।

(स) इनमें से कोई नहीं।

37.5 प्रिंट मीडिया की भूमिका (अखबार, पत्र-पत्रिकाएं)

जन-संचार की प्रक्रिया में प्रिंट मीडिया (अखबार आदि) की भूमिका विशेष महत्व रखती है। प्रिंट मीडिया जैसे—अखबार, जर्नल, पत्रिकाएं एक से दूसरे साधन व व्यक्ति तक पहुंचने के लिए संचार के मूल और सबसे पुराने स्रोत हैं। सड़कों के निर्माण एवं संचार-साधनों के विकास के कारण भारत के बहुत छोटे से छोटे गांवों, चाहे वे कितने ही दूरस्थ क्यों न हों, में समाचारपत्र पहुंच जाते हैं। अखबार तथा पत्रिकाएं हर क्षेत्रीय भाषा में छापी जा रही है ताकि पाठक अपनी मातृभाषा में ही सूचना और जानकारी प्राप्त कर सकें। भारत में जहां पचास प्रतिशत से अधिक जनता गरीबी की रेखा से नीचे जी रही है; जहां वे सूचना प्राप्ति के लिए टी.वी., रेडियो जैसे मंहगे उपकरणों के लिए व्यय करने की क्षमता नहीं रखते वहां अखबार ही उनके लिए जन-संचार का सबसे सस्ता साधन और माध्यम है।

आजादी से पहले, विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध लोकमत बनाने के लिए मदद करने में प्रिंट मीडिया ने एक मिशनरी की भूमिका निभाई थी। ऐसा वे लगभग आधी शताब्दी तक करते रहे। इसके बाद 1947 में उनका प्रभुत्व समाप्त हो गया। आजादी की प्राप्ति सत्तासीन लोगों के लिए एक चुनौती बन गई और उनके लिए भी बनी जो सत्ता से दूर थे। इस स्थिति का अर्थ है प्रेस के लिए एक नितांत भिन्न भूमिका निभाने का अवसर।

वर्तमान स्थिति में अखबारों की एक झलक से आज की दुखपूर्ण स्थितियां, सर्वत्र अराजकता, असुरक्षा, नारियों के साथ दुर्व्यवहार, उपद्रव, विरोध, भ्रष्टाचार के विविध रूप, अपराधों में वृद्धि, बाहुबल का पूर्व आधिपत्य और अपने देश के प्रति सम्मान के भाव का पूर्ण अभाव तथा और भी अनेक बातें पढ़ने को मिलती हैं। जहां ऊपर दी गई सूची में वर्तमान स्थिति की काली छवि दिखाई देती है वहीं कुछ स्वच्छ छवि दर्शाने वाली बातें भी हैं। इसमें आर्थिक तथा भौतिक सुविधाओं के संजोने में प्रोन्नति, औद्योगिक उन्नति, मानव संसाधनों का विकास और सुलभता, कृषि, अंतरिक्ष, दूरसंचार तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के नेटवर्क में उन्नति के क्षेत्रों में भारी प्रगति स्पष्ट नजर आती है।

प्रेस को देश की अखंडता बनाए रखने के लिए पृथकतावादी और अलगाववादी प्रवृत्तियों के परिणामों को उजागर करके मदद करने की भूमिका निभाती है। जो लोग भाषाई तथा अलगाववादी एवं टूट-फूट के संकीर्ण आधारों पर देश के विभाजन के लिए उपद्रव करते हैं प्रेस द्वारा उनका पर्दाफाश किया जाना है। हमारा देश धर्म-निरपेक्ष राज्य के उस विचार के प्रति समर्पित है जिसमें सभी धर्मों के लोगों को एक भारतवासी के रूप में रहने का समान अधिकार है। पूर्व वर्षों की घटनाओं ने, विशेष रूप से, स्पष्ट संकेत दिए हैं कि कट्टरवादिता को प्रोत्साहन दिए जाने के प्रयासों का राष्ट्रीय हित में डटकर मुकाबला किया जाएगा। प्रेस को धर्मनिरपेक्ष राज्यों के पक्ष में इस तर्क पर जनमत तैयार करने में सहायता करनी होगी कि हर भारतवासी, चाहे वह किसी धर्म का क्यों न हो, इस देश में वह रहने का अधिकारी है।

ऐसे अनेक अवसर आए हैं जब प्रिंट मीडिया ने एक धर्म के लोगों की भावनाओं को दूसरे धर्मावलंबियों के विरुद्ध भड़काया है। यह अच्छी बात नहीं है। प्रेस को बड़ी सावधानी से

अपनी भूमिका निभानी है और परस्पर समझ, विवेक तथा 'जियो और जीने दो' के सिद्धांत में सहनशीलता को विशेष बढ़ावा देने में मदद करनी है।

इसमें संदेह नहीं कि प्रेस को समाज की बुराइयों को सामने लाना है। उसी समय इसका कर्त्तव्य यह है कि वह उसके उजले पक्ष को भी प्रकाशित करे। अनेक क्षेत्रों में देशवासियों द्वारा की गई विविध प्रगति को भी प्रेस तक पहुंचाया जाना चाहिए ताकि वे लोग अच्छे परिणाम लाने के लिए स्वयं को व्यापक रूप से प्रोत्साहित महसूस करें।

37.6 इलैक्ट्रॉनिक मीडिया का योगदान

साक्षरता की सीमाओं को लांघकर घर बैठे करोड़ों लोगों के पास खबरें और अन्य महत्त्वपूर्ण बातें पहुंचाने में इलैक्ट्रॉनिक मीडिया का योगदान विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। वह भौतिक सुविधाओं, जैसे सड़क, यातायात आदि की परवाह न करता हुआ भी अपने लक्ष्य पर पहुंचता है। इलैक्ट्रॉनिक मीडिया का इतना व्यापक प्रसार होता जा रहा है कि अब शहरीकरण एक विशेष आवश्यकता के रूप में नहीं बना रह गया है। भारत में जहां 80% लोग गांवों में रहते हैं तथा 55% ही लोग पढ़े-लिखे हैं और जहां लोग अखबार नहीं पढ़ पाते वहां रेडियो, टेलीविजन तथा फिल्मों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। निस्संदेह समाचारपत्र एक सशक्त साधन है पर यह इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के बजाय सीधा संपर्क कम रखता है और निश्चित रूप से कम प्रभावशाली भी है। दिसंबर 1971 में पाकिस्तान के हमले के समय आधी रात को श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा ब्रॉडकॉस्ट की गई वार्ता का कितना भावुकतापूर्ण प्रभाव हुआ था, जो दूसरे दिन अखबारों में छपी हुई खबरों की अपेक्षा कई गुना प्रभावशाली बनकर वायुमंडल में गूंजी थी। उनकी दुखभरी नरम आवाज, जिसमें दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं की वेदना के साथ उस हमले का सामना करने विषयक राष्ट्र का दृढ़ संकल्प निहित था, ने सुनने वालों को इतना प्रभावित किया था जो रेडियो तथा टी.वी. के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम से संभव ही नहीं था। बालकों और किशोरों पर टी.वी. का प्रभाव बहुत अधिक होता है। बालकों तथा अन्य लोगों की जनशिक्षा में यह बहुत सहायक सिद्ध हुआ है तथा राष्ट्रीय कार्यक्रमों तथा विकास के प्रयासों जैसे जन-शिक्षण और जन-सूचना के क्षेत्रों में भी इसका विशिष्ट योगदान है। प्रजातंत्र में राष्ट्रीय लक्ष्यों और अभिवृत्तियों को लोगों द्वारा व्यापक रूप से समझे जाने की आवश्यकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वे कल्याण योजनाओं, जन प्रतिनिधियों के चुनाव तथा विभिन्न राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली भी भलीभांति समझ लें। ये सभी पहलू तो इलैक्ट्रॉनिक मीडिया, जैसे रेडियो, टी. वी. तथा फिल्मों आदि द्वारा ही प्रभावशाली ढंग से समझाए जा सकते हैं।

पाठगत प्रश्न 37.2

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. जन–संचार के मूल और पुराने स्रोत——————————हैं।
2. ——————मीडिया साक्षरता की सीमाओं को लांघ चुका है।
3. सड़कों और यातायात के कारण——————भारत के सभी भागों में भेजे जा रहे हैं।

37.7 मीडिया की प्रभावी भूमिका में बाधक तत्व

प्रेस की स्वतंत्रता के मूल अधिकार में भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार भी निहित है, जो सर्वथा राजनीतिक स्वतंत्रता और लोकतंत्र को समुचित रीति से कार्य करने के लिए अनिवार्य है। प्रजातंत्र लोकमत के संरक्षण में केवल फल-फूल ही नहीं सकता अपितु प्रेस वह सवारी है जिस पर बैठकर लोकमत सुस्पष्ट हो सकता है। इस भांति प्रजातंत्र एक ऐसे वातावरण में ही प्रगति कर सकता है जिसमें विचारों के आदान प्रदान में स्वतंत्रता हो। इस भूमिका के निर्वाह में जन-संचार को अनेक तत्वों, जैसे सरकार तथा औद्योगिक संगठनों से प्रभावित होना पड़ता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमारे लोकतंत्र में संविधान के अंतर्गत प्रेस की स्वतंत्रता एक मूलभूत अधिकार नहीं है। संविधान की इस गांरटी कि "सभी नागरिकों को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19.1 (A) के अतंर्गत भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है", से यह प्रेस के अर्थ में भी निकाला जाता है। पर अनुच्छेद 19 (2) में इस कथन से स्पष्ट है कि राज्य कानून बनाकर इस अधिकार के प्रयोग पर देश की संप्रभुता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मधुर संबंधों, जन-शांति, शिष्टाचार एवं नैतिकता या न्यायालय की अवमानना, अवहेलना के विषय में, लोकहित पर पाबंदी लगा सकता है। इसके अलावा भी कुछ कानून हैं, जिनसे प्रेस की स्वतंत्रता प्रभावित होती है। इनमें से प्रमुख सरकारी गुप्त अधिनियम, न्यायालय अवमानना अधिनियम, तथा संसदीय विशेषाधिकार अधिनियम आदि हैं।

जहां तक सरकार द्वारा प्रतिबंध लगाए जाने का संबंध है, नियम से हटकर कार्य होने के भी उदाहरण हैं जैसे आपातकाल में अनेक दबावों तथा सेंसरशिप से प्रेस का मुंह बंद कर दिया गया था। अनेक बार यह भी घटित हुआ है कि राजनीतिक दल, विशेष रूप से सत्तासीन दल, प्रायः बार-बार अपने संदेश और विचारधारा आदि जनता तक पहुंचाने के लिए प्रेस को एक माध्यम बना लेते हैं। कभी-कभी खबरें मिलती हैं कि प्रेस के लोगों पर सत्तासीन दल के लोगों के द्वारा हमला किया गया और उन्हें गालियां दी गईं क्योंकि उन्होंने सरकार के कुछ विभागों में व्याप्त कुप्रबंध के विषय में सच्चे तथ्य प्रकाशित किए थे। कभी बहुत बार पत्रकार स्वयं शासन से साठ-गांठ कर लेते हैं और अपने स्वार्थ के इरादे से सरकार की प्रशंसा छापते और कमियों को अनदेखा कर देते हैं जो प्रेस की स्वतंत्रता की प्रक्रिया में एक नकारात्मक भूमिका ही अदा करते हैं। इस तरह मीडिया सरकार की खूबियों और विचारधाराओं को प्रसारित करके एकतरफा खेल खेलने का प्रयास करता है। परिणामतः इस प्रकार की क्रियाओं से नागरिक शासन तंत्र तथा उसके विभागों के आचार-विचार तथा कार्यों के विषय में सही तथ्य जानने से पूर्णतः वंचित हो जाते हैं जिससे वे सही निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने तथा सरकारी तंत्र को जवाबदेह बनाने से रोक दिए जाते हैं। सरकार द्वारा इस प्रकार से प्रभावित किए जाने से हमारा लोकतंत्र खतरे में है।

प्रेस की आजादी के प्रवाह में दूसरी प्रमुख चिंता प्रेस के मालिकों की ओर से है। प्रेस के मालिक बड़े-बड़े उद्योगपतियों के द्वारा संपादन व्यवसायियों की आजादी पर प्रतिबंध, प्रायः प्रतिदिन बढ़ रहे हैं। उनके मालिकों का प्रभाव इतना बढ़ रहा हैं कि वे स्वयं आगे होकर संपादकों और पत्रकारों को मात्र मैनेजर एवं बाबू बनाकर रख रहे हैं। किसी पत्रकार को

मुश्किल से ही किसी सत्य बात को अपने सही रूप में प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता होगी। वे उनके मालिक, जो पूंजीपति हैं, द्वारा दबाए जाते हैं कि वे ऐसी खबरें दें जिनसे वे ज्यादा से ज्यादा मुनाफा उठा सकें ।

पाठगत प्रश्न 37.3

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद----------में सभी नागरिकों के लिए भाषण और अभिव्यक्ति की स्वंतत्रता का अधिकार सुरक्षित है।
2. राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए----------अनिवार्य है।
3. प्रेस की स्वतंत्रता की प्रक्रिया में ----------एक नकारात्मक भूमिका निभाती है।

37.8 मीडिया की स्वतंत्रता

प्रेस, सरकार और बड़े व्यापारियों के संबंधों की बात एक बहुत नाजुक मुद्दा है। सरकार का काम शासन करना है और मीडिया का काम यह है कि वह लोगों को यह बताए कि सरकार कैसा काम कर रही है.? चूँकि आजकल सरकार में बैठे लोगों के अनेक निहित स्वार्थ होते हैं अतः प्रेस को बहुत सतर्क और उद्देश्यपरक रहना पड़ता है। अतएव, यह कभी उम्मीद नहीं रखनी चाहिए कि कोई प्रेस का कार्यकर्त्ता किसी संस्था का पालतू रहे। एक राजनीतिक नेता का प्रेस की स्वतंत्रता के प्रति समर्पण तब आंका जा सकता है जब वह मात्र अपने पक्षधर प्रेस के संभाग के लिए ही सुविधाएं और आजादी सुलभ नहीं कराए अपितु अपने विरोधी या विपक्षी प्रेस की शाखा को भी वही सुविधाएं सुनिश्चित करे। यदि प्रेस सरकार के साथ शांति पूर्वक रहता है तो समझो कि यह प्रजातंत्र के लिए एक धमकी है। अतएव, इसमें दोनों ओर से सहनशीलता अपेक्षित है। जो सत्तासीन हैं वे प्रेस को अपने संदेश को जन-समूह तक पहुंचाने के लिए उसे एक साधन बनाने हेतु बहुत उत्सुक रहते है। इस स्थिति में प्रेस का यह अधिकार और उत्तरदायित्व है कि वह अपने विवेक से काम ले ताकि वह किसी प्रतिष्ठान का मुखपत्र न बन जाए, क्योंकि प्रजातंत्र में एक प्रेस को अपने दृष्टिकोण को बनाए रखने तथा अपने पृष्ठों के माध्यम से उन्हें लोक-समुदाय तक प्रसारित करने का दायित्व निष्पक्ष होना चाहिए। वर्तमान राष्ट्रपति महामहिम श्री के. आर. नारायणन के अनुसार "मेरी राय से अधिक विकसित दृष्टिकोण में प्रेस की आजादी एक नारा मात्र नहीं है किंतु यह एक राजनीतिक प्रक्रिया का एक अनिवार्य धर्म है। मुझे कोई संदेह नहीं है कि कोई सरकार प्रेस द्वारा प्राप्त विशेषाधिकारों को पसंद नहीं करती और उन्हें आशंकापूर्ण मानती है; पर प्रेस की स्वाधीनता में हस्तक्षेप करना गलत है। प्रतिबंध लगाकर आप कुछ भी नहीं बदलते, आप केवल कुछ बातों में लोक-अभिव्यक्ति को ही दबाते हैं तथा इससे विचारों और भावों को दबाकर आगे प्रसारित होने से रोकने का कारण बनते हैं। मीडिया का उत्तरदायित्व एक उस नेता की तरह समझा जा सकता है जो समाज में फैली बुराइयों को सामने लाकर रचनात्मक विचारों के विषय में लोगों को बताता है और उन मुद्दों को उजागर करता है, जो सामान्य व्यक्ति को प्रभावित करते हैं"।

राजनीतिक नेताओं की धमकी के कार्यों से कभी-कभी मीडिया के लोग चिंताकुल हो उठते हैं। ऐसा कभी-कभी अखबार के मालिकों द्वारा भी होता है और कभी वे अपने पूर्वाग्रहों से भी परेशान रहते हैं। अतएव, पत्रकारों को सत्तासीन लोगों सहित विभिन्न राजनीतिक दलों, अपने समाचारपत्रों के मालिकों और अपने साथियों तथा स्वयं के डर से मुक्त रहना है। इस अभिवृत्ति तथा विचार से ही प्रेस की स्वाधीनता सुनिश्चित हो सकती है।

यह भी उल्लेख है कि समाचारपत्रों, ऑल इंडिया रेडियो तथा दूरदर्शन के खातों की जांच भारत के नियंत्रक और महालेखा परीक्षक द्वारा समय-समय पर की जानी चाहिए और इसकी रिर्पोट संसद में प्रस्तुत की जानी चाहिए। यह बात 1978 में बनी वर्गीज समिति ने सुझाई थी।

जैसा कि इलैक्ट्रॉनिक मीडिया की स्वायत्तता की योजना है तो इसे सभी राजनीतिक दल, एक लिखित और अलिखित समझौता करके इसे बहुत बल दे सकते हैं। वे यह तय करें कि जो भी दल सत्ता में हो पर मीडिया के क्षेत्र में कार्यरत लोग सभी विवादों की साफ-साफ और खुलकर रिर्पोट करते रहेंगें।

इससे भी आगे सरकार एक साफ-साफ विधान बनाए और प्रेस की आजादी को सुनिश्चित करे। इस विषय में केंद्र सरकार ने प्रसार भारती अधिनियम लागू करके आकाशवाणी और दूरदर्शन को स्वायत्तता प्रदान की है। इसके अंतर्गत 1923 के कार्यालय गुप्त अधिनियम और भारतीय साक्ष्य अधिकार में शासकीय क्रिया कलापों और निर्णयों से संबंधित जानकारी सरलता से प्राप्त करने की सुनिश्चित के लिए, सुधार किया है। इसे बनाए रखने के लिए सामाजिक हित को ध्यान में रखकर निर्मित चरित्र और कार्य दोनों दृष्टियों से प्रसार भारती को एक निगम का स्वरूप मिलना चाहिए। इसकी अपने आप में स्वतंत्र स्वरूप की संरचना और सदस्य विभिन्न प्रकार के संतुलनों को बनाए रखने के लिए पूर्णतः सक्षम हों। प्रसार भारती, सूचना की व्यवस्था के संदर्भ में, राष्ट्रहित की एक सर्वोच्च संरक्षक, राष्ट्रीय एजेंसी तथा एक आधिकारिक प्रवक्ता होनी चाहिए। इस तरह यह स्वतंत्र रूप से कार्य करती हुई सूचनाओं की संपूर्ण उपलब्धि द्वारा लोक की सेवा करती रहेगी। सरकार के पास नियंत्रण हो, परंतु एकाधिकार नहीं। गतिरोध की अवस्था में सरकार प्रभावी होगी पर इस व्यवस्था में सूचना की गुणवत्ता को क्षति नहीं पहुंचेगी क्योंकि हमारे पास प्रेस की आजादी के रक्षक के रूप में जजों सहित व्यावसायिक पत्रकार तथा जन प्रतिनिधि होंगे। यह कोई प्रेस नियंत्रक सत्ता नहीं होगी। अपितु एक स्पर्धी और परस्पर शक्ति देने वाली सूचना व्यवस्था होगी, जिसके अंतर्गत प्रेस के तीन कार्य-सूचना देना, सिखाना, और मनोरंजन करना, दक्षता पूर्वक किए जा सकेंगे।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रेस ही एक ऐसा माध्यम है जो मानवीय प्रयासों के सभी पहलुओं को समेट सकता है। इसके द्वारा कभी-कभी की गई भूलों का यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि यह समसामयिक नहीं है। बिना स्वतंत्र और निडर प्रेस के प्रजातंत्र नहीं रह सकता और बिना प्रजातंत्र के सामाजिक न्याय सुनिश्चित नहीं किया जा सकता ।

आपने क्या सीखा

इस पाठ में आपने पढ़ा है कि प्रजातांत्रिक शासन पद्धति में मीडिया एक संवाहक की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। केवल मीडिया के माध्यम से ही नागरिक सरकार के चरित्र और कार्य प्रणाली को जानने के हकदार होते हैं तथा यही उन्हें शासन के निर्णयों से अवगत कराता है और जवाबदेही निर्धारित करने में उसकी भूमिका भी निभाता है। अतः इस तरह मीडिया, सरकार और नागरिकों में निकटतम संबंध है। एक संवाहक के कार्यों के करते समय प्रिंट और इलैक्ट्रॉनिक दोनों ही मीडिया अनेक तत्वों द्वारा प्रभावित होते हैं जैसे बड़े व्यापारी लोगों के हित, सरकार का नियंत्रण, और कभी-कभी पत्रकारों के स्वयं के निहित स्वार्थ आदि। मीडिया की स्वाधीनता के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं। एक लोकतंत्र के सफल संचालन और कार्य करने के लिए आवश्यक स्वतंत्र मीडिया के अस्तित्त्व के लिए अभी सरकार और जनता दोनों के स्तर पर बहुत कुछ किया जाना है।

सरकार द्वारा मीडिया की स्वाधीनता सुनिश्चित करने के प्रयासों के अतिरिक्त, जनता के स्तर पर भी हमें एक ऐसा स्वाधीन प्रेस बनाने के लिए यथासंभव बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है जिसके माध्यम से हम अपने ज्ञान, मूल्यों, अभिवृत्तियों, और विश्वासों को सरलता से संप्रेषित कर सकें। ऐसा इसलिए है कि बिना एक स्वतंत्र और निडर प्रेस के प्रजातंत्र नहीं रह सकता है और बिना प्रजातंत्र सामाजिक न्याय सुनिश्चित नहीं किया जा सकता।

पाठांत प्रश्न

(1) मीडिया से आप क्या समझते हैं ?

(2) संक्षेप में बताइए कि मीडिया लोकमत को किस तरह प्रभावित करता है ?

(3) भारतीय राजनीति के उभरते हुए मुद्दों में प्रिंट मीडिया की भूमिका पर एक टिप्पणी लिखिए।

(4) मीडिया की स्वाधीनता पर एक टिप्पणी लिखिए।

(5) मीडिया की स्वाधीनता को बनाए रखने के लिए क्या-क्या कदम उठाए गए हैं ?

(6) निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

(अ) इलैक्ट्रॉनिक मीडिया का योगदान (आ) मीडिया पर बड़े-बड़े उद्योगपतियों का आधिपत्य (स) जन-संचार के विभिन्न माध्यम।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

37.1

(1) (अ) (2) (अ) (3) (a) (4) (अ)

37.2

(1) प्रकाशित या प्रिंट मीडिया (2) इलैक्ट्रॉनिक मीडिया (3) अखबार या समाचारपत्र

37.3

(1) अनुच्छेद 19-1- (अ) (2) प्रेस की स्वाधीनता (3) राजनीतिक हस्तक्षेप

पाठांत प्रश्नों के संकेत

कृपया देखें, अनुभाग

(1) 37.3 (2) 37.3 (3) 37.4 (4) 37.5 (5) 37.7

(6) (अ) 37.6 (ब) 37.7 (स) 37.4

37
सांविधानिक विकास में सीमा-चिह्न
(1909, 1919, 1935 तथा 1947)

37.1 भूमिका

पहले के दो अध्यायों में आपने देखा कि भारत की अर्थव्यवस्था पर उपनिवेशवाद का प्रभाव इतना बुरा पड़ा कि उसने हमारी ग्रामीण आत्मनिर्भरता और वस्त्र उद्योग तथा हस्तकला उद्योग को नष्ट कर दिया। उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद में बदल गया और भारतीयों ने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ब्रिटिश शासन के खिलाफ अपनी आवाज उठाई तथा स्वाधीनता प्राप्ति तक अपने स्वाधीनता संघर्ष की लड़ाई लड़ी। ब्रिटिश पराधीनता से भारत की आजादी का मार्ग राष्ट्रीय आंदोलन की अनेक मांगों तथा ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दी गई रियायतों का परिणाम था। 1858 में ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से ब्रिटिश क्राउन को सत्ता के हस्तांतरण तथा 1858 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद से ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत के लिए अधिनियमों की शृंखला पास की गई। 1892 का भारतीय परिषद अधिनियम 1861 के भारतीय परिषद अधिनियम से कुछ मात्रा में बेहतर साबित हुआ। 1892 के एक्ट ने केंद्रीय विधायिका में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 12 से बढ़ाकर 16 कर दी तथा प्रांतीय विधानमंडलों की संख्या 8 से बढ़ाकर कर 20 कर दी। 1892 के अधिनियम ने केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान मंडलों के सदस्यों को यह अधिकार दिया कि वे वार्षिक बजट पर बहस कर सकें। वे कुछ नियम और कानूनों के तहत कुछ निश्चित प्रश्न भी पूछ सकते थे। 1909, 1919 तथा 1935 के परवर्ती अधिनियम अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि करने तथा विधानमंडलों की शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से पास किए गए। 1885 से 1947 के पूरे काल तक भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन में सुधार (1885) से स्वराज (1906) और स्वराज से पूर्ण स्वराज (1929) की मांगों के माध्यम से सरकार पर अपना दबाव बढ़ाना जारी रखा। इससे अंततः 15 अगस्त 1947 को स्वाधीनता की

प्राप्ति में सहायता मिली, जो कि देश को दो अधिराज्यों—भारत और पाकिस्तान—में विभाजित करने की कीमत पर थी।

भारत में सांविधानिक विकास ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत के लिए बड़ी संख्या में पास किए गए अधिनियमों के माध्यम से परिलक्षित होता है; विशेषतः भारतीय परिषद अधिनियम 1909, भारत शासन अधिनियम 1919,1935 और भारतीय स्वाधीनता अधिनियम 1947।

37.2 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के बाद आप

- 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम के प्रावधानों की विशेषताएं बता सकेंगे।
- सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के विकास का विश्लेषण कर सकेंगे।
- 1919 के भारत शासन अधिनियम के प्रावधानों का परिचय दे सकेंगे।
- 1919 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित द्वैधतंत्र की कमियों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- 1935 के अधिनियम भारत शासन अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ बता सकेंगे।
- 1935 के अधिनियम तहत प्रस्तावित 'परिसंघ' तथा प्रांतीय स्वायत्तता के प्रावधानों का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- 1947 के भारतीय स्वाधीनता अधिनियम की विशेषताओं का परिचय तथा उनका महत्त्व बता सकेंगे।

37.3 भारतीय परिषद अधिनियम-1909

भारत-परिषद अधिनियम-1909 जिसे मार्ले-मिंटो सुधार के नाम से जाना गया, 1892 के भारत परिषद अधिनियम के बाद एक निश्चित प्रगति का संकेत था। इस 1909 के ऐक्ट ने देश में विधायी संस्थाओं की सदस्यता तथा शक्ति बढ़ाने के लिए भारतीयों की मांग को पूर्ण किया।

1909 का भारत परिषद अधिनियम अनेक कारकों का परिणाम था। कांग्रेस की उदार नीतियों (1885-1905) की प्रतिक्रियास्वरूप उग्रवाद में वृद्धि तथा लार्ड कर्जन की तानाशाही और लोगों की बिगड़ती अर्थिक स्थिति ने अंग्रेजों के खिलाफ घृणा की भावना पैदा कर दी। भारतीयों की नाराजगी कांग्रेस की मात्र सुधारों के स्थान पर स्वराज की मांग (1906) में स्पष्ट देखी जा सकती है। भारतीयों की बढ़ती राष्ट्रवादी और देशभक्ति की भावनाओं को देखते हुए अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति लागू की। आगा खां के नेतृत्व वाले मुस्लिम प्रतिनिधि मंडल की पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग पर 1906 शिमला में सहानुभूतिपूर्वक विचार किया गया। 1906 में मुस्लिम लीग के जन्म से यह सिद्ध हो गया कि ब्रिटिश नीतियां भारतीयों में फूट के बीज डालने के लिए थीं। 1909 का भारत परिषद अधिनियम तत्कालीन भारत की परिस्थिति का परिणाम था।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 के प्रमुख प्रावधान संक्षेप में इस प्रकार हैं :

1. केंद्रीय विधायी परिषद का आधार बढ़ा दिया गया। इसमें कुल 69 सदस्य थे जिनमें गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के 9 सदस्य भी शामिल थे। शेष 60 अतिरिक्त सदस्यों

में से 28 सरकारी नामांकित सदस्य होते थे, जबकि 32 गैर सरकारी निर्वाचित सदस्य। इन 32 गैर सरकारी सदस्यों में से 27 का निर्वाचन तथा 5 का नामांकन होता था। 27 निर्वाचित सदस्यों में से 13 सामान्य निर्वाचकों द्वारा चुने जाते थे, 12 वर्गगत निर्वाचकों तथा 2 विशेष निर्वाचकों द्वारा चुने जाते थे। वर्ग आधारित निर्वाचकों द्वारा चुने गए 12 सदस्यों में से 6 भूस्वामी तथा 6 मुसलमानों में से लिए जाते थे।

रेखाचित्र 1 से केंद्रीय विधायी परिषद के गठन का परिचय मिलता है :

रेखाचित्र : 1

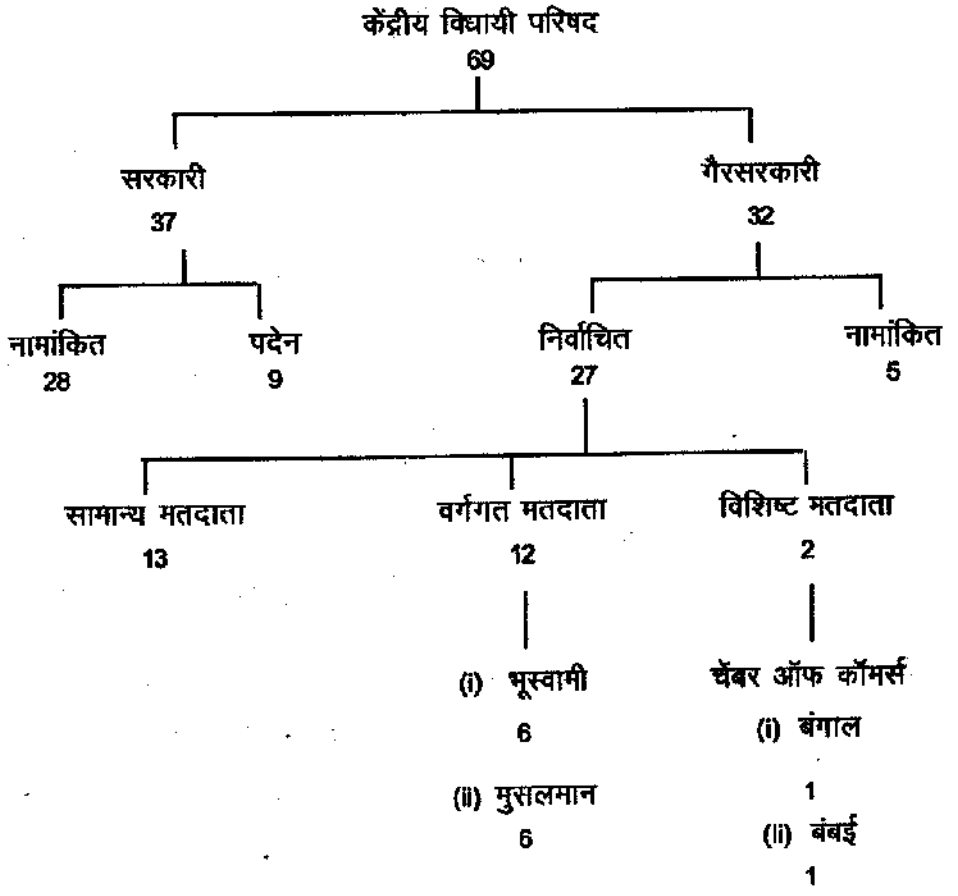

2. प्रांतीय विधायी परिषदों में भी विस्तार किया गया। इस अधिनियम द्वारा निर्धारित वास्तविक संख्या निम्न है :

प्रांतीय विधायिकाओं में सदस्यों की संख्या

बंगाल विधायी परिषद	:	52
मद्रास विधायी परिषद	:	47
बंबई विधायी परिषद	:	47
यू.पी. विधायी परिषद	:	47

पूर्वी बंगाल तथा असम विधायी परिषद	:	41
पंजाब विधायी परिषद	:	25
बर्मा विधायी परिषद	:	16

केंद्रीय विधायी परिषद के सदस्यों की तरह प्रांतीय विधायी परिषद के सदस्य भी सरकारी और गैरसरकारी में विभक्त थे। गैरसरकारी नामांकित और निर्वाचित में तथा निर्वाचित सदस्य सामान्य, वर्गगत तथा विशिष्ट मतदाताओं में विभाजित थे।

3. 1909 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित मताधिकार सीमित तथा विभेदपूर्ण था ।

4. 1909 के अधिनियम ने कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों की नियुक्ति संभव बनाई।

5. अधिनियम, 1909 द्वारा प्रस्तावित मताधिकार सीमित तथा विभेदकारी था।

6. 1909 के अधिनियम ने कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों की नियुक्ति का प्रावधान किया।

यद्यपि 1909 का अधिनियम 1892 के भारत परिषद अधिनियम की तुलना में कुछ बेहतर था। परंतु उससे भारतीय, विशेषकर क्रांतिकारी संतुष्ट नहीं हुए। विधायी परिषदों के आकार तथा शक्तियों में वृद्धि बहुत देर में तथा बहुत कम मात्रा में हुई। इसके अलावा 1909 का एक्ट देश में उत्तरदायी सरकार के लिए कांग्रेस की 'स्वराज' की मांग से काफी दूर था। संकीर्ण, प्रतिबंधित तथा विभेदकारी मताधिकार भारतीयों में कोई उत्साह नहीं जगा पाया। इस अधिनियम से एक नौकरशाही राज्य का निर्माण हुआ, जिसमें विधायिकाओं में सरकारी अधिकारियों का बहुमत था। अतः 1909 के अधिनियम ने लोगों को सुधार की छायामात्र उपलब्ध कराई।

1909 के अधिनियम की सबसे बड़ी कमी धर्म के आधार पर पृथक् निर्वाचक मंडल की शुरुआत थी। इस अधिनियम ने भारत के लोगों को हिंदू और मुसलमानों में बांटना चाहा, जिसका आधार धर्म को बनाया। इसके परिणामस्वरूप अन्य समुदायों ने भी पृथक् निर्वाचक मंडल की मांग की। 1909 के अधिनियम ने उस कार्य की शुरुआत कर दी, जो कि 1947 में सांप्रदायिक आधारों पर देश के विभाजन के साथ संपन्न हुआ, अर्थात् भारत और पाकिस्तान के रूप में। इस अधिनियम ने ऐसे बीज बोए जिसका फल बहुत ही कड़वा रहा।

पाठगत प्रश्न 37.1

कोष्ठक में दिए गए शब्दों में से उपयुक्त शब्द चुनकर खाली स्थान भरिए :

1. कांग्रेस ने शुरुआती समय (1885-1905) में मांग की ——————की।
(स्वराज, सुधार, पूर्ण स्वराज)

2. अखिल भारतीय मुस्लिम लीग बनी ——————में। (1905, 1906, 1907)

3. 1906 में मुस्लिम प्रतिनिधि मंडल शिमला में——————के नेतृत्व में मिला।
(आगा खां, जिन्ना, लियाकत अली)

4. 1909 के अधिनियम में केंद्रीय विधायिका कौंसिल में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या तय थी ——————। (50, 60, 70)

5. पृथक् निर्वाचक मंडल की शुरुआत सन्——————के भारत परिषद अधिनियम में हुई। (1861, 1892, 1909)

37.4 भारत शासन अधिनियम, 1919

1909 का भारत परिषद अधिनियम 1906 से ही की जा रही कांग्रेस की पूर्ण स्वराज की मांगों को पूरा नहीं कर सका। अधिनियम में वस्तुतः संकीर्ण तथा विभेदपूर्ण मताधिकार, सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा लोकतंत्र विरोधी पद्धतियों का प्रस्ताव था। इस अधिनियम से लोगों को भारी मात्रा में निराशा हाथ लगी। ब्रिटिश सरकार ने अपनी ओर से 1909 के अधिनियम को लागू करने के बाद से ही दमन तथा प्रताड़न की नीति लागू करने का प्रयत्न किया।

प्रथम महायुद्ध (1914—18) से भारत तथा ब्रिटेन दोनों ही देशों में विशेष परिवर्तन आए। जर्मनी तथा उसके सहयोगी राष्ट्रों के खिलाफ लड़ने वाले अंग्रेज चाहते थे कि भारतीय इस युद्ध में उनकी मदद करें। भारत में भी वातावरण काफी बदल गया था। उदारवादी माडरेट तथा उग्रवादी संगठित हो गए थे। कांग्रेस और मुस्लिम लीग लखनऊ समझौते के माध्यम से एक-दूसरे के काफी निकट आ गए थे।

महायुद्ध के प्रभावों ने ब्रिटिश सरकार के लिए यह आवश्यक बना दिया कि वह भारत के लिए एक निश्चित नीति का निर्माण करे। परिणामस्वरूप अगस्त 1917 में मांटेग्यू घोषणा हुई, जिसमें भारतीयों को उत्तरदायी सरकार का आश्वासन दिया गया तथा स्वशासन के लिए संगठन बनाने की बात कही गई।

अतः 1919 का भारत शासन अधिनियम, जिसे मांटफोर्ड सुधार भी कहा गया, भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की ओर पहला कदम था। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान ये थे :

1. 1909 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित आंशिक उत्तरदायी सरकार के विषयों का विभाजन दो सूचियों में किये जाने का प्रस्ताव किया : केंद्र सूची में 47 विषय थे, जिसमें रक्षा विदेशी मामले, मुद्रा, संचार आदि। राज्य सूची में 51 विषय थे, जिसमें स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा आदि। केंद्र को केंद्र सूची तथा राज्यों को राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार था।

प्रांतीय विषयों को आरक्षित, तथा हस्तांतरित दो अन्य भागों में बांटा गया। 'आरक्षित' विषयों में वित्त, सिंचाई, यूरोपीय शिक्षा, कानून और व्यवस्था, भूमि सुधार आदि थे। ये विषय अंग्रेज कार्यकारी पार्षदों के नियंत्रण में थे, जोकि गवर्नर के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होते थे। हस्तांतरित विषयों में स्थानीय स्वायत्त शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा आदि शामिल थे और इन पर मुख्यतः भारतीय मंत्रियों का नियंत्रण होता था जो कि प्रांतीय विधायी परिषदों के सदस्य होते थे। इन मंत्रालयों का प्रशासन मंत्रियों के सहयोग से गवर्नर द्वारा संचालित होता था।

2. 1919 के अधिनियम ब्रिटेन में एक उच्चायुक्त नियुक्त किए जाने का प्रावधान किया गया। उच्चायुक्त केंद्र और राज्य सरकारों के एजेंट के रूप में कार्य करता था तथा भारत के व्यापारिक हितों की देखभाल करता था।

3. मांटफोर्ड सुधारों ने केंद्रीय विधायिका की पुनर्संरचना की। केंद्रीय विधायिका में दो सदन होते थे : (1) राज्यों की परिषद तथा (2) विधान सभा। दोनों सदनों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता था। पृथक् निर्वाचक मंडल की प्रणाली पूर्ववत् बनी रही तथा इसमें और भी बढ़ोतरी की गई। दोनों सदनों का संगठन रेखाचित्र 2 में बतलाया गया है :

रेखाचित्र 2 : (1919 के मांटफोर्ड सुधारों के अनुसार केंद्रीय विधायिका की संरचना)

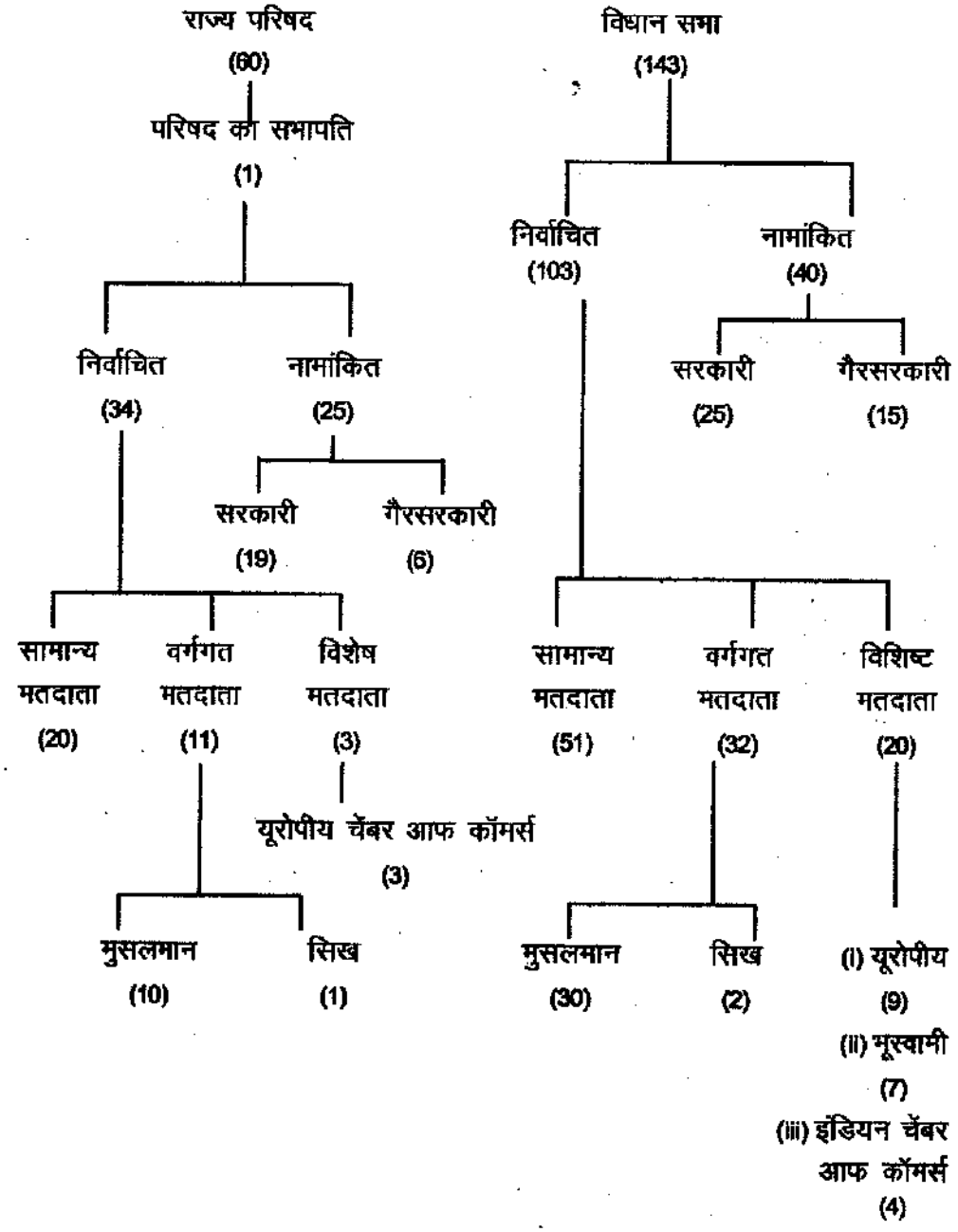

राज्यों की परिषद का कार्यकाल पांच वर्ष तथा विधानसभा का तीन वर्ष था। मताधिकार सीमित तथा विभेदपूर्ण ही रहा। राज्य परिषद के लिए मतदाताओं की संख्या 17,000 थी, जबकि विधानसभा के लिए यह 25 करोड़ की जनसंख्या में लगभग 10 लाख थी।

1919 के अधिनियम के अनुसार दोनों सदनों की शक्तियां समान थीं। सदस्यों को केंद्र सूची के विषयों पर विधेयक लाने और सरकार की आलोचना करने का अधिकार था। केंद्रीय बजट के बहुत बड़े भाग पर मतदान की अनुमति नहीं थी।

4. 1919 के अधिनियम के तहत गवर्नर जनरल के पास व्यापक शक्तियाँ थीं। उसके पास असीमित तथा अप्रतिबंधित शक्तियां थीं। उसका देश के नागरिक और सैनिक प्रशासन पर प्रत्यक्ष नियंत्रण था और वह उसका निरीक्षण, परीक्षण और निर्देशन कर सकता था। केंद्रीय कार्यपालिका की नियुक्ति में वह स्वतंत्र था। वस्तुतः वह देश में वास्तविक शासक शक्ति था। उसे बजट में कटौती करने तथा अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार था।

5. केंद्रीय विधायिका एक सदनीय थी। प्रांतीय विधायिका के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई तथा इसकी अधिकतम सदस्य संख्या 140 और न्यूनतम 60 रखी गई। आसाम एक अपवाद था जहां पर यह संख्या 53 थी। प्रत्येक प्रांतीय परिषद में अनुमानतः 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होते थे, 20 प्रतिशत नामांकित सरकारी सदस्य तथा 10 प्रतिशत नामांकित गैर-सरकारी सदस्य होते थे। यहां भी मताधिकार सीमित, संकीर्ण तथा विभेदकारी था। जनसंख्या का मात्र 2.8 प्रतिशत भाग ही मतदान का अधिकार रखता था। निर्वाचित सदस्यों के बीच सामान्य, सांप्रदायिक और विशेष निर्वाचन क्षेत्रों का प्रावधान था।

प्रांतीय विधायिकाओं की शक्तियों में वृद्धि करते हुए उन्हें प्रांतीय विषयों पर कानून बनाने, प्रांतीय बजट पर बहस करने तथा प्रश्न पूछने आदि का अधिकार दिया गया। गवर्नर के हाथ में विशिष्ट तथा विभेदपूर्ण शक्तियों के निहित होने से प्रांतीय विधायिकाएं कमजोर विधायी संस्थाएं मात्र बन गई थीं।

(6) 1919 के अधिनियम ने प्रांतीय गवर्नरों की स्थिति को काफी महत्वपूर्ण बना दिया था। उसमें वास्तविक शक्तियां निहित थीं। उसमें विवेकपूर्ण शक्तियां भी निहित थीं। वह अपने मंत्रियों और पार्षदों को प्रभावित कर सकता था तथा प्रांतीय विधायिकाओं पर भी नियंत्रण रखता था। प्रांतीय प्रशासन में उसकी स्थिति एक तानाशाह से कम नहीं थी।

(7) 1919 के भारत शासन अधिनियम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रांतों में प्रशासन की एक नई प्रणाली की शुरुआत थी। यह प्रणाली थी 'द्वैधतंत्र'। इसका तात्कालिक उद्देश्य भारतीयों के अधिकाधिक सहयोग से प्रशासन की कला में इन्हें प्रशिक्षण प्रदान करना था।

(द्वैधतंत्र उस संगठन का नाम है, जिसमें दो प्रकार के गवर्नरों का शासन चलता है, अर्थात प्रांत के लोगों पर पार्षदों और मंत्रियों का शासन)।

'द्वैधतंत्र' दो शब्दों के मेल से बना है 'दी' और 'आर्की' जिसका तात्पर्य है 'दोहरा शासन' अर्थात् प्रांत की जनता पर पार्षदों और मंत्रियों का दोहरा शासन। 1919 के अधिनियम के तहत प्रांतीय विषयों को 'आरक्षित' और 'हस्तांतरित' दो भागों में बांटा गया था। आरक्षित विषय परिषद में गवर्नर के पास आरक्षित होते थे जबकि हस्तांतरित विषय भारतीय मंत्रियों के पास हस्तांतरित

होते थे, परंतु इन पर मंत्रियों के माध्यम से गवर्नर का नियंत्रण रहता था। अतः प्रांतों में प्रशासन की पद्धति में सत्ता के दो केंद्र थे, एक परिषद में गवर्नर और दूसरा मंत्रियों के माध्यम से गवर्नर का शासन। एक पूर्णतः विदेशी और दूसरा पूर्णतः भारतीय अर्थात् देशी। एक आरक्षित विषयों का प्रभारी था तो दूसरा हस्तांतरित विषयों का; एक गवर्नर के प्रति उत्तरदायी था तो दूसरा प्रांतीय विधायिका के प्रति। एक प्रभुत्वशाली था तो दूसरा अधीनस्थ और इसी तंत्र को द्वैधतंत्र कहा जाता है।

दोहरी शासन प्रणाली, 'द्वैधतंत्र' अप्रैल 1921 में बंगाल, बिहार, आसाम, मद्रास, बंबई, पंजाब, संयुक्त प्रांतों तथा मध्य प्रांतों में लागू की गई, जबकि 1932 में इसे उत्तरपश्चिम सीमा प्रांतों तक विस्तृत किया गया और 1937 तक लागू रही। सुधार जांच समिति की अल्पसंख्यक रिपोर्ट में कहा गया है कि द्वैधतंत्र पहले तीन वर्षों तक तो ठीक चला, परंतु 1924 के बाद यह असंतोषजनक तथा अक्षम साबित हुई। इस नई प्रणाली में ऐसी कमियां थीं जिनके कारण प्रारंभ से ही इसकी कार्यकुशलता पर बुरा असर पड़ा। संक्षेप में, उन कमियों को इस प्रकार देखा जा सकता है :

(1) प्रांतीय शासन को दो भागों में बांटना कुशल प्रशासन के सिद्धांत के विपरीत था। वास्तव में प्रशासन को दो खंडों में बांटकर संचालित करना असंभव था। कोई भी सरकार एक जैविक इकाई की तरह होती है, जिसके अंगों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

(2) प्रांतीय विषयों को 'आरक्षित' तथा 'हस्तांतरित' दो भागों में बांटने का कोई तार्किक और वैज्ञानिक आधार नहीं था। कृषि एक हस्तांतरित विषय था, जबकि सिंचाई जोकि कृषि का ही अंग है, आरक्षित वर्ग में आती थी।

(3) द्वैध प्रणाली के अंतर्गत प्रांत में गवर्नर की स्थिति संवैधानिक प्रधान की होनी चाहिए थी, परंतु ऐसा नहीं था। गवर्नर वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता था। वह प्रांतीय विधायिका के किसी सदस्य को मंत्री के रूप में नियुक्त कर सकता था तथा किसी अन्य को पदच्युत भी कर सकता था। प्रांतीय विधायिका के प्रति मंत्रियों का उत्तरदायित्व मात्र औपचारिकता भर था। मंत्री गवर्नर के प्रसाद पर्यंत ही मंत्री पद पर रह सकते थे। स्पष्टतः गवर्नर की ऐसी स्थिति उस संसदीय प्रणाली के खिलाफ थी, जिसकी शुरुआत उन दिनों भारत में हो रही थी।

(4) विधायिका में 'आरक्षित' विषयों के संबंध में मंत्रियों की दशा अत्यंत दयनीय थी। नीतियों के निर्माण में न तो उनकी कोई खास भूमिका ही होती थी और न ही प्रांतीय प्रशासन से जुड़े महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर उनकी राय ही ली जाती थी। जिस विधायिका के प्रति उनकी जवाबदेही होती थी उसका विश्वास ही वे मुश्किल से जीत पाते थे। वस्तुतः प्रांतीय विधायिका के सदस्यों का बहुमत गवर्नर के साथ था। इस तरह की विधायिका में मंत्रीय उत्तरदायित्व की स्थिति मुश्किल से ही बन पाती थी।

(5) वित्त विभाग आरक्षित श्रेणी में था। इस विभाग के माध्यम से वित्त अन्य विभागों को भेजा जाता था। वित्त पार्षद हस्तांतरित विभागों पर भी अंकुश रखता था। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह देखना होता था कि आरक्षित विभागों को अपेक्षित आय का सारा

धन मिल चुका है या नहीं। हस्तांतरित विभागों पर बाद में ध्यान दिया जाता था। मंत्रियों की वित्तीय जरूरतों के विषय में वित्त मंत्री अनेक तकनीकी बाधाएं खड़ी करता था।

(6) अपने लोक सेवकों के विषय में मंत्रियों की स्थिति काफी दुःखद थी। अपने स्थायी अधिकारियों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं था। वस्तुतः मंत्रियों के साथ काम करने वाले सिविल सेवक अपनी निष्ठा गवर्नर के प्रति रखते थे। किसी भी मंत्री को यह अधिकार नहीं था कि वह किसी लोक अधिकारी की नियुक्ति अथवा पदच्युति कर सके अथवा उसकी सेवा-शर्तें निर्धारित कर सके।

1919 की द्वैधप्रणाली की कमजोरियों के अतिरिक्त, मांटफोर्ड सुधारों में कुछ अन्य कमजोरियां भी थीं। गवर्नर जनरल में असीमित शक्तियां निहित करते हुए केंद्र सरकार तानाशाह हो गई थी। प्रांतों में आंशिक उत्तरदायी शासन का कोई भी लक्षण दिखाई नहीं पड़ता था, क्योंकि समस्त प्रशासनिक क्षेत्र पर गवर्नर का प्रभुत्व रहता था। प्रतिबंधित और विभेदकारी मताधिकार लोकतांत्रिक शासन के सभी सिद्धांतों के प्रतिकूल था। अन्य धार्मिक समुदायों को पृथक् निर्वाचक सुविधा का विस्तार न केवल राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए हानिकारक था, अपितु इसने देश में सांप्रदायिक शक्तियों को पनपने का मौका भी दिया।

पाठगत प्रश्न 37.2

कोष्ठक में दिए गए शब्दों में से उपयुक्त शब्द छांटकर खाली स्थानों में भरो :

1. लखनऊ पैक्ट (समझौता) पर हस्ताक्षर हुआ ——————। (1914, 1915, 1916)
2. आंशिक उत्तरदायी सरकार को कहा गया ——————।
   (द्वैधतंत्र, प्रांतीय स्वायत्तता, स्वराज)
3. ——————1919 के भारत शासन अधिनियम में एक हस्तांतरित विषय था।
   (वित्त, कृषि, सिंचाई)
4. मांटफोर्ड सुधारों ने इंगलैंड में ——————का पद सृजित किया
   (राज्यसचिव, वायसराय, उच्चायुक्त)
5. 1919 के अधिनियम में राज्यों की परिषद में कुल सदस्य संख्या ————थी।
   (60, 140, 145)

37.5 भारत शासन अधिनियम 1935

1919 से 1935 के बीच का काल भारत में तीव्र राजनीतिक गतिविधि का काल था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व सभालते हुए महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन (1920-1922) तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930-1934) चलाया और इस प्रक्रिया में उन्होंने कांग्रेस को जनता का संगठन बनाकर उसे भारतीय समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पहुंचाया। उनकी लड़ाई ब्रिटिश लोगों के खिलाफ थी अपितु सरकार की दमनात्मक नीतियों के खिलाफ थी। उन्होंने रोलेट एक्ट, जलियां वाला बाग हत्याकांड, नमक कानून तथा उन सभी बुराइयों के खिलाफ आवाज उठाई

जिन्हें ब्रिटिश शासन ने भारत में बढ़ावा दिया। वे सत्य की लड़ाई अहिंसा के रास्ते से लड़ रहे थे।

गांधीजी के आंदोलन के साथ-साथ-स्वराज्यवादियों ने विधायिका का सदस्य बनकर अंदर से सरकार के खिलाफ लड़ाई लड़नी चाही। भगतसिंह तथा अनेक सहयोगी क्रांतिकारियों ने ब्रिटिश शासन को खत्म करने का प्रयास किया। अनुदारवादी ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त साइमन आयोग ने भारत के लिए नये विधान की शुरुआत करने की आवश्यकता बताई थी। 1930, 1931, 1932 में हुए तीन गोलमेज सम्मेलनों तथा भारत शासन अधिनियम 1935 द्वारा जारी श्वेत पत्र संभव हो सके।

1935 के भारत शासन अधिनियम के प्रमुख प्रावधानों को संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है :

(1) भारत शासन अधिनियम एक विस्तृत दस्वावेज है। इसमें 461 खंड तथा 15 अनुसूचियां हैं। इसमें प्रस्तावित परिसंघ, प्रांतीय स्वायत्तता, गवर्नर जनरल, गवर्नरों, प्रांतीय इकाइयों आदि की शक्तियों एवं प्रावधानों का विवरण है।

(2) प्रांतीय स्वायत्तता 1935 के भारत शासन अधिनियम की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसके तहत प्रांतीय सरकारों को एक नई संवैधानिक स्थिति प्राप्त हुई। द्वैधतंत्र समाप्त कर दिया गया तथा समस्त प्रांतीय प्रशासन को मंत्रियों के नियंत्रण में दे दिया गया जो कि संबंधित विधायिकाओं के प्रति उत्तरदायी थे। गवर्नरों से अपेक्षा की जाती थी कि वे सांविधनिक प्रमुख की भूमिका निभाएं।

(3) इस अधिनियम ने एक अखिल भारतीय परिसंघ को बनाने का प्रस्ताव किया, जिसमें ब्रिटिश भारतीय प्रांतों, छः मुख्य कमिश्नरी प्रांतों तथा ऐसी देशी रियासतों को शामिल किया जाना था, जो इसको स्वीकार करें।

(4) इस अधिनियम ने केंद्र में एक द्वैध शासन प्रणाली की शुरुआत की। केंद्रीय विषयों को 'आरक्षित' तथा 'हस्तांतरित' दो भागों में बांटा गया था। आरक्षित विषयों में रक्षा, विदेशी मामले तथा विदेश संबंध और जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन शामिल था। इनका प्रशासन गवर्नर जनरल द्वारा विवेक तथा अपने मंत्रियों के माध्यम से संचालित होता था। शेष विषय हस्तांतरित श्रेणी में शामिल थे तथा इनका प्रशासन केंद्रीय विधायिका से लिए गए मंत्रियों की सहायता से गवर्नर जनरल करता था। ये मंत्री इसी के प्रति उत्तरदायी थे।

(5) 1935 के अधिनियम ने 'सुरक्षा' तथा 'सीमा आरक्षण', का भी प्रबंध किया है। ये नियंत्रण और सीमाएं विधायी संस्थाओं की शक्तियों और कार्यों पर लगी हुई थीं।

(1935 के एक्ट के तहत प्रस्तावित सुरक्षा और विशेषाधिकार गवर्नर जनरल को प्राप्त अधिकार थे, जोकि विधायी संस्थाओं की शक्तियों को सीमित कर सकता था।)

(6) 1935 के भारत शासन अधिनियम में एक उच्च सदन बनाने की सिफारिश की, जिसे राज्यों की परिषद कहा गया और जिसमें 260 सदस्य होने थे। निम्न सदन में सदस्यों की संख्या 375 थी। ब्रिटिश भारत के 12 प्रांतों में से 6 में दो सदनीय विधानमंडल लागू किया गया। विधायी इकाइयों का आकार भी बढ़ा दिया गया। यद्यपि पृथक् निर्वाचन मंडल की प्रणाली

को बनाए रखा गया और इसमें वृद्धि भी की गई, फिर भी 10 प्रतिशत से अधिक लोगों को मताधिकार मिला।

(7) इस अधिनियम ने शक्तियों का विभाजन भी प्रस्तावित किया। तीन सूचियां बनीं : केंद्र सूची में 59 विषय राज्यसूची में 54 विषय तथा 35 विषयों वाली एक समवर्ती सूची भी बनीं। संघ सूची के विषयों में रक्षा, मुद्रा, डाक और तार, रेलवे, केंद्रीय सेवाएं तथा अन्य थे और इन पर केंद्रीय विधायिका कानून बना सकती थी। प्रांतीय विषयों में शिक्षा, भूराजस्व, स्थानीय स्वायत्त शासन, कानून और व्यवस्था, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि थे और इन पर प्रांतीय सरकारें कानून बनाने का अधिकार रखती थीं। समवर्ती सूची में आपराधिक कानून प्रक्रिया, सिविल प्रक्रिया, विवाह, तलाक आदि विषय थे और इन पर केंद्र और राज्य विधायिकाएं दोनों कानून बना सकती थीं। विवाद की स्थिति में संघीय कानून इन पर प्रभावी होता था।

(8) इस अधिनियम ने एक संघीय न्यायालय बनाने का प्रस्ताव किया, जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा 6 से अधिक अन्य न्यायाधीश होते थे। जजों की नियुक्ति क्राउन (सम्राट) के द्वारा की जाती थी और वे 65 वर्ष की उम्र तक अपने पद पर बने रहते थे। संघ न्यायालय को मौलिक, अपीलीय तथा सलाहकारी न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। पर यह अंतिम या सर्वोच्च न्यायालय नहीं था। इस न्यायालय के निर्णयों के खिलाफ अपील प्रिवी कौंसिल में की जा सकती थी।

(9) 1935 के अधिनियम में इंडिया कौंसिल का उन्मूलन कर दिया। इसमें भारत के मामलों में ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता स्थापित की गई। केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान सभाएं केवल सलाह और सुझाव दे सकती थीं परंतु भारत पर अंतिम निर्णय लेने की शक्ति ब्रिटिश संसद के पास थी।

1935 के इस अधिनियम की प्रायः सभी राजनीतिक दलों ने आलोचना की। मुहम्मद अली जिन्ना ने इसे अत्यंत घातक, मूलतः त्रुटिपूर्ण तथा पूरी तरह अस्वीकार्य कहा। नेहरू ने भी कहा कि "अंग्रेजों ने हमें एक मजबूत ब्रेकोंवाली मशीन दे दी है, जिसमें इंजन नहीं है।" इस अधिनियम की कुछ कमियां इस प्रकार हैं :

1. प्रस्तावित परिसंघ विशिष्टताओं से परिपूर्ण था। परंतु यह कभी अस्तित्व में नहीं आया। कुछ संघीय विशेषताओं का औपचारिक समावेश, जैसे कि लिखित संविधान,शक्तियों का विभाजन तथा संघीय न्यायालय, परिसंघ के अस्तित्व को मुश्किल से ही सुनिश्चित कर सकता था। प्रस्तावित परिसंघ असमान इकाइयों का एक संघ था। इसके पास ऐसी विधायिका थी जिसके पास संशोधन का अधिकार नहीं था। इसके उच्च सदन में संघीय इकाइयों का प्रतिनिधित्व नहीं था।

2. प्रांतीय स्वायत्तता अधिनियम के तहत प्रस्तावित, मात्र कागज पर प्राप्त स्वायत्तता थी। तानाशाह गवर्नर तथा "संरक्षण और आरक्षण" की शक्तियों से लैस गवर्नर जनरल के होते हुए प्रांतों की स्वायत्तता का संरक्षण मुश्किल था। वैसे मंत्रियों को अपने मंत्रालयों का स्वतंत्र प्रभार प्राप्त था किंतु वे स्वतंत्रता पूर्वक कार्य नहीं कर सकते थे। स्थायी लोक सेवक मंत्रियों के प्रति वफादार नहीं थे: और गैर वफादार अधिकारियों के बिना मंत्री प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर पाते थे। प्रांतीय स्वायत्तता केवल एक मिथ्या साबित हुई।

3. 'सुरक्षा और आरक्षण' के प्रावधान विदेशियों के लाभ के लिए देशी लोगों में भय पैदा करने के उपाय थे। ये वस्तुतः भारतीय घरों को विभाजित करने की चालें थीं, जोकि विधायिकाओं की कार्य प्रणाली पर नियंत्रण लगाती थीं।

4. 1935 के अधिनियम के तहत कार्यपालिका को व्यवस्थापिका से अधिक शक्तिशाली बना दिया गया। जब भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई तो एक तानाशाही प्रवृत्ति देखने को मिली। गवर्नर जनरल सुरक्षा और आरक्षण के प्रावधानों के सहारे संघीय विधायिका की शक्ति का उल्लंघन करता था। गवर्नर प्रांतीय विधायिकाओं की शक्ति पर सर्वोच्चता अपने ऊपर आरोपित 'विशेष उत्तरदायित्व' के नाम पर प्राप्त कर लेता था। 1935 के अधिनियम की मूल बात उत्तरदायी सरकार नहीं थी, अपितु लोकतांत्रिक स्वरुप में तानाशाही थी।

5. कमजोर विधायी संस्थाएं, प्रतिबंधित तथा विभेदपूर्ण मताधिकार और सांप्रदायिकता पूर्ण पद्धति 1935 के अधिनियम की अन्य कमजोरियां थी।

पाठगत प्रश्न 37.3

कोष्ठक में दिए गए शब्दों में से सही शब्द चुनकर खाली स्थान भरिए:

1. प्रांतीय स्वायत्तता का प्रावधान अधिनियम————के तहत किया गया।
(1909, 1919, 1935)

2. 1935 के भारत शासन अधिनियम के तहत ————एक 'आरक्षित' विषय था।
(रक्षा मामले, मुद्रा, वित्त)

3. समवर्ती सूची में संघीय विधायिका तथा ————शामिल थी ।
(गवर्नर, प्रांतीय सरकार, गवर्नर जनरल)

4. 1935 के अधिनियम के तहत संघीय न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा ————अन्य जज थे।
(पांच, छः, सात)

5. 1935 के अधिनियम में उपबंधों (खंडों) की संख्या थी ———— (1451, 452, 453)

37.6 परिसंघ तथा प्रांतीय स्वायत्तता

भारत शासन अधिनियम, 1935 की दो प्रमुख बातें थीं, परिसंघ और प्रांतीय स्वायत्तता।

अखिल भारतीय परिसंघ, 1935 के अधिनियम के तहत प्रस्तावित तीन प्रकार की संघीय इकाइयों से मिलकर बना था (1) ब्रिटिश भारतीय प्रांत, (2) चीफ कमिश्नर प्रांत - 6 तथा (3) देशी रियासतें जो कि इसमें शामिल होने को राजी थीं। ब्रिटिश भारतीय इकाइयों के लिए परिसंघ में शामिल होना अनिवार्य था, जबकि भारतीय देशी रियासतों के लिए यह स्वैच्छिक था।

इस अधिनियम के तहत प्रस्तावित अखिल भारतीय परिसंघ की योजना में परिसंघ की कुछ विशेषताएं विद्यमान थीं। लिखित संविधान, केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन तथा एक संघीय न्यायालय का प्रावधान था। परंतु अभी भी 1935 का प्रस्तावित परिसंघ वास्तविक

परिसंघ से बहुत दूर था। दरअसल इस अधिनियम द्वारा प्रस्तावित परिसंघ में कुछ ऐसी बातें थीं जो किसी परिसंघ में नहीं पाई जातीं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

1. परिसंघीय इकाइयों में अनेक असमानताएं थीं। ब्रिटिश भारतीय इकाइयों पर लोकतांत्रिक मूल्यों पर काम होता था। जबकि देशी राज्यों में तानाशाही का शासन था देशी राज्यों में निर्वाचित संस्थाएं नहीं थीं और उनके पास नागरिक अथवा राजनीतिक अधिकार भी नहीं थे।

2. प्रस्तावित परिसंघ अनोखा था क्योंकि ब्रिटिश प्रांतों के पास इसमें शामिल होने के अलावा कोई विकल्प न था, जबकि निजी देशी राजाओं को छूट थी कि वे चाहें तो शामिल हों अथवा बाहर रहें। इसमें इकाइयों को यह भी अधिकार था कि वे चाहे जितनी शक्तियां केंद्र सरकार को हस्तांतरित कर सकें।

3. संघीय विधायिका में परिसंघीय इकाइयों के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व का प्रावधान नहीं था। राज्यों की परिषद में प्रांतीय रियासतों का प्रतिनिधित्व कुल सीटों का 40 प्रतिशत तथा विधानसभाओं में लगभग 30 प्रतिशत था, जबकि इनकी जनसख्या ब्रिटिश भारत की जनसख्या की मात्र एक चौथाई ही थी।

4. इस अधिनियम की एक अन्य विशषेता संघीय विधायिका में प्रतिनिधित्व की पद्धति थी। ब्रिटिश भारत के लिए चुनाव की पद्धति आनुपातिक प्रतिनिधित्व थी, जबकि प्रांतीय राज्यों के लिए यह प्रतिनिधित्व नामांकन पद्धति पर आधारित था।

5. किसी भी परिसंघ में देश के संविधान संशोधन की शक्ति संघीय विधायिका में निहित होती है। भारत के मामले में संघ और प्रांतीय विधानमंडलों को संविधान संशोधन में भागीदार नहीं बनाया गया था। 1935 के अधिनियम के तहत संविधान संशोधन ब्रिटिश संसद करती थी।

यह ठीक कहा गया है कि 1935 के अधिनियम के तहत प्रस्तावित परिसंघ एक त्रुटिपूर्ण परिसंघ था। इन्हीं विशेषताओं के परिणाम स्वरूप इसका कड़ा विरोध हुआ। फलतः यह परिसंघ कभी अस्तित्व में नहीं आया। यह माना गया कि इस अधिनियम के तहत संघीय संरचना अप्राकृतिक, बनावटी तथा किसी भी संविधान के लिए अपरिचित थी।

प्रांतीय स्वायत्तता 1935 के अधिनियम की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। प्रांतों के प्रशासन के संबंध में यह अधिनियम अपने पूर्व के सभी अधिनियमों से आगे निकल जाता है। इसने शक्तियों का विकेंद्रीकरण प्रस्तावित करके प्रांतों को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया। इसने प्रांतों के प्रशासनिक तंत्र का गठन किया, प्रांतीय सरकारों के दोहरे चरित्र को समाप्त किया। आरक्षण तथा सुरक्षा के प्रावधानों को समाप्त किया और प्रांतों को स्वायत्त राजनीतिक इकाई बनाया। इसने प्रांतों को नियंत्रण के निश्चित क्षेत्र प्रदान किए तथा प्रांतीय सूची में समाविष्ट विषयों पर कानून बनाने का आत्यंतिक अधिकार दिया।

प्रांतीय स्वायत्तता प्रांतीय प्रशासन की एक प्रणाली है, जो कि कुछ निश्चित क्षेत्रों में प्रांतीय सत्ता को पूर्ण नियंत्रण तथा अधिकार देती है तथा प्रांतों पर क्रेंद्रीय नियंत्रण कम करती है।

1935 के अधिनियम के तहत प्रस्तावित प्रांतीय स्वायत्तता की महत्त्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं :

1. प्रांतों की अपनी स्वतंत्र संवैधानिक स्थिति थी।
2. वे अपनी प्रशासनिक, विधायी, तथा वित्तीय शक्तियां ब्रिटिश संसद के कानूनों से प्राप्त करते थे।
3. प्रांतीय विषयों पर कानून बनाने का वे आत्यंतिक अधिकार रखती थीं।
4. प्रांतीय अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों के मामलों में संघ सरकार के अधिकार को सीमित किया गया।
5. प्रांतों का प्रशासन गवर्नर द्वारा मंत्रियों के माध्यम से होता था, जोकि अपनी संबंधित विधायिकाओं के प्रति उत्तरदायी होते थे।

अक्तूबर 1937 में 11 ब्रिटिश भारतीय प्रांतों में प्रस्तावित प्रांतीय स्वायत्तता विभिन्न समयों में विभिन्न प्रांतों में अस्तित्व में रही। सिंध, बंगाल, पंजाब में 10 वर्ष तक यह कायम रही। बंबई, मद्रास, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रांत तथा उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रांतों में यह बहुत अल्पकाल तक रही। 1937 से 1939 तक प्रारंभ में और फिर द्वितीय महायुद्ध के बाद आसाम और उड़ीसा में यह 1937 से 1939 के बीच मात्र दो माह तक कायम रही।

प्रांतीय स्वायत्तता की कार्यप्रणाली से स्पष्ट है कि यह वास्तविकता से बहुत दूर थी। यह एक कल्पना से अधिक कुछ नहीं थी। ऐसा इसलिए था क्योंकि इसकी अपनी कमजोरियां थीं। इसकी कार्यप्रणाली से पता चलता है कि इसने अपना अपेक्षित समर्थन नहीं प्राप्त किया। प्रांतीय स्वायत्तता में दो बातें हैं : बाहरी नियंत्रण से स्वतंत्रता तथा प्रांत के अंदर पूर्ण स्वायत्तता। ये दोनों 1935 के अधिनियम में पूर्णतः नहीं थीं। जब यह अस्तित्व में आयी तो प्रांतीय प्रशासन न तो केंद्र के नियंत्रण से मुक्त था और न ही यह अंदर से स्वायत्त थी।

जहां तक बाह्य नियंत्रण की बात है, गवर्नर जनरल विशेष उत्तरदायित्वों के बहाने प्रांतीय मामलों में दखल दे सकता था। जो उसे करना था वह यह था कि ये प्रांतीय कार्य गवर्नर के उत्तरदायित्व का उल्लंघन करते थे। प्रांतीय विधायन के मामलों में भी गवर्नर जनरल प्रांतीय विधेयकों को सम्राट के अनुमोदन के लिए रख सकता था। कुछ विधेयक गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना प्रांतीय विधायिका में प्रस्तावित नहीं किए जा सकते थे। प्रांतीय गवर्नर द्वारा अपने विवेक से किए गए सभी फैसले गवर्नर जनरल के नियंत्रण में आते थे।

आंतरिक स्वायत्तता के संबंध में प्रांतीय सरकारें, जोकि उत्तरदायी मंत्रियों के द्वारा संचालित होती थीं, तानाशाही प्रांतीय गवर्नरों के आगे स्वायत्त नहीं रह गई थीं। गवर्नर जोकि प्रांतीय स्वायत्तता के तहत संवैधानिक प्रधान के रूप में काम करने के लिए था, वास्तविक रूप में प्रांतीय मामलों को निर्देशित तथा प्रभावित करता था। वह प्रांतीय विधायिका पर पूरा नियंत्रण रखता था, कार्यपालिका तो उसकी इच्छा पर बनाई जाती थीं। वह किसी मंत्री को नियुक्त तथा पदमुक्त कर सकता था। स्थायी सिविल पर उसका पूरा नियंत्रण था तथा उनके माध्यम से वह प्रांतीय प्रशासन पर पूरा नियंत्रण रखता था।

अतः प्रांतीय स्वायत्तता प्रांतों की स्वायत्तता नहीं थी। उत्तरदायी प्रांतीय प्रशासन को अंदर से गवर्नर तथा बाहर से गवर्नर जनरल द्वारा दबा दिया गया था।

पाठगत प्रश्न 37.4

कोष्ठक में दिये गये शब्दों में से उपयुक्त शब्द चुनकर खाली स्थान भरें।

1. 1935 के अधिनियम के द्वारा प्रस्तावित परिसंघ में शामिल होने वाले ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की संख्या थी ———। (6, 11, 16)

2. 1935 के अधिनियम के तहत ———— को संविधान में संशोधन का अधिकार था। (केंद्रीय विधायिका, ब्रिटिश संसद, प्रांतीय विधायिकायें)

3. प्रांतीय स्वायत्तता का अर्थ दो बातों से था : बाहय नियंत्रण से स्वतंत्रता और ——— ———। (गवर्नर से स्वतंत्रता, आंतरिक स्वायत्तता)

4. ———— में 10 साल तक प्रांतीय स्वायत्तता थी। (बंगाल, बिहार, बंबई)

5. 1935 के अधिनियम के तहत———— को विशेष उत्तरदायित्व सौंपा गया। (गवर्नर, मुख्यमंत्री, मंत्री)

37.7. भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947

भारत शासन अधिनियम, 1935 को अप्रैल 1937 में लागू किया गया। हालांकि इसके कुछ उपबंध बाद में लागू हुए (अर्थात प्रांतीय स्वायत्तता अक्तूबर 1937 में लागू हुई)। जैसे ही सितंबर 1939 में द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ और गवर्नर जनरल ने भारत को एक युद्धरत देश घोषित किया। वैसे ही 1935 के अधिनियम की भावना तिरोहित हो गई। इसके बाद ब्रिटिश सरकार तथा भारतीयों के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया शुरू हुई। ब्रिटिश सरकार इस युद्ध में भारतीयों की मदद चाहती थी, जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के माध्यम से युद्ध के दौरान राष्ट्रीय सरकार तथा युद्ध के बाद स्वाधीनता चाहते थे। 1940 में आल इंडिया मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान प्रस्ताव पास किया। 1939 से 1945 के दौरान अगस्त प्रस्ताव 1940 तथा क्रिप्स मिशन 1942 विफल हो गए। 'भारत छोड़ो आंदोलन' (1942) तथा आई. एन. ए. मुकदमों ने अंग्रेजों को निकालने के लिए नया उत्साह पैदा किया। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद में 1945 ब्रिटेन में लेबर सरकार ने सत्ता संभाला, 1946 में कैबिनेट मिशन भारत आया और उसके प्रस्तावों को भारतीय समाज के सभी वर्गों ने स्वीकार कर लिया।

कैबिनेट मिशन की योजनानुसार अंतरिम सरकार का गठन हुआ और संविधान सभा का चुनाव हुआ। मुस्लिम लीग को संविधान सभा में कम सीटें मिलने की वजह से उसका पाकिस्तान प्रस्ताव का मसला कमजोर होने पर उसने प्रत्यक्ष कार्रवाई अर्थात सांप्रदायिक दंगों का सहारा लिया। नागरिक युद्ध (गृहयुद्ध) से देश को बचाने के लिए विभाजन को स्वीकार कर लिया गया। माउंटबेटन योजना पर आधारित भारतीय स्वाधीनता अधिनियम 1947 ने न केवल स्वाधीनता प्रदान की, अपितु भारत और पाकिस्तान दो अधिराज्यों में देश का विभाजन भी किया।

1947 के भारत शासन अधिनियम की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 ने 15 अगस्त 1947 को भारत और पाकिस्तान दो अधिराज्यों के सृजन का प्रस्ताव किया।

2. ब्रिटिश संसद तथा ब्रिटिश भारत में अब तक निहित समस्त शक्तियाँ भारत और पाकिस्तान को हस्तांतरित कर दी गईं।

3. दोनों अधिराज्यों के भूभाग परिभाषित थे, जिसके लिए जनमत संग्रह तथा विधायिका में मतदान का भी प्रावधान था।

4. प्रत्येक अधिराज्य का अपना एक गवर्नर जनरल होना था।

5. दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाएं संविधान निर्मात्री सभा तथा संसद दोनों रूपों में कार्य करती थीं, तब तक जब तक कि संविधान न बन जाय और नई विधायिका का गठन न हो जाय।

6. सत्ता के हस्तांतरण के साथ ही ब्रिटिश शासन की संप्रभुता समाप्त हो जानी थी। देशी राज्यों को अधिकार था कि वे चाहें तो भारत में विलय करें या पाकिस्तान में, अथवा स्वतंत्र रहें।

पाठगत प्रश्न 37.5

कोष्ठक में दिए गए शब्दों में से उपयुक्त शब्द छांटकर खाली स्थान भरिए।

1. 1940 में मुस्लिम लीग द्वारा पास प्रस्ताव था ——————।
(भारत छोड़ो, पाकिस्तान, पूर्ण स्वराज)

2. कैबिनेट मिशन प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ——————में। (1945,1946,1947)

3. भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 आधारित था——————पर।
(वेवेल योजना, क्रिप्स मिशन योजना, माउंटबेटन योजना)

4. 1947 का अधिनियम विभाजित था——————अधिराज्यों में। (दो, तीन, चार)

5. देश के विभाजन को ——————पर वरीयता दी गई।
(गृहयुद्ध, परिसंघ, ब्रिटिश की पुनर्पराधीनता)

आपने क्या सीखा

ब्रिटिश सरकार ने 1858 में ईस्ट इंडिया कंपनी के क्षेत्रों का प्रशासन अपने हाथ में लेने के बाद अधिनियमों को पास करने का एक सिलसिला चलाया। इन अधिनियमों में प्रमुख थे 1861,1892,1909,1919,1935, तथा 1947 के अधिनियम। 1909 के मार्ले-मिंटो सुधारों ने पृथक निर्वाचकों की विभाजक नीति प्रस्तावित की, जिसने 1947 में भारत के विभाजन को जन्म दिया। 1919 के मांट-फोर्ड सुधारों ने प्रांतों में द्वैध प्रणाली लागू की, जोकि अव्यावहारिक सिद्ध हुई। 1935 का अधिनियम भी दोषपूर्ण सिद्ध हुआ क्योंकि इसने एक ऐसा परिसंघ प्रस्तावित किया, जोकि अपनी भावना में कभी अस्तित्व में नहीं आया। यह एक्ट प्रांतीय स्वायत्तता के मुद्दे पर भी दोषपूर्ण था। क्योंकि यह एक मिथ्या कल्पना सिद्ध हुई। एक लंबे स्वाधीनता संघर्ष के माध्यम से भारतीय लोग 1947 में ब्रिटिश पराधीनता से मुक्त हो पाने में सक्षम तो हुए किंतु वह स्वाधीनता देश के दो भागों में विभाजन के रूप में मिली। भारत और पाकिस्तान।

पाठांत प्रश्न

1. सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के विशेष संदर्भ में 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम के प्रावधानों की संक्षेप में चर्चा कीजिए।
2. भारत शासन अधिनियम, 1919 की प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. द्वैधतंत्र क्या है? इसमें निहित कमजोरियों को रेखांकित कीजिए।
4. 1935 के भारत शासन अधिनियम की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
5. 1935 के अधिनियम में प्रस्तावित 'अखिल भारतीय परिसंघ' अथवा 'प्रांतीय स्वायत्तता' पर संक्षेप में निबंध लिखिए।
6. भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

37.1

1. सुधार 2. 1906 3. आगा खां
4. 60 5. 1909

37.2

1. 1916 2. द्वैधतंत्र 3. कृषि
4. उच्चायुक्त 5. 60

37.3

1. 1935
2. पुरोहिताई (पादरी की) शक्तियां
3. प्रांतीय सरकार
4. छह
5. 451

37.4

1. 11
2. ब्रिटिश संसद
3. स्वायत्तता पहले
4. बंगाल
5. गवर्नर्स

37.5

1. पाकिस्तान
2. 1946
3. माउंटबेटन
4. दो अधिराज्य
5. नागरिक युद्ध (गृहयुद्ध)

पाठांत प्रश्नों के संकेत

कृपया इन प्रश्नों के लिए निम्न खंडों का अवलोकन करें:

1. देखिये भाग 3:3
2. देखिये भाग 3:4
3. देखिये भाग 3:4
4. देखिये भाग 3:5
5. देखिये भाग 3:6
6. देखिये भाग 3:7